रुद्रट-प्रणीत

काव्यालंकार

[अंशुप्रभाऽऽख्य-हिन्दीव्याख्या-सहित]

○

हिन्दीव्याख्याकार

डॉ० सत्यदेव चौधरी

शास्त्री, एम. ए. (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच. डी.

प्राध्यापक : इन्स्टीट्यूट आफ़ पोस्ट-ग्रेजुएट स्टडीज़, दिल्ली यूनिवर्सिटी, दिल्ली

हिन्दी-अनुसंधान-परिषद् दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के निमित्त

वासुदेव प्रकाशन दिल्ली

द्वारा प्रकाशित
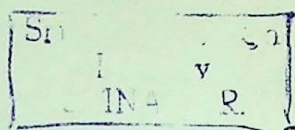
हमारी योजना

रुद्रट-प्रणीत 'काव्यालंकार' हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्-ग्रन्थमाला का ३३वाँ ग्रन्थ है। 'हिन्दी-अनुसंधान-परिषद्' हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर, सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं : हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है; दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच. डी. उपाधि प्रदान की गयी है; और तीसरे ऐसे हैं जिनका अनुसन्धान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, (३) अरस्तू का काव्यशास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, (हिन्दी-रूपान्तर), (६) पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, (७) होरेस कृत 'काव्यकला', (८) हिन्दी अभिनवभारती, (९) हिन्दी काव्यप्रकाश, (१०) हिन्दी नाट्यदर्पण, (११) सौन्दर्यतत्त्व और काव्यसिद्धान्त, (१२) हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु।

द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कव-यित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास (३) सूफ़ीमत और हिन्दी साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभसम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्यकला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीतकाव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, (१०) मतिराम : कवि और आचार्य, (११) आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्यसिद्धान्त, (१२) ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्य भक्ति, (१३) प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास, (१४) हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास, (१५) आधुनिक हिन्दी-

मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, (१६) आधुनिक हिन्दी-काव्य की रूपविधाएँ, (१७) गुरुमुखी लिपि में हिन्दी-काव्य ।

तीसरे वर्ग अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है ।

(१) अनुसन्धान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोधप्रबन्ध, (३) अनुसन्धान की प्रक्रिया ।

प्रस्तुत ग्रन्थ रुद्रट-प्रणीत 'काव्यालंकार' प्रथम वर्ग का १३वाँ प्रकाशन है । रुद्रट नवम शती के कृती-आचार्य हैं और इनका यह ग्रन्थ एक ओर ध्वनिपूर्ववर्ती अलंकार-ग्रन्थों तथा दूसरी ओर 'ध्वन्यालोक' के बीच योजक शृंखला के रूप में विद्यमान है । ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की यह प्रथम हिन्दी-व्याख्या है, जो काव्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् डॉ० सत्यदेव चौधरी द्वारा की गयी है ।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है । उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं ।

हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली ।

डॉ० नगेन्द्र
अध्यक्ष
हिन्दी अनुसन्धान-परिषद्

सम्मान्यवर

पं० दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश

को

जिनके श्रीचरणों में बैठकर मैंने काव्यशास्त्र का अध्ययन किया,

तथा

दिवंगत

आचार्य विश्वेश्वर

को

जिन्होंने अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की हिन्दी-व्याख्याएँ प्रस्तुत कर इस दिशा में अभिनव मार्ग प्रशस्त किया।

—*सत्यदेव चौधरी*

यस्मिन्नशेषविद्यास्थानार्थविभूतयः प्रकाशन्ते ।
संहृत्य, स साहित्यप्रकाश एतादृशो भवति ॥

—भोजराज

यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत् ।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥

—भोजराज

निरन्तररसोद्‌गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः ।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥

—कुन्तक

नाकवित्वमधर्माय मृतये दण्डनाय वा ।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥

—भामह

यस्तुष्टे तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च ।
दैन्ये दीनत्वमभ्येति स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः ॥

—भोजराज

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकरे वर्णनीय-तन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः ।

—अभिनवगुप्त

इतरपापफलानि यथेच्छया, वितर तानि सहे चतुरानन ।
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं, शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ॥

(अज्ञात)

भूमिका

मर्मज्ञैः काव्यतत्त्वस्य क्रियमाणं विमर्शनम् ।
सर्वथा स्याच्छिरोधार्यं मम तुष्टिप्रदं परम् ।।

भूमिका

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार यद्यपि भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन; कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ के ग्रन्थों के समान अत्यन्त प्रख्यात नहीं है, किन्तु उधर ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों और इधर ध्वनि-प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन के ग्रन्थों के बीच एक अनिवार्य कड़ी के रूप में विद्यमान यह ग्रन्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है।

पिछले लगभग पन्द्रह वर्षों में स्वर्गीय आचार्य विश्वेश्वर तथा कतिपय अन्य विद्वानों ने संस्कृत के अनेक महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की हिन्दी-व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं, जिनसे हिन्दी-जगत् में काव्यशास्त्र के अध्येताओं के लिए मूल पाठ को समझने का द्वार उन्मुक्त हो गया। पूर्वापर-प्रसंगों से यथावत् अभिज्ञता प्राप्त करने के उपरान्त परम्परागत अनेक काव्यशास्त्रीय मान्यताओं को स्वच्छ एवं विशद रूप में हृदयंगम करने का तथा उन्हें पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का मार्ग भी प्रशस्त हो गया। जिज्ञासु अध्येताओं को अपेक्षाकृत अधिक सामग्री उपलब्ध होने लगी तथा कतिपय नूतन धारणाओं एवं मान्यताओं को प्रस्तुत करने की सम्भावनाएँ भी बढ़ गईं। इन सब का सुपरिणाम यह हुआ है कि इन व्याख्याओं के द्वारा अब काव्यशास्त्र के प्रति अधिक अभिरुचि जागृत होने लगी है। प्रस्तुत ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या भी इसी शृंखला में एक विनम्र प्रयास है।

जीवन-वृत्त

रुद्रट[1] के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं होती। उद्भट, मम्मट आदि कश्मीरी आचार्यों के नाम के अनुरूप रुद्रट नाम भी इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि यह भी सम्भवतः कश्मीर-निवासी होंगे, किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत ग्रन्थ के टीकाकार नमिसाधु ने पंचम अध्याय के 'चित्रकाव्य-प्रकरण' में यह संकेत किया है कि रुद्रट का एक अन्य नाम शतानन्द भी था। वह सामवेद-पाठी थे। उनके पिता का नाम भट्ट वामुक

---

१. रुद्रट और रुद्रभट्ट के सम्बन्ध में देखिए भूमिका का अन्तिम भाग।

था ।[1] इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में गणेश और गौरी की वन्दना की है और अन्त में भवानी, मुरारि और गणेश की ।[2] इनमें गणेश और गौरी (भवानी) की स्तुति से यह अनुमान लगा लेना कदाचित् असंगत न होगा कि रुद्रट शैव थे । किन्तु फिर भी इन स्तुति-परक पद्यों के बल पर इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है ।

किसी रचना में अनुस्यूत विचारों के आधार पर यदि रचनाकार की प्रकृति का अनुमान लगा लेने की प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक रूप से उचित एवं यथार्थ समझा जाए तो इस दृष्टि से निम्नोक्त दो पद्यों को उद्धृत करना वांछनीय रहेगा जो कि रुद्रट ने निषिद्ध प्रसंगों का निर्देश करते हुए लिखे हैं । इनसे प्रतीत होता है कि रुद्रट कितने स्पष्टवादी थे—

दारिद्रयव्याधिजराशीतोष्णाद्युद्भवानि दुःखानि ।
बीभत्सं च विदध्यादन्यत्र न भारताद्वर्षात् ।।
वर्षेष्वन्येषु यतो मणिकनकमयी मही हितं सुलभम् ।
विगताधिव्याधिजराद्वन्द्वा लक्षायुषो लोकाः ।।[3] १६।४०,४१

निस्सन्देह इन पद्यों से रुद्रट की अपने युग के प्रति सजगता तथा भावुकता से दूर हटकर अन्य कवियों के असमान भारत की वास्तविक दशा वर्णित करने की सचेतन जागरूकता लक्षित होती है । इन पद्यों से पूर्ववर्ती दो पद्यों (१६।३७,३८) को देखने से तो यह स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है कि 'मनुष्यों द्वारा कुलपर्वत, समुद्र, सप्तद्वीप आदि का लंघन वर्णित नहीं करना चाहिए और देवताओं के पास विमान आदि होने का वर्णन भी किया जा सकता है ।' इन चारों पद्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कोई दशम शती का व्यक्ति नहीं, अपितु आज का ही व्यक्ति प्राचीन प्रसिद्ध आख्यानों को केवल कथानक-मात्र समझता हुआ उन्हें उसी रूप में ही वर्णित करने और भारत की अधुनातम अवस्था का चित्रण वास्तविक रूप में ही करने का परामर्श दे रहा हो। अस्तु !

समय—रुद्रट का समय क्या था, इस सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की जा

---

१. शतानन्दापराख्येन भट्टवामुकसूनुना ।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमता हितम् ।।५।१४। (टिप्पण)

२. काव्यालंकार ।१।१; १६।४२ ।
इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ के उदाहरण-भाग में भी अनेक देवताओं की स्तुति की गयी है । देखिए ५।६ ९,१२,१८,२१; ७।३६,३७ ।

३. देखिए पृ० ४२९ ।

सकती है। रुद्रट ने इस ग्रन्थ में ५ शब्दालंकारों और ५७ अर्थालंकारों अर्थात् कुल ६२ अलंकारों का निरूपण किया है। अर्थालंकारों में से चार अलंकार दो-दो बार वर्णित हुए हैं।[१] इन अलंकारों को कम कर देने पर अर्थालंकारों की संख्या ५३ रह जाती है। इनमें से केवल २६ अलंकार ही ऐसे हैं, जो इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों—भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन द्वारा प्रस्तुत किये जा चुके थे। शेष २७ अलंकार सर्व-प्रथम इन्हीं के ग्रन्थ में ही उपलब्ध होते हैं। इनकी आविष्कृति का श्रेय रुद्रट को दिया जाए या किसी अन्य अप्रख्यात आचार्य अथवा आचार्यवर्ग को, इस सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु इससे यह तो स्पष्ट ही है कि रुद्रट उक्त पाँचों आचार्यों के परवर्ती थे।

इसी तथ्य की पुष्टि 'वक्रोक्ति' नामक अलंकार से भी होती है, जिसे रुद्रट ने सर्वप्रथम एक शब्दालंकार के रूप में प्रस्तुत करते हुए इसके दो भेद निर्दिष्ट किये[२]—श्लेषवक्रोक्ति और काकुवक्रोक्ति, और जिसे आगे चलकर परवर्ती मम्मट एवं विश्वनाथ जैसे मर्मज्ञ एवं प्रख्यात आचार्यों ने इसी रूप में ही अपना लिया।[३] उधर रुद्रट से पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी वक्रोक्ति का उल्लेख किया था, किन्तु किसी एक विशिष्ट अलंकार के रूप में नहीं, अपितु एक सामान्य काव्यतत्त्व के रूप में। भामह ने इसे अलंकार (काव्यत्व) का एक सामान्य आधार स्वीकार किया[४] तो दण्डी ने इसे अलं-कार का—काव्यशोभाकर धर्म का[५]—पर्यायवाची माना।[६] इनके अतिरिक्त वामन ने वक्रोक्ति को सर्वप्रथम अर्थालंकार के रूप में प्रस्तुत किया।[७]

इन सबकी, विशेषतः भामह की, वक्रोक्ति-सम्बन्धी धारणा से प्रेरणा प्राप्त कर

---

१. देखिए भूमिका-भाग पृष्ठ ९

२. काव्यालंकार २। १४, १७

३. का० प्र० ९।७८ सा० द० १०।९
यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राजशेखर ने रुद्रट-सम्मत 'काकु-वक्रोक्ति' को स्वीकार नहीं किया। (का० मी० ७म अध्याय)

४. (क) वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। का० अ० १।६
(ख) वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते। वही, ५।६६३
(ग) हेतुः सूक्ष्मोऽथ लेशश्च नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥

५. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। का० अ० २।१।

६. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्। का० आ० २।३६३।

७. का० सू० वृ० ४।३।८।

रुद्रट के परवर्ती आचार्य कुन्तक ने तो इसे व्यापक रूप प्रदान किया, किन्तु रुद्रट ने इसे एक शब्दालंकार के रूप में ही प्रस्तुत किया और शायद इनके बाद इसी अलंकार के ही उदाहरणस्वरूप रत्नाकर ने 'वक्रोक्तिपंचाशिका' नामक एक काव्यग्रन्थ की रचना की। निष्कर्ष यह कि रुद्रट 'वक्रोक्ति' नामक काव्य-तत्त्व के आधार पर भी भामह, दण्डी एवं वामन के परवर्ती ठहरते हैं, क्योंकि रुद्रट से पूर्व वक्रोक्ति अभी एक व्यापक एवं सर्वसामान्य काव्यतत्त्व की प्रतिपादिका थी, इसे संकुचित एवं विशिष्ट रूप रुद्रट द्वारा ही मिला। अस्तु!

वामन को भामह और दण्डी से परवर्ती माना जाता है। इनका समय ८वीं शती का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया गया है। जसा कि हमने ऊपर देखा रुद्रट वामन से परवर्ती हैं, अतः रुद्रट का समय ८वीं शती के बाद का मानना चाहिए—यह इनके समय की उच्चतम सीमा है। अर्थात्, इससे पहले इनके अस्तित्व का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

रुद्रट के समय-निर्धारण के प्रसंग में कतिपय अन्य तथ्य भी उल्लेख्य हैं—

शिशुपालवध के टीकाकार वल्लभदेव ने इस ग्रन्थ की टीका में यह संकेत किया है कि उन्होंने रुद्रटप्रणीत एक अलंकार-ग्रन्थ की भी टीका प्रस्तुत की है,[1] तथा हैल्श के अनुसार उक्त टीका में उद्धृत अनेक पद्य (जिनके साथ किसी कवि अथवा आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया गया) ऐसे हैं, जो वस्तुतः रुद्रट के काव्यालंकार से गृहीत हैं।[2] इसके अतिरिक्त उद्भट-प्रणीत काव्यालंकार के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने भी रुद्रट की कम-से-कम तीन कारिकाएँ एवं उदाहरण उद्धृत किये हैं।[3] वल्लभदेव और प्रतिहारेन्दुराज दोनों का समय दशम शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है, अतः रुद्रट के समय की यही निम्नतम सीमा स्वीकृत की जानी चाहिए, अर्थात् इसके बाद उनका जीवनकाल नहीं समझना चाहिए।

इस प्रकार उक्त दोनों सीमाओं—८वीं शती का उत्तरार्द्ध और १०वीं शती का पूर्वार्द्ध—को देखते हुए रुद्रट का समय नवम शती का मध्यभाग मानना चाहिए। किन्तु यहीं एक शंका उत्पन्न होती है कि आनन्दवर्द्धन ने जो कि रुद्रट का समकालीन माना जाता है, न तो इनके किसी सिद्धान्त का उल्लेख किया है और न उनके ग्रन्थ काव्यालंकार से कोई कारिका या उदाहरण प्रस्तुत किया है, इसका कारण क्या हो सकता है? इसका एक ता सम्भव कारण यह है कि उन्होंने रुद्रट के इस ग्रन्थ को

१. शिशुपालवध (काशी संस्कृत सीरीज़, सन् १९२९) ४.२,६,२८—टीका-भाग।
२. काव्यालंकार २.४४,४८,८,२६,३७,९.६.१०,३३,१२,५५,१३,४०।
३. काव्यालंकार ७।३५,३६; १२।४
का० सा० सं० (टीका—प्रतिहारेन्दुराज) पृ० ४६,५७।

नहीं देखा होगा। शायद उन्हें यह उपलब्ध ही न हुआ हो। दूसरा कारण यह कि उन्होंने इसे अपने ध्वनि-सिद्धान्त से किंचित् अलग-सा पाकर अथवा रुद्रट की कुछ-एक धारणाओं से असहमत होते हुए इसे उद्धृत करने की आवश्यकता न समझी हो। किन्तु दूसरा कारण मनस्तोषक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आनन्दवर्द्धन जैसा मर्मविद् एवं प्रबल आचार्य रुद्रट की विरोधी धारणाओं को उद्धृत करने के उपरान्त उनका खण्डन अवश्य करता, विशेषत: उस स्थिति में जबकि उन्होंने अनेक पूर्ववर्ती मान्यताओं का खण्डन किया है, तथा अनेक ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है; जबकि उन्हें अपने ग्रन्थ की वृत्ति में ऐसे प्रसंगों को उद्धृत करने का पर्याप्त अवसर भी प्राप्त था, और जबकि रुद्रट का काव्यालंकार कोई सामान्य कोटि का ग्रन्थ भी नहीं है कि जिसे उद्धृत करने की उन्होंने कोई आवश्यकता न समझी हो। अस्तु! उपर्युक्त पहला कारण ही मान्य है कि उन्होंने इस ग्रन्थ को किसी कारण से नहीं देखा होगा।

काव्यालंकार : सामान्य परिचय

काव्यालंकार में १६ अध्याय हैं, जिनमें कुल ७३४ पद्य हैं। १२वें अध्याय के ४० वें पद्य के उपरान्त १४ पद्य प्रक्षिप्त माने जाते हैं, यदि उनको भी सम्मिलित किया जाए तो यह पद्य-संख्या ७४८ हो जाती है। इनमें ४९५ कारिकाएँ हैं, और शेष २५३ उदाहरण हैं।

इस ग्रन्थ के प्रसिद्ध टीकाकार नमिसाधु के उल्लेखानुसार यह ग्रन्थ तीन सहस्र श्लोक-प्रमाणों से पिण्डित है—एक श्लोक में ३२ अक्षर होते हैं—

सहस्रत्रयमन्यूनं ग्रन्थोऽयं पिण्डितोऽखिल: ।
द्वात्रिंशदक्षरश्लोकप्रमाणेन सुनिश्चितम् ॥

इसका आशय यह है कि इस ग्रन्थ में कुल ३००० × ३२ = ९६००० से कम अक्षर नहीं हैं। उपर्युक्त ७४८ पद्यों में से प्रत्येक पद्य में यदि ४० अक्षरों का माध्य स्वीकार किया जाए तो कुल अक्षर-संख्या २९९२० होनी चाहिए। यदि यह माध्य अधिक-से-अधिक ५० अक्षरों का भी स्वीकार किया जाए तो अक्षर-संख्या ३७४०० होनी चाहिए। किन्तु ९६००० अक्षरों की गणना को पूरा करने के लिए नमिसाधु के टीका-भाग को भी सम्मिलित कर लिया जाए तो निस्सन्देह यह संख्या लगभग ठीक प्रतीत होती है। इस अनुमान की पुष्टि 'निर्णयसागर बम्बई' द्वारा मुद्रित काव्यालंकार से भी हो जाती है, जिसकी पृष्ठसंख्या १७५ है। प्रत्येक पृष्ठ पर लगभग ३० पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्ति में अक्षरों का माध्य १८-१९ स्वीकार कर लेने पर कुल अक्षर-संख्या

१. **काव्यालंकार—ग्रन्थसमाप्ति-सूचक टिप्पण**

लगभग ९६००० हो जाती है। अस्तु !

प्रथम अध्याय में २२ पद्य हैं। इसमें मंगलाचरण, गणेश एवं गौरी के स्तवन के उपरान्त काव्यप्रयोजन और काव्यहेतु का निरूपण किया गया है और इसके बाद कविमहिमा की चर्चा की गयी है।

द्वितीय अध्याय में ३२ पद्य हैं। इसमें काव्यलक्षण का संकेत करने के उपरान्त शब्द के पाँच भेदों का निर्देश है। इसके बाद वृत्ति के आधार पर तीन रीतियों की चर्चा है। फिर वाक्य पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है और अन्त में वक्रोक्ति और अनुप्रास नामक शब्दालंकारों का निरूपण है।

तृतीय, चतुर्थ, पंचम अध्यायों में क्रमशः ५९ और ३३ पद्य हैं। इनमें क्रमशः यमक, श्लेष और चित्र नामक शब्दालंकारों का निरूपण है।

षष्ठ अध्याय में ४७ पद्य हैं। इसमें दोष-प्रकरण निरूपित हुआ है।

सप्तम अध्याय में १११ पद्य हैं। इसमें अर्थ का लक्षण और वाचक शब्द के भेदों का स्वरूप निर्दिष्ट करने के उपरान्त अर्थालंकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है और इसके बाद वास्तव-गत २३ अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण दिये गये हैं। अष्टम एवं नवम अध्यायों में क्रमशः ११० और ५५ पद्य हैं। इनमें क्रमशः औपम्यगत २१ अलंकारों और अतिशयगत १२ अलंकारों का निरूपण है। दशम अध्याय में २९ पद्य हैं, जिनमें अर्थश्लेष के दस भेदों के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

एकादश अध्याय में ९ अर्थ-दोषों का निरूपण है जो ३६ पद्यों में समाप्त हुआ है।

द्वादश से लेकर पंचदश अध्यायों में क्रमशः ४७, १७, ३२ और २१ पद्य हैं। इनमें से प्रथम तीन अध्यायों में श्रृंगार रस तथा उसके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का निरूपण किया गया है और पन्द्रहवें अध्याय में श्रृंगारेतर नौ रसों का—इनमें शान्त रस के अतिरिक्त प्रेयान् रस भी सम्मिलित है।

षोडश अध्याय में ४२ पद्य हैं। इसमें विभिन्न काव्यभेदों—महाकाव्य, महाकथा, आख्यायिका, लघुकाव्य आदि की सामान्य चर्चा है, और अन्त में भवानी, मुरारि और गणेश का स्तवन किया गया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में प्रायः सभी प्रचलित काव्यांगों को स्थान मिला है। कलेवर की दृष्टि से ग्रन्थ का बहुभाग अलंकारों को समर्पित हुआ है। २य से लेकर ५म तक तथा ७म से लेकर १०म तक कुल सात अध्यायों में अलंकारों की चर्चा है। इन अध्यायों में कुल ४१४ पद्य हैं। इनमें से २य अध्याय के १२ पद्य और ७म अध्याय के ८ पद्य, कुल २० पद्य, अलंकारेतर विषयों से सम्बद्ध हैं। ४१४ पद्यों में से ये २० पद्य निकाल देने पर शेष ३९४ पद्यों में अलंकारों का प्रतिपादन हुआ है। ग्रन्थ

में कुल ७४८ पद्य हैं, अर्थात् ग्रन्थ के लगभग आधे भाग में अलंकारों का निरूपण है। स्वयं 'काव्यालंकार' नाम ही, जैसा कि नमिसाधु ने भी संकेत किया है,[1] इस तथ्य का द्योतक है कि इसमें अलंकारों की चर्चा सर्वाधिक होनी चाहिए।

अलंकार-प्रकरण के उपरान्त कलेवर की दृष्टि से दूसरा स्थान रस-प्रकरण का है। इसी के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद प्रसंग भी सम्मिलित है। यह समग्र प्रकरण १२वें से १५वें तक चार अध्यायों में निरूपित हुआ है, जिनमें कुल १२३ पद्य हैं। इस दृष्टि से तीसरा स्थान दोष-प्रकरण का है, जिसे ६ठें और ११वें अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इसमें कुल ८३ पद्य हैं। इस प्रकार कुल ७४८ पद्य में से ४०२+१२३+८३=६०८ पद्यों को निकाल देने पर शेष १४० पद्य रहते हैं। इनमें से मंगलाचरण एवं अन्तिम स्तवन-विषयक ३ पद्यों को छोड़कर शेष १३७ पद्यों में काव्य-स्वरूप, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, कविमहिमा, शब्द-प्रकार, वृत्ति एवं रीति, वाक्यभेद, अर्थ, वाचक शब्द, महाकाव्य, महाकथा, आख्यायिका, लघुकाव्य, अन्य काव्यरूप, काव्य में निषिद्ध प्रसंग—इन १६ विषयों की यद्यपि संक्षिप्त चर्चा की गयी है तो भी पाठक उनके स्वरूप से यथाभीष्ट रूप में परिचित हो जाता है।

काव्य के परम्परागत दस अंग स्वीकार किये जाते हैं। उनका नामोल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—काव्यस्वरूप (काव्यलक्षण, काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन) शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, रस, नायक-नायिका-भेद, दोष, गुण, रीति और अलंकार। इनमें से शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और गुण का निरूपण इस ग्रन्थ में नहीं मिलता। इसमें शब्द, वाचक शब्द तथा वाक्य की चर्चा अवश्य की गयी है, पर इससे शब्दशक्ति-प्रकरण पर किंचित् प्रकाश नहीं पड़ता—यहाँ तक कि अभिधा शक्ति का भी संकेत नहीं मिलता। यद्यपि ध्वनि-तत्त्व बीजरूप में रुद्रट से लगभग तीन शती पूर्व भामह के समय से ही विद्यमान था—भामह के अतिरिक्त दण्डी और उद्भट के ग्रन्थों में भी इसके संकेत मिल जाते हैं,[2] इधर स्वयं रुद्रट-सम्मत भाव अलंकार का प्रथम प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य माना जा सकता है और द्वितीय प्रकार ध्वनिकाव्य[3]—निस्संदेह ये दोनों प्रकार ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के ही समाना-

---

१. तत्र काव्यालंकारा वक्रोक्तिवास्तवादयोऽस्य ग्रन्थस्य प्राधान्यतोऽभिधेयाः। अभिधेयव्यपदेशेन हि शास्त्रं व्यपदिशन्ति स्म पूर्वकवयः। यथा कुमार-संभवः काव्यमिति। —काव्यालंकार १।२ (टिप्पण)

२. देखिए भारतीय काव्यांग पृष्ठ ५७

३. देखिए पृ० २१३-२१४।

न्तर हैं, किन्तु फिर भी इन दोनों को इस ग्रन्थ में स्पष्टत: एक विवेच्य काव्यांग के रूप में स्थान नहीं मिला। कारण स्पष्ट है कि ये दोनों काव्यांग अभी स्थिर नहीं हुए थे—आनन्दवर्द्धन का 'ध्वन्यालोक', चाहे कारण कुछ भी हो, अभी रुद्रट के हाथों में नहीं पहुँचा था।

इस ग्रन्थ में गुण को स्थान न मिलना न केवल आश्चर्यजनक है अपितु खटकता है। इनसे पूर्व यह काव्यांग भरत, भामह, दण्डी और वामन द्वारा सम्यक् रूप से निरूपित हो चुका था। भामह ने केवल तीन गुण स्वीकार किये थे और शेष तीनों आचार्यों ने दस, किन्तु रुद्रट ने इनमें से किसी आधार को स्वीकार नहीं किया। यदि वे चाहते तो भरत के समान दस गुणों का, अथवा भामह के समान तीन गुणों का प्रतिपादन स्वतन्त्र रूप से करते, अथवा दण्डी या वामन में से किसी एक के अनुकरण में रीति-प्रकरण के ही अन्तर्गत दस गुणों को समाविष्ट कर देते। पर ऐसा प्रतीत होता है, जैसा कि हम आगे भी देखेंगे, कि रुद्रट अपने से पूर्ववर्ती इन प्रख्यात आचार्यों में साक्षात् रूप से किसी से भी प्रभावित नहीं हैं, अन्यथा उन जैसा संग्रहकर्ता आचार्य 'गुण' जैसे महत्त्वपूर्ण काव्यांग की चर्चा अवश्य करता। अस्तु !

अलंकार-प्रकरण

रुद्रट-प्रस्तुत शब्दालंकारों में वक्रोक्ति अलंकार, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट कर आये हैं, सर्वप्रथम शब्दालंकार के रूप में प्रस्तुत हुआ है। (देखिये मूल ग्रन्थ पृष्ठ ३७-४१) यमक, श्लेष तथा चित्र अलंकारों के भेदोपभेदों का उल्लेख यद्यपि रुद्रट से पूर्व भामह तथा दण्डी द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका था, किन्तु इन्होंने इनके नवीन उपभेदों का समावेश किया तथा सभी भेदों को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक व्यवस्थित, विशद तथा स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया। प्रतिपादन-शैली के अतिरिक्त उदाहरणों की दृष्टि से भी ये प्रसंग सर्वप्रथम स्पष्ट रीति में निरूपित हुए हैं और परवर्ती आचार्यों में भोजराज तथा विश्वनाथ के ग्रन्थों में जो एतद्विषयक स्वच्छता है, उसमें रुद्रट का साक्षात् अथवा प्रकारान्तर से योगदान स्वीकार किया जा सकता है।

रुद्रट ने ५७ अर्थालंकारों का निरूपण किया है, इनमें से केवल २६ अलंकार ऐसे हैं, जो भरत, भामह, दण्डी और उद्भट द्वारा पूर्वतः निरूपित हो चुके थे।[१] क्या शेष ३१ अलंकारों की आविष्कृति का श्रेय रुद्रट को मिलना चाहिए ? निस्सन्देह इतना विशाल एवं मौलिक कृतित्व सामान्यतः एक व्यक्ति द्वारा प्रायः सम्भव नहीं है। इस

---

१. देखिए संस्कृत साहित्य का इतिहास [भाग २] सेठ कन्हैयालाल पोद्दार पृष्ठ ९४

स्थिति में केवल एक विकल्प शेष रह जाता है कि रुद्रट किसी ऐसे आचार्यवर्ग की शताब्दियों से प्रवाहित विचारधारा से प्रभावित रहा होगा जो इन प्रख्यात आचार्यों से नितान्त अलग रहकर काव्यशास्त्रीय विषयों पर विचार-विमर्श करता चला आया होगा। रुद्रट द्वारा प्रस्तुत अर्थालंकारों का वर्गीकरण ही इस मान्यता का एक अन्य पोषक प्रमाण है। इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में तो इस प्रकार के वर्गीकरण के साक्षात् अथवा असाक्षात् संकेत तक नहीं मिलते।[1] हाँ, उक्त सभी नवीन अलंकारों को तथा वर्गीकरण को एक ग्रन्थ के माध्यम से सर्वप्रथम काव्यशास्त्रीय जगत् के समक्ष प्रस्तुत करने का श्रेय निःसन्देह रुद्रट को ही दिया जा सकता है, जो कि अपने-आप में एक महत्त्वपूर्ण, स्तुत्य एवं उपादेय प्रयास है, तथा काव्यशास्त्र के अध्येता के लिए अनिवार्यतः अध्येतव्य विषय है—यद्यपि यह वर्गीकरण पूर्णतः मान्य नहीं है। रुद्रट-प्रस्तुत अनेक अलंकार तो आगे चलकर अनेक आचार्यों द्वारा अधिकांशतः इसी रूप में ही अपनाये गए, किन्तु इनका वर्गीकरण परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रचालित एवं प्रसारित नहीं हुआ।

अर्थालंकार को चार वर्गों में विभक्त किया गया है—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। वास्तवमूलक अलंकारों की संख्या २३ है, औपम्यमूलक अलंकारों की २१, अतिशय-मूलक अलंकारों की १२ और श्लेषमूलक केवल १ ही अलंकार गिनाया गया है—श्लेष।[2] इस प्रकार यद्यपि कुल ५७ अर्थालंकारों को इस ग्रन्थ में स्थान मिला है,[3] तथापि इनमें से निम्नोक्त चार अलंकार दो-दो वर्गों में रखे गये हैं—जैसे उत्तर और समुच्चय अलंकार वास्तवगत भी है और औपम्यगत भी, उत्प्रेक्षा औपम्यगत भी है और अतिशयगत भी, तथा विषम वास्तवगत भी है और अतिशयगत भी।[3] किन्तु इन चार अलंकारों के लक्षणों एवं उदाहरणों से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि ये अपने-अपने वर्ग में भिन्न-भिन्न ही हैं। उदाहरणार्थ, वास्तवगत उत्तर अलंकार औपम्यगत उत्तर अलंकार से भिन्न है। अतः रुद्रट द्वारा निरूपित अर्थालंकारों की संख्या ५७ ही माननी चाहिए, इनसे चार कम करके ५३ नहीं।

रस-प्रकरण

रुद्रट का रस-प्रकरण भी अनेक दृष्टियों से अपनी विशिष्टता रखता है। निःसन्देह भरत इनसे कई शताब्दी पूर्व रस का प्रतिपादन कर चुके थे, किन्तु रुद्रट

१. देखिए पृष्ठ १९६-१९७
२. देखिए पृष्ठ २००, २४४, २९१, ३१०।
३. श्लेष अलंकार के दस भेद गिनाए गये हैं (देखिए—पृष्ठ ३१०), किन्तु उक्त '५७' संख्या में ये भेद सम्मिलित नहीं है, यद्यपि इनमें से कुछ भेद आगे चलकर स्वतन्त्र अलंकार बन गये।
४. देखिए पृष्ठ २००, २४४, २९१।

का यह प्रकरण भरत के एतद्-विषयक प्रकरण से विषय-सामग्री की दृष्टि से और इसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से पर्याप्त भिन्न है। इन दोनों आचार्यों के इन प्रकरणों को एक साथ देखें तो यह विभिन्नता और भी अधिक स्पष्ट रूप से लक्षित होती है।

पहले विषय-सामग्री को लीजिए। भरत के नाटचशास्त्र में रस-विषयक विवेचन छठे और सातवें अध्याय में हुआ है—छठे अध्याय में रस का विवेचन है और सातवें अध्याय में भाव का। इन दोनों अध्यायों में क्रमशः रस और भाव के स्वरूप का तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध का निर्देश किया गया है। आठों रसों का परिचय देते हुए भरत ने प्रत्येक रस के स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव और सात्त्विक भावों का नामोल्लेख किया है। रसों के वर्णों और देवताओं से अवगत कराया है तथा रसों के भेदों की चर्चा की है। इन सभी प्रसंगों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

भरत ने मूल रूप से चार रस माने हैं—शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स। फिर इनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है। (ना० शा० ६।३९-४१)। विभिन्न रसों के जो भेद भरत ने प्रस्तुत किये हैं (ना० शा० ६।४८ वृत्ति, ६।७७-८३), उनमें से आगे चलकर कुछ तो प्रचलित रहे और कुछ अप्रचलित हो गये—

प्रचलित भेद—(१) शृंगार के सम्भोग और विप्रलम्भ नामक दो भेद। (२) हास्य के स्मित, विहसित आदि छः भेद। (२) वीर के दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर ये तीन भेद।

अप्रचलित भेद—(१) शृङ्गार के वाङ्नेपथ्यक्रियात्मक—तीन भेद। (२) हास्य के आत्मस्थ और परस्थ दो भेद। (३) हास्य और रौद्र के अंग-नेपथ्य-वाक्यात्मक—तीन-तीन भेद (४) करुण के धर्मोपघातज, अपचयोद्भव और शोककृत—तीन भेद। (५) भयानक के स्वभावज, सत्त्वसमुत्थ और कृतक तीन भेद, तथा व्याज-अपराध-त्रास गत अन्य तीन भेद। (६) बीभत्स के क्षोभज, शुद्ध और उद्वेगी—तीन भेद। (७) अद्भुत के दिव्य और आनन्दज—दो भेद।

भरत ने रस-प्रकरण में भावों की संख्या ४९ गिनायी है—८ स्थायिभाव, ३३ व्यभिचारिभाव और ८ सात्त्विक भाव। (ना० शा० ७।६ वृत्ति)। आठ स्थायिभावों के अनुकूल रसों की संख्या भी इनके मत में आठ है (ना० शा० ६।१५-१७), शान्त रस का उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं है। स्थायिभाव ही अन्य शेष ४१ भावों से संयुक्त होकर रसत्व को प्राप्त करता है, अतः स्थायिभाव और अन्य भावों में वैसा ही पारस्परिक [क्रमशः मुख्य-गौण] सम्बन्ध है जैसा कि राजा और उसके सहचरों में होता है। (ना० शा० ७।७ वृत्ति, पृष्ठ ८१)।

भरत के कथनानुसार भाव का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—**भावयन्तति भावाः। किं भावयन्ति? उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावाः।** (ना० शा० ७ म अ०) अर्थात् जो वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों के द्वारा सामाजिक के हृदय में जो काव्यार्थों का भावन (अवगमन) कराते हैं, वे भाव कहाते हैं। रस और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में भरत का कथन है कि इनमें एक-दूसरे के प्रति कारण-कार्य-सम्बन्ध है—भावों से विभिन्न रसों की उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति के लिए भावों को अभिनय का आश्रय लेना पड़ता है और तभी भरत के शब्दों में कह सकते हैं—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्॥ ना० शा० ६।३६

भरत के कथनानुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है—**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।**' और इस सिद्धान्त-कथन की व्याख्या में उनका कहना है कि नाना भावों से उपहित स्थायिभाव ही रसत्व को प्राप्त करते हैं—'× × × **एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।**' (ना० शा० पृष्ठ ७१)। विभावादि के संयोग से उत्पन्न रस को एक लौकिक उदाहरण द्वारा समझाते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार संसार में नाना प्रकार के व्यंजनों, मिष्टान्नों और रासायनिक द्रव्यों का पारस्परिक संयोग हर्षोत्पादक षड्रसास्वाद को उत्पन्न करता है उसी प्रकार विभावादि का संयोग रस को उत्पन्न करता है। स्थायिभावों का यह आस्वाद तभी सम्भव है जब ये नाना प्रकार के भावों के नाटकीय अभिनय से प्रकट किये गये हों और वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से संयुक्त हों। (ना० शा० पृष्ठ ७१)।

× × ×

भरत-विवेचित उपर्युक्त सामग्री के दिग्दर्शन से रुद्रट-प्रस्तुत रस-प्रसंग का तुलनात्मक अध्ययन सुकर हो सकेगा। रुद्रट ने पहले दस रस गिनाये हैं—आठ भरत-सम्मत तथा दो अन्य रस शान्त और प्रेयान्। फिर श्रृङ्गार रस का निरूपण किया गया है जिसके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद प्रसंग भी सम्मिलित है। पुनः सम्भोग श्रृङ्गार के प्रसंग में कतिपय कामशास्त्रीय चर्चाओं का उल्लेख किया गया है। विप्रलम्भ श्रृङ्गार के अन्तर्गत इसके चार भेदों का निरूपण किया गया है। प्रसंगवशात् काम की दश दशाओं की चर्चा की गयी है। मान-विमोचन कराने के अनेक उपायों का उल्लेख किया गया है। पुनः श्रृङ्गाराभास पर किंचित् प्रकाश डाला गया है और फिर श्रृङ्गार से सम्बद्ध रीतियों का निर्देश किया गया है। इसके उपरान्त शेष रसों की

सामान्य चर्चा की गयी है और इन रसों के साथ भी रीति-प्रयोग का उल्लेख किया गया है।

इन दोनों आचार्यों के उक्त प्रसंगों को देखने से एक स्थिति तो यह मानी जा सकती है कि भरत-विवेचित रस-सामग्री के यथावश्यक एवं सुकर प्रसंगों को जिज्ञासु-जनों के अध्ययनार्थ एकत्र संजो दिया गया है, और दूसरी स्थिति यह कि रुद्रट के सम्मुख भरत-प्रणीत ग्रन्थ है ही नहीं। भरत और रुद्रट के बीच रस-विषयक जो प्रसंग धीरे-धीरे अधिक प्रचलित होते गये और सामान्य अध्येताओं के लिए पर्याप्त समझे जाने के कारण और भी अधिक प्रचार पा गये उन्हीं का संकलन रुद्रट ने किया है। इस दृष्टि से भरत का रुद्रट पर साक्षात् प्रभाव न होकर असाक्षात्—बहुत दूर का ही—प्रभाव मानना चाहिए। हमें दूसरी स्थिति मान्य प्रतीत होती है। यदि रुद्रट के सम्मुख भरत का ग्रन्थ होता तो वे अन्य अनेक आवश्यक प्रसंगों का समावेश इस ग्रन्थ में करते। रस-निष्पत्ति-विषयक सूत्र तो अनिवार्यतः उद्धरणीय था। इसके अतिरिक्त रुद्रट द्वारा शान्त और प्रेयान् नामक दो अन्य रसों का समावेश भी इसी तथ्य को ही सूचित करता है। नाटचशास्त्र के अननुरूप नायक-नायिका-भेद प्रसंग का शृङ्गार रस के अन्तर्गत निरूपण करना भी इसी ओर इंगित करता है।

प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से देखें तो यह स्थिति और भी अधिक मान्य प्रतीत होती है। दोनों ग्रन्थों की विषय-सामग्री के नियोजन एवं क्रम-बद्धता में तो अन्तर है ही, साथ ही शैली में भी अन्तर है—शैली से हमारा तात्पर्य केवल यह नहीं है कि भरत ने पद्य के साथ-साथ गद्य का भी प्रयोग किया है—यदि रुद्रट चाहते तो उनके अनुकरण में रस जैसे गम्भीर विषय को सुव्यवस्थित रूप देने के उद्देश्य से गद्य का भी आधार ग्रहण करते। शैली से हमारा तात्पर्य इनके वाक्य-विन्यास से भी है। रुद्रट पर भरत की शैली का किसी रूप में प्रभाव स्वीकृत नहीं किया जा सकता। भरत का वाक्य-विन्यास सुगम एवं सरल है, रुद्रट का संकुल एवं सुघटित है। उदाहरणार्थ, शृङ्गारेतर रसों को लीजिए। रुद्रट अपने वक्तव्य को बस चार पंक्तियों में समाप्त कर देने के लिए सचेष्ट हैं (प्रेयान् इसका अपवाद है। इसका निरूपण छः पंक्तियों में है), किन्तु भरत इस बन्धन से विमुक्त हैं। अस्तु! निष्कर्षतः रुद्रट पर भरत का साक्षात् प्रभाव स्वीकृत नहीं करना चाहिए।

× × ×

रुद्रट के ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि अब रस के प्रति समादरभाव कहीं अधिक बढ़ चला था। इनसे पूर्व भरत ने रस को नाटक के अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार किया था तथा कतिपय काव्यतत्त्वों—अलंकार, गुण, दोष—के रससंश्रयत्व

पर भी उन्होंने प्रकाश डाला था।[१] इनके उपरान्त अलंकारवादी आचार्यों—भामह, दण्डी और उद्‌भट ने यद्यपि रस, भाव आदि को रसवद् आदि अलंकार नाम से अभिहित किया, तथापि उन्होंने अपने दृष्टिकोण से इसे समुचित समादर भी प्रदान किया। भामह और दण्डी ने इसे महाकाव्य के लिए 'एक आवश्यक-तत्त्व' के रूप में स्वीकृत किया।[२] भामह के कथनानुसार कटु ओषधि के समान कोई शास्त्रचर्चा भी रस के संयोग से मधुवत् बन जाती है।[३] दण्डी का माधुर्य गुण 'रसवत्' ही है, तथा इसकी यह रसवत्ता मधुपों के समान सहृदयों को प्रमत्त बना देती है।[४] दण्डी के 'माधुर्य' गुण का एक भेद वस्तुगत माधुर्य कहाता है, जिसका अपर नाम 'अग्राम्यता' है। दण्डी के शब्दों में यही अग्राम्यता काव्य में 'रस' के सेचन के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली अलंकार है।[५]

इधर रुद्रट ने अलंकारवादी आचार्यों के अननुरूप रस को रसवद् अलंकार के अन्तर्गत समाविष्ट न कर स्वतन्त्र रूप से ही वर्णित किया है। भामह और दण्डी के समान इन्होंने भी रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व माना है।[६] प्रथम बार इन्होंने ही वैदर्भी, पांचाली नामक रीतियों और मधुरा, ललिता वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग का निर्देश किया है,[७] श्रृंगार रस का प्राधान्य स्वीकार किया है[८] तथा कवि

---

१. (क) एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ नाट्यशास्त्र १।११०

(ख) बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानसंयुतम्।
भवति जगति भोग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥ वही १७।११३

२. (क) युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। का० अ० १।२१

(ख) अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्। का० द० १।१८

३. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥ का० अ० ५।३

४. मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ का० द० १।५१

५. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ का० द० १।६०

६. का० अ० १६।१,५ (पृष्ठ ४१८, ४१९)

७. वही १४।३७ (पृ० ४०६)

८. वही १४।३८ पृ० (४०६)

को रस के लिए प्रयत्नशील रहने का आदेश दिया है।[१]

इन प्रसंगों में से महाकाव्य में रसप्रयोग के प्रसंग को छोड़कर शेष सभी प्रसंग ऐसे हैं जो अलंकारवादी आचार्यों को दृष्टि में रखते हुए नितान्त नूतन हैं। यह सब इस बात का सूचक है कि रुद्रट अलंकारवादी आचार्यों से प्रभावित न होकर किसी अन्य अप्रख्यात आचार्यवर्ग से ही प्रभावित था।

इस प्रकार हमने देखा कि रस-प्रकरण के प्रतिपादन में रुद्रट अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में से न तो भरत के अनुकर्ता हैं और न अलंकारवादी आचार्यों के। इनके अतिरिक्त इस दिशा में उनके लिए रीतिवादी वामन से तो प्रभावित होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

× × ×

रुद्रट के रस-प्रकरण के अन्तर्गत तीन प्रसंग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(१) प्रेयान् रस का निरूपण, (२) शृंगार रस की उत्कृष्टता, (३) नायक-नायिका-भेद।

१. प्रेयान् रस—

रुद्रट से पूर्व यद्यपि इस रस की कल्पना नहीं हुई थी तो भी प्रेयः (प्रेयस्वत्) अलंकार के रूप में इसके स्रोत अवश्य विद्यमान थे। रुद्रट-सम्मत इस काव्यतत्त्व को हम रस के स्थान पर 'भाव' की संज्ञा देने के पक्ष में हैं। (विस्तृत विवेचन के लिए देखिए १५।१६)

२. शृङ्गार रस—

रुद्रट के अनुसार शृंगार रस अन्य रसों की अपेक्षा इसी कारण प्रधान है कि इससे बाल से वृद्ध-पर्यन्त सभी मानव प्रभावित होते हैं। (१४।३८)।

रुद्रट से पूर्व भरत ने भी शृंगार रस की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में निम्नोक्त कथन प्रस्तुत किया था—

यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणानुमीयते।

ना० शा० ६।४५ (वृत्ति)

किन्तु यह कथन एक प्रकार का भावुकतापूर्व उद्गार मात्र है, इससे अभीष्ट प्रसंग की न तो काव्यशास्त्रीय दृष्टि से पुष्टि होती है और न व्यावहारिक दृष्टि से। रुद्रट-प्रस्तुत उक्त कथन शृंगार रस की प्रधानता का निस्सन्देह एक कारण अवश्य है और व्यावहारिक कारण तो वस्तुतः यही एक है ही, तथा लगभग इसी कारण को ही रुद्रट के परवर्ती आचार्यों में से हेमचन्द्र, विद्याधर, रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि ने भी प्रस्तुत किया है कि—

तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यता

---

१. का० अ० १२।२ (पृ० ३६०)

इति पूर्वं शृङ्गारः.........।[१]
फिर भी शास्त्रीय दृष्टि से कई कारण प्रस्तुत किये जा सकते थे, जिनको कि परवर्ती आचार्यों में से सर्वप्रथम भोजराज ने प्रस्तुत किया और शायद उन्हीं के उपरान्त अग्निपुराणकार ने। पर इन दोनों आचार्यों की एतद्विषयक धारणाएँ गम्भीर, मनोवैज्ञानिक एवं सूक्ष्म होती हुई भी किसी वर्गविशेष से प्रभावित होने के कारण सर्वांशतः मनस्तोषक नहीं हैं।[२] इधर इनके बाद विश्वनाथ ने इस रस की सर्वाधिक व्यापकता का जो निम्नोक्त कारण प्रस्तुत किया है, वह शास्त्रीय भी है और नितान्त ग्राह्य भी। उनके कथनानुसार केवल यही एक रस है जिसमें उग्रता, मरण और आलस्य को छोड़कर शेष सभी संचारिभावों, तथा जुगुप्सा को छोड़कर शेष सभी संचारिभावत्वापन्न स्थायिभावों का समय अथवा परिस्थिति के अनुसार सम्बन्ध रहता है।[३] वस्तुतः देखा जाए तो उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा का भी शृंगार रस के साथ किसी-न-किसी रूप में सम्बन्ध स्थापित हो ही जाता है। शारदानय तो सभी संचारिभावों का शृंगार रस से सम्बन्ध स्वीकार करते हैं।[४] किन्तु केवल स्थायी और संचारिभाव ही क्यों, अनुभाव और सात्त्विक भावों की सर्वाधिक स्थिति भी शृंगार रस के दोनों भेदों—संयोग और विप्रलम्भ—के साथ ही सम्भव है।

इसी प्रसंग में विश्वनाथ-प्रस्तुत उक्त कारण के अतिरिक्त निम्नोक्त कतिपय अन्य कारण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

—विप्रलम्भ शृंगार के पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण और शापहेतुक—ये पाँच भेद, काम की 'चक्षुःप्रीति' आदि बारह तथा 'अभिलाष' आदि अन्य दश अवस्थाएँ[५], आलम्बनविभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका, सखी, दूती आदि का विस्तृत भेद-निरूपण तथा नायिका के भाव, हाव, हेलादि सत्त्वज अलंकार—ये सभी प्रसंग शृंगार रस की व्यापकता के साथ-साथ इस रस की सर्वोत्कृष्टता भी घोषित करते हैं।

—इधर सभी रसों में केवल यही एक रस है, जिसमें आलम्बन के दोनोंपक्षों—विषय और आश्रय—की चेष्टाएँ एक दूसरे को उद्दीप्त करती हैं। दूसरे शब्दों में,

---

१. काम (रति) सकलजातिसुलभ तथा अत्यन्त परिचित होने के कारण सबके लिए मनोहर है, अतः सबसे पूर्व [काम से सम्बद्ध] शृंगार रस का वर्णन करना अपेक्षित है। का० अनु० पृ० ८१, एकावली पृ० ६६, नाट्यदर्पण पृ० १६३

२. विशेष विवेचन के लिए देखिए 'काव्यशास्त्रीय निबन्ध' : शृंगार का रसराजत्व (पृ० ११७-१२७)।

३. त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्साव्यभिचारिणः। सा० द० ३।१८६

४. समग्रवर्णनाधारः शृंगारो वृद्धिमश्नुते। भा० प्रा० पृ० ६१

५. देखिए प्र० रु० भू०, पृ० १६४; सा० द० ३।१६०

अन्य रसों के आलम्बन-युगल परस्पर 'शत्रु' अथवा 'उदासीन' हैं, पर केवल इसी रस के ही आलम्बन परस्पर घनिष्ठ 'मित्र' हैं।

—और फिर, समय-समय पर विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत सौहार्द, भक्ति आदि तथाकथित रसों का भी श्रृंगार रस की व्यापकता में अन्तर्भाव हो सकता है।

—कुछ विद्वान् इस आधार पर भी श्रृंगार रस को सर्वोत्कृष्ट घोषित करना चाहेंगे कि सभी रस इसी में प्रसूत हैं, किन्तु इस धारणा की पुष्टि के लिए अत्यधिक खींचतान से काम लेना पड़ेगा और अधिक से अधिक हम यही सिद्ध कर पाएँगे कि इससे सभी रस सम्बन्धित अवश्य हैं—कुछ रस मित्र रूप में और कुछ अमित्र रूप में, पर वे इससे प्रसूत नहीं हैं।

रुद्रट यदि श्रृंगार रस की उत्कृष्टता के प्रसंग में उक्त व्यावहारिक कारण के अतिरिक्त कतिपय शास्त्रीय कारण भी प्रस्तुत कर देते तो उनका यह प्रसंग कहीं अधिक पुष्ट होता। फिर भी इस सम्बन्ध में व्यावहारिक कारण प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय इन्हीं को ही देना चाहिए।

३. नायक-नायिका-भेद—

रुद्रट का यह प्रकरण इतना सुव्यवस्थित है कि शताब्दियों पर्यन्त इसी भेद-योजना को ही मूल रूप में अपनाया गया। यहाँ तक कि विश्वनाथ एवं भानुमिश्र जैसे परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में भी अधिकतर स्थलों पर रुद्रट के ही इसी प्रकरण का अनुकरण एवं अनुमोदन किया गया प्रतीत होता है। किन्तु इस सुव्यवस्था का सारा श्रेय रुद्रट को नहीं दिया जा सकता। भरत और रुद्रट के बीच लगभग एक सहस्र वर्ष के सुदीर्घ काल में काल-कवलित अनेक ग्रन्थों में इस प्रसंग की चर्चा हुई होगी, जिसका विकसित एवं परिष्कृत रूप रुद्रट के ग्रन्थ में स्थान पा गया। जो हो, आज तक की खोजों के अनुसार काव्यालंकार ही प्रथम काव्यशास्त्र है, जिसके नायक-नायिका-भेद-प्रकरण को मूल रूप में अपनाकर समय-समय पर उसमें परिवर्द्धन एवं परिष्करण होता रहा।

प्रक्षिप्त अंश—रुद्रट के इसी प्रकरण में उल्लिखित १४ कारिकाएँ [१२।४०—१ से १४] प्रक्षिप्त मानी जाती हैं। इस पाठांश में सर्वप्रथम अवस्था के अनुसार नायिका के अधीनपतिका आदि आठ प्रकारों की चर्चा की गयी है,[1] पुनः उत्तम आदि

---

१. इन आठ प्रकारों में छठे प्रकार का नाम दिया तो गया है प्रगल्भा, किन्तु लक्षण प्रस्तुत किया गया है विप्रलब्धा का। हमारे विचार में विप्रलब्धा पाठ ही उपयुक्त है, क्योंकि एक तो रुद्रट से पूर्ववर्ती भरत ने और परवर्ती आचार्यों—भोजराज, विश्वनाथ आदि ने भी इसी नाम का उल्लेख किया है, और दूसरे, प्रगल्भा नामक नायिका-भेद मुग्धा और मध्या के साथ ही उल्लिखित किया जाता है

तीन भेदों के नामोल्लेख के उपरान्त मूल पाठ और प्रक्षिप्त पाठ में उल्लिखित भेदों के परस्पर-संयोजन द्वारा नायिका के ३८४ भेदों का संकेत किया गया है, और अन्त में अगम्या नारियों का नाम गिनाया गया है। हमारा विचार भी यही है कि यह पाठ प्रक्षिप्त है, क्योंकि इसी पाठांश के उपरान्त ४१ से ४६ तक की मूल पाठ की कारिकाओं में अभिसारिका, खण्डिता, स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका नामक जिन नायिकाओं की चर्चा है, वे वही हैं जिन्हें उक्त आठ नायिकाओं में पहले भी स्थान मिल चुका है, और इन्हें दूसरी बार उल्लिखित करने का कोई कारण समझ में नहीं आता। अब इन्हें इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि यह स्पष्टतः लक्षित हो जाता है कि इनका निरूपण-प्रकार भी भिन्न है और इनका निरूपणकर्ता भी भिन्न व्यक्ति है। वस्तुतः कारिका सं० ४० और ४१ में इस प्रकार की संगति है कि इन दोनों के बीच का[प्रक्षिप्त] पाठ इनके बीच व्यवधान-सा उपस्थित करता है तो आखिर इस पाठ को प्रक्षिप्त करने का कारण क्या हो सकता है ? इसका कारण यह प्रतीत होता है कि रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार का कोई विद्वान् लिपिकार भरत-प्रस्तुत नायिका के उक्त आठ भेदों को, जो लिपिकार के समय में प्रख्यात हो चुके होंगे, सम्मिलित करने के लोभ का संवरण नहीं कर सका। अस्तु !

दोष-प्रकरण

इस ग्रन्थ में दोषों का निरूपण अलग-अलग स्थलों पर किया गया है—षष्ठ अध्याय में पहले ६ पदगत दोषों का और आगे चलकर ३ वाक्यगत दोषों का, तथा एकादश अध्याय में पहले ९ अर्थगत दोषों[1] का और फिर ४ उपमा-दोषों का। इन्हीं प्रसंगों में दोष किन स्थितियों में दोष नहीं रहते, इस पर भी संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।[2] इस प्रकार इन दोषों की कुल संख्या २२ हुई। इसके अतिरिक्त एक स्थल पर आदर्श वाक्य की विशिष्टताएँ निर्दिष्ट करने के लिए जिन वाक्य-गुणों की गणना की गयी है, उनके वैपरीत्य से सम्भव निम्नोक्त ६ दोषों की परिकल्पना की जा सकती है—न्यूनपदता, अधिकपदता, अवाचकता, अपक्रमता, अपुष्टार्थता और अचारुपदता।[3] इस प्रकार रुद्रट-प्रतिपादित दोषों की संख्या २८ मानी जा सकती है, जिनकी सूची इस प्रकार है—

(जिसे इस प्रक्षिप्तांश से पहले ही निर्दिष्ट किया गया है), स्वाधीनपतिका आदि आठ नायिकाओं के साथ नहीं।

१. पृष्ठ १५६-१७०, १७७-१७९, ३३८-३५८।

२. पृष्ठ १७१, १७२, १७५, १८१।

३. पृष्ठ २५।

(क) पददोष—असमर्थ, अप्रतीति, विसन्धि, विपरीत-कल्पना, ग्राम्यता और देश्य। (६)

(ख) वाक्यदोष—संकीर्ण, गर्भित, गतार्थ और अनलंकार (४)

(ग) अर्थदोष—अपहेतु, अप्रतीत, निरागम, वाधयन्, असम्बद्ध, ग्राम्य, विरस, तद्वान् और अतिमात्र। (९)

(घ) गुणों के वैपरीत्य से सम्भव अथवा पदवाक्यगत दोष—न्यूनपदता, अधिकपदता, अवाचकता, अपक्रमता, अपुष्टार्थता और अचारुपदता। (६)

इनसे पूर्व भरत, भामह, दण्डी और वामन 'दोष' पर प्रकाश डाल चुके थे। इन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित दोषों के नामों[1] से तो यह स्पष्टतः लक्षित होता है कि इनमें से कुछ दोष पूर्व-निर्धारित हो चुके थे और कुछ रुद्रट के ही ग्रन्थ में सर्वप्रथम उपलब्ध होते हैं -यह अलग प्रश्न है कि इन दोनों प्रकार के दोषों में से कुछ दोष प्रकारान्तर अथवा असाक्षात् रूप से निरूपित हो चुके हों; अथवा कुछ दोष एक-दूसरे में अन्तर्भूत हो सकते हों, अथवा किन्हीं में केवल परस्पर अभिधान में ही अन्तर हो, स्वरूप में अन्तर न हो। उक्त दोनों प्रकार के दोषों की सूची इस प्रकार है—

पूर्व-निरूपित दोष—

विसन्धि—भरत, भामह, और वामन द्वारा,

अवाचकता और अपक्रमता—भामह द्वारा,

अप्रतीत और अग्राम्यता—वामन द्वारा।

इनके अतिरिक्त रुद्रट-प्रस्तुत विपरीत-कल्पना और अपहेतु को भामह-प्रस्तुत कल्पना-पुष्ट और हेतुहीन के साथ किंचिद् नाम-साम्य के आधार पर परस्पर-सम्बद्ध किया जा सकता है।

रुद्रट ने चार उपमा-दोषों—सामान्य शब्दभेद, वैषम्य, असम्भव और अप्रसिद्धि का भी निरूपण किया है, जिनके सम्बन्ध में नमिसाधु की टिप्पणी है कि भामह-सम्मत सात उपमा-दोषों का अन्तर्भाव इन्हीं चारों में हो सकता है।

(देखिए—पृष्ठ ३४७-३४८)

केवल रुद्रट-प्रस्तुत दोष—

असमर्थ, देश्य, संकीर्ण, गर्भित, गतार्थ, निरागम, वाधयन्, असम्बद्ध, विरस, तद्वान्, अतिमात्र, न्यून, अधिकपदता, अपुष्टार्थता और अचारुपदता।

इन नवीन दोषों को सर्वप्रथम प्रतिपादित करने का श्रेय तो रुद्रट को मिलेगा ही, साथ ही जिस रूप से इन्होंने सर्वप्रथम सभी दोषों को पद, वाक्य तथा अर्थगत

१. देखिए 'भारतीय काव्यांग' पृष्ठ १८६-१८८

रूप में वर्गीकृत एवं व्यवस्थित किया है और जिस सम्यग् रूप से इनके लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, इसका श्रेय भी इन्हें ही मिलेगा। परिणामतः इन्हीं का दोष-प्रकरण भी परवर्ती आचार्यों द्वारा स्रोत-स्वरूप प्रयुक्त होता रहा है।

अन्य काव्य-तत्त्व

जैसा कि पहले निर्दिष्ट कर आये हैं, कलेवर की दृष्टि से अलंकार, रस एवं नायक-नायिका-भेद और दोष के उपरान्त काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु आदि १६ काव्य-तत्त्वों[1] की चर्चा उल्लेखनीय है—

१. **काव्यलक्षण—'ननु शब्दार्थौ काव्यम्'** रुद्रट के इस कथन को यदि काव्य-लक्षण स्वीकार कर लें तो यह कथन अति शिथिल है। इससे काव्य का वास्तविक रूप अवगत नहीं होता। शब्द और अर्थ अपने समन्वित रूप में तो न केवल काव्य के लिए अपेक्षित हैं अपितु शास्त्र एवं वार्ता के लिए भी अपेक्षित हैं। अतः यह लक्षण अति-व्याप्ति दोष से दूषित है। वस्तुतः रुद्रट को 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' द्वारा काव्यस्वरूप अथवा काव्यलक्षण प्रस्तुत करना अभीष्ट था भी नहीं। वे तो शब्द और अर्थ का स्वरूप प्रतिपादित करना चाहते थे और इसी की भूमिका-स्वरूप उन्होंने उक्त वाक्य कहा था—स्वयं 'ननु' शब्द से यही तथ्य स्पष्टतः लक्षित होता है। अस्तु ! और इसी तथ्य की पुष्टि इस ग्रन्थ के विषय-क्रम से भी हो जाती है। ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' कथन के उपरान्त शब्द के प्रकारों का निर्देश है, पुनः शब्द से सम्बद्ध वृत्ति, रीति और वाक्य की चर्चा है; फिर इसी अध्याय तथा तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम अध्याय में शब्दालंकारों का निरूपण है और षष्ठ अध्याय में पदगत तथा वाक्यगत दोषों का। सप्तम अध्याय में अर्थ का लक्षण तथा वाक्यार्थ की चर्चा के उपरान्त अर्थालंकारों का निरूपण प्रारम्भ हो जाता है, जो दशम अध्याय में जाकर समाप्त होता है। ग्रन्थ-प्रणेता अब भी अपना क्रम-निर्वहण करने के उद्देश्य से एकादश अध्याय में अर्थदोषों का निरूपण करता है। यदि वह चाहता तो दोष-प्रकरण को एक साथ निरूपित करता, किन्तु शब्दा-लंकारों के बाद शब्ददोष और फिर अर्थालंकारों के बाद अर्थदोष का निरूपण इसी तथ्य का ही द्योतक है कि 'शब्दार्थौ काव्यम्' यह कथन काव्यलक्षण का सूचक न होकर मूलतः काव्य के एक सामान्य स्वरूप का सूचक है और इसके बाद ग्रन्थ-प्रणेता पहले शब्द और फिर अर्थ के आधार पर विभिन्न काव्य-तत्त्वों का निरूपण प्रारम्भ कर देता है।

---

१. देखिए भूमिका-भाग पृष्ठ ७

[२,३] काव्यहेतु और काव्यप्रयोजन—इनमें से काव्यहेतु-प्रसंग का तो रुद्रट ने यथावत् निरूपण किया है, किन्तु काव्यप्रयोजन का निरूपण करना वस्तुतः उनका उद्देश्य नहीं था। रस-निरूपण की भूमिका-स्वरूप ही इसका वर्णन दो स्थलों पर हुआ है—पहली बार ग्रन्थारम्भ में (देखिए पृष्ठ ५), और दूसरी बार प्रसंगवश (देखिए पृष्ठ ३६०)। ग्रन्थारम्भ में यदि रुद्रट का प्रमुख उद्देश्य काव्यप्रयोजन निर्दिष्ट करना रहा भी हो, किन्तु दूसरे स्थल पर तो वे प्रकारान्तर से काव्य-महिमा का निर्देश कर रहे हैं। उनका यह प्रकरण न सुसम्बद्ध है और न गम्भीर—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।

× × ×

तस्मात् तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्। १२।१,२

और इसके बाद रस-प्रकरण आरम्भ हो जाता है।

हाँ, काव्यहेतु-प्रसंग अपेक्षाकृत अधिक सुसम्बद्ध, प्रौढ़ एवं गम्भीर है। शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास नामक काव्यहेतु तो रुद्रट से पहले भी निरूपित हो चुके थे, किन्तु शक्ति की जो परिभाषा रुद्रट ने प्रस्तुत की है, वैसी न तो इनसे पूव प्रस्तुत हुई थी और न इनके बाद हुई है—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥१।१५

पाश्चात्य दृष्टि से जिन काव्यप्ररणा-तत्त्वों का प्रायः उल्लेख किया जाता है, उनका समन्वित रूप कुछ इस प्रकार बनता है : जगत् की नानाविध घटनाओं के अनुभव से हमारे मन पर जो प्रभाव पड़ते हैं उनको—दूसरे शब्दों में, आतम और अनातम के संघर्ष से उत्पन्न प्रभावों को—अभिव्यक्त करने की तीव्र अभिलाषा काव्य की प्रेरणा है, और यह काव्यगत अभिव्यक्ति सामान्य कोटि की न होकर सुन्दर शब्दों में होती है। अब रुद्रट के शब्दों को देखिए—'अभिधेयस्य अनेकधा विस्फुरणम् यस्याम् असौ शक्तिः'—काव्यप्रणयन-प्रतिभा उसे कहते हैं जिसमें वर्ण्य विषय का—जगत् की घटनाओं का—नानाविध रूप से विस्फुरण अर्थात् अभिव्यक्ति की जाती है, और यह अभिव्यक्ति 'सुसमाधिनि मनसि' सुसमाधिस्थ मन में—एकाग्र चित्त में [आधुनिक शब्दावली में कहें तो कवि के 'आतम' में] होती है, तथा ऐसी अभिव्यक्ति में 'अक्लिष्टानि पदानि विभान्ति' अक्लिष्ट [सुन्दर एवं विषयानुरूप] पद सुशोभित होते हैं।

निस्सन्देह ऐसे स्थलों को देखकर कुछ इस प्रकार के निष्कर्ष निकालना नितान्त भ्रमपूर्ण एवं अवैज्ञानिक ही है कि आधुनिक पाश्चात्य चिन्तकों एवं मनीषियों ने भारतीय शास्त्र से प्रभावित होकर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, किन्तु यह तो मानना पड़ेगा

कि मानव-मन के ऐक्य के कारण ही इस प्रकार की समान धारणाएँ सम्भव हो जाती हैं। रुद्रट के काव्यहेतु-प्रसंग में प्रतिभा के सहज और उत्पाद्य नामक दो भेद भी सर्वप्र म यहीं निर्दिष्ट हुए हैं, जिन्हें परवर्ती आचार्यों में से हेमचन्द्र ने उल्लिखित किया है। [देखिए पृष्ठ ११-१६]

[४] **कवि-महिमा**—यह प्रसंग भी अति सामान्य कोटि का है।

[देखिए पृष्ठ १६]

[५, ६, ७, ८] **शब्द, वृत्ति, रीति तथा वाक्य**—ये सभी परस्पर-सम्बद्ध प्रसंग हैं, जिनकी चर्चा द्वितीय अध्याय के पूर्वार्द्ध में की गयी है। मूलतः यहाँ रुद्रट का ध्येय शब्द की परिचिति प्रस्तुत करना है, जिसकी 'प्रतिज्ञा' उन्होंने 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' के रूप में की थी। सार्थक वर्णसमूह को शब्द कहते हैं। शब्द के चार प्रकार हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। कुछ मनीषी पाँचवाँ प्रकार भी मानते हैं—कर्मप्रवचनीय। [देखिए पृष्ठ २१ से २३] नाम (संज्ञा, विशेषण और सर्वनाम—विशेषतः संज्ञा और विशेषण शब्दों) की वृत्ति दो प्रकार की होती है—समासवती और असमासवती, और समास के तारतम्य के आधार पर रीतियाँ चार प्रकार की होती हैं—वैदर्भी, पांचाली, लाटीया और गौडीया। सव्यपेक्ष वृत्ति वाले शब्दों का समूह वाक्य कहाता है तथा वाक्य अनेक गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। (२।८) वाक्यों में सौन्दर्य-विधायक पदों का प्रयोग होना चाहिए। (२।९-१०) वाक्य गद्यबद्ध और छन्दोबद्ध होता है तथा इसका प्रयोग प्राकृत, संस्कृत आदि छः भाषाओं में होता है। (२।११-१२)

[९, १०] **अर्थ और वाचक शब्द**—ये दोनों प्रसंग भी परस्पर-सम्बद्ध होने के कारण एक साथ निरूपित हुए हैं। अर्थ अभिधावान् होता है। इसका वाचक कोई न कोई शब्द होता है। वाचक शब्द चार प्रकार का है—द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति। [इनके विशेष विवरण के लिए देखिए ७।१-८] वाचक शब्द का ऐसा व्यवस्थित स्वरूप-निर्देश भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में प्रस्तुत हुआ है।

[११] **महाकाव्य**—महाकाव्य का स्वरूप इस ग्रन्थ में सर्वाधिक विशद एवं स्वच्छ रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसमें ग्रन्थकार का लक्ष्य राजसम्बन्धी कथानक के विवरण प्रस्तुत करने का अधिक रहा है—युद्ध-प्रयाण, स्कन्धावारों की स्थापना, मन्त्रिपरिषद्, सामूहिक संगीत, मद्यपान आदि। इसी प्रसंग में निम्नोक्त पद्य उल्लेखनीय है—

योद्धव्यं प्रातरिति प्रबन्धमधुपीति निशि कलत्रेभ्यः।
स्ववधं विशङ्कमानान् संदशान् दापयेत् सुभटान्॥ १६।१७

[१२, १३, १४] **महाकथा, आख्यायिका, लघुकाव्य**—इन तीनों प्रसंगों के स्वरूप-निर्देश में भी यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत की गयी है। (देखिए १६।२०-३५)

[१५] **अन्य काव्यरूप**—रुद्रट ने महाकाव्य, कथा, आख्यायिका और लघु-काव्य के अतिरिक्त निम्नोक्त अन्य चार काव्यरूपों का उल्लेख-मात्र किया है—वर्णक, प्रशस्ति, कुलक और नाटक, इन पर विशिष्ट प्रकाश नहीं डाला। (देखिए १६।३६)

इसी प्रसंग में 'काव्यं तद्बहुभाषं विचित्रमन्यत्र चाभिहितम्' पंक्ति व्याख्या-पेक्ष है। नमिसाधु ने इसे नाटक का विशेषण मानते हुए कहा है कि नाटक नामक काव्य बहुभाषा-सम्पन्न होता है तथा [सन्धि-सन्ध्यंग से संयुक्त होने के कारण] विचित्र होता है। किन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्रट का तात्पर्य उपर्युक्त चार काव्य-रूपों के अतिरिक्त दो अन्य रूपों से भी है—बहुभाषासंयुक्त काव्य और विचित्र काव्य, जिसमें अनेक काव्यरूपों का सम्मिश्रण हो। उक्त पंक्ति में 'काव्य' शब्द नाटक के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है, क्योंकि नाटक भी काव्य का ही एक रूप है, किन्तु इस अर्थ की अपेक्षा हमें अधिक समुचित अर्थ यही प्रतीत होता है कि काव्य को 'बहु-भाषम्' और 'विचित्रम्' का विशेष्य मानकर ये दो अन्य काव्यरूप स्वीकृत किये जाएँ। अस्तु !

(१६) **काव्य में निषिद्ध प्रसंग**—यह स्थल रुद्रट की अपने युग के प्रति सजगता एवं चेतनता प्रकट करता है। [देखिए भूमिका-भाग पृष्ठ २]

उदाहरण-भाग

इस ग्रन्थ के उदाहरण-भाग का प्रणयन ग्रन्थकार ने स्वयं किया है, अथवा इन्हें किन्हीं अप्रख्यात काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से अथवा विभिन्न काव्यग्रन्थों से संकलित किया है, अथवा किसी मौखिक परम्परा से इन्हें लिया है—यद्यपि इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, फिर भी सम्भावना यही की जा सकती है कि उपर्युक्त चारों स्रोत ही प्रयुक्त हुए हैं, और शायद स्वप्रणीत उदाहरण संख्या में बहुत अधिक होंगे। इस दृष्टि से इनके उपरान्त मौखिक-परम्परा से प्राप्त उदा-हरणों को स्थान देना चाहिए, फिर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से प्राप्त तथा अन्ततः काव्य-ग्रन्थों से प्राप्त उदाहरणों को। अस्तु !

उदाहरण-भाग का सम्यक् अध्ययन करने से यह तथ्य स्पष्ट रूप से लक्षित होता है कि ग्रन्थकार का उद्देश्य लक्षण-पक्ष की पुष्टि करना है—उसने इस प्रकार के सुनियोजित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जो स्वसम्बद्ध विभिन्न काव्यतत्त्वों के स्वरूप का अवबोध कराने में नितान्त समर्थ हैं। जैसा कि इस ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या के अन्त-र्गत समन्वय-भाग से स्पष्ट हो जाएगा। वस्तुतः काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के प्रणेता के रूप में रुद्रट की सफलता भी इसी तथ्य में निहित है कि वह उदाहरणों के माध्यम से पाठक को विभिन्न काव्यतत्त्वों के स्वरूप से अवगत करा दे। इसके लिए उसे अति श्रम

करना पड़ा होगा—विशेषतः यमक, अनुप्रास, शब्दश्लेष, चित्र, विरोधाभास, अर्थ-श्लेष जैसे अलंकारों के उदाहरण-निर्माण अथवा संकलन करने में, क्योंकि इनमें कवि-कल्पना की इतनी आवश्यकता नहीं रहती जितनी कि कवि-कौशल की।

इसी प्रकार विभिन्न दोषों के उदाहरणों का निर्माण करना भी सरल कार्य नहीं है, क्योंकि जानबूझकर अशुद्ध प्रयोग करना मन पर अनावश्यक बोझ डालता है। दोषों के उदाहरणों को विभिन्न काव्यग्रन्थों से संकलित करना तो अपेक्षाकृत और भी अधिक दुष्कर है, क्योंकि दोषदृष्टि के साथ किसी ग्रन्थ के अध्ययन के लिए अनुदारता एवं असहानुभूति-जैसी अवाञ्छनीय एवं काव्यास्वाद-विघातक भावनाओं का जानबूझकर प्रश्रय लेना आवश्यक हो जाता है—दूसरे शब्दों में, सहृदयता को किसी-न-किसी रूप में कुण्ठित एवं संविद्ध करना पड़ता है। रुद्रट-प्रस्तुत दोषों के प्रायः सभी उदाहरण सुघटित एवं सटीक हैं—निस्सन्देह ग्रन्थकार को इनके प्रणयन एवं संकलन के लिए भी पर्याप्त प्रयास करना पड़ा होगा। अलंकार और दोष प्रकरणों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में निरूपित तीसरा काव्यतत्त्व है—रस तथा इसी में अन्तर्भूत नायक-नायिका-भेद। रुद्रट ने इन दोनों काव्यतत्त्वों के विभिन्न भेदोपभेदों के उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये। इस अभाव के तीन कारण सम्भव हो सकते हैं—एक यह कि इन उदाहरणों से ग्रन्थ के कलेवर में वृद्धि हो जाती—विशेषतः नायक-नायिकाओं के विभिन्न भेदोपभेदों के उदाहरण देने से। दूसरा कारण यह कि ग्रन्थकार को किसी प्रख्यात एवं अप्रख्यात काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ से इनके सुसम्बद्ध एवं सुसंगत उदाहरण नहीं मिले। तीसरा कारण यह कि ग्रन्थकार का लक्ष्य एक अलंकार-विषयक ग्रन्थ का निर्माण करना था, न कि रस-विषयक ग्रन्थ का। कारण जो भी हो, रुद्रट यदि नायक-नायिका-भेद के न सही, शृंगार आदि दसों रसों के—विशेषतः प्रेयान् रस के जिसका सर्वप्रथम उल्लेख उन्हीं के ग्रन्थ में मिलता है—उदाहरण प्रस्तुत कर देते तो ग्रन्थ का महत्त्व कहीं और अधिक बढ़ जाता—किसी अलंकार-ग्रन्थ में यदि दोष-प्रकरण का विस्तृत एवं विशेषतः सोदाहरण प्रतिपादन किया जा सकता है तो रस-प्रकरण में उदाहरणों की प्रस्तुति तो और भी अधिक वाञ्छनीय थी।

रुद्रट-प्रस्तुत उदाहरण लक्षण-लक्ष्य-समन्वय की दृष्टि से निस्सन्देह सुगठित एवं सुघटित हैं, किन्तु शायद यही इनका गुण निम्नोक्त अवगुण का कारण भी बन गया है कि काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से वे उतने प्रशंसनीय नहीं बन पाये। इनका अनुभूति-पक्ष प्रायः शिथिल है। पाठक किसी काव्यतत्त्व के विभिन्न घटकों को तो इनमें पा लेता है, पर वे उसके हृदय को आकृष्ट नहीं कर पाते। इसी कारण हमारा अनुमान है कि अधिकतर उदाहरण विभिन्न काव्यग्रन्थों से संकलित न किये जाकर स्वनिर्मित ही प्रस्तुत किये गये हैं। यदि यह परिकल्पना सत्य है तो रुद्रट सफल

आचार्य तो थे, पर सफल कवि नहीं थे। अन्यथा उत्प्रेक्षा, सूक्ष्म जैसे अलंकारों के उदाहरणों में भी जहाँ काव्यचमत्कार-प्रदर्शन का अवकाश रहता है, रुद्रट केवल इतिवृत्त का ही उपन्यास करके रह गये हैं। (देखिए पृष्ठ १५८, २३८)

प्रायः उदाहरणों के विषय निम्नोक्त हैं—नायिका का रूपचित्रण, नायक एवं नायिका के संयोग तथा वियोग के चित्र[१], विभिन्न देवताओं, विशेषतः शिव, पार्वती की स्तुति[२], राजा की स्तुति, किसी राजा द्वारा प्रदत्त दान[३], वसन्त एवं शरद् ऋतुओं का वर्णन अथवा ऋतुओं का उद्दीपन-रूप में वर्णन[४], नीति[५], कविप्रशंसा[६] आदि। इन विषयों से सम्बन्धित अधिकतर पद्य परम्पराभुक्त एवं काव्यरूढ़ हैं। वस्तुतः विरोध (विरोधाभास), परिसंख्या, एकावली, विभावना, विशेषोक्ति, तद्गुण जैसे अलंकारों में तो प्रायः इसी प्रकार की शैली सुरुचिपूर्ण सहृदयों के लिए अवाञ्छनीय रहती है। फिर भी कतिपय उदाहरण कवित्वपूर्ण हैं, जिनमें कल्पनाजन्य सौन्दर्य निहित है—

—राजभवन की नीली मणियों के बने हुए फ़र्श पर जब चन्द्रमा की किरणें पड़ती हैं तो ऐसा लगता है, जैसे पत्ते उग आये हों और तारों का प्रतिबिम्ब पड़ने से वहाँ फूल लगे दिखायी देते हैं। ६।१३

—बहुत घने कुंकुम राग से अरुण यह [प्रातःकालीन] सन्ध्या [रवि-रथ की] पताका के समान शोभित हो रही है, और [मानो] उदयाचल की ओट में छिपे सूर्य की समीपता सूचित कर रही है। ८।३७

—आपके शासन में अनेक यज्ञों के धुएँ से व्याप्त दिशाओं को देखकर हंस वर्षागमन की आशंका से व्याकुल हो रहे हैं। ८।८८

—मदिरा के मद से कुछ-कुछ लाल और भ्रमरसमूह के समान काले बालों की वेणी वाला यह तरुणी का मुख है—ऐसा सभी लोग कहते हैं, किन्तु मेरा विचार है कि यह चन्द्रमा है, और अभी-अभी उदय होने से कुछ-कुछ लाल है, तथा उदयगिरि पर स्थित रात्रि के कुटिल अन्धकार ने इसे सम्भवतः पीछे से पकड़ रखा है। ८।७०-७१

---

१. (क) ४।१६, ७।१४, २२; ८।६, ८, १०, १६, १८, २०
   (ख) ७।३३, ५७
   (ग) ६।१०; ७।१६, ५५, ६०

२. ५।६-६, १२, १८, २१; ७।३६, ३७

३. ५।३०, ६।३०, ३१, ३७; ७।२८, ४३, ४६, ५०, ७५; २।२७

४. (क) २।३०; ३।१४; ७।२५
   (ख) ७।२६, ६०; ८।६२

५. ७।७६; ८।२०, ८।२३

६. ६।१६

—क्या यह चन्द्रविम्ब है ? यदि है तो इसमें कलंक क्यों नहीं ? क्या यह मुख है ? यदि यह मुख है तो इसकी इतनी प्रभा कैसे ? फिर यह क्या हो सकता है ? हे सुन्दरि ! महल की छत पर तुम्हारे सारे शरीर के छिप जाने के कारण केवल तुम्हारे मुख को देखकर पथिक लोग इस प्रकार सन्देह कर रहे हैं । ८।६०-६१

—तिरछी दृष्टि के कारण स्वभावतः चंचल और सरस उस कामिनी के नेत्र-युगल में अंनुराग रहने पर भी उसे कौन जान सकता है । ७।१०७

—जहाँ पर रात्रि में महामणियाँ कज्जल और बत्ती के बिना ही सुरत-समय का दीपक होती हैं, और वस्त्र-विहीन वधू द्वारा [मणियों के ऊपर] डाली हुई पुष्प-माला से भी उनका प्रकाश मन्द नहीं पड़ता । ६।५३

बस, कुछ इतने ही इने-गिने उदाहरण कवि की कल्पना-शक्ति के निर्देशक हैं—अधिकतर उदाहरण परम्पराभुक्त अथवा काव्यरूढ़िसम्पन्न हैं । उदाहरणार्थ—

—तुम कुछ खिन्न से दिखायी पड़ते हो, अवश्य ही कान्ता के चरणों पर सिर रखकर आये हो, अन्यथा तुम्हारे माथे पर यह मेंहदी का तिलक कैसे लगा ? ७।५७

—सुन्दरी के चन्द्रमा की कला के समान कोमल अंगों को भरता तो है नव-यौवन और काम बढ़ता है विरही नवयुवकों के हृदय में । ६।४६

—अभिसारिकाएँ निर्मल शुक्ल वस्त्र पहनने के कारण गहरी चाँदनी में अलक्षित होकर निःशंक रूप से अपने प्रेमियों के घरों में द्रुतवेग से प्रवेश कर रही हैं । ६।२३

—हे हंस, मेरी प्रिया को मुझे वापस दे दो । उसे तूने ही चुराया है—क्या यह बात असत्य है ? यह तेरी गति उसकी ही है । यह तेरी अति मधुर वाणी भी उसी की ही है । ११।२३

—आपके अपराधों के साथ ही उसका सन्ताप बढ़ता जा रहा है और तुम्हारे स्नेह के साथ-ही-साथ वह बेचारी भी क्षीण होती जा रही है । ७।१६

—हे राजन् ! कैदी शत्रुओं के [हाथ-पैरों में पड़ी] शृंखलाओं के शब्द से आप निद्रात्याग करते हैं और इसी शब्द से चारण लोगों द्वारा किया हुआ कलकल (प्रभात-वेला का स्तुतिगान) भी दब गया है । ७।४३

—यह चम्पक वृक्ष का शिखर पुष्पसमूह के व्याज से कामाग्नि के समान ऊँचे चढ़कर वियोगियों को जलाने की इच्छा से देख रहा है । ८।३३

—मृगशावक के समान चंचलनयना उस युवती ने अपने विमल कपोल पर तिलक क्या बनाया, मेरे मन पर अपने शरीर का चित्र बना डाला ।६।१०

—वर्षा ऋतु आने पर पानी से लबालब भरे हुए तालाब में मानो हंस के वियोग से संतप्त होकर कमलिनी ने तुरन्त जल में प्रवेश कर लिया है। ६।१५

—चन्द्रमा तो क्षीण होकर भी फिर वृद्धि को प्राप्त कर लेता है, किन्तु गया हुआ यौवन फिर वापस नहीं आता। इसलिए हे सुन्दरि ! [अब] प्रसन्न हो [कर मान जाओ] ७।६०

और यदि किन्हीं-किन्हीं उदाहरणों में परम्परागत वर्णनशैली के साथ-साथ कल्पना का मिश्रण है भी तो वे सुबुद्ध पाठक के लिए सुरुचि के स्थान पर कुरुचि के ही कहीं अधिक उत्पादक हैं। उदाहरणार्थ—

—हे राजन् ! आपकी शत्रुस्त्रियों का आँसू कामुक व्यक्ति की भाँति क्या-क्या नहीं करता। पहले तो वह उनके चन्द्रबिम्ब के समान निर्मल कपोलों का चुम्बन करता है। फिर आगे बढ़ता हुआ उनके स्थूल कुचों का ताड़न करता है। तत्पश्चात् उनके गले लगता है। इस प्रकार आनन्दानुभव में बाधा न डालते हुए वह उनके जघन आदि का स्पर्श करता है। १०।२६

और वैसे, इस प्रकार के पद्यों की भी कमी नहीं है जो सर्वथा काव्यचमत्कार-हीन हैं। उदाहरणार्थ—

हे मित्र ! तुम क्या सोच रहे हो ? मैं तुम्हें कह रहा हूँ। इधर देखो, इधर ! अरे तुम क्यों नहीं देखते हो ? हे मित्र ! इन ऐसी सुन्दर स्त्रियों को देखो। ६।३५

निष्कर्षतः इस ग्रन्थ का उदाहरणपक्ष शास्त्रीय दृष्टि से जितना अधिकांशतः सुपुष्ट है, काव्यत्व की दृष्टि से उतना ही शिथिल है। फिर भी, यदि कतिपय परवर्ती प्रख्यात आचार्यों—मम्मट, धनञ्जय, रुय्यक और विश्वनाथ—द्वारा इनके उदाहरणों को उद्‌धृत किया गया है तो इसका कारण शास्त्रीय पुष्टता ही है।[1] ऐसे उदाहरणों की संख्या कम-से-कम ६० है और ये सभी सर्वप्रथम रुद्रट द्वारा ही प्रस्तुत किये गये हैं। इस ग्रन्थ के २५३ उदाहरणों में से ६० उदाहरणों का विश्वनाथ-पर्यन्त उद्धृत होते रहना इनकी शास्त्रीय परिपक्वता के अतिरिक्त प्रकारान्तर से इस ग्रन्थ की ख्याति का भी सूचक हैं।

प्रतिपादन-शैली

प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ तीन रूपों में विभक्त किये जाते हैं—पद्यात्मक शैली, सूत्रवृत्ति शैली और कारिकावृत्ति शैली।

(क) पद्यात्मक शैली—संस्कृत के कुछ आचार्यों ने केवल पद्यात्मक शैली को

१. देखिए परिशिष्ट ४

अपनाया है। उदाहरणार्थ भरत, भामह, दण्डी, उद्‌भट, वाग्भट प्रथम, जयदेव, अप्पय्य-दीक्षित आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से भरत ने कुछ स्थलों पर गद्य का भी आश्रय लिया है।

(ख) सूत्रवृत्ति शैली—वामन और रुय्यक के शास्त्रीय सिद्धान्त सूत्रबद्ध हैं, और सूत्रों की वृत्ति गद्यात्मक है। उदाहरणों के लिए इन दोनों ने पद्य का आश्रय लिया है। इनसे मिलती-जुलती शैली भानुमिश्र, जगन्नाथ, अकबरशाह आदि की है।

(ग) कारिकावृत्ति शैली—आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने कारिकावृत्ति शैली को अपनाया है। इनके प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त कारिकाबद्ध हैं। उनकी व्याख्यात्मक विवेचना गद्यबद्ध वृत्ति में है और उदाहरण पद्यात्मक हैं।

रुद्रट का यह ग्रन्थ पद्यात्मक शैली में लिखा गया है। प्रायः सभी लक्षण और उदाहरण पृथक्-पृथक् पद्यों में हैं, कहीं-कहीं, विशेषतः दोषप्रकरण में, एक ही पद्य में लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरणार्थ देखिए—एकादश अध्याय। प्रायः सभी अध्यायों के अन्तिम पद्य में उस अध्याय का उपसंहार प्रस्तुत किया गया है।[1]

शास्त्रीय पक्ष को प्रस्तुत करने की आदर्श शैली यह है कि उसे सरल एवं सुबोध रूप में प्रस्तुत किया जाए। इस ग्रन्थ के शास्त्रीय पक्ष की प्रतिपादन-शैली अति दुरूह तो नहीं है किन्तु सर्वत्र ऐसी सुबोध भी नहीं है कि पढ़ते ही समझ में आ जाए। अनेक स्थलों में नमिसाधु की टिप्पणी की सहायता के बिना अर्थावबोध में कठिनता उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ—१।११, १।१४, १।१५, ४।१, ४।३२, ६।१२, ६।३४, ७।८, ७।१६, ७।५१, ८।३२, ८।४७, ८।५७, ८।६७, ८।१०५।

इस दुर्बोधता का मूल कारण यह है कि रुद्रट अपने प्रतिपाद्य को छन्दोबद्ध करते समय शब्दों को यथाभीष्ट 'गणों' की सुघटता के अनुसार रखते चले जाते हैं और इस बात की चिन्ता नहीं करते कि परस्पर सम्बद्ध शब्द यथासम्भव एक साथ आ जाएँ। यदि ऐसा होता तो विषय सरल बन जाता। उदाहरण के लिए निम्नोक्त करिकाएँ देखिए—८।३२, ४७, १०५। कहीं-कहीं उन्होंने एक ही पद्य में अनेक घटकों को संजो देने के उद्देश्य से विषय को दुरूह भी बना लिया है। उदाहरणार्थ 'मान' का लक्षण लीजिए—

मानः सः नायके यं विकारमायाति नायिका सेर्ष्या।
उद्दिश्य नायिकान्तरसंबन्धसमुद्‌भवं दोषम्॥ १४।१५

साहित्यदर्पण इस दृष्टि से निस्सन्देह एक सफल ग्रन्थ है। उपर्युक्त सभी पद्यों में निरूपित

---

१. देखिए २, ३, ४, ५, ११, १२, १३, १४, १५, १६ अध्यायों के अन्तिम पद्य।

काव्यतत्त्वों की तुलना साहित्यदर्पण में प्रतिपादित इन्हीं तत्त्वों से करने पर इस कथन की पुष्टि हो जाती है। किन्तु ऐसे स्थल बहुत अधिक नहीं हैं। समग्र रूप में ग्रन्थ की प्रतिपादन-शैली ग्रन्थकार के उपयुक्त शब्दचयन एवं प्रौढ़ विवेचनक्षमता को प्रकट करती है।

विभिन्न काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त और रुद्रट

अन्ततः विचारणीय प्रश्न यह है कि रुद्रट को विभिन्न काव्यसिद्धान्तों में से किसके साथ सम्बद्ध किया जाए। उन्हें प्रायः अलंकारवादी माना जाता है। इस मान्यता की पुष्टि में एक ही प्रमुख तर्क दिया जा सकता है कि उन्होंने अलंकारों का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक मनोयोग के साथ किया है। उनके ग्रन्थ का लगभग आधा भाग अलंकार को समर्पित है।[1] उन्होंने अपने समय तक सर्वाधिक अलंकारों का निरूपण किया है। वे अनेक नवीन अलंकारों को प्रकाश में लाये हैं। उन्होंने अनेक अलंकारों के भेदोपभेदों को व्यवस्थित रूप दिया है तथा सबसे बढ़कर तथ्य यह है कि उन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण सर्वप्रथम प्रस्तुत किया है। किन्तु उधर भामह, दण्डी और उद्भट—इन तीनों आचार्यों को निम्नोक्त दो आधारों पर अलंकारवादी कहा जाता है—

१. भामह ने अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है : **न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।**

२. उक्त सभी आचार्य काव्य के सभी उपादेय अंगों को किसी-न-किसी रूप में अलंकार में अन्तर्भूत करते हैं। उदाहरणार्थ—अलंकार-सम्प्रदाय के अनुसार अनुप्रास, उपमा आदि तो अलंकार हैं ही, रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति आदि भी रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वी, समाहित आदि अलंकार ही हैं। दूसरे शब्दों में, रसध्वनिवादी जिन्हें 'अलंकार्य' (अलंकारों द्वारा अलंकरणीय) मानते हैं उन्हें यहाँ 'अलंकार' कहा गया है। इसी प्रकार गुण और ध्वनि को भी प्रकारान्तर से 'अलंकार' में अन्तर्भूत किया गया है—यहाँ तक कि नाट्य-सन्धियों, नाट्सन्ध्यंगो, रसवृत्तियों, रसवृत्त्यंगों तथा 'भूषण' आदि लक्षणों को भी 'अलंकार' नाम देने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

अब यदि इन दोनों आधारों के साथ रुद्रट-विषयक उक्त आधारों की तुलना की जाए, जिनके बल पर उन्हें अलंकारवादी मान सकते हैं, तो ये अत्यन्त अपुष्ट, तर्क-हीन एवं शिथिल सिद्ध होते हैं। अलंकारों का निरूपण करना, उनका व्यवस्थित वर्गी-करण प्रस्तुत करना, उन्हें अन्य काव्यांगों की अपेक्षा ग्रन्थ का अधिक कलेवर समर्पित करना आदि इस तथ्य का द्योतक नहीं है कि रुद्रट भी भामह, दण्डी और उद्भट के समान

---

१. देखिए भूमिका-भाग पृष्ठ ७

अलंकार को काव्य का सर्वस्व स्वीकार करते थे, विशेषतः उस स्थिति में जब कि उन्होंने न तो इस प्रकार के कथन प्रस्तुत किये हैं और न कहीं यह संकेत किया है कि किसी अलंकार में रस आदि जैसे महनीय काव्यतत्त्व समाविष्ट किये जा सकते हैं—हाँ, रुद्रट-प्रस्तुत भाव अलंकार के दोनों प्रकार मम्मट-सम्मत गुणीभूतव्यंग्य और ध्वनि के आसपास माने जा सकते हैं--दोनों आचार्यों द्वारा प्रस्तुत उदाहरण लगभग एक से हैं। किन्तु केवल एक आनुषंगिक एवं अनायास संकेत-मात्र से यह सिद्ध करने का प्रयास करना कि रुद्रट ने ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य जैसे महत्त्वपूर्ण काव्यतत्त्वों को 'अलंकार' में अन्तर्भूत किया है, अतः वे अलंकारवादी थे, भारी भूल होगी—विशेषतः उस स्थिति में जब कि उन्होंने भामह, दण्डी, एवं उद्भट के समान रस का अन्तर्भाव रसवद् अलंकार में न कर रस का विवेचन एक स्वतन्त्र काव्यतत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने दस रसों का स्वरूप प्रस्तुत किया है। श्रृंगार रस को अपने दृष्टिकोण से सर्वोत्कृष्ट रस स्वीकार किया है। इस रस के आलम्बन-विभाव के रूप में नायक-नायिका-भेद का निरूपण किया है, तथा रस को महाकाव्य के लिए एक आवश्यक तत्त्व माना है—ये सभी तथ्य उन्हें अलंकारवादी आचार्य स्वीकार करने में साधक नहीं हैं।

तो क्या रुद्रट रसवादी आचार्य थे ? हमारा विचार है कि वे रसवादी भी नहीं थे। कारण अनेक हैं—रस का यथासम्भव विस्तृत निरूपण करना, रसके प्रति समादरभाव रखते हुए कवि को सरस काव्य की रचना का आदेश देना—ये सभी प्रसंग इस तथ्य के द्योतक नहीं हैं कि रुद्रट रसवादी आचार्य थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ में रस-प्रकरण के अन्तर्गत न तो विभाव, अनुभाव तथा संचारिभावों का नामोल्लेख एवं स्वरूपनिर्देश किया है, न विभिन्न रसों के स्वरूपनिर्देश में इनकी सम्बद्धता दिखायी है। इतना ही नहीं, इनके ग्रन्थ में विभाव, अनुभाव, संचारिभाव जैसे शब्दों का प्रयोग तक नहीं हुआ है--भरत का रसनिष्पत्ति-विषयक सूत्र तक उद्धृत नहीं किया गया। परन्तु ये सभी प्रसंग यदि रुद्रट के ग्रन्थ में सविस्तर वर्णित किये जाते तो भी इन्हें रसवादी आचार्य स्वीकार न किया जाता। वस्तुतः रसवादी आचार्य उन्हें स्वीकृत करना चाहिए जो रस के प्रति समादर-भाव प्रकट करने के अतिरिक्त निम्नोक्त दो आधारों को साक्षात् रूप से अथवा प्रकारान्तर से स्वीकृत करते हैं—

१. रसवादी आचार्य रस के साथ अन्य काव्यतत्त्वों—अलंकार, गुण, रीति आदि को सम्बद्ध करते हुए इन्हें रस के पोषक रूप में स्वीकार करते हैं। परिणामतः, इन काव्यतत्त्वों का लक्षण रस के ही आधार पर प्रस्तुत करते हैं, इतना ही क्यों, दोष का लक्षण भी रस के ही 'अपकर्ष' पर निर्धारित करते हैं—जहाँ दोष रस का अपकर्षक है, वहीं वह दोष है, अन्यथा दोष नहीं है। आनन्दवर्द्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि

आचार्य इसी धारणा के पोषक हैं।[१]

२. (क) रसवादी आचार्य वे स्वीकार किये जाते हैं जो यद्यपि आनन्दवर्द्धन के अनुकरण में रस को व्यंग्य पर आश्रित मानकर उसे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक ध्वनि का पर्याय स्वीकार करते हैं, तो भी वे रस को ही काव्य की आत्मा रूप में स्वीकृत करते हैं। विश्वनाथ एवं उनके अनुकर्ता ऐसे ही आचार्य हैं।

(ख) इनके अतिरिक्त ऐसे आचार्य भी हैं, जो आनन्दवर्द्धन के अनुकर्ता तो नहीं हैं, पर रस को काव्य की आत्मा मानते हैं। उदाहरणार्थ—अग्निपुराणकार ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने ध्वनितत्त्व का उल्लेख नहीं किया, अथवा महिमभट्ट ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने ध्वनितत्त्व का अपनी दृष्टि से खण्डन किया है।[२] अतः इन जैसे आचार्यों के मत में रस को ध्वनि का एक भेद मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता—फिर भी इन्होंने रस को काव्य की आत्मा माना है।[३]

उक्त दोनों धारणाओं का ही मिला-जुला परिणाम यह हुआ कि रसवादी आचार्यों ने, दूसरे शब्दों में, रस को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने वाले आचार्यों ने, 'काव्यपुरुष-रूपक' के प्रसंग में रस को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए अन्य काव्यतत्त्वों को इस रूप में प्रस्तुत किया कि वे रस-रूप केन्द्र पर ही अवस्थित रहकर अपना स्वरूप एवं अस्तित्व बनाये रह सकते हैं। राजशेखर और विश्वनाथ के कथन इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं,[४] और विश्वनाथ ने तो सर्वप्रथम अपना काव्यलक्षण भी

---

१. (क) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ का० प्र० ८।६७

(ख) ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवाऽऽत्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ का० प्र० ८।६६

(ग) पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम् × × ×॥ सा० द० ९।१

(घ) रसापकर्षकाः दोषाः। सा० द० ७।१

२. महिमभट्ट ने ध्वनि का अन्तर्भाव 'अनुमान' में करने का प्रयास किया है।

३. (क) वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्। (अग्निपुराण)

(ख) काव्यस्यात्मनि संगिनि × × × रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।
(सा० द० प्रथम परिच्छेद से उद्धृत)

४. (क) काव्यमीमांसा (बि० राष्ट्रभाषा परिषद्) पृ० १३-१४

(ख) काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवद् इति।
(सा० द० १म परि०)

इसी मान्यता के आधार पर प्रस्तुत किया—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।**

किन्तु रुद्रट किसी भी दृष्टि से रसवादी आचार्य सिद्ध नहीं होते । काव्य-पठन का क्या प्रयोजन है—इसी प्रसंग में उन्होंने 'सरस' व्यक्तियों के विषय में कहा है कि वे तो काव्य के द्वारा ही चतुर्वर्ग [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष] का ज्ञान शीघ्र एवं सरल रूप से प्राप्त कर लेते हैं—क्योंकि ऐसे व्यक्ति [अध्यात्मवादी व्यक्तियों के असमान] नीरस शास्त्रों से भयभीत होते हैं। अतः कविजनों को अति प्रयत्नपूर्वक रसयुक्त काव्य की रचना करनी चाहिए, अन्यथा ये भी शास्त्र के समान उद्वेगजनक ही होंगे। (१२।१,२) बस, इतनी पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने के उपरान्त उन्होंने दस रसों का स्वरूप प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया है। उनके इस प्रसंग में उक्त तीनों आधारों में से किसी आधार पर साक्षात् अथवा प्रकारान्तर से प्रकाश नहीं डाला गया—केवल एक संकेत अवश्य मिलता है कि प्रेयान्, करुण, भयानक और अद्भुत रसों में तो वैदर्भी और पांचाली रीतियों का यथावत् प्रयोग करना चाहिए और रौद्र रस में लाटिया और गौडीया का । किन्तु यह संकेत भी आनुषंगिक ही है । यदि इसे रुद्रट की मान्यता ही मान लिया जाए तो भी इतने मात्र से उन्हें रसवादी आचार्य मानना समुचित नहीं है । अस्तु !

इसके अतिरिक्त वे रीतिवादी, ध्वनिवादी तथा वक्रोक्तिवादी आचार्य भी नहीं हैं, क्योंकि उन पर ध्वनि एवं वक्रोक्ति सिद्धान्तों के प्रभाव पड़ने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता—इनके प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन तथा कुन्तक इनसे परवर्ती हैं । रीतिवादी आचार्य वामन निस्सन्देह इनसे पूर्व विद्यमान थे, किन्तु इनके ग्रन्थ पर उनका साक्षात् अथवा असाक्षात् कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता ।

निष्कर्षतः, उन्हें काव्यशास्त्र के उपर्युक्त प्रख्यात पांच सिद्धान्तों में से किसी भी सिद्धान्त के साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता । वे वस्तुतः अपने समय के एक सफल संग्रहकर्ता आचार्य हैं ।

महत्त्व

रुद्रट के ग्रन्थ के सम्यक् अध्ययन से यह स्पष्टतः लक्षित होता है कि यद्यपि वे अपने से पूर्ववर्ती किसी भी प्रख्यात काव्याचार्य से साक्षात् रूप से प्रभावित नहीं हैं—न भरत से, न भामह, दण्डी तथा उद्भट से, और न वामन से । फिर भी उन्हें किन्हीं काव्याचार्यों से प्रभावित स्वीकृत करना ही पड़ेगा—क्योंकि एक व्यक्ति द्वारा इतनी अधिक नवीन सामग्री प्रस्तुत करना—विशेषतः अलंकार-प्रकरण में—नितान्त असम्भव प्रतीत होता है, और विशेषतः उस स्थिति में जब कि काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण के विषय में यह कथन स्वाभाविक एवं नितान्त मान्य है कि

इनकी उत्पत्ति नहीं होती, अपितु इनका विकास होता है। रुद्रट द्वारा निरूपित एवं प्रतिपादित नूतन अलंकारों एवं अलंकार-वर्गों का—विशेषतः नूतन अलंकारों का—विकास मानना चाहिए। इस दृष्टि से रुद्रट उस अप्रख्यात आचार्य-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो उक्त भरत आदि पाँचों आचार्यों से साक्षात् रूप से अप्रभावित रहकर काव्यसिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहे थे।[1] पहला महत्त्व तो रुद्रट का यही है।

रुद्रट का दूसरा महत्त्व यह है कि इनके ग्रन्थ के अवलोकन से कुछ इस प्रकार के आभास मिल जाते हैं कि अब अलंकारवादी एवं रीतिवादी सिद्धान्त-परम्परा समाप्त हो चुकी है तथा किसी ऐसे सिद्धान्त का प्रतिस्फुटन होने जा रहा है जो काव्य का बाह्यपरक तत्त्व न होकर आन्तरिक तत्त्व है—हमारा संकेत ध्वनि-सिद्धान्त की ओर है। इस दृष्टि से रुद्रट एक ओर अलंकारवादी तथा रीतिवादी आचार्य और दूसरी ओर ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन के बीच एक शृंखला का कार्य करते हैं। वैसे, उद्भट, रुद्रट और आनन्दवर्द्धन का आविर्भावकाल एक ही शताब्दी में—नवम शताब्दी में—माना जाता है। उद्भट अलंकारवाद के समर्थक आचार्य हैं, आनन्दवर्द्धन ध्वनि-वाद के और रुद्रट इन दोनों की मध्यवर्ती शृंखला का कार्य करते हैं—किन्तु यह तो संयोग मात्र ही है। वर्ण्यविषय की दृष्टि से तो रुद्रट मध्यवर्ती आचार्य होने के नाते अपना विशिष्ट महत्त्व रखते ही हैं।

रुद्रट का तीसरा महत्त्व यह है कि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में यदि भरत के नाट्यशास्त्र को काव्यविधान का ग्रन्थ न मानकर नाट्यविधान का ही ग्रन्थ मानें तो रुद्रट का ग्रन्थ प्रथम 'संग्रह-ग्रन्थ' है और संग्रह-ग्रन्थों में यह विशिष्टता अनिवार्यतः होनी चाहिए कि वे किसी एक सिद्धान्त के प्रतिपादक एवं परिपोषक न हों। एक संग्रह-ग्रन्थ होने के नाते यदि यह ग्रन्थ किसी एक सिद्धान्त से प्रभावित अथवा उसका प्रतिपादक नहीं है तो यही इसकी विशिष्टता है। यों, संग्रह-ग्रन्थों का निजी विशिष्ट महत्त्व यह होता है कि वे एक कोष का कार्य करते हैं। यह ग्रन्थ तो इस दृष्टि से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इसमें अपने समय तक के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का व्यवस्थित, सुनियोजित एवं स्वस्थ संग्रह प्रस्तुत किया गया है।

रुद्रट का चौथा और अन्तिम महत्त्व निम्नोक्त तथ्यों में निहित है—

---

१. इस मान्यता की पुष्टि इस तथ्य से भली भाँति हो जाती है कि अग्निपुराणकार और भोजराज की भी यही स्थिति है। वे भी अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित वर्ण्य-विषय की दृष्टि से अपने से पूर्ववर्ती प्रख्यात आचार्यों की परम्परा में संयुक्त नहीं किये जा सकते, क्योंकि ये उनसे प्रभावित प्रतीत नहीं होते। विद्वद्गोष्ठियों में जो भी काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त चर्चित एवं विवेचित होते होंगे, उन्हीं का संकलन इनके ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

(क) यद्यपि यह अलंकारवादी युग के आचार्य थे तो भी भरत के उपरान्त रस का स्वतन्त्र निरूपण इनके ग्रन्थ में उपलब्ध है।

(ख) प्रेयान् रस की सर्वप्रथम चर्चा इन्होंने की है।

(ग) सर्वप्रथम इन्होंने नायकनायिका-भेद-प्रकरण को रस-प्रकरण के अन्तर्गत निरूपित करके प्रकारान्तर से इसे शृंगार रस का ही एक प्रसंग निर्दिष्ट किया है, क्योंकि वस्तुतः नायक और नायिका, तथा सखी, दूती आदि ये सभी शृंगार रस के विभाव ही हैं। आगे चलकर यही व्यवस्था अनेक आचार्यों ने अपनायी, जिनमें से भोज और विश्वनाथ के नाम विशेष रूप से उल्लेख्य हैं।

(घ) इन्होंने नायकनायिका-भेद का विस्तृत निरूपण किया है। नायिका के प्रसिद्ध तीन भेदों—स्वकीया, परकीया और सामान्या का उल्लेख भी सर्वप्रथम इन्हीं के ग्रन्थ में मिलता है।

(ङ) इनके ग्रन्थ में निरूपित ५३ अलंकारों में से २७ अलंकार सर्वप्रथम इनके ग्रन्थ में उपलब्ध हैं।

(च) 'वक्रोक्ति' को एक शब्दालंकार के रूप में सर्वप्रथम इन्होंने निरूपित किया है।

(छ) अलंकारों का वर्गीकरण भी सर्वप्रथम इन्होंने प्रस्तुत किया है।

(ज) इनके उदाहरणों में यद्यपि काव्य-चमत्कार का प्रायः अभाव ही है, तथापि ये पूर्ववर्ती अलंकार-ग्रन्थों के उदाहरणों की अपेक्षा संख्या की दृष्टि से तो सर्वाधिक हैं ही, साथ ही सर्वाधिक व्यवस्थित एवं सुघटित रूप में भी सर्वप्रथम प्रस्तुत हुए हैं। यह ठीक है कि परवर्ती आचार्यों ने अधिकांशतः इन्हीं उदाहरणों को उद्धृत नहीं किया, तथापि इसी प्रकार के उदाहरणों के लिए द्वार अवश्य उन्मुक्त हो गया।

(झ) इस ग्रन्थ की अन्यतम विशिष्टता है प्रतिपादित विषयों का सुनियोजित क्रम। 'शब्दार्थौ काव्यम्' को लक्ष्य में रखकर पहले शब्दगत काव्य-तत्त्वों की चर्चा की गयी है, फिर अर्थगत काव्य-तत्त्वों की। यद्यपि यह व्यवस्था परवर्ती आचार्यों ने भी अपनायी तो भी रुद्रट के युग तक यह अभूतपूर्व एवं आदर्श थी।

निष्कर्षतः रुद्रट उधर ध्वनिपूर्ववर्ती और इधर ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन एवं उनके अनुयायियों के बीच एक अनिवार्य कड़ी के रूप में विद्यमान एक सफल संग्रहकर्ता आचार्य हैं।

रुद्रट और रुद्र (रुद्रभट्ट)

'काव्यालंकार' के प्रणेता रुद्रट को और शृंगारतिलक के प्रणेता रुद्र (रुद्रभट्ट) को अनेक विद्वान् चिरकाल तक एक ही व्यक्ति समझते रहे, किन्तु पुनः अनेक विद्वानों ने इन्हें अलग-अलग व्यक्ति स्वीकार कर लिया।[1] प्रथम वर्ग के विद्वान् हैं—पिशेल, वेबर, आँफ़्रेट और बूल्हर, और द्वितीय वर्ग के विद्वान् हैं—पीटरसन, दुर्गाप्रसाद, के. पी. त्रिवेदी[2] और जैकोबी।

× × ×

इन दोनों को एक व्यक्ति समझने का प्रधान कारण यह है कि इनके नामों में प्रायः साम्य है। परिणामतः उक्त पाश्चात्य विद्वानों से पूर्व भारतीय विद्वानों ने यद्यपि इन्हें एक व्यक्ति तो नहीं समझ लिया था, पर रुद्रट के कतिपय पद्य रुद्र अथवा रुद्रभट्ट के ही समझ लिये गये। उदाहरणार्थ—शार्ङ्गधरपद्धति में रुद्रट के **'एकाकिनी यदबला···'**[3] को 'रुद्र' नाम के साथ सम्वद्ध किया गया है, और **'मलयानिल···'**[4] को रुद्रभट्ट के नाम के साथ। इतना ही नहीं, कश्मीरी पाण्डुलिपि[5] में उपलब्ध 'शृंगारतिलक' के अन्त में रुद्र के स्थान पर रुद्रट लिखा मिलता है।

× × ×

इन दोनों व्यक्तियों को एक व्यक्ति समझने का दूसरा कारण यह हो सकता है कि रुद्रट के ग्रन्थ का नाम है काव्यालंकार और रुद्रभट्ट के ग्रन्थ का नाम यद्यपि है तो शृंगारतिलक[6], किन्तु वे इस ग्रन्थ के तीनों अध्यायों के अन्त में पुष्पिका के अन्तर्गत इसे 'शृंगारतिलक' के स्थान पर 'शृंगारतिलकाभिधानकाव्यालंकार' कहते हैं।[7] इससे

१. इस प्रसंग के लिखने में निम्नोक्त ग्रन्थों की भी सहायता ली गयी है—
   (क) स्टडीज़ इन दि हिस्ट्री आफ़ संस्कृत-पोएटिक्स (एस. के. डे) खण्ड १, २
   (ख) ए हिस्ट्री आफ अलंकार लिट्रेचर (पी. वी. काने)
   (ग) रुद्रट'स् शृंगारतिलक (डॉ० आर. पिशेल)
२. देखिए 'एकावली' का भूमिका-भाग।
३. का० अ० ७।४१, शा० प० ३७७३
४. का० अ० २।३०, शा० प० ३७८८
   [हाँ 'शा० प०' में श्लोक-संख्या ५७५ और ३४७३ रुद्रट के साथ सम्बद्ध किये गये हैं और श्लोक-संख्या ३५६७, ३५६८, ३५७९, ३६७५ और ३७५४ रुद्र के साथ, जो कि ठीक है।]
५. यह लिपि शारदा लिपि है।
६. देखिए 'शृंगारतिलक (पिशेल-संस्करण) पृष्ठ ८६, पा० टि० १, पंक्ति ५।
७. देखिए—वही, पृष्ठ ४३, ६२, ८६।

यह सन्देह हो सकता है कि यह ग्रन्थ काव्यालंकार का एक प्रभाग है, और इस धारणा की पुष्टि इस तथ्य से हो जाती है कि रस-प्रकरण और उसके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद-प्रसंग को, जो 'शृंगारतिलक' में अति विस्तार के साथ सोदाहरण निरूपित हुआ है 'काव्यालंकार' में अति संक्षेप में इसलिए निरूपित किया गया है कि इसे मानो वे अपने उक्त ग्रन्थ में प्रतिपादित कर चुके हैं अथवा करने का विचार रखते हैं। यदि यहाँ 'काव्यालंकार' शब्द से तात्पर्य कोई ग्रन्थ-विशेष न लेकर इसे 'साहित्यविद्या', 'साहित्यशास्त्र', 'काव्यशास्त्र' आदि का पर्याय मान लें तो इस दृष्टि से भी ये दोनों ग्रन्थ एक-दूसरे के पूरक माने जा सकते हैं।

इतना ही नहीं, अनेक ऐसे पद्य हैं जो थोड़े-बहुत अन्तर के साथ दोनों ग्रन्थों में पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, 'शृंगारतिलक' में प्रस्तुत रसमहत्ता-प्रदर्शक निम्नोक्त कथन की तुलना 'काव्यालंकार' १२।२ से कीजिए—

तस्माद् यत्नेन कर्त्तव्यं काव्यं रसनिरन्तरम्।
अन्यथा रसविद्गोष्ठ्यां तत्स्याद् उद्वेगदायकम्॥ शृंगारतिलक १।८

यही स्थिति शृंगारतिलक में प्रस्तुत 'विरस' नामक काव्यदोष के निम्नोक्त स्वरूप की भी है, जो काव्यालंकार (११।१४) के प्रायः अनुरूप है—

प्रबन्धे नीयते यत्र रस एको निरन्तरम्।
महतीं वृद्धिमिच्छन्ति विरसं तच्च केचन॥[1] शृंगारतिलक ३।७६

इसी प्रकार सामान्या नायिका के स्वरूप को भी दोनों आचार्यों ने लगभग एक समान वर्णित किया है—

रुद्रट—**सर्वाङ्गना तु वेश्या सम्यगसौ लिप्सते धनं कामात्।**
निर्गुणगुणिनोस्तस्या न द्वेष्यो न प्रियः कश्चित्॥ का० अ० १२।३९

रुद्रभट्ट—**सामान्यवनिता वेश्या सा वित्तं परमिच्छति।**
निर्गुणोऽपि न विद्वेषो न रागः स्याद् गुणिन्यपि॥ शृंगारतिलक १।१२०

× × ×

आगे चलकर इन दोनों को विभिन्न व्यक्ति समझने वाले विद्वानों ने, विशेषतः जैकोबी ने, जो तर्क प्रस्तुत किये, उनका सार इस प्रकार है—

१. काव्यालंकार के दोनों टीकाकारों नमिसाधु और वल्लभ ने इसके कर्त्ता

---

१. **विरस दोष का एक अन्य रूप भी दोनों ग्रन्थों में लगभग समान ही है—**
(क) **विहाय जननीमृत्युशोकं मुग्धे मया सह।**
यौवनं मानय स्पष्टमित्यादि विरसं मतम्॥ शृं० ति० ३।७५
(ख) **काव्यालंकार ११।१२**

को रुद्रट नाम से अभिहित किया है[१], और इधर इसके विपरीत 'शृंगारतिलक' के लेखक ने ग्रन्थ के अन्त में श्लेष के माध्यम से स्वयं अपना नाम रुद्र लिखा है।[२]

२. रुद्र ने अपने ग्रन्थ के अन्त में शिव की स्तुति की है,[३] किन्तु रुद्रट ने गणेश के अतिरिक्त भवानी और मुरारी की—इससे यह अभिव्यक्त होता है कि ये दोनों विभिन्न सम्प्रदायावलम्बी थे।

३. रुद्रट का उद्देश्य एक अलंकार-विषयक ग्रन्थ का निर्माण करना था और रुद्रभट्ट का रस-विषयक ग्रन्थ का। रुद्रट ने अंलकार के अतिरिक्त अन्य काव्यांगों का भी निरूपण किया, किन्तु रुद्र ने केवल रस और उससे सम्बन्धित नायकनायिका-भेद को ही स्थान दिया।

४. (क) रुद्रट ने प्रख्यात नौ रसों के अतिरिक्त प्रेयान् रस को भी अपने ग्रन्थ में स्थान दिया[४], किन्तु रुद्र ने केवल नौ रसों को।

(ख) रुद्रट ने सामान्या (वेश्या) नायिका का केवल एक ही पद्य में चलता-सा उल्लेख-मात्र किया है, किन्तु रुद्रभट्ट ने इसका विस्तृत निरूपण किया है।[५]

(ग) रुद्रट ने संचारिभावों का नाम-निर्देश नहीं किया, किन्तु रुद्रभट्ट ने किया है।[६]

(घ) रुद्रट ने काम की दस दशाओं—अभिलाष, चिन्ता आदि का केवल नामोल्लेख किया है, उनका स्वरूप-निर्देश नहीं किया, किन्तु रुद्रभट्ट ने उनके लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[७]

(ङ) रुद्रट ने अवस्था के आधार पर नायिका के चार भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु रुद्रभट्ट ने आठ भेदों का।[८]

५. रुद्रट ने अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत उद्भट के अनुकरण में मधुरा, प्रौढा आदि पाँच वृत्तियों का निरूपण किया, किन्तु रुद्र ने केवल कैशिकी, आरभटी, सात्त्वती और भारती नामक चार रस-वृत्तियों का।[९]

× × ×

---

१. देखिए 'काव्यालंकार' पर नमिसाधु की आरम्भिक और अन्तिम टिप्पणी।

२-३. त्रिपुरवधादेव गतामुल्लासमुमां समस्तविबुधनुताम्।
शृंगारतिलकविधिना पुनरपि रुद्रः प्रसादयति॥ शृं० ति० ३।८५

४. काव्यालंकार १५।१७-१९।

५. का० अ० १२।३९, शृं० ति० १।१२०-१३०

६. शृं० ति० १।११-१४

७. का० अ० १४।४, ५, शृं० ति० २।७-३०

८. का० अ० २।१९-३१, शृं० ति० ३।५२-७३

९. का० अ० १२।४१, शृं० ति० १।१३१,१३२

रुद्रट और रुद्रभट्ट को एक व्यक्ति मानने वालों की ओर से उक्त तर्कों में से अधिकतर तर्कों का खण्डन बड़ी सरलता से एक ही आधार पर किया जा सकता है कि एक ही व्यक्ति ने दो ग्रन्थ इस रूप में प्रस्तुत किये जो एक-दूसरे के पूरक हैं। उदाहरणार्थ, अनुप्रास अलंकार में मधुरा आदि वृत्तियों का निरूपण करना वाञ्छनीय था तो रस-प्रसंग के अन्तर्गत कैशिकी आदि वृत्तियों का, और इसमें कोई विरोध भी नहीं है। परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में भी यही प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसी प्रकार संचारिभावों, काम की दस अवस्थाओं का एक ग्रन्थ में नामोल्लेख मात्र और दूसरे में स्वरूप-निर्देश भी इसी धारणा की पुष्टि करता है। अपने एक ग्रन्थ में नौ रसों को स्थान देना और दूसरे ग्रन्थ में एक अन्य रस को भी स्थान देना ग्रन्थकार के विचार-विकास का ही द्योतक है। इसके अतिरिक्त यह स्वीकार करना भी शास्त्र-सम्मत एवं मनस्तोषक नहीं है कि रुद्रट ने अंलकारवाद का समर्थक होने के नाते अपने ग्रन्थ में प्रमुख रूप से अलंकारों का निरूपण किया और रुद्रभट्ट ने रसवाद का समर्थक होने के नाते रसों का निरूपण किया, क्योंकि ये दोनों आचार्य अंलकार अथवा रस नामक काव्यतत्त्वों के निरूपक मात्र हैं, क्योंकि न तो रुद्रट, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है,[१] भामह आदि के समान अलंकारवादी हैं, और न रुद्रभट्ट परवर्ती आचार्यों—भोजराज, विश्वनाथ आदि के समान रसवादी। अतः एक व्यक्ति द्वारा इन दोनों प्रकारों के संग्रह-ग्रन्थों का प्रणयन स्वीकार करना नितान्त सम्भव है।

इसके अतिरिक्त इन दोनों को इस आधार पर भी भिन्न-भिन्न व्यक्ति स्वीकार करना समुचित प्रतीत नहीं होता कि इन्होंने अपने-अपने ग्रन्थों में अलग-अलग देवताओं की स्तुति की है। वस्तुतः एक ही कवि, जब तक कि वह किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का कट्टर पक्षपाती न हो, अनेक देवताओं की भी स्तुति कर सकता है, विशेषतः अपने विभिन्न ग्रन्थों के मंगलाचरण के रूप में।

× × ×

किन्तु फिर भी, हम इन दोनों को एक व्यक्ति स्वीकार नहीं करते, और इस धारणा का प्रमुख कारण यह है कि रुद्रभट्ट रुद्रट की अपेक्षा कहीं अधिक सफल कवि हैं। उसकी कल्पना-शक्ति उर्वरा है, और उसका बिम्ब-विधान विशद एवं उज्ज्वल है। इस दृष्टि से रुद्रट के किसी पक्षपाती की ओर से यह कहा जा सकता है कि नायक-नायिका-भेद के उदाहरणों में कवित्व का जितना अवकाश रुद्रभट्ट को प्राप्त था, उतना अलंकारों के उदाहरणों में रुद्रट को प्राप्त न था। किन्तु रुद्रट को जहाँ-जहाँ ऐसे अवसर मिले भी हैं—जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के प्रसंग में—वहाँ भी उन्होंने कल्पना-शक्ति का परिचय नहीं दिया। उदाहरणों के प्रस्तुत करने में उनका एकमात्र

१. देखिए पृष्ठ २८-३१

उद्देश्य है शास्त्रीय पक्ष की पुष्टि, अर्थात् लक्षण के अनुरूप उदाहरण (लक्ष्य) का निर्माण। लगभग यही स्थिति उनके कारिका-भाग की प्रतिपादन-शैली की भी है। रुद्रभट्ट का लक्षण-पक्ष रुद्रट की अपेक्षा सरल और सुबोध है। यद्यपि विषय की विशालता, व्यापकता, गम्भीरता एवं प्रौढ़ता की दृष्टि से इन दोनों में कोई तुलना नहीं है—रुद्रट रुद्रभट्ट की अपेक्षा इस दृष्टि से कई गुना बढ़कर हैं। हाँ, रुद्रभट्ट का नायक-नायिका-भेद प्रकरण अपेक्षाकृत अत्यधिक विस्तृत एवं व्यवस्थित है, किन्तु कुल मिलाकर रुद्रट रुद्रभट्ट की अपेक्षा कहीं अधिक सफल आचार्य हैं, और इधर रुद्रभट्ट रुद्रट की अपेक्षा कहीं अधिक सफल कवि हैं। जैकोबी महोदय ने भी इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत किया है।[1]

इन दोनों को एक व्यक्ति मानने का एक कारण यह प्रस्तुत किया गया था कि इन दोनों ग्रन्थों में कतिपय पद्य लगभग एक समान हैं। उदाहरणार्थ, रसमहत्त्व-सूचक पद्य और विरस दोष तथा सामान्या नायिका के स्वरूप-निर्देशक पद्य।[2] किन्तु यदि इन सभी पद्यों की परस्पर तुलना की जाए तो स्पष्टतः लक्षित होता है कि एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति की रचना को सम्मुख रखकर उसे अपने शब्दों में ढाल दिया है। यदि इन दोनों व्यक्तियों को एक व्यक्ति मान लिया जाए तो फिर उसे अपनी ही पूर्व-निर्मित कारिकाओं अथवा उदाहरणों को अन्य रूप में ढालने की आवश्यकता क्यों पड़ती ? अस्तु !

निष्कर्षतः रुद्रट और रुद्रभट्ट ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

काव्यालंकार के टीकाकार

रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार के तीन टीकाकार माने जाते हैं—वल्लभदेव, नमिसाधु और आशाधर। इनमें से नमिसाधु की टीका उपलब्ध है। इन तीनों टीकाकारों का परिचय इस प्रकार है—

१. **वल्लभदेव**—शिशुपालवध के टीकाकार वल्लभदेव ने इस ग्रन्थ के ४,२१ तथा ६,२८ पद्यों की टीका में[3] यह संकेत किया है कि उन्होंने रुद्रट के ग्रन्थ की टीका प्रस्तुत की थी, किन्तु यह टीका अद्यावधि अनुपलब्ध है। वल्लभदेव के कथनानुसार उनका

---

1. "Rudrata appears as an original teacher of poetics, while Rudra, at his best an original poet, follows, as an expounder of his śa*stra*, the common herd". —Jacobi

[History of Sanskrit Poetics : Vol. I, S. K. De]

२. देखिए पृष्ठ ३५

३. पर्याप्त प्रयास करने पर भी 'शिशुपालवध' का यह संस्करण हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

अपना उपनाम परामार्थचिह्न था, और उनके पिता का नाम राजानक आनन्ददेव था। उन्होंने कालिदास, माघ, मयूर और रत्नाकर के ग्रन्थों की टीकाएँ प्रस्तुत की थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे कश्मीर-निवासी थे, और दशम शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे।[१]

२. नमिसाधु—रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार पर नमिसाधु की टीका मूलपाठ के साथ प्रकाशित रूप में उपलब्ध है।[२] इस टीका (टिप्पण) के अन्त में नमिसाधु ने अपना परिचय भी प्रस्तुत किया है। (देखिए पृष्ठ ४२९-४३०) इसमें उन्होंने अपने-आपको श्री शालिभद्र के चरण-कमलों का भ्रमर बताया है। इस कथन के आधार पर हम नमिसाधु को इस दृष्टि से उनका शिष्य भी मान सकते हैं। शालिभद्रजी धारापद्र नामक पुरी के 'गच्छ' अर्थात् जैन साधुसम्प्रदाय के तिलक-स्वरूप थे। यह पुरी कहाँ थी, इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। काव्यालंकार के सम्पादकों—श्री दुर्गाप्रसाद तथा श्री वासुदेव शर्मा ने ग्रन्थ के आरम्भ में नमिसाधु को श्वेताम्बर जैन पण्डित माना है।

नमिसाधु ने इस टीका की समाप्ति विक्रमी-संवत् ११२५ के वर्षाकाल में की थी। (देखिये पृष्ठ ४३०) उक्त सम्पादक महोदयों ने लिखा है कि राजकीय संग्रह में सुरक्षित तालपत्र पर लिखित टिप्पण-पुस्तक में '११७६' पाठ मिलता है, किन्तु इन्हीं सम्पादकों ने इस पाठ में छन्दोभङ्ग स्वीकार करते हुए प्रकारान्तर से यह संकेत किया है कि संवत् ११७६ न स्वीकार कर संवत् ११२५ (सन् १०६९) स्वीकार करना चाहिए—**राजकीय संग्रहान्तर्वर्तिनि तालपत्रलिखिते टिप्पणपुस्तके तु 'षट्सप्ततिसंयुक्तैरेकादशसमाशतैः' इति पाठो वर्तते, अत्र तु छन्दोभङ्गः स्फुट एव।** जो हो, नमिसाधु का समय ईस्वी की ११वीं शती स्वीकार करना चाहिए।

किसी टीका में यथासम्भव निम्नोक्त तीन गुण अपेक्षित हैं—(१) मूल पाठ को सरल रूप से समझा दिया जाए। (२) यदि उसमें कहीं अभाव हो तो उसे पूरा किया जाए। यह तभी सम्भव होता है जब टीकाकार को वर्ण्यविषय का पर्याप्त ज्ञान हो। (३) मूल लेखक के दृष्टिकोण का समर्थन किया जाए, अथवा उसके प्रति कहीं वैमत्य प्रदर्शन करना हो तो वह तर्कसंगत रूप में कर दिया जाए।

(१) नमिसाधु के टिप्पण में मूल पाठ को समझाया अवश्य गया है, किन्तु प्रायः सरल रूप में नहीं। इसका एकमात्र कारण यह है कि उन्होंने विग्रह एवं पर्यायवाची शब्द प्रस्तुत करने वाली टीका-पद्धति को अपनाया है, जिससे किसी कारिका अथवा उदाहरण का समग्र कथ्य पाठक के समक्ष समन्वित रूप में उपस्थित न होकर खण्डशः उपस्थित होता है, जिससे त्वरित अर्थावबोध में बाधा होती है। फिर भी, इस

१. विशेष विवरण के लिए देखिए संस्कृत पोएटिक्स खण्ड १ (एस. के. डे)।
२. निर्णयसागर प्रेस, काव्यमाला-२।

टीका के कारण मूल पाठ को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है—विशेषतः अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र, अर्थश्लेष आदि अलंकारों के उदाहरणों के समझने में यह टीका अनिवार्यतः पठनीय है। निष्कर्षतः नमिसाधु स्वयं तो इस ग्रन्थ के पद-पद से परिचित हैं, पर उनकी टिप्पणपद्धति सुगम नहीं है।

(२) नमिसाधु को ग्रन्थ के वर्ण्यविषय का पर्याप्त ज्ञान है। यही कारण है कि वह स्थान-स्थान पर ग्रन्थकर्ता के किसी सिद्धान्त की पुष्टि में अनेक उद्धरण तथा किसी काव्याङ्ग के भेदों एवं उपभेदों के उदाहरण एवं प्रत्युदाहरण प्रस्तुत करते चले गये हैं, उदाहरणार्थ निम्नोक्त स्थल देखिए—

२/६, ७, ८।
३/१।
४/४, ७, १३।
६/७, ८, १३, २४, ३३, ३८, ४०, ४५, ४६, ४७।
७/५, ७, १०, २०, २२, ३०, ३३, ५६, ७२, ७३, ८३, ९१।
८/१, ५, १०, २५, २६, २८, ३१, ३२, ३७, ४२, ५६, ६४, ८४।
१०/२९।
११/९, १०, २४, ३५, ३६।
१२/३, ४, ४४।
१४/१।
१५/१।

इन सभी स्थलों के अवलोकन से स्पष्ट है (देखिए परिशिष्ट : ३, पृ० ४४६-४४९) कि नमिसाधु ने कालिदास के अतिरिक्त माघ, भारवि, भर्तृहरि, शूद्रक, भवभूति[1] आदि के काव्यग्रन्थों का भी सम्यग् अध्ययन किया था और काव्यशास्त्र में उसकी अभिरुचि का भी सम्भवतः यही कारण है।

(३) नमिसाधु ने रुद्रट के सम्बन्ध में कहीं यह उल्लिखित नहीं किया कि वह अलंकारवादी अथवा रसवादी थे। इस प्रकार के उल्लेखाभाव का शायद एक कारण तो यह है कि स्वयं रुद्रट ने अपने ग्रन्थ में किसी रूप में इस ओर संकेत नहीं किया। दूसरा कारण यह कि नमिसाधु शायद स्वयं भी इस दिशा में विशेष सतर्क नहीं थे कि वह मूल ग्रन्थकार को किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध कर दें।

नमिसाधु वस्तुतः मात्र टीकाकार है—वह सदा रुद्रट का समर्थन करता है। विषय के सम्यग् अवबोध के लिए उसी विषय से सम्बद्ध अन्य उद्धरण एवं उदाहरण

१. श्लेष अलंकार के टीका भाग (४।११-२१) से विदित होता है कि नमिसाधु संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के विभिन्न प्रकारों में भी निष्णात थे।

अथवा प्रत्युदाहरण जुटाता चला जाता है और वस्तुतः किसी टीकाकार की इसी स्थिति में ही यथार्थता निहित है।

नमिसाधु का इस सम्बन्ध में योगदान यह है कि इनके टिप्पण के बिना यह ग्रन्थ कहीं अधिक दुर्बोध समझा जाता। इस दृष्टि से तो यह टीका अति उपादेय है ही, साथ ही वर्ण्यविषय को कहीं अधिक विशद रूप भी मिला है।

३. आशाधर—पीटरसन के कथनानुसार रुद्रट के ग्रन्थ के एक अन्य टीकाकार हैं आशाधर, जो कि जैनाचार्य थे। वह सन् १२४० तक जीवित रहे।[1]

× × ×

इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने में मुझे अपने स्नेहास्पद मित्र ठाकुर ओम्प्रकाश जी से पर्याप्त सहायता मिली है—यमक, श्लेष और विशेषतः चित्र अलंकारों का उदाहरण-भाग तो उनकी सक्रिय सहायता के बिना मेरे लिए नितान्त दुर्गम था। मैं उनके प्रति अति कृतज्ञ हूँ। लेखक की एक दुर्बलता यह भी होती है कि वह अपनी कृति को किसी सुपात्र व्यक्ति को सुनाकर आश्वस्त हो जाना चाहता है। इस सम्पूर्ण भूमिका-भाग को अपने आदरास्पद मित्र पं० कृष्णशंकर जी शुक्ल को सुनाने से मुझे सम्बल मिला। मैं उनके प्रति भी कृतज्ञ हूँ।

काव्यशास्त्र का प्रारम्भिक अध्ययन मैंने लगभग २६-२७ वर्ष पूर्व श्रद्धेय पं० दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वत के श्रीचरणों में बैठकर किया था, तथा पिछली दशाब्दी में स्व० आचार्य विश्वेश्वर के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के हिन्दी-भाष्य के अध्ययन से मुझे इस ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या प्रस्तुत करने की प्रेरणा मिली—अतः यह ग्रन्थ मैंने इन्हीं दोनों को समर्पित कर दिया है। इधर डॉ० नगेन्द्र और डॉ० वी. राघवन के प्रायः सभी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन से इस शास्त्र के प्रति मेरी रुचि और अधिक बढ़ी है और नवीन दिशाएँ मिली हैं—मैं इन दोनों के प्रति भी अत्यन्त समादर के साथ हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या का नाम 'अंशुप्रभा' है। 'अंशु' मेरी पंचवर्षीया पुत्री है। उसी के नाम पर इस व्याख्या का यह नाम रखा गया है।

एफ़ ११/१२, मॉडल टाउन,
दिल्ली-९
५-२-१९६५

—सत्यदेव चौधरी

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए संस्कृत पोएटिक्स, खण्ड १, पृष्ठ ९९-१०१।

विषय-सूची

रुद्रट-प्रणीतः

काव्यालंकारः

['अंशुप्रभा'ऽऽख्य-हिन्दीव्याख्या-सहितः]

श्रीरुद्रटप्रणीतः

काव्यालङ्कारः

नमिसाधुकृतटिप्पणसमेतः

'अंशुप्रभा'ऽऽख्य-हिन्दीविवृतिसमन्वितश्च

प्रथमोऽध्यायः

(१)

निःशेषापि त्रिलोकी विनयपरतया संनमन्ती पुरस्ताद् ।
यस्यांघ्रिद्वन्द्वसक्तांगुलिविमलनखादर्शसंक्रान्तदेहा ॥
निर्भीतिस्थानलीना भयदभवमहारातिभीत्येव भाति ।
श्रीमान्नाभेयदेवः स भवतु भवतां शर्मणे कर्मभक्तः ॥

(२)

पूर्वमहामतिविरचितवृत्त्यनुसारेण किमपि रचयामि ।
संक्षिप्ततरं रुद्रटकाव्यालंकारटिप्पणकम् ॥

इह शास्त्रकारः शिष्टस्थितिपालनार्थमविघ्नेन शास्त्रसमाप्त्यर्थञ्च प्रथममेव तावद् गणनायकस्य स्तुतिमाह—

निध्याय विश्वैकगुरुं परेशम्, विस्तारिनानाविधचारुवेषम् ।
प्रत्यूहजातस्य निवारणेप्सुः कारुण्यधाम्नः करुणां समीहे ॥१॥
चित्तं समाधाय परास्य खेदम्, येऽनारतम् निष्ठितमानसत्वात् ।
प्राकाशयन् काव्यनिगूढतत्त्वम्, तान्छ्रद्धयाऽऽचार्यवरान्नतोऽस्मि ॥२॥
श्रीरुद्रटः काव्यविदां समाजे प्रेयान् परः काव्यरहस्यवेत्ता ।
काव्यस्य सर्वाङ्गनिरूपणैर्यो लेभे यशो ह्याद्यविवेचकस्य ॥३॥
विद्वन्मुदे तेन कृतिः प्रणीता राराजते मूर्तिमतीव कीर्तिः
हिन्दी-गिरा तां विवरीतुमिच्छुः 'अंशुप्रभा' ऽऽख्यां विवृतिं तनोमि ॥४॥

अविरलविगलन्मदजलकपोलपालीनिलीनमधुपकुलः ।
उद्भिन्ननवश्मश्रुश्रेणिरिव गणाधिपो जयति ।।१।।

गणाधिपो विनायको जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । कीदृशः । अविरलं घनं विगलच्च तन्मदजलं दानाम्बु ययोस्ते, अविरलविगलन्मदजले च ते कपोलपाल्यौ च प्रशस्तकपोलौ च । पालीशब्दस्य समासे केशपाशवत्प्रशंसार्थत्वात् । तयोर्निलीनं श्लिष्टं मधुपकुलं भ्रमरगणो यस्य सोऽविरलविगलन्मदजलकपोलपालीनिलीनमधुपकुलः । अतः उत्प्रेक्षते–उद्भिन्नोद्गता नवा नूतना श्मश्रुश्रेणिर्मुखरोमसंस्थानविशेषो यस्य स उद्भिन्न नवश्मश्रुश्रेणिः स इव ।।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'काव्यालंकार' ग्रन्थ अनेक कारणों से अपना विशेष महत्त्व रखता है । पहला कारण यह है कि इसके रचयिता रुद्रट ने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय वादों—अलंकारवाद और रीतिवाद—से परिचित होते हुए तटस्थ भाव से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है । दूसरा कारण यह कि यह ग्रन्थ अपने प्रकार का पहला संग्रह-ग्रन्थ है जिसमें विभिन्न काव्यशास्त्रीय अंगों को इस दृष्टि से एकत्रित किया गया है कि एक जिज्ञासु अध्येता को यथावत् सामग्री मिल सके । काव्य-स्वरूप, शब्द-भेद, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, रस, नायक-नायिका-भेद, दोष, गुण, रीति और प्रबन्धकाव्य—ये इस ग्रन्थ के प्रमुख विषय हैं । तीसरा कारण यह कि इस ग्रन्थ की स्थिति ध्वनि-पूर्ववर्ती और ध्वनि-परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के बीच की है, अतः इसका अपना ऐतिहासिक महत्त्व भी है ।

इस ग्रन्थ में सोलह अध्याय हैं । प्रथम अध्याय में मंगलाचरण के उपरान्त निम्नोक्त तीन विषयों का निरूपण किया गया है—[१] काव्य-प्रयोजन, [२] काव्य-हेतु और [३] कवि-महिमा ।

मंगलाचरण

संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थकार ग्रन्थारम्भ से पूर्व सभ्यजनोचित व्यवहार के परिपालन के लिए तथा ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए अपने इष्ट देवता की स्तुति करते थे । उन्हीं के अनुरूप प्रस्तुत ग्रन्थ-लेखक रुद्रट ने भी गणेश तथा पार्वती की स्तुति निम्न रूप में प्रस्तुत की है :

उस गणेश की जय हो जिसके गंडस्थलों से निरन्तर मदजल बह रहा है, उन [गंडस्थलों] पर बैठी हुई भ्रमरपंक्ति ऐसे प्रतीत हो रही है मानो यह नयी मूँछ निकल आयी है ।१।

पार्वती के चरणकमल-युगल को, जो सकल संसार के एकमात्र शरण हैं,

एवमभीष्टदेवतां स्तुत्वाऽधुना वाङ्मयव्यापिभवानीनमस्कृतिपुरःसरं श्रेष्ठजन-प्रवृत्तयेऽभिधेयादि विवक्षुराह—

सकलजगदेकशरणं प्रणम्य चरणाम्बुजद्वयं गौर्याः ।
काव्यालंकारोऽयं ग्रन्थः क्रियते यथायुक्ति ॥२॥

सकलजगदेकशरणं निखिलविश्वाद्वितीयशरण्यम, प्रणम्य नमस्कृत्य, चरणाम्बुज-द्वयमंघ्रिकमलयुगम्, गौर्या उमायाः, काव्यस्य कवेर्भावः कर्म वा काव्यं तस्यालंकारो भूषणं काव्यालंकारः, अयमेषः, ग्रन्थः शास्त्रम्, क्रियते विधीयते । बुद्धया निष्पन्नमिव ग्रन्थं गृहीत्वेदमा परामृशत्ययमिति । तत्र काव्यालंकारा वक्रोक्तिवास्तवादयोऽस्य ग्रन्थस्य प्राधान्यतोऽभिधेयाः । अभिधेयव्यपदेशेन हि शास्त्रं व्यपदिशन्ति स्म पूर्वकवयः । यथा

नमस्कार करके इस 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ की युक्तिपूर्वक रचना क जाती है ।२।

ग्रन्थारम्भ से पूर्व किसी देवता की स्तुति पारिभाषिक शब्दावली में 'मंगल' कहलाती है । मंगल के सम्बन्ध में 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' (कारिकावली) नामक प्रख्यात ग्रन्थ के कर्ता श्री विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य ने उक्त ग्रंथ के आरम्भ में कतिपय धारणाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनका सार इस प्रकार है :

ग्रन्थारम्भ से पूर्व मंगलपाठ करना एक प्रकार का शिष्टाचार है तथा इससे लाभ यह है कि इससे ग्रन्थ-निर्माण की अवधि में विघ्नों का विघात होता रहता है, और फलतः ग्रन्थ की समाप्ति निर्विघ्न हो जाती है । इस प्रसंग में वादी के माध्यम से उन्होंने दो संभव शंकाएं उठायी हैं—पहली शंका यह कि ऐसे ग्रन्थों की भी निर्विघ्न समाप्ति देखी जाती है जिनके आरम्भ में मंगल-पाठ नहीं किया गया, और दूसरी शंका यह कि कादम्बरी-जैसा ग्रन्थ भी विद्यमान है, जिसमें मंगल-पाठ किये जाने पर भी उसकी समाप्ति निर्विघ्न नहीं हुई । वादी की पहली शंका के उत्तर में श्री विश्वनाथ का कहना है कि ग्रन्थ-समाप्ति ही इस तथ्य का प्रमाण है कि ग्रन्थकार ने इस जन्म में न सही तो पिछले जन्म अथवा जन्मों में कभी मंगल-गान अवश्य किया होगा । दूसरी शंका के उत्तर में उनका कथन है कि ग्रन्थ की असमाप्ति अथवा विघ्नसहित समाप्ति इस तथ्य का प्रमाण है कि 'मंगल' की अपेक्षा विघ्न अधिक बलवान् रहा होगा । निष्कर्ष यह कि ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मंगल-गान आवश्यक है ।

किन्तु आज का बुद्धिवादी मानव विश्वनाथ की उक्त धारणा से कहाँ तक सम्मत होगा यह कहना कठिन है । वह यद्यपि ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मंगल-पाठ को अस्वीकार करता है, और इस तरह प्रकारान्तर से किसी अदृश्य शक्ति को इसका कारण

कुमारसंभवः काव्यमिति । दोषा रसाश्चेह प्रासङ्गिकाः, न तु प्रधानाः । सम्बन्धस्तूपायो-पेयलक्षणो नाम्नैवोक्तः । नहि तेन विनाऽस्यालंकाराः प्रतिपाद्या भवन्ति । ननु दण्डि-मेधाविरुद्र-भामहादिकृतानि सन्त्येवालंकारशास्त्राणि, तत्किमर्थमिदं पुनरिति पौनरुक्त्य-दोषं क्रियाविशेषणेन निरस्यन्नाह - यथायुक्तीति । शेषेष्वलंकारेषु च या या युक्तिर्यथा-युक्ति, युक्तिमनतिक्रम्य वा क्रियते । एतदुक्तं भवति—अन्यैरलंकारकारैर्न तथा युक्ति-युक्तानि सक्रमाणि वा लक्ष्यानुसारीणि वा हृदयावर्जकानि वाऽलंकारशास्त्राणि कृतानि, न तथा मया । अपितु यथारुचीति न पौनरुक्त्यदोषावसरः ।।

नहीं मानता, तथापि इसके लिए मन को संतुलित रखने पर अवश्य बल देता है । और यदि मन को संतुलित एवं एकाग्र रखने की क्षमता का प्रदाता भगवान् को ही मान लिया जाए तो हम निस्संकोच रूप से कह सकते हैं कि आज का बुद्धिवादी ग्रन्थकार ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगल-गान न करके भी अपने भावी विघ्नों के विनाश के लिए इस सम्बन्ध में अन्त तक स्वयं सतर्क बना रह कर प्रकारान्तर से भगवान् पर ही आधारित रहता है ।

प्राचीन परिपाटी के अनुसार ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण के उपरान्त ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय के प्रयोजन, हेतु तथा लक्षण पर प्रकाश डाला जाता है । ये चारों विषय 'अनुबन्ध-चतुष्टय' कहाते हैं । यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय काव्यशास्त्र है, काव्य नहीं, फिर भी सभी काव्याचार्यों ने काव्यशास्त्र के प्रयोजन आदि की चर्चा न करके काव्य के ही प्रयोजन आदि की चर्चा की है । इसका कारण बताते हुए साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ (११वीं शती ई०) ने कहा है कि काव्यशास्त्र भी वस्तुतः काव्य का ही अङ्ग होता है, अतः काव्य के प्रयोजन [आदि] के समान इसके भी प्रयोजन होते हैं । अतः काव्य के ही प्रयोजनों पर प्रकाश डाला जाता है—**अस्य ग्रन्थस्य काव्यांगतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह** । (सा० द० प्रथम परिच्छेद पृष्ठ ७), किन्तु हमारे विचार में काव्यशास्त्र का व्यावहारिक पक्ष तो निस्संकोच रूप से काव्य का अंग स्वीकृत किया जा सकता है, किन्तु इसका सैद्धान्तिक पक्ष नहीं । उदाहरणार्थ, कालिदास अथवा तुलसी के ग्रन्थों पर समालोचनाएँ तो अधिकांश सीमा तक काव्य का अंग हैं, किन्तु 'नाट्यशास्त्र', 'काव्यालंकार', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्य-दर्पण','कविप्रिया','रसमीमांसा' आदि ग्रन्थ काव्य के अंग नहीं हैं । कारण स्पष्ट है कि काव्यसमालोचनाओं का सम्बन्ध अधिकांशतः हृदय के साथ रहता है, और नाट्यशास्त्र, काव्यालंकार आदि ग्रन्थों का अधिकांशतः मस्तिष्क के साथ ।

१. (क) काव्यशास्त्र का प्रयोजन

रुद्रट ने सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ का प्रयोजन निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि—

ग्रन्थस्याभिधेयसम्बन्धौ व्याख्यायेदानीं प्रयोजनं विवक्षुराह—

अस्य हि पौर्वापर्यं पर्यालोच्याचिरेण निपुणस्य ।
काव्यमलंकर्तुमलं कर्तुरुदारा मतिर्भवति ॥३॥

अस्य काव्यालंकारस्य । हिशब्दो यस्मादर्थे । यस्मात्पौर्वापर्यं हेतुहेतुमद्भावम् । हेतुरेष ग्रन्थः । हेतुमन्तोऽलंकारः । हेतुकार्ययोश्च पौर्वापर्यं सिद्धमेव । अथवाऽऽद्यन्तोदित-ग्रन्थार्थं पर्यालोच्यावगत्य, अचिरेण शीघ्रमेव, निपुणस्य प्रवीणस्य, काव्यं कविभावम्, अलंकर्तुमलंकारसमन्वितं विधातुम्, अलमत्यर्थम्, कर्तुः कवेः, उदारा स्फारा योग्या वा मतिर्भवति बुद्धिर्जायते । तस्मात्सप्रयोजनमिदमलंकारकरणमिति ॥

अथ काव्यकरणस्यैव तावत्किं प्रयोजनमित्याह—

ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम् ।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ॥४॥

ज्वलन्देदीप्यमानोऽलंकारयोगात्, उज्ज्वलो निर्मलो दोषाभावात्, वाचां गिरां प्रसरः प्रबन्धो यस्य स ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः । सरसं सशृङ्गारादिकम्, कुर्वन्रचयन्, काव्यं कवेः कर्म, यत एवैवंगुणस्तत एव महाकविर्बृहत्काव्यकर्त्ता, स्फुटं प्रकटम्, आकल्पं युगान्तस्थायि, अनल्पमस्तोकम् । जगद्व्यापीत्यर्थः । प्रतनोति विस्तारयति, यशः कीर्तिम्, परस्य काव्यनायकस्य संबन्धि । अपिशब्दोऽत्र विस्मये । चित्रमिदं यत्कविः स्वल्पायुरप्येवंविधं यशस्तनोति । आत्मनोऽपीति तु व्याख्याने 'स्फारस्फुरद्गुरुमहिमा' (१।२१) इत्याद्यनर्थकं स्यात्, गतार्थत्वात् ॥

इस ग्रन्थ को आद्योपान्त सम्यग् रूप से पढ़कर निपुण बने हुए कवि की मति काव्य को [विभिन्न काव्यांगों से] सुशोभित करने में समर्थ तथा उदार बन जाती है ।३।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन से कवि काव्य के विभिन्न अंगों से निस्सन्देह सुपरिचित हो जाता है और इस ज्ञान के बल पर वह अपने काव्य को परिष्कृत रूप में भी प्रस्तुत करता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि कोई व्यक्ति काव्यनिर्माण-प्रतिभा के बिना ही केवल काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययनमात्र से काव्य-निर्माण करने में समर्थ हो जाता है ।

[ख] काव्य का प्रयोजन

इसके उपरान्त काव्यप्रयोजनों की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

[सालंकारता के कारण] देदीप्यमान तथा [दोषाभाव के कारण] निर्मल

ननु देवगृहमठादिकं कारयित्वा स्वयमेव नायकः स्वयशो विस्तारयिष्यति, किं कवेस्तदर्थं काव्यकरणेनेत्याशंक्याह—

तत्कारितसुरसदनप्रभृतिनि नष्टे तथाहि कालेन ।
न भवेन्नामापि ततो यदि न स्युः सुकवयो राज्ञाम् ॥ ५ ॥

तत्कारितसुरसदनप्रभृतिनीत्यत्र तच्छब्देनोत्तरत्र राज्ञामित्येतत्पदोपात्ताः काव्यनायकाः परामृश्यन्ते । ततः काव्यनायकविधापितदेवगृहादौ कालपर्ययेण नष्टे नाशं गते सति । तथा हीति हिशब्दो यस्मादर्थे, तथाशब्द उपप्रदर्शने । न भवेन्न स्यात्, नामाप्यभिधानमपि । आस्तां तावदन्वय इति । ततः सुरसदनादिनाशाद्धेतोः, यदि राज्ञां नायकानां सुकवयो न स्युः । तच्चरितकथाप्रबन्धकर्तार इति । राज्ञामिति काव्यनायकोपलक्षणम् ॥

अथ यदि नाम राज्ञां यशस्तन्वन्ति तथापि किं तेषां यत्ते काव्यकृतौ प्रवर्तन्त इत्याह—

इत्थं स्थास्नु गरीयो विमलमलं सकललोककमनीयम् ।
यो यस्य यशस्तनुते तेन कथं तस्य नोपकृतम् ॥६॥

इत्थं 'स्फुटमाकल्पमनल्पम्' (१।४) इत्यनेन प्रकारेण, स्थास्नु स्थिरतरम्, गरीय प्रभूतम्, दोषाभावाच्च विमलम्, अलमत्यर्थम्, सकललोककमनीयं सकलजनकान्तम्, य कविर्यस्य राजादेर्यशस्तनुते तेन कथं तस्य नोपकृतम् । सर्वथोपकृतं भवतीत्यर्थः ॥

ननु यदि कविना परस्योपकृतम्, ततोऽपि किं तस्येत्याह—

अन्योपकारकरणं धर्माय महीयसे च भवतीति ।
अधिगतपरमार्थानामविवादो वादिनामत्र ॥७॥

गतार्थं न वरम् । चकारोऽन्योपकारकरणं चेत्यत्र योज्यः ॥

रचना करने वाला महाकवि सरस काव्य की रचना करता हुआ अपने विशद यश को तो युगान्तपर्यन्त प्रत्यक्ष रूप से फैलाता ही है, साथ ही काव्य के नायक के यश को भी फैलाता है ।४।

यदि उन राजा आदि नायकों के चरित को प्रबन्धरूप में लिखने वाले सुकवि न होते, तो उन [राजाओं] द्वारा बनाये गये इन्द्र-प्रासाद-तुल्य महलों के कालवश नष्ट हो जाने पर इनका नाम तक शेष न रहता ।५।

इस प्रकार जो कवि जिस नायक के चिरस्थायी, महत्त्वपूर्ण, निर्मल सर्वजनप्रिय एवं अत्यधिक यश का विस्तार करता है, वह निस्संदेह उस नायक का

एवं धर्म एव कवेः काव्यकरणे प्रयोजनमित्यभिधायाऽर्थकाममोक्षहेतुत्वमप्याह—

अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य ।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः ।।८।।

अर्थमिति । अर्थो धनम्, अनर्थोपशमो विपदभावः, शं सुखम्, असममसाधारणम् । इह लोके कामजं परत्र तु पारम्पर्येण मोक्षजम् । अथवा किमेभिर्बहुभिरुक्तैर्यदेवाऽस्य कवेः संमतं तदेवाप्नोतीति । कीदृशः । विरचितसदलंकारदेवतास्तुतिः ।।

किमत्र प्रमाणमिति चेत्तदाह—

नुत्वा तथाहि दुर्गां केचित्तीर्णा दुरुत्तरां विपदम् ।
अपरे रोगविमुक्तिं वरमन्ये लेभिरेऽभिमतम् ।।९।।

नुत्वेति । तथाहीत्युदाहरणोपदर्शने । दुर्गाग्रहणं देवतोपलक्षणार्थम् । तथाहि केचिदनिरुद्धादयः शत्रुवश्यादिकां विपदं तीर्णाः । केचिद्वीरदेवादयो नीरुजत्वं प्रापुः । अपरे शत्रुघ्नप्रभृतयोऽभिमतं वरं लब्धवन्तः । एवमन्येऽप्युदाहरणत्वेन तथाविधा ज्ञेया इति ।।

इह केचिद्विक्रमादित्यादिजनितं कविजनसत्कारं श्रुत्वाऽधुनातननृपेभ्यस्तथानवलोक्य प्रेरयेयुर्यथा नृपेभ्यः सकाशान्न किंचित्फलं तथा देवताभ्योऽपि साम्प्रतं न काव्येन किंचित्फलं भविष्यतीत्याशंक्याह—

आसाद्यते स्म सद्यः स्तुतिभिर्येभ्योऽभिवाञ्छितं कविभिः ।
अद्यापि त एव सुरा यदि नाम नराधिपा अन्ये ।।१०।।

स्फुटार्थं न वरम् । यदि नामेति नामशब्दः परं शब्दार्थे । यदि परं नृपाः । अन्ये देवास्तु त एवेति ।।

उपकार करता है, और परमार्थ-तत्त्व को जानने वाले सभी वादी [बुद्धिमान् जन] इस विषय में एक मत हैं कि दूसरे का उपकार करना महान् धर्म है ।६, ७।

सुन्दर देव-स्तुति की रचना करने वाला कवि धन, विपत्ति-विनाश, असाधारण सुख तथा समस्त अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त कर लेता है । उदाहरणस्वरूप कतिपय [अनिरुद्ध आदि कवि] दुर्गा की स्तुति करके [शत्रु की अधीनतारूप] अपार विपत्ति से पार हो गये । कई [वीरदेव आदि] कवि रोग-मुक्त हो गये, तथा इस प्रकार अन्य कई कवियों ने अपना अभीष्ट [वर] प्राप्त कर लिया ।८,९।

काव्यकरणे प्रयोजनाप्रमेयतामाह—

कियदथवा वच्मि यतो गुरुगुणमणिसागरस्य काव्यस्य ।
कः खलु निखिलं कलयत्यलमलघुयशोनिदानस्य ।।११।।

कियदिति । कियदथवा भण्यते । यतो यथा सागरे मणीनामानन्त्यमेवं काव्ये गुणानामपीति तात्पर्यम् । खलुर्निश्चये ।

एवं प्रयोजनानन्त्ये सति कृत्यमाह—

तदिति पुरुषार्थसिद्धिं साधुविधास्यद्भिरविकलां कुशलैः ।
अधिगतसकलज्ञेयैः कर्तव्यं काव्यममलमलम् ।।१२।।

तदिति । तस्मात्पुरुषार्थसिद्धिं पूर्णां चिकीर्षुभिः काव्यं कर्तव्यम् । कीदृशैः । अधिगतसकलज्ञेयैः । न त्वनीदृशामपि काव्यकरणं संभवतीत्याह—अलममलम् । सनिर्मलकरणेऽन्येषामसामर्थ्यमित्यभिप्रायः ।।

ननु ज्ञातसकलज्ञेयस्य तत्त्वादेव पुरुषार्थसिद्धिर्भविष्यति, किं काव्यकरणे-नेत्याह—

फलमिदमेव हि विदुषां शुचिपदवाक्यप्रमाणशास्त्रेभ्यः ।
यत्संस्कारो वाचां वाचश्च सुचारुकाव्यफलाः ।।१३।।

यद्यपि आज राजाओं में परिवर्तन आ गया है, पर देवता तो अब भी वैसे ही हैं, जिनकी स्तुति द्वारा कवि अपनी मनोवाञ्छित कामना पूर्ण कर लिया करते थे ।१०।

अथवा कहाँ तक वर्णन करें, क्योंकि असंख्य मणि वाले समुद्र की भांति महान् यश के कारण इस काव्य-संसार के अनन्त गुणों की गणना करने में कौन समर्थ हो सकता है ।११।

इसलिए पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ काम और मोक्ष) की पूर्ण और विशद सिद्धि चाहने वाले तथा निपुण एवं सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता कवियों को ही निर्दोष काव्य की रचना में प्रवृत्त होना चाहिए ।१२।

क्योंकि ज्ञानी पुरुषों के ज्ञान का यही फल है कि विस्तृत व्याकरण तर्कशास्त्र आदि ग्रन्थों के द्वारा वाणी का संस्कार हो, और उस वाणी का फल है सुन्दर काव्य ।१३।

उपर्युक्त पद्यों में रुद्रट-सम्मत काव्य-प्रयोजनों का निष्कर्ष यह है कि काव्य-निर्माण द्वारा (१) कवि अपने यश को फैलाता है, (२) वह चरित-नायक के यश को

फलमिति । हि यस्माज्जानतामिदमेव ज्ञानफलं यच्छुचिपदवाक्यप्रमाणशास्त्रेभ्यो विशदव्याकरणतर्कग्रन्थेभ्यः सकाशात्संस्कारो वाचाम् । ननु वाक्संस्कारस्यापि किं फलमित्याह—वाचश्च सुचारुकाव्यफलाः । च समुच्चये । सुन्दरकाव्यकरणमेव वाक्-संस्कारस्य फलमित्यर्थः ॥

यथा च काव्यं चारु भवति, यथा च चारु कर्तुं ज्ञायते तथाह—

तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणः करणे ।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः ॥१४॥

तस्येति । तस्य काव्यस्यासारनिरासादसमर्थादिवक्ष्यमाणदोषत्यागात्, तथा सारग्रहणाद्वक्रोक्तिवास्तवाद्यलंकारयोगाद्धेतोः, चारुत्वगुणोपेतस्य करणे त्रितयमिदं शक्तिव्युत्पत्त्यभ्यासलक्षणं व्याप्रियते । तस्य तत्र व्यापार इत्यर्थः । तथा च दण्डी—

फैलाता है, (३) वह धन, असाधारण सुख तथा समस्त अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त करता है, (४) देवताओं के स्तुतिपरक काव्य द्वारा उसे रोगों से मुक्ति मिल जाती है, (५) उसे अभीष्ट वर की प्राप्ति हो जाती है तथा (६) इसके द्वारा उसे सहज रूप से चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की प्राप्ति हो जाती है । इन प्रयोजनों में से अन्तिम प्रयोजन का सम्बन्ध कवि और सहृदय दोनों के साथ है, तथा शेष का सम्बन्ध केवल कवि के साथ ।

रुद्रट से पूर्व काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख भरत, भामह और वामन ने किय, था । भरत के कथनानुसार नाट्य (काव्य)धर्म, यश और आयु का साधक, हितकाराक बुद्धि का वर्द्धक तथा लोकोपदेशक होता है ।

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥ ना० शा० १।११२-११३

भामह के कथनानुसार उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता को, और प्रीति (आनन्द) तथा कीर्ति को उत्पन्न करती है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥ काव्यालङ्कार १।२

तथा वामन के अनुसार काव्य का प्रयोजन है प्रीति तथा कीर्ति की प्राप्तिः

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् । का० सू० वृ० १।१।५

उपर्युक्त प्रयोजन-सूचियों से स्पष्ट है कि रुद्रट ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम् ।
अनन्दश्चाभियोगोऽस्या कारणं काव्यसंपदः ॥

तत्र शक्त्या शब्दार्थौ मनसि संनिधीयेते । तयोः सारासारग्रहणनिरासौ व्युत्पत्त्या क्रियेते । अभ्यासेन शक्तेरुत्कर्ष आधीयत इति शक्त्यादिव्यापारः । असार-निरासात्सारग्रहणादिति च पदद्वयोपादानमुभययोगेन चारुत्वमिति ख्यापनार्थम् ।

रूप 'चतुर्वर्ग' की फलप्राप्ति नामक प्रयोजन भामह से ग्रहण किया है, 'यशःप्राप्ति' भामह और वामन से, और शेष निम्नोक्त प्रयोजन इन्होंने नूतन रूप में प्रस्तुत किये हैं चरितनायक का गौरवगान, अनर्थ का उपशम, विपत्ति का निवारण, रोग से विमुक्ति तथा देवता द्वारा अभिमत वर की प्राप्ति ।

इन प्रयोजनों में से अर्थप्राप्ति, यशःप्राप्ति, चरितनायक का गौरवगान ऐसे प्रयोजन हैं जिनपर किसी प्रकार का विवाद नहीं किया जा सकता । काव्यसर्जन द्वारा 'धर्म-प्राप्ति' प्रयोजन व्याख्यापेक्ष हैं । 'धर्म' से तात्पर्य यदि 'धार्यते इति धर्मः' अर्थात् '[शुभ] कर्तव्य का पालन' है तो यह काव्य का साक्षात् प्रयोजन न होकर असाक्षात् प्रयोजन है । कर्तव्य वस्तुतः उस कर्म का नाम है जिसे हम दूसरों की प्रेरणा अथवा उपदेश द्वारा करते हैं, तथा दूसरों के उपकार के लिये करते हैं । किन्तु काव्यसर्जन अन्तःप्रेरणा से प्रभूत होने के कारण न तो दूसरों की प्रेरणा अथवा उपदेश की अपेक्षा रखता है और न इसके द्वारा दूसरों का उपकार करना कवि का प्रमुख उद्देश्य होता है । और यदि 'धर्म' से तात्पर्य 'पुण्यफल-प्राप्ति' लिया जाए तो इसे आज के बुद्धिवादी युग का मानव स्वीकृत नहीं करेगा । ठीक यही स्थिति इन प्रयोजनों की भी है—मोक्ष-प्राप्ति, अनर्थ, विपत्ति, रोग आदि से विमुक्ति तथा किसी देवता द्वारा अभिमत वर की प्राप्ति । शेष रहता है एक प्रयोजन 'काम' रूप फल की प्राप्ति । रुद्रट ने उक्त प्रयोजनों में 'आत्मानन्द-प्राप्ति' को [अथवा भामह और वामन के शब्दों में 'प्रीति'] अथवा मम्मट के शब्दों में [सद्यःपरनिर्वृति को] स्पष्ट शब्दों में स्थान नहीं मिला । हाँ, चतुर्वर्ग के अन्तर्गत 'काम' शब्द से यदि मानवीय रागात्मक भावों की इच्छापूर्ति रूप अभिप्राय लिया जाए तो इसे 'सद्यःपरनिर्वृति का पर्याय मान लिया जा सकता है । फिर भी ऐसे विशिष्ट प्रयोजन को स्थान न मिलना अवश्य खटकता है । फिर भी, जैसा कि हम आगे देखेंगे, रस जैसे प्रमुख काव्यांग का अत्यन्त मनोयोग के साथ निरूपण करने वाले रुद्रट को यह प्रयोजन अभीष्ट अवश्य रहा होगा ।

रुद्रट के उपरान्त काव्य-प्रयोजन का निरूपण करने वालों में कुन्तक, विश्वनाथ, अग्निपुराणकार, भोज और मम्मट का नाम उल्लेख्य है । मम्मट ने अपने

तत्राप्यसारस्य प्रागुपन्यासस्तन्निवासस्य प्राधान्यख्यापनार्थः। सकलालंकारयुक्तमपिहि काव्यमेकेनापि दोषेण दुष्येत, अलंकृतं वधूवदनं काणेनेव चक्षुषा। उक्तं दण्डिना—

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥

अथ शक्तिस्वरूपमाह—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥१५॥

मनसीति। असौ शक्तिर्यस्यामविक्षिप्ते चेतसि सदानेकप्रकारस्य वाक्यार्थस्य विस्फुरणम्। यस्यां चाक्लिष्टानि झगित्येवार्थप्रतिपादनसमर्थानि पदानि प्रतिभान्ति। यद्वशाद्धृदयंगमौ नानाविधौ शब्दार्थौ प्रतिभासेते सा शक्तिरित्यर्थः॥

अस्या एव भेदानाह—

प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा॥१६॥

पूर्ववर्ती आचार्यों से सहायता लेकर स्वसम्मत प्रयोजन-सूची निम्नरूप में प्रस्तुत की—

काव्यंयशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ का० प्र०

अर्थात् काव्य के निम्नोक्त प्रयोजन हैं—यशःप्राप्ति, धनप्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान, कष्ट-निवारण, तत्काल परम आनन्द अर्थात् रसास्वाद की प्राप्ति तथा कान्ता-सम्मित (सुगम रूप से) उपदेश की प्राप्ति। इन प्रयोजनों में से प्रमुख प्रयोजन है रसास्वाद की प्राप्ति और इसके उपरान्त दूसरा स्थान उपदेश-प्राप्ति का है।

२. काव्यहेतु

काव्य के असार (दोषों) के त्याग तथा सारभूत तत्त्व (काव्य-शोभाकारक अलंकार आदि) के ग्रहण द्वारा सुन्दर काव्य के निर्माण के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों (हेतुओं) की आवश्यकता रहती है।१४।

शक्ति उसे कहते हैं जिसके होने पर स्वस्थ चित्त में निरन्तर अनेक प्रकार के

प्रतिभेति । एषा च शक्तिरपरैर्दण्डिमुख्यैः प्रतिभेत्युक्ता । सा च द्विधा भवति । कथम् । सहजोत्पाद्या चेति । तयोश्च मध्यात्सहजा ज्यायसी प्रशस्यतरा । पुंसा सहोत्पन्नत्वात् ॥

यदि नाम पुंसा सहोत्पन्ना किमित्येतावता ज्यायसीत्याह—

स्वस्यासौ संस्कारे परमपरं मृगयते यतो हेतुम् ।
उत्पाद्या तु कथंचिद्व्युत्पत्त्या जन्यते परया ॥१७॥

स्वस्येति । असौ सहजा शक्तिः स्वस्यात्मनः संस्कार उत्कर्ष एव परं केवलम् । अविद्यमानः परोऽन्यो यस्मादसावपरोऽभ्यासस्तं यतो मृगयतेऽन्वेषयति नोत्पत्तावतो ज्यायसी । उत्पत्तौ तु सहजातत्वमेव हेतुः । उत्पाद्या तु व्युत्पत्या परयानन्तरया कथंचिन्महता कष्टेन जन्यते । अतो न ज्यायसी सा ॥

इदानीं व्युत्पत्तिस्वरूपमाह—

छंदोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात् ।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ॥१८॥

छन्द इति । छन्दो जयदेवादि, व्याकरणं पाणिन्यादि, कला नृत्यादिविषयभरतादिप्रणीतशास्त्राणि, लोकाः स्वःप्रभृतयस्तेषु चराचरादिस्वरूपनियमः स्थितिः, पदानि नाममालापठिताः पर्यायशब्दाः, पदार्थस्तेषामेव पदानामभिधेयार्थविषयप्रवृत्तिर्नैयत्यम् । एतेषां षण्णां छन्दःप्रभृतीनां विज्ञानाद्विशिष्टावगमाद्धेतोर्यो युक्तायुक्तविवेक उचितानु-

---

अभिधेयों (वाक्यार्थों) की स्फूर्ति (जागर्ति अथवा उत्पत्ति) होती है, तथा अक्लिष्ट अर्थात् शीघ्र ही अर्थ-प्रतिपादन में समर्थ पद प्रस्फुटित होते हैं ।१५।

इसी शक्ति को (दण्डिप्रमुख) आलंकारिकों ने प्रतिभा कहा है । वह सहजा और उत्पाद्या भेद से दो प्रकार की है । व्यक्ति के साथ ही उत्पन्न होने के कारण इन दोनों में सहजा श्रेष्ठ है ।१६।

सहजा शक्ति अपना उत्कर्ष स्वयं धारण करने वाली होती है, क्योंकि यह अन्य हेतुओं (शक्ति से इतर व्युत्पति और अभ्यास) का अन्वेषण [स्वतः] कर लेती है । और उत्पाद्या तो बाद में होने वाली व्युत्पति से बड़े कष्ट द्वारा प्राप्त होती है ।१७।

छन्द, व्याकरण, कला, लोकस्थिति, पद तथा पदार्थों के विशेष ज्ञान से उचित एवं अनुचित का सम्यक् परिज्ञान—संक्षेप में यही व्युत्पत्ति [की परिभाषा] है । किन्तु वस्तुतः 'सर्वज्ञता' ही व्युत्पत्ति की विस्तृत परिभाषा है, क्योंकि इस जगत् में कोई

चितत्वपरिज्ञानम्। यथात्रेदं छन्द उचितमनुचितं वेत्यादि सर्वेषु द्रष्टव्यम् । व्युत्पत्तिरियम् । समासेन संक्षेपेण ।।

तर्हि विस्तरव्युत्पत्तौक्ति रूपमित्याह—

विस्तरतस्तु किमन्यत्तत इह वाच्यं न वाचकं लोके ।

न भवति यत्काव्यांगं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा ।।१६।।

विस्तरत इति। व्युत्पत्तिसंबन्धिनो विस्तारात्किमन्यद्विद्यते यदन्तःपाति न भवति । कुत इत्याह—यस्मादिह लोके न तद्वाच्यमभिधेयमस्ति, न वाचकः शब्दो विद्यते यत्काव्याङ्गं काव्योपकरणं न भवतीति । ततो हेतोरेषान्या विस्तृता व्युत्पत्तिः । ततः संक्षेपाद्वा सकाशात् । अन्येति द्वितीया । सर्वज्ञत्वमेव विस्तीर्णा व्युत्पत्तिरित्यर्थः । उक्तं च—

न स शब्दो न तद्वाक्यं न स न्यायो न सा कला ।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान्कवेः ।।

अभ्यासो लोकप्रसिद्ध एव ।।

केवलं तस्य स्थाननियमं कर्तुमाह—

अधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य संनिधौ नियतम् ।

नक्तंदिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमान्काव्यम् ।।२०।।

अधिगतेति । वाक्यार्थः सुगमः । अत्राह—ननु यद्यधिगतसकलज्ञेयः शक्तिमांश्च तत्किं सुजनस्य सुकवेः संनिधानेऽभ्यस्यति । सत्यम् । छन्दोव्याकरणादिविषयलक्षणातिरिक्तमन्यदपि ज्ञेयं जानाति । यन्महाकविलक्ष्येषु दृश्यते । सुजनत्वाच्च निर्मत्सरो भूत्वा सर्वमसौ दर्शयति । तथाहि । छन्दसि पिङ्गलजयदेवाद्यनुक्तान्यपि वृत्तानि सुकविकाव्येषु दृश्यन्ते बहुशः । यथा माघस्य—

कृतसकलजगद्विबोधो विधूतान्धकारोदयक्षपितकुमुदतारकश्री योगं नयनकामिनः ।
गुरुतरगुणदर्शनादभ्युपेतल्पदोषः कृती तव वरद करोतु सुप्रातमह्नामयं ।।

तथा भारवेः—

इह दुरधिगमैः किंचिदेवागमैः सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम् ।
अमुमतिविपिनं वेद दिग्व्यापिनं पुरुषमिव परं पद्मयोनिः परम् ।।

भी ऐसा वाच्य तथा वाचक नहीं है जो [किसी न किसी रूप में] काव्य का अंग न बन जाता हो ।१८,१६।

एवमन्येषामपि सन्ति । तथा व्याकरणे वर्वष्टि—अजर्घाः-सस्ति—दर्दृष्टि–ईट्टे-ईर्त्सति-जिह्वायकयिषति-अड्डिडिषतीत्येवमादीनि पदानि न प्रयोज्यानि । काव्यस्य माधुर्यलालित्यविनाशप्रसङ्गात् । तथा क्षपि-मिलि-अर्थि-वचि-क्लीबप्रभृतयो धातवो धातुगणेषु पठिता अपि । सहेश्च परस्मैपदं प्रयोगदर्शनात्प्रयोक्तव्यम् । पदविषयं च यथा पक्ष्मशब्दोऽक्षिरोमस्वभिधानेषु पठितोऽन्यत्रापि दृश्यते । यथा माघस्य—

निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणः । इति ।

एवमन्यदपि कलादिविषये द्रष्टव्यम् । यत्सुजनकविसंनिधानाज्ज्ञेयम् ।

सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता और शक्तिमान् भी कवि को सुजन (सहृदय) एवं सुकवि के पार्श्व में अर्थात् उनकी संगति में रहकर रात-दिन सर्वदा काव्य का अभ्यास करना चाहिये ।२०।

उपर्युक्त सात पद्यों में रुद्रट ने काव्यहेतुओं पर प्रकाश डाला है । इनके कथनानुसार शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास से तीन काव्यहेतु हैं । इनसे पूर्व दण्डी और वामन ने इनका उल्लेख किया है । दण्डी के अनुसार नैसर्गिकी प्रतिभा, निर्मल शास्त्रज्ञान और अमन्द अभियोग ये तीन काव्यहेतु हैं—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः । काव्यादर्श १।१०३

वामन के अनुसार भी हेतु तीन हैं—लोक अर्थात् लोकव्यवहारज्ञान, विद्या अर्थात् विभिन्न शास्त्रज्ञान और प्रकीर्ण । प्रकीर्ण के अन्तर्गत इन्होंने इन छः हेतुओं को परिगणित किया है—लक्ष्यज्ञत्व (अन्य काव्यों का अनुशीलन), अभियोग (अभ्यास), वृद्धसेवा (गुरुजन आदि की सेवा द्वारा शिक्षा-प्राप्ति), अवेक्षण (उपयुक्त शब्दों का न्यास और अनुपयुक्त शब्दों का अपसारण), प्रतिभान (प्रतिभा) और अवधान (चित्त की एकाग्रता)—

(क) लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्यांगानि।
(ख) लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम् ।
का० सू० वृ० १।३।१०-११

रुद्रट-सम्मत 'व्युत्पत्ति' के अन्तर्गत दण्डि-सम्मत निर्मल शास्त्र-ज्ञान, वामन-सम्मत लोक, विद्या, लक्ष्यज्ञत्व और अवेक्षण का समावेश हो जाता है, और इनके 'अभ्यास' के अन्तर्गत दण्डी तथा वामन-सम्मत अभियोग का तथा वामन-सम्मत वृद्ध सेवा का । वामन-प्रस्तुत 'अवधान' भी अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है, पर यह काव्य का हेतु न होकर निपुणता और अभ्यास का हेतु है । अवधान साधन है और

नियतमित्यनेन सुकविसंनिधान एवाभ्यासः कार्य इति नियम इति । नक्तंदिनमित्यनेन तु यदैव पट्वी बुद्धिः क्षणश्च भवति तदैवाभ्यस्येत्, न पुनर्यथा कैश्चिदुक्तम् 'पश्चाद्रात्रे एव' इति तु कवेः काव्यकरणेऽत्यन्तादराधानार्थम् ।।

पुनः काव्यस्य प्रयोजनान्तरमाह—

स्फारस्फुरदुरुमहिमा हिमधवलं सकललोककमनीयम् ।
कल्पान्तस्थायि यशः प्राप्नोति महाकविः काव्यात् ।।२१।।

स्फार इति । स्फारो दृढः, स्फुरज्जनमनःसु प्रसरन्, अत एवोरुर्विस्तीर्णो महिमा यस्य कवेः सः । तथा यशः कीदृशम् । हिमधवलमित्यादि सुगमम् ।।

ये दोनों साध्य हैं । अतः इसे स्वतन्त्र हेतु न मानकर इसका अन्तर्भाव निपुणता और अभ्यास दोनों में किया जाना सहज संभव है ।

आगे चलकर रुद्रट के उपरान्त रुद्रट के ही समान कुन्तक ने भी तीन काव्यहेतु स्वीकृत किये—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास (वक्रोक्तिजीवित १।२४ वृत्ति), तथा मम्मट ने भी इन्हीं तीनों को स्वीकार करते हुए व्युत्पत्ति को निपुणता नाम दिया :

शक्तिर्निपुणता लोक काव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। काव्य प्रकाश ।१।३

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि रुद्रट के पश्चात् रुद्रट-सम्मत काव्य-हेतु ही थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ स्वीकृत कर लिये गये ।

उपर्युक्त तीन हेतुओं में से शक्ति (प्रतिभा) अनिवार्य हेतु है तथा शेष दो काव्य हेतु हैं । शक्ति के अभाव में सफल काव्य की निर्मिति असंभव है । केवल व्युत्पत्ति और अभ्यास के आधार पर निर्मित काव्य तुकबन्दी और कलाकारिता का सूचक मात्र होगा तथा चमत्कारहीन ही होगा । इधर इसके विपरीत 'व्युत्पत्ति' [काव्य तथा शास्त्र आदि के ज्ञान] के अभाव में भी अनेक अशिक्षित एवं ग्रामीण 'शक्ति' के ही बल पर सुन्दर ग्राम्य गीतों का निर्माण कर लेते हैं, तथा अभ्यास के अभाव में भी शक्ति के ही बल पर वाल्मीकि का **'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः···'** आदि श्लोक काव्य-चमत्कार का उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है । हाँ, शक्ति के साथ यदि व्युत्पत्ति और अभ्यास दोनों का समावेश हो जाए तो अत्यंत श्रेयस्कर है और इन तीनों का समावेश इतना संश्लिष्ट बन जाए कि ये तीनों मम्मट के शब्दों में तीन हेतु न पुकारे जाकर एक हेतु ही कहा जाए । **हेतुर्नतु हेतवः**

ननु काव्यादेवंविधयशोभवने प्रमाणाभावाद्देवगृहादिकमेव कारयितव्यमित्येतन्निरस्यन्नुदृष्टान्तपुरःसरं काव्यकरणे यत्नोपदेशमाह—

अमरसदनादिभ्यो भूता न कीर्तिरनश्वरी
भवति यदसौ संवृद्धापि प्रणश्यति तत्क्षये ।
तदलममलं कर्तुं काव्यं यतेत समाहितो
जगति सकले व्यासादीनां विलोक्य परं यशः ॥२२॥

रुद्रट-सम्मत प्रतिभा के दो भेदों सहजा और उत्पाद्या में से 'सहजा' भेद को अस्वीकृत करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । उत्पाद्या शक्ति को उन्होंने व्युत्पत्ति से उत्पन्न माना है ! इस कथन से उनका यह तात्पर्य लिया जा सकता है कि व्युत्पत्ति से शक्ति का परिष्कार एवं संस्कार होता है । दूसरे शब्दों में, शक्ति अनिवार्य हेतु है और व्युत्पत्ति उसका परिवर्द्धक हेतु है । अतः यह काम्य-हेतु ही है, न कि शक्ति के समान अनिवार्य हेतु । वस्तुतः रुद्रट ने उत्पाद्या शक्ति को स्वीकार करके इस प्रसंग को सुलझाने की अपेक्षा उलझाया अधिक है । संभवतः यही कारण है कि आगामी आचार्यों ने इन दोनों भेदों को स्वीकार नहीं किया ।

३. कवि-महिमा

[काव्य के निर्माण से] एक महाकवि की सुदृढ़ महिमा [सहृदय पाठकों के] मनों में प्रसरित हो जाती है, तथा वह कवि हिम के समान श्वेत तथा सभी लोकों में सुन्दर प्रतीत होनेवाले एवं कल्प की समाप्ति-पर्यन्त स्थायी रहनेवाले यश को प्राप्त कर लेता है ।२१।

रुद्रट से पूर्व कवि-महिमा के संबन्ध में भामह का निम्न कथन उल्लेखनीय है:—

(क) उपेयुषमपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम् ।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः ॥

(ख) रुणद्धि रोदसी चास्य तावत् कीर्तिरनश्वरी ।
तावत् किलाऽयमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ॥ का० अ० १।६,७

अर्थात् (क) यद्यपि उत्तम काव्य के प्रणेता स्वर्ग को चले गए हैं, तथापि उनका काव्य के रूप में सुन्दर शरीर (इस लोक में अब भी) निरातंक, निर्भीक, अनश्वर रूप में विद्यमान है ।

(ख) जब तक कवि की अनश्वर कीर्ति आकाश और पृथ्वी को आच्छादित किये है, तब तक वह पुण्यवान देवपद पर आसीन है ।

अमर इति । सुगमम् । तस्मात्स्थितमेतत्कवेः काव्यकरणादेव परं यशो भवतीति । उक्तं च—

यतः क्षणध्वसिनि संभवेऽस्मिन्काव्यादृतेऽन्यत्क्षयमेति सर्वम् ।
अतो महद्भिर्यशसे स्थिराय प्रवर्तितः काव्यकथाप्रसङ्गः ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालङ्कारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतः प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

द्वितीयोऽध्यायः

शास्त्रस्य काव्यकरणस्य च प्रयोजनमाख्यायेदानीं काव्यलक्षणं पृष्टः सन्नाह—

ननु शब्दार्थौ काव्यं शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधः ।
वर्णानां समुदायः स च भिन्नः पंचधा भवति ॥१॥

नन्विति । ननु शब्दः पृष्टप्रतिवचने । यथा 'अपि त्वं कटं करिष्यसि । 'ननु भोः करोमि' इति । शब्दश्चार्थश्च तौ काव्यमुच्यते । कवेः कर्माभिप्रायो वेति शब्दार्थः । कवेः काव्योपयोगिनोः शब्दार्थयोरन्योन्याव्यभिचारादेकतरोपादानेनैव द्वितीये लब्धे द्वितीयोपादानं काव्ये द्वयस्यापि प्राधान्यख्यापनार्थम् । अन्यथा हि शब्दार्थयोरेकतरोपादानेऽन्यतरस्यालंकारैर्विरहितमपि दोषैश्च युक्तमपि काव्यं साधु स्यात् । अद्वयोपादाने न

अमरसदनों (देवगृहों, मन्दिरों) के निर्माण से निर्माण-कर्ता को जो यश प्राप्त होता है वह नश्वर होता है, और यदि वह यश फैल भी जाता है तो उन मन्दिरों आदि के नाश होने पर नष्ट हो जाता है । अतः इस संपूर्ण संसार में [महाभारत आदि के कर्ता] व्यास आदि के परम यश को देख कर कवि को एकाग्रचित्त होकर अदोष काव्य के निर्माण में प्रयत्नशील रहना चाहिए ।२२।

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्य-हिन्दीव्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

द्वितीय अध्यायः

इस अध्याय में निम्नोक्त विषयों पर प्रकाश डाला गया है :—

[१] काव्यलक्षण [२] शब्द के प्रकार [३] वृत्ति [४] वाक्य [५] शब्दालंकार—वक्रोक्ति और अनुप्रास ।

तुल्यकक्षतया शब्दार्थौ द्वावपि काव्यत्वेनाङ्गीकृतौ भवतः । द्वयमेतत्समुदितमेव काव्यं भवतीति तात्पर्यम् । शब्दार्थौ काव्यमित्युक्तम्, अथ शब्दः किमुच्यत इत्याह – शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधो वर्णानां समुदाय इति । तत्रेति शब्दार्थयोर्मध्यात् । शब्दोऽर्थवान् ! साभिधेयोऽनेकविधोऽर्थवानिति स्वरूपविशेषणमात्रम् । यथा । कीदृशः शक्रः । वज्री सहस्राक्ष इति । न तु व्यवच्छेदकम् । काव्यलक्षणाख्यानेनैव निरर्थकस्य निरस्तत्वात् । कीदृशः शब्दः । वर्णानामकारादीनां समुदायः । वर्णानामिति बहुवचनमतन्त्रम् । तेनैकवर्णो द्विवर्णश्च शब्दः सिद्धो भवति । सोऽपि संभवतः कियद्भेद इत्याह – अनेकविधः । तद्यथा । कश्चिद्व्यक्तैकार्थावयवः यथा घट इति । अत्र हि घकारादयो वर्णा व्यक्ताः प्रकटाः संभूय कुम्भाख्यमेकम माहुः । कश्चिद्व्यक्तपृथगर्थावयवः । यथा एति पचतीति वा । अत्र हि एकारादयो वर्णा व्यक्ताः पृथगर्थाश्च । तथापि हि धातुना क्रियाभिधीयते प्रत्ययेन तु कर्ता । कश्चिदव्यक्तैकार्थावयवः । यथा संपदादित्वात् क्विपि कृते 'अवनं ऊः' इति पदन् । अत्र त्वकारवकारौ कृतादेशौ क्षीरनीरवदेकीभूतावनक्रियामेकमेवार्थमाहतुः ।

रुद्रट ने पाँच शब्दालंकार गिनाये हैं । उपर्युक्त वक्रोक्ति और अनुप्रास के अतिरिक्त शेष तीन अलंकारों—यमक, श्लेष तथा चित्र का निरूपण क्रमशः ३य, ४र्थ और ५म अध्यायों में किया गया है ।

१. काव्यलक्षण

शब्द और अर्थ का संयोग काव्य कहाता है ।

'**ननु शब्दार्थौ काव्यम्**—अर्थात् शब्द और अर्थ (इन दोनों का संयोग) 'काव्य' कहाता है । रुद्रट-सम्मत यह काव्यलक्षण भामह-सम्मत '**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**' पर आधारित है, जिसका अभिप्राय है कि शब्द और अर्थ के सहित-भाव को काव्य कहते हैं । यद्यपि ये दोनों काव्यलक्षण व्याख्यापेक्ष हैं, सुगम और सुबोध नहीं हैं, किन्तु फिर भी काव्यलक्षण के संदर्भ में शब्द, अर्थ और इनके परस्पर संयोग की महत्त्वपूर्ण स्थिति पर प्रकाश डालते हैं । वस्तुतः भाषा के ही प्रसंग में शब्द और अर्थ का पारस्परिक संयोग एक अनिवार्य तत्त्व है । महाभाष्यकार पतंजलि का '**सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे**' [म० भा०] इसी तत्त्व का सूचक है । अर्थहीन शब्द को 'काव्य' नाम से तो क्या साधारण 'वार्ता' नाम से भी अभिहित नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार अर्थ की सत्ता भी शब्द के अभाव में नितान्त असंभव है । जब तक कोई अर्थ शब्द का परिवेश धारण नहीं कर लेता तब तक उसे 'भाव' अथवा 'विचार' की संज्ञा मिलती है, अर्थ की नहीं । 'भाव' अथवा 'विचार' शब्द के माध्यम से ही, दूसरे शब्दों में, जब वे '**अर्थ**' की संज्ञा धारण कर लेते हैं, तभी अभिव्यक्ति-क्षमता को प्राप्त कर

कश्चिदव्यक्तपृथगर्थावयवः । यथा 'ऐः' इति क्रियापदम् । अत्र हि आकारैकारौ पूर्ववदेकीभूतौ सकारश्च कृतादेशत्वादव्यक्तीभूतः पृथगर्थश्च । यत ऐकार आगतिक्रियामाह, सकारो युष्मदर्थं कर्तारमेकत्वं चेति चतुर्भेदत्वादनेकविधत्वम् । यदि वा द्रव्यजातिक्रियागुणवाचित्वेन चातुर्विध्यम् । अन्ये तु वक्ष्यमाणवक्रोक्त्याद्यलंकारभेदेन शब्दस्यानेकविधत्वमाहुः । यदि पुनः पञ्चधेत्युत्तरपदापेक्षयानेकविधत्वमुच्यते तदा पञ्चधेत्यनर्थकं स्यात् । अनेनैवोक्तार्थत्वादिति । त चैवंरूपं शब्दं केचित्पाणिन्यादयः सुप्तिङन्तरूपतया द्विभेदमाहुः केचिच्चतुर्धेति । तद्द्वयं निरसितुमाह—स च भिन्नः पंचधा भवतीति । स चेति चकारः पुनरर्थे । ततश्चायमर्थः । स पुनर्वर्णसमुदायात्मकः शब्दो भिन्नो भेदेन व्यवस्थापितः सन् पञ्चधा भवति । ते पुनः प्रकारा नामाख्यातनिपातोपसर्गकर्मप्रवचनीयलक्षणाः पुरो भङ्ग्यन्तरेण वक्ष्यन्ते ॥

सकते हैं, अन्यथा नहीं । यह अभिव्यक्ति कभी साधारण वार्ता-मात्र कहाती है और कभी काव्य, और इसका आधार है वक्ता अथवा लेखक की अभिव्यक्ति-कला और कल्पना का तारतम्य । निष्कर्षतः सामान्य लोकभाषा और काव्य दोनों के लिए शब्द और अर्थ का संयोग अनिवार्य है । इस संयोग के विना इन दोनों का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है । रुद्रट-सम्मत उक्त काव्यलक्षण इस संयोगमात्र का संकेत करता है ।

रुद्रट के अतिरिक्त वामन, कुन्तक और मम्मट ने भी काव्य-स्वरूप के प्रसंग में 'शब्दार्थौ' का प्रयोग किया—

वामन—काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते । का० सू० वृ० १।१।२

कुन्तक—शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥ व० जी० १।७

मम्मट—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि । का० प्र० १म, उ०

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य-पुरुष-रूपक की चर्चा राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में सम्भवतः सर्वप्रथम उपलब्ध होती है । उसमें 'शब्दार्थ' को काव्य का शरीर माना गया है । (का० मी० ३य अ०, पृष्ठ १४) इनके उपरान्त इस रूपक को विश्वनाथ ने निम्नोक्त रूप में प्रचलित किया :

काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्
—सा० द० १म परि० ।

इस प्रकार काव्य के स्वरूप-निर्धारण के प्रसंग में 'शब्दार्थौ' का प्रयोग

अथ ये चतुर्धेत्याहुस्तेषामव्याप्तिदोषं प्रचिकटयिषुराह—

नामाख्यातनिपाता उपसर्गाश्चेति संमतं येषाम् ।
तत्रोक्ता न भवेयुस्तैः कर्मप्रवचनीयास्तु ।।२।।

नामेति । वस्तुवाचि पदं नाम । क्रियाप्रधानं तिङन्तमाख्यातम् । नामाख्यातयोः समुच्चयाद्यर्थप्रख्यातिनिमित्तं निपाताः । क्रियाविशेषप्रतिनिबन्धनमुपसर्गाः । च शब्द एवार्थे । इति परिसमाप्तौ । एत एव चत्वारः शब्दविधा इति येषां सम्यङ् मतं तत्र येषु नामादिषु मध्ये तैर्मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः । तुरवधारणे भिन्नक्रमः । सप्तमीसंभावनेनैव संगृहिता भवन्तीति संभावयामि । यतस्तैरुपसर्गेष्वन्तर्भावः कृतः स चायुक्तः । विद्यते हि उपसर्गेभ्यो नामादीनामिव कर्मप्रवचनीयानामपि

किसी न किसी रूप में अनेक प्रख्यात आचार्यों द्वारा किया जाता रहा है। किन्तु कतिपय ऐसे आचार्य भी हैं जिन्होंने 'अर्थ' को ससम्मान स्वीकृत करते हुए भी शब्द अथवा पदावली अथवा वाक्य को काव्यलक्षण-प्रसंग में अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया। उदाहरणार्थ दण्डी, विश्वनाथ और जगन्नाथ के निम्नोक्त कथन लीजिए—

दण्डी—शरीरं तावद् इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।　का० द० १।१०
विश्वनाथ—वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।　सा० द०, १म परि०
जगन्नाथ—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् । र० ग० १म आनन

जगन्नाथ ने इसी प्रसंग में प्रस्तुत एक शास्त्रार्थ में प्रतिपादित किया है कि 'शब्द' को ही काव्य कहना चाहिये न कि शब्दार्थ को किंतु वस्तुतः अकेले 'शब्द' को काव्य कहना समुचित नहीं है। शब्द और अर्थ का सहित-भाव ही 'काव्य' नाम से अभिहित होने योग्य है। कुन्तक के शब्दों में यह सहित-भाव तभी संभव है जब वे समान सौन्दर्य को धारण करके एक-दूसरे के मित्र रूप में एक-दूसरे की शोभा बढ़ाते हैं। इन दोनों के सहित-भाव की सिद्धि के लिये ऐसे शब्दों का प्रयोग होना चाहिए जो यथेष्ट अर्थ को—न इससे न्यून और न इससे अधिक अर्थ को—प्रकट कर सकें :

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदावेव संगतौ ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ।।
साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनाऽनतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ।। व० जी० पृ०२६

वस्तुतः इसी सहित-भाव को लक्ष्य में रखकर काव्य का पर्याय 'साहित्य' माना जाता है—हितेन सहितं साहित्यम् । साहितस्य भावः साहित्यम्' । इसी आधार पर राज-

पृथग्व्यापारभेदः ।--तथाहि— वृक्षमभिविद्योतते विद्युत्' इति विद्युद्वृक्षयोर्लक्ष्यलक्षण-संबन्धोऽभिना द्योत्यते । उपसर्गेण तु क्रियाविशेषार्थाभिव्यक्तिरेव क्रियते । तथा कार्य-भेदोऽपि तेषां दृश्यते । यथा षत्वणत्वादिकार्यस्योपसर्गा एव निमित्तम् । द्विर्वचनादिक-स्य तु कर्मप्रवचनीया एवेति । तथा प्रयोगोऽप्युपसर्गाणां नियत एव प्राग्धातोः, न तु कर्मप्रवचनीयानामिति कथमिवोपसर्गेष्वेषामन्तर्भावः । नन्वव्ययानि स्वरादीनि भेदान्तरं विद्यत इति कथं षोढा न स्यादित्ययुक्तम् । स्वरादीनां स्वर्गादिसत्वभूतार्थ-वाचकत्वेन नामस्वेवान्तर्भावात् । यदि वा नैरुक्तानामव्ययानि निपात एवेति निपात-ग्रहणेन तेषां संग्रहः । गतयोऽप्युपसर्गा एवेति पंचधा शब्द इति स्थितम् ।

शेखर ने काव्यशास्त्र को 'साहित्यविद्या' नाम दिया है--'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या ।'

२. शब्द के प्रकार

सार्थक शब्द अनेक प्रकार का होता है । वर्णों के समुदाय को शब्द कहते हैं । इसके पांच भेद हैं—नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय, किन्तु कई आचार्य इनमें से 'कर्मप्रवचनीय' को स्वीकार नहीं करते ।१,२।

वर्ण का समूह शब्द कहाता है । शब्द के पाँच भेदों में पहला भेद 'नाम' है । निरुक्त के प्रणेता यास्क के अनुसार जिसमें सत्त्व को प्रधानता हो उसे नाम कहते हैं— **सत्त्वप्रधानानि नामानि** । सत्त्व उसे कहते हैं जिसमें लिंग और संख्या का सद्भाव सम्भव हो—**लिंगसंख्ययोरत्र सद्भाव इति सत्त्वम्** । दूसरे शब्दों में संज्ञावाचक शब्दों को 'नाम' कह सकते हैं, क्योंकि इन्हीं में तीनों लिंगों तथा तीनों वचनों की सत्ता सम्भव है । संज्ञा के रूपान्तर होने के कारण 'सर्वनाम' को, और संज्ञा की विशेषता प्रकट करने के कारण 'विशेषणवाची' शब्दों को भी गौण रूप से 'नाम' कह दिया जाता है । यों तो लिंग और वचन क्रिया-शब्दों में भी होते हैं, किन्तु क्रिया-शब्दों में 'करणीय-भाव' की प्रधानता रहती है--लिंग और वचन का परिवर्तन तो इनमें संज्ञा और सर्वनाम के अनुरूप रहता है । अतः क्रिया-शब्दों को 'नाम' नहीं कहा जाता ।

शब्द का दूसरा भेद आख्यात है । इसे यास्क ने भावप्रधान माना है— **भावप्रधानमाख्यातम्** । भाव कहते हैं किसी 'नाम' पद के वाच्यार्थ के आश्रित किसी कर्म के व्यंग्य को । इसे अंग्रेजी में 'ऐब्स्ट्रैक्ट नाउन' कह सकते हैं । जैसे पाक, राग, त्याग आदि । यह भाव जिसमें प्रधान हो उसे आख्यात अथवा क्रिया कहते हैं— **नामपदवाच्यार्थाश्रयक्रियाव्यंग्यो भावः पाक-राग-त्यागाख्यः स यत्र प्रधानं,**

ननु तथाप्युपगु-राजपुरुषादयः शब्दसमुदाया व्यतिरिक्ता विद्यन्त इति कथमुक्तं पंचधेत्याशङ्क्याह—

नाम्नां वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन ।
वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्यू रीतयस्तिस्रः ।।३।।

गुणभूता क्रिया, तदिदं भावप्रधानम् आख्यातम् । (विशेष विवरण के लिए देखिये ४र्थ अ०)

शब्द का तीसरा भेद निपात है । इसे अव्यय भी कहते हैं—**निपातमव्ययः ।** यास्क के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति है—**उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति इति निपाताः ।** (निरुक्त १।३।११), अर्थात् जो विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं । यास्क ने इन्हें तीन श्रेणियों में विभक्त किया है । (१) उपमार्थे –जिनका प्रयोग उपमा के प्रसंग में किया जाता है, जैसे इव आदि । (२) कर्मोपसंग्रहार्थे—जिनका प्रयोग 'कर्मोपसंग्रह' अर्थात् समुच्चय, संबंध आदि के स्थापनार्थ किया जाता है । 'कर्मोपसंग्रह' का यास्क के शब्दों में अर्थ है—**यस्यागमाद् अर्थपृथक्त्वमाह विज्ञायते, न तु औद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात् स कर्मोपसंग्रहः ।** अर्थात् कर्मोपसंग्रह उसे कहते हैं जिसके प्रयोग से अर्थ (द्वन्द्व के दो घटक) पृथक्-पृथक् हो जाएं । विग्रह करने के कारण अब वे एक प्रतीत न हों । जैसे च, वा आदि । (३) पदपूरणार्थे – जिनका प्रयोग पादपूर्ति के लिये किया जाता है, जैसे उ, हि, किल, खलु, नूनम् आदि ।

शब्द का चौथा भेद उपसर्ग है, जो संस्कृत भाषा के शब्द-भण्डार की प्रवृद्धि करने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण योग देता है । इसी के ही पूर्व-संयोग से संज्ञाएं अथवा क्रियाएं अनेक अर्थों की वाचक बन जाती हैं । जैसे 'हार' से प्रहार, आहार, विहार, संहार आदि । यास्क ने उपसर्ग-प्रसंग में निम्नोक्त दो प्रश्न उपस्थित किये हैं : (१) क्या उपसर्ग संज्ञा अथवा क्रिया के साथ पूर्वसंलग्न रहकर ही अर्थपरिवर्तन में समर्थ बनती हैं ? अथवा (२) क्या उपसर्ग का स्वतंत्र अर्थ भी होता है ? और अन्त में उन्होंने द्वितीय पक्ष का समर्थन किया है । किंतु वस्तुतः उनका यह मन्तव्य व्यावहारिक नहीं है । प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर् आदि उपसर्गों का बिना किसी शब्द की सहायता के प्रयोग निरर्थक होता है । अतः प्रथम पक्ष को ही स्वीकृत करना चाहिये ।

शब्द का पांचवां भेद कर्मप्रवचनीय है । कभी-कभी उपसर्ग का प्रयोग 'उपसर्ग' के समान नहीं होता । जैसे **वृक्षम् अभिविद्योतते विद्युत्** , अर्थात् बिजली वृक्ष

नाम्नामिति । नाम्नां वृत्तिर्वर्तनं द्वेधा, समासवत्यसमासवती चेति । तयोरपि प्रकारविशेषमाह – तत्र तयोर्वृत्त्योर्मध्यात्समासवत्या वृत्तेस्तिस्रो रीतयो भवन्ति । रीति-भङ्गिर्विच्छित्तिरिति पर्यायाः ॥

कास्ता इत्याह—

पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः ।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ॥४॥

पांचालीति । चः समुच्चये । इति समाप्तौ । एतास्तिस्र एवेत्यर्थः । नामत इत्यनेन नाममात्रमेतदिति कथयति । न पुनः पंचालेषु भवा इत्यादि व्युत्पत्तितः । अतिप्रसङ्गात् । तर्हि केन विशेषेण तिस्र इत्याह —लघुमध्येत्यादि । लघु मध्यमायतं च विरचनं यस्य समासस्य तद्भेदात् । तत्रेत्युत्तरत्र योज्यते ॥

की ओर चमकती है । ऐसे प्रयोगों में अभि, वि उपसर्गों को 'उपसर्ग' न कहा जाकर 'कर्मप्रवचनीय' कहा जाना चाहिए । किन्तु टीकाकार नमिसाधु के कथनानुसार मेधाविरुद्र आदि आचार्य इसे स्वीकृत नहीं करते । हमारे विचार में 'कर्मप्रवचनीय' को न तो शब्द का पांचवाँ भेद मानना चाहिये और न इन्हें उपसर्ग के अन्तर्गत स्वीकृत करना चाहिए । अपितु इन्हें 'अव्यय' में अन्तर्भूत करना चाहिए । 'स नगरं प्रति गच्छति' इस वाक्य में 'प्रति' उपसर्ग प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः उपसर्ग नहीं है, किन्तु 'अहं प्रतिनिवृत्य कार्यं करोमि' में 'प्रति' निस्संदेह एक उपसर्ग है । उक्त प्रथम वाक्य में 'प्रति' को अव्यय मानना चहिए । वैसे, आज के हिन्दी-व्याकरण-ग्रन्थों में इसे स्थानवाचक क्रियाविशेषण माना गया है ।

३. वृत्ति

नाम की वृत्ति [वर्तन अथवा प्रयोग] दो प्रकार की है समासयुक्त और समास-रहित । इनमें से समासयुक्त वृत्ति की तीन रीतियाँ होती हैं, जो पांचाली, लाटीया और गौडीया इन नामों से पुकारी जाती हैं । इनमें क्रमशः लघु, मध्य और आयत समासयुक्त रचना होती है ।३,४।

वृत्ति, इसका समास के साथ सम्बन्ध तथा इसके विभिन्न भेदों की चर्चा रुद्रट से पूर्व वामन और उद्भट के ग्रन्थों में उपलब्ध होती है, पर किंचिद् अंतर के साथ । वामन ने वृत्ति को इस नाम से न पुकार कर 'रीति' नाम से पुकारा । उन्होंने सर्वप्रथम रीति के तीन भेद बताये—वैदर्भी, गौडी और पांचाली । किंतु उद्भट ने इन्हें 'वृत्ति' की संज्ञा दी । इन तीनों का नाम परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या बताया, तथा इन्हें अनुप्रास अलंकार के अंतर्गत निरूपित किया । उद्भट की यही पद्धति जैसा

अनियमे प्राप्ते नियमार्थमाह—

द्वित्रिपदा पांचाली लाटीया पंच सप्त वा यावत् ।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया ॥५॥

द्वित्रिपदेति । द्वे त्रीणि वा यस्यां पदानि । द्वित्रिग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वाच्चत्वारि वा समासवन्ति यस्यां सा पांचाली रीतिर्भवति । यस्यां तु द्वितीयादारभ्य पंच सप्त वा यावत्सा लाटीया । पंच सप्त वेति मतद्वयं तदुभयं संग्रहीतम् यस्यां तु समासवन्तः शब्दा अष्टभ्य आरभ्य यथाशक्ति भवन्ति । यावंतः कर्तुं शक्नोति तावन्त इत्यर्थः । सा गौडीया ॥

नन्वाख्यातेऽपि पचति प्रपचतीति वृत्तिद्वैविध्यं कथं न स्यादित्यत आह—

आख्यातान्युपसर्गैः संसृज्यन्ते कदाचिदर्थाय ।
वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव ॥६॥

आख्यातानीति । आख्यातानि तिङन्तक्रियापदान्युपसर्गैः सार्धं संसृज्यन्ते, न तु समस्यन्ते । सुप्सुपेत्यधिकारात् । किं नित्यमेव । न । कदाचित्क्वचिदपि । किमर्थमित्याह—अर्थाय । यत उक्तम्—

धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते ।
तमेव विशिनष्टयन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा ॥

तत्र बाधते यथा—प्रहरति, प्रतिष्ठते इत्यादि । अनुवर्तते यथा—प्रहन्ति अभिहन्ति विशिनष्टि यथा—प्रपचतीत्यादि । इदानीमसमासाया वृत्ते रीतिमाह—वृत्तेरसमासायाः समासरहित पदवृत्तेर्वैदर्भी नाम रीतिरेकैव । एताश्च रीतयो नालंकाराः, किं तर्हि शब्दाश्रया गुणा इति ॥

कि हम आगे (२।१८-३१) देखेंगे, रुद्रट ने तथा आगे चल कर मम्मट ने थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ अपनायी है ।

पांचाली वृत्ति दो-तीन पदों के समास वाली होती है और लाटीया पाँच-सात पदों वाली । गौडीया वृत्ति [सात से अधिक] यथाशक्ति जितने भी पदों के समास से युक्त हो सकती हैं ।५।

क्रियाएँ उपसर्गों के साथ भी संयुक्त की जाती हैं । इससे उनके अर्थों में विशिष्टता उत्पन्न हो जाती है । समास-रहित वृत्ति एक ही है—वैदर्भी ।६।

पंचविधस्यापि शब्दस्य यत्रोपयोगस्तस्येदानीं वाक्यस्य लक्षणं कर्तुमाह—

वाक्यं तत्राभिमतं परस्परं सव्यपेक्षवृत्तोनाम् ।
समुदायः शब्दानामेकपराणामनाकांक्षः ॥७॥

वाक्यमिति । तत्रेति पंचविधशब्दमध्यादन्यतरद्वित्रादिभेदानां समुदायो वाक्यम् । न तु नामादीनां पंचानामेव युगपत्सद्भावे । कीदृशां शब्दानाम् । परस्परं सव्यपेक्षवृत्तीनां अन्योन्यं साकांक्षव्यापाराणाम् । न त्वेवंविधानां यथा—

आषाढी कार्तिकी मासी वचा हिंगु हरीतकी ।
पश्यतैतन्महच्चित्रमायुर्मर्माणि कृन्तति ॥

तथा. एकपराणाम् । एकं वस्तु साधयितुमुद्यतानामित्यर्थः । तथा अनाकांक्षा । साकांक्षश्चेन्न भवति यस्मादाख्यातं विना शब्दसमुदायः साकांक्षो भवति । तमपेक्षत इत्यर्थः ॥

अथ वाक्यगुणानाह—

अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम् ।
क्षोदक्षममक्षूणं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत ॥८॥

---

४. [क] वाक्य (वाक्य का लक्षण)

वाक्य उन शब्दों के समुदाय को कहते हैं, जो परस्पर व्यपेक्षवृत्ति वाले हों, तथा एकपरक हों । ऐसा वाक्य आकांक्षा-रहित होना चाहिए ।७।

[ख] वाक्य के गुण

वाक्य ऐसा प्रयुक्त किया जाना चाहिए जिसमें वाचक अर्थात् शब्द न्यून अथवा अधिक न हों, जिसमें पदों का क्रम सुन्दर हो, जो पुष्टार्थ अर्थात् अभीष्ट अर्थ के द्योतक शब्दों से समन्वित हो, जिसमें चारु अर्थात् उपयुक्त पदों का प्रयोग हो, जो क्षोद अर्थात् प्रेषणीयता में समर्थ हो तथा जो अक्षुण अर्थात् सर्वतः पूर्ण हों ।८।

वाक्य के उक्त लक्षण के अनुरूप इसका लक्षण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों तथा व्याकरण एवं न्याय से सम्बद्ध ग्रन्थों में प्रायः उपर्युक्त शब्दों में ही प्रस्तुत किया गया है :

विश्वनाथ—-वाक्यं स्याद् योग्यताऽऽकांक्षाऽऽसत्तिपदोच्चयः ।
— साहित्यदर्पण २य परि०

नागेशभट्ट—पदसमूहो वाक्यमर्थसमाप्तौ । —मंजूषा पृ०१

केशवमिश्र — वाक्यं त्वाकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः ।
—तर्कभाषा, शब्दनिरूपण पृ०८७

अन्यूनेति । शब्दाश्च ते चारुपदानि च शोभनपदानि च शब्दचारुपदानि, ऊनानि चाधिकानि चोनाधिकानि, नितरामूनाधिकानि न्यूनाधिकानि, न तथा अन्यूनाधिकानि, तानि च तानि वाचकानि च, सुकुमाराणि च पुष्टार्थानि च शब्दचारुपदानि यत्र वाक्ये तत्तथाभूतं वाक्यं प्रयुंजीतेति सम्बन्धः । तत्रान्यूनग्रहणाद्यत्र कंचिच्छब्दं विना दुष्टार्थ-प्रतीतिर्विवक्षितार्थाप्रतिपत्तिरेव वा भवति तन्न्यूनपदं वाक्यं निरस्तम् । यथा—

संपदो जलतरंगविलोला यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि ।
शारदाभ्रमिव पेलवमायुः किं धनैः परहितानि कुरुध्वम् ॥

अत्र हि धनशब्दादनन्तरं यावत्कार्यशब्दो न प्रयुक्तस्तावत् 'धनैः किमिति परहितानि कुरुध्वम्' । मा कुरुत इति दुष्टोऽर्थः प्रतीयते । विवक्षितार्थाप्रतीतिर्यथा— **सीसपडिच्छियगंगं पणमिय संझं नमह नाहं** । अत्र 'संझं' शब्दादनन्तरं 'ततः' शब्दमन्तरेण न ज्ञायते किं 'प्रणम्य संध्यां ततो नाथं नमत', आहोस्वित् 'प्रणतसंध्यं नाथं नमत' इति । निःशब्दग्रहणाद्यत्र विनापि पदमसाधारणविशेषणोपादानात्तदनु-रूपकारकप्रयोगाद्वा । विवक्षितपदार्थप्रतीतिस्तदूनमात्रं साध्वेव । यथा—

स वः पायात्कला चान्द्री यस्य मूर्ध्नि विराजते ।
गौरीनखाग्रधारेव भग्नरूढा कचग्रहे ॥

अत्र ह्यसाधारणविशेषणैः शंभुरित्यनुक्तमपि लभ्यते । अनुरूपकारकप्रयोगात्पदार्थप्रतीति-र्यथा —

यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा ।
यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां सर्वस्य कटुरेव सः ॥

ये सभी लक्षण एक-समान हैं, रुद्रट-प्रस्तुत लक्षण में प्रयुक्त 'व्यपेक्षवृत्ति वाले शब्दों' से तात्पर्य है कि वाक्यगत शब्द एक-दूसरे के प्रति साकांक्ष रूप से सम्बद्ध हों, इसे आचार्य विश्वनाथ ने 'योग्यता' नाम दिया है । अर्थात् वे इस प्रकार के न हों जैसे कि रुद्रट के टीकाकार नमि साधु ने प्रस्तुत किये हैं— आषाढ़ी, कार्तिकी, मासी, वचा, हींग और हरड़ । इस महान् आश्चर्य को तो देखो आयु-मर्मों को काटती है ।' 'वाक्यगत शब्द एक परक हों' का तात्पर्य है कि ये शब्द परस्पर-सम्बद्ध हों, उनमें कालसम्बन्धी कोई व्यवधान न हो । इसे विश्वनाथ के शब्दों में 'आसत्ति' कह सकते हैं । उदाहरणार्थ 'देवदत्त जाता है' ये तीनों पद एक के बाद एक तुरन्त उच्चरित हों, उनमें काल-सम्बन्धी अन्तर न हो । 'वाक्य अनाकांक्ष हों' से तात्पर्य है कि वाक्यगत पदों को सुनने अथवा पढ़नेके उपरान्त यह आकांक्षा न बनी रहे कि अभी वाक्य अपूर्ण है । जैसे केवल 'हाथी, अश्व, गाय, पुरुष' आदि पद-समूह वाक्य नहीं कहाता ।

अत्र च्छेदसेकालंकारा अनुक्ता अपि परत्वाद्युपादानात्प्रतीयन्ते । नहि तेषां च्छेदादेरन्यो व्यापार इति । अधिकग्रहणाद्यत्र शब्दान्तरेणोक्तेऽप्यर्थे पुनस्तदर्थंपदं प्रयुज्यते तन्निरस्ताम् । यथा—

स्फारध्वानाम्बुदालीवलयपरिकरालोकनं प्रेमदाम्नोः ।

इत्यत्रालीशब्देन मेघानां बाहुल्यं प्रतिपादितमिति तदर्थौ वलयपरिकरशब्दौ निष्प्रयोजनाविति । निग्रहणादधिकमात्रं साध्वेव । यथा—

नादेन यस्य सुरशत्रुविलासिनीनां काञ्च्यो भवन्ति शिथिला जघनस्थलेषु ।

अत्र हि कांचयस्तत्स्थानत्वादेव जघनस्थले लब्धे तदुपादानमधिकमात्रमिति । वाचकग्रहणमवाचकनिवृत्त्यर्थम् । यथा—

लावण्यसिन्धुरपरेव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ।।

इस प्रकार केवल पद-समूह का नाम भी वाक्य नहीं है, अपितु इस पद-समूह में उक्त तीनों गुणों का रहना अनिवार्य है ।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने वाक्य के चार लक्षण प्रस्तुत किये हैं—

१. आख्यातं साऽव्ययकारकविशेषणं वाक्यम् ।
२. सक्रियाविशेषणम् च ।।
३. आख्यातं सविशेषणम् ।
४. एक तिङ् ।   [महाभाष्य २।१।१]

इनमें से प्रथम दो लक्षण परस्पर-सम्बद्ध हैं । इनका अर्थ है कि वाक्य उस आख्यात (क्रिया) को कहते हैं जिस के साथ अव्यय, कारक, विशेषण और क्रिया-विशेषण में से किसी एक, दो, तीन या चारों का प्रयोग किया जा सके । तीसरा लक्षण उक्त दोनों लक्षणों का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करता है । इस लक्षण में 'विशेषण' शब्द का अर्थ है—अव्यय, कारक, विशेषण और क्रियाविशेषण । अतः इस लक्षण का भी वही अर्थ है जो ऊपर दिया गया है। चौथे लक्षण के अनुसार 'वाक्य उसे कहते हैं जिसमें एकतिङ् अर्थात् एक क्रिया का प्रयोग किया जाए । इस कथन का अभिप्राय यह है कि वाक्य में केवल एक क्रिया होती है, दूसरी क्रिया के प्रयुक्त होने पर वह दूसरा वाक्य माना जाएगा । इस चौथे लक्षण के सम्बन्ध में पहली बात यह उल्लेखनीय है कि इसके अनुसार यह कदापि अभीष्ट नहीं कि वाक्य में केवल एक क्रिया ही प्रयुक्त होती है, उक्त अव्यय आदि चार प्रयुक्त नहीं होते । उक्त तीनों सूत्रों की अनुवृत्ति के

अत्र शशिशब्देन मुखम्, उत्पलशब्देन नेत्रे, द्विरदकुम्भाभ्यां स्तनौ, कदलिकाण्डशब्देनोरू, मृणालदण्डशब्देन बाहू, कवेर्विवक्षितौ । न च शब्दास्तथा वाचकाः, न च मुखादिषु शशिप्रभृतीनि पदानि यौगिकानि रूढानि वेत्यवाचकान्येव । उपमेयपदाप्रयोगाच्च रूपकभ्रान्तिरपि नास्ति । तथा दशरथ इति वक्तव्ये पंक्तिरथशब्दोऽप्यवाचकः संज्ञाशब्दत्वात्तस्य । न च दशसंख्यार्थो वा घटते । येन यौगिकरूढपदं स्यात् । तथा आम्रदेवादिषु चूतामरादयः शब्दाः अवाचका इति । सुक्रमग्रहणं दुष्टक्रमनिवृत्त्यर्थम् । यथा—**वदन्त्यपर्णामिति तां पुराविदः** । इत्यत्र हि इतिशब्देन पुराविदां संबन्धः, न त्वपर्णायाः । अपर्णायास्तु संबन्धे द्वितीया न स्यात् । यथा—'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इत्यादौ हि वस्तुस्वरूपमात्रमवस्थापयतीति । लिंगार्थमात्रे प्रथमैव न्याय्या न द्वितीया । क्वापि च शब्दमात्रप्रतिपादनेन प्रथमापि न भवति यथा—'गवित्ययमाह' इति । पुष्टार्थग्रहणमपुष्टार्थ-

---

आधार पर इस लक्षण में अव्यय आदि का प्रयोग भी स्वीकार्य है । उदाहरणार्थ—'खाओ' इस क्रिया से प्रसंगानुसार अव्यय आदि चार में से चारों भी अभीष्ट हो सकते हैं और एक, दो अथवा तीन भी । दूसरी बात यह उल्लेखनीय है 'तिङ्' से तात्पर्य केवल तिङन्त क्रियाएँ (पठति, अपठत् आदि) अभीष्ट नहीं हैं, अपितु कृदन्त रूप भी अभीष्ट हैं, यथा—'तेन कृतम्, मया भक्षितम्, त्वया गन्तव्यम्' आदि ।

निष्कर्षतः उक्त लक्षणों में क्रिया पर बल दिया गया है, कि क्रिया के बिना वाक्य नहीं बन सकता । किन्तु कभी-कभी बिना क्रिया के भी वाक्य प्रयुक्त होते हैं, जैसे 'अब बस' । किन्तु ऐसे वाक्यों में भी क्रिया का अध्याहार कर लिया जाता है जैसे इस वाक्य में 'अब बस करो' यह वाक्य अभीष्ट है । यहाँ 'करो' क्रिया का अध्याहार किया गया है । हाँ, इस स्थिति में पूर्व-प्रसंग का ज्ञान रहना आवश्यक है, अन्यथा यह एक निरर्थक वाक्य है । अतः यह सिद्धान्त मान्य है कि क्रिया वाक्य का अनिवार्य धर्म है. चाहे वह स्पष्टतः प्रयुक्त हो अथवा आक्षिप्त हो ।

इस प्रकार क्रिया की अनिवार्यता सिद्ध हो जाने पर यह कथन अनायास सिद्ध हो जाता है कि भाषा वाक्य का ही दूसरा नाम है । दूसरे शब्दों में, वाक्य ही एक ऐसा छोटे-से-छोटा रूप है जिसे भाषा नाम से अभिहित किया जा सकता है । आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों के कथनानुसार 'वाक्य ही भाषा की इकाई है' ।

इस स्थिति में दो-तीन शंकाएँ उत्पन्न होती हैं । पहली यह कि कभी-कभी अकेला शब्द अथवा अकेला वर्ण ही वक्ता के तात्पर्य का द्योतक बन जाता है, अतः उन्हें भी भाषा कह सकते हैं, केवल वाक्य को नहीं । शंका का समाधान सरल है । ऐसे कथनों में अन्य शब्द आक्षिप्त रहते हैं और उनका अध्याहार किये बिना तात्पर्य

निवृत्त्यर्थम् एकशब्दप्रतिपाद्यार्थे निरभिप्रायबहुशब्दप्रयोगादपुष्टार्थता जायते । यथा—

पातु को गिरिजा माता द्वादशार्धार्धलोचनः ।
यस्य सा गिरिजा माता स च द्वादशलोचनः ॥

इत्यत्र न त्रिलोचनशब्दाद्द्वादशार्धार्धलोचन इत्यादिभिः शब्दैरधिकोऽर्थः प्रतिपाद्यत इत्यपुष्टार्थता । शब्दग्रहणमपशब्दनिरासार्थम् । अपशब्दनिरासश्च यद्यपि व्युत्पत्तिद्वारेणैव कृतस्तथापि महाकवीनामप्यपशब्दपातदर्शनात्तन्निरासादरख्यापनाय पुनरभियोगः । तथा हि पाणिनेः पातालविजये महाकाव्ये—'संद्ध्यावधूं गृह्य करेण' इत्यत्र गृह्येति क्त्वो ल्यबादेशः । तथा तस्यैव कवेः—

गतेऽर्धरात्रे परिमन्द मन्दं गर्जन्ति यत्प्रावृषि कालमेघाः ।
अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुं करोति ॥

इत्यत्र 'पश्यती इदं लुप्त 'न्ती' नकारं पदम् । तथा च भर्तृहरेः—

स्पष्ट नहीं होता । अध्याहार कर लेने पर अब वह कथन वाक्य ही कहाएगा । अकेला शब्द (पद) अथवा वर्ण नहीं ।

पहली शंका से ही सम्बद्ध अन्य शंका यह कि वाक्य को भाषा की 'इकाई' स्वीकृत करने पर इस प्रकार की मान्यताएँ निरर्थक सिद्ध हो जाती हैं कि विशिष्ट वर्णों का समूह 'पद' कहाता है और विशिष्ट पदों का समूह वाक्य । निस्सन्देह यह मान्यता निरर्थक है, किन्तु फिर भी यदि इसे स्वीकृत किया जाता है तो केवल व्याकरण-सम्बन्धी व्यवहार के लिये अथवा भाषा के अध्ययन को सुकर बनाने के लिये :

[क] पदे न वर्णाः विद्यन्ते वाक्येष्ववयवाः न च ।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ वाक्यपदीय २।७३

[ख] यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयः ।
अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते ॥ वही २।१०

[ग] पदानि असत्यानि । एकम् अभिन्नस्वभावकं वाक्यम् ।
तद् अबुधबोधनाय पदविभागः कल्पितः ।

थोड़ा और स्पष्ट रूप में कहें तो वाक्य का प्रत्येक पद वस्तुतः वाक्य में प्रयुक्त हो जाने पर ही अपने अभीष्ट अर्थ का द्योतक बनता है । इससे पूर्व यह निरर्थक सा, अपितु निरर्थक ही, होता है । लगभग ऐसी ही मान्यता 'अन्विताभिधानवादी मीमांसकों की भी है, जो अभिधाशक्ति द्वारा अलग-अलग पदों का अर्थ न मानकर अन्वित

इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते ।

इत्यत्रात्मनेपदम् । यथा वा कालिदासस्य—

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति ।

मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ।।

इत्यत्र हि अनाराध्येति भिन्नकर्तृपूर्वकाले क्त्वा । यस्मादाराधनस्य राजा कर्ता भवनस्य प्रजेति । यथा च भारवेः—

गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः ।

इत्यत्रात्मनेपदमस्थाने । एवमन्येषामपि । चारुग्रहणं बर्बर्ष्टीत्यादिदुःश्रवशब्द-निवृत्त्यर्थमिति । यथैवमेवंगुणयुक्ते काव्ये प्रसादगुणयोगात्प्रसाद एव काव्ये गुणः

(परस्पर सम्बद्ध) पदों के अर्थ का बोध स्वीकार करते हैं—इस **अन्वितानामेवाभिधानं शब्दबोध्यत्वम्, तद्वादिनोऽन्विताभिधानवादिनः । [का० प्र०, बा० बो० पृष्ठ २६]** इस मंतव्य के सम्बन्ध में यों भी कह सकते हैं कि एक वाक्य अपने-आपमें एक अलग इकाई है । वह पद-रूप कई इकाइयों का समूह नहीं है ।

इसी सम्बन्ध में तीसरी शंका यह कि वक्ता और श्रोता के पारस्परिक भाषा-व्यवहार में अर्थात् इनके द्वारा प्रयुक्त वाक्यों में किसी एक वाक्य की, जिसे भाषा का पर्याय माना गया है, स्थिति क्या होगी ? इसी प्रकार एक लघु कथा, एक उपन्यास, एक कविता, एक खण्डकाव्य अथवा एक महाकाव्य आदि में प्रयुक्त वाक्यों में एक वाक्य की स्थिति क्या होगी ? इस शंका का समाधान साहित्यदर्पण-कार विश्वनाथ ने दिया है । पहले उन्होंने वाक्यों के उच्चय (समूह) को 'महावाक्य' कहा है । यहाँ 'महावाक्य' शब्द महान् अथवा दीर्घ वाक्य का पर्याय नहीं है, अपितु रामायण, महाभारत आदि काव्य-ग्रन्थों का वाचक है । किन्तु इसी प्रसंग में उन्होंने किसी अज्ञात आचार्य का निम्नोक्त कथन प्रस्तुत कर इन महावाक्यों को भी वाक्य नाम दे दिया है :

स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।

वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ।। सा०द०२य परि०

अर्थात् प्रत्येक वाक्य अपने-अपने अर्थ को बता चुकने के उपरान्त अन्य सम्बद्ध वाक्य के प्रति अंग बनता जाता है, और प्रत्येक परवर्ती सम्बद्ध वाक्य अपने पूर्ववर्ती वाक्य का अंगी होता है । इस प्रकार से वस्तुतः ये सभी वाक्य मिलकर अन्ततः एक वाक्य ही होते हैं ।

समाश्रितो भवति, न तु गाम्भीर्यमित्याह- क्षोदक्षमं प्रेरणसहं वाक्यं प्रयुञ्जीत। गाम्भीर्ययुतमिति तात्पर्यार्थः । किमेतावद्गुणमेव वाक्यमित्याह—अक्षूणमिति । समस्तदोषत्यागात्समस्तगुणसंग्रहाच्च परिपूर्णम्, एतेन 'असमर्थमप्रतीतं विसंधि' इत्यादि वक्ष्यमाणदोषत्यागाच्च वाक्यस्य प्रयोगार्हत्वमावेदितम् ॥

अन्त में हम निष्कर्षतः कह सकते हैं कि :

१. वाक्य, भाषा की इकाई है, क्योंकि हम इसी में ही अपना विचार-विनिमय करते हैं।

२. वाक्य में क्रिया अनिवार्यतः विद्यमान रहती है। चाहे स्पष्ट रूप में हो अथवा आक्षिप्त रूप में।

३. वाक्य अनेक पदों से बनता है, किन्तु यदि एक शब्द (पद) अथवा एक वर्ण भी विचाराभिव्यक्ति में समर्थ है तो उसे भी 'वाक्य' कहना चाहिये।

४. साधारणतया, विचाराभिव्यक्ति-समर्थ अकेला वाक्य भाषा कहाता है। इस सम्बन्ध में दो तथ्य विचारणीय हैं—

(क) पहला यह कि एक ही वक्ता द्वारा प्रयुक्त एक वाक्य जब उसी वक्ता के दूसरे वाक्य से सम्बद्ध रहता है तो यह उसका अंग बन जाता है, इस स्थिति में ये दोनों वाक्य मिलकर ही भाषा कहाने के अधिकारी बनते हैं, इनमें से कोई अकेला नहीं।

(ख) एक वक्ता द्वारा प्रयुक्त विचाराभिव्यक्ति-समर्थ एक वाक्य भी वस्तुतः भाषा कहाने का अधिकारी नहीं है जब तक कि वह व्यवहार-रूप में अथवा कल्पना से ही सही दूसरे व्यक्ति की अनुभूति का, और इसके साथ-साथ उच्चरित अथवा मौन-प्रत्युत्तर का कारण नहीं बनता। इस अनुभूति और प्रत्युत्तर के बिना 'योग्यता' आदि गुणों से युक्त कोई सार्थक वाक्य ठीक उसी प्रकार 'भाषा' नाम का अधिकारी नहीं बनना चाहिए जैसे कि बच्चों की प्रवेशिका-पुस्तकों में प्रयुक्त परस्पर असम्बद्ध वाक्य। जैसे—'औरत आई, कौआ छत पर बैठा है' आदि। ऐसे वाक्यों की भी वही स्थिति समझनी चाहिए जो एक वाक्य में एक सार्थक पद की होती है, अथवा एक पद में एक वर्ण की होती है।

इसी सम्बन्ध में आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहीं अधिक दूर तक चले गये हैं। उनके कथनानुसार प्रत्येक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की भावनाएँ किसी न किसी रूप से परस्पर सम्बद्ध रहती हैं। अतः उन्हें विभिन्न भावनाएँ न कहकर एक भावना

अथ पूर्वत्रासंगृहीतवाक्यगुणप्रतिपादनार्थमाह—

रचयेत्तमेव शब्दं रचनाया यः करोति चारुत्वम् ।
सत्यपि सकलयथोदितपदगुणसाम्येऽभिधानेषु ॥९॥

रचयेदिति । तमेव शब्दं विरचयेत् । सकलैर्यथोदितैर्यथाभिहितैः पदगुणैरन्यूनादिकैः साम्ये समानत्वे सत्यपि विद्यमानेऽप्यभिधानेषु । नामसु मध्ये रचनायाः शब्दसंदर्भरूपायाश्चारुत्वं सौन्दर्यं करोति ॥

किमिति चारुत्वापादकं शब्दं रचयेदित्याह—

रचनाचारुत्वे खलु शब्दगुणः संनिवेशचारुत्वम् ।
तर्वाल्युर्वेवर्षे तरुपंक्तिरसंकटैव मुने ॥ १० ॥

रचनेति । खलुर्यस्मादर्थे । यतो रचनाचारुत्वे गुम्फसौन्दर्ये सति संनिवेशः शब्दानां संहिताख्यं नैरन्तर्योच्चारणं तस्य चारुत्वलक्षणो यः शब्दगुणः स भवतीति । तत्रोदाहरणं यथा—तरूणामाली पंक्तिरुर्व्येव महत्येव हे ऋषे मुने । एतदचारुरचनं वाक्यम् । एतत्समानार्थं चारुरचनं त्विदम् । यथा—तरुपंक्तिरसंकटैव मुने । अत एवंविधमेव वाक्यं प्रयोज्यम्, न त्वाद्यसममिति ॥

ही कहना चाहिए और इसी के अनुरूप इस 'एक' भावना का माध्यम भाषा भी एक ही है, और इस प्रकार एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की भाषा को एक वाक्य ही समझना चाहिये । कुछ इसी प्रकार की ही धारणा विश्वनाथ ने भी प्रस्तुत की थी, जिसका उल्लेख ऊपर [**स्वार्थबोधे समाप्तानाम्**···] किया जा चुका है । मनोवैज्ञानिकों का यह कथन अत्यन्त सूक्ष्म एवं अतलस्पर्शी है किन्तु अधिकांश सीमा तक इसमें खींचतान ही अधिक है तथा इसको स्वीकृति के व्यवहार में कठिनाई उपस्थित होती है अतः इसे अधिक बल नहीं मिलना चाहिए ।

शब्द-सम्बन्धी उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी [वाक्य में एक अन्य गुण अनिवार्य रूप से अपेक्षित है कि इसमें] उन शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जो रचना के अभिधानों अर्थात् नामों में संज्ञा, विशेषण तथा सर्वनामवाची शब्दों में— सौन्दर्य उत्पन्न कर दें ।९।

किसी रचना के सौन्दर्य में शब्द-गुणों का सुन्दर सन्निवेश रहता है, अर्थात् सुन्दर शब्द के प्रयोग के कारण ही रचना में सौन्दर्य आता है । उदाहरणार्थ—"हे मुने वृक्षों की यह पंक्ति संकट-रहित ही है ।" इस कथन के लिए तर्वाल्यूव्यवर्षे' [तरु+ आलि+ऊर्वी+एव+ऋषे] जैसे असुन्दर शब्दों का प्रयोग न किया जाकर

वाक्यलक्षणमभिधाय तस्य भेदप्रदर्शनार्थमाह—

वाक्यं भवति द्वेधा गद्यं छन्दोगतं च भूयोऽपि ।

भाषाभेदनिमित्तः षोढा भेदोऽस्य संभवति ॥११॥

वाक्यमिति । वाक्यं च द्विविधं भवति । कथम् । एकं गद्यमुत्कलम् अन्यच्छन्दोगतं छन्दोनिबद्धम् । भूयस्तथापि भाषाभेदात्षोढा । भेदो वाक्यस्य संभवतीति षोढेत्यनेन यदुक्तं कैश्चिद्यथा—प्राकृतं संस्कृतं चैतदपभ्रंश इति त्रेधा इत्येतन्निरस्तं भवति ॥

कास्ता भाषा इत्याह—

प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च सूरसेनी च ।

षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥१२॥

प्राकृतेति । सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः । तत्र भवं सैव वा प्राकृतम् । 'अरिसवयणे सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी' इत्यादि वचनाद्वा प्राक्पूर्वं कृतं प्राकृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिबन्धनभूतं वचनमुच्यते । मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात्संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत्संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति । अत एव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि । पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन संस्करणात्संस्कृतमुच्यते । तथा प्राकृतभाषैव किंचिद्विशेषलक्षणान्मागधिका भण्यते । तच्चेदं यथा—रसयोर्लशौ मागधिकायाम् । रेफस्य लकारो दन्त्यसकारस्य तालव्यशकारः । यथा—सुरा शुला, सरसी शलशी इत्यादि । तथा एत्वमकारस्य सौ पुंसि । यथा—एसो पुरिसो, एशे पुलिसे इत्यादि । पुंस्येवैत्वम् । तेन तं शलिलं । तथा अहंवयमोर्हगे आदेशः । यथा— हगे संपत्ते, हगे संपत्ता । तथा जय्ययोर्यकारो भवति । यथा—य्याणदिय्याणवादी जाणइ जाणवदेयस्य च । अवय्यं मय्यं विय्याहले । अवद्यं मद्यं विद्याधरः । तथा क्षस्य श्कोऽनादौ । यथा—यश्के लश्कसे यक्षो राक्षस इति । अनादावित्येव । क्षयजलधरः खयय्यलहले इति न स्यात् । स्कः प्रेक्षाचक्ष्योः । प्रेक्षाचक्ष्योर्धात्वोः क्षस्य

'तरुपंक्तिरसंकटैव मुने' [तरुपंक्तिः+असंकटा+एव मुने] ऐसे सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए ।१०।

५. वाक्य के भेद—

वाक्य दो प्रकार का होता है गद्यबद्ध और छन्दोबद्ध ।

स्कादेशः । यथा—पेस्कदि आचस्कदि । तथा छस्य श्चो भवति । यथा—पिश्चिले आवण्णश्चले । तथा षशोः संयोगस्थयोस्तालव्यशकारः । यथा—विष्नुः विहस्पदी कास्यगालं । अर्थस्थयोः थस्य स्तादेशः । यथा—एसे अस्ते एषोऽर्थः, समुपस्तिदे समुपस्थितः । तथा ज्ञण्यन्यञ्जीनां ञो भवति । यथा—ञ्ञ । अञली अञ्जलिः । ण्य । पुञकम्मे पुण्यकर्मा, पुञाहं पुण्याहम् । न्यस्य च अभिमञु: अभिमन्युः कञका कन्यका । व्रजेः कृतादेशस्य वव्वइ वञइ । तथा तस्य दकारोऽन्ते । यथा—मालेदि होदि य्याएदि इत्यादि । अन्यल्लक्षणं ग्रन्थान्तराल्लक्ष्याच्च ज्ञेयमिति । तथा प्राकृतमेव किंचिद्विशेषात्पैशाचिकम् । यथा णनोर्नकारः पैशाचिक्याम् । यथा—आगंनूनयनमतीत्यादि । तथा दस्य वा तकारः । यथा—वतनं वदनम् । प्राकृतलक्षणापवादश्चात्र । यथा टस्य न डकारः । यथा—पाटलिपुत्रम् । तथा पस्य न वकारः । यथा—पदीपो, अनेकपो । तथा कगचजतदपयवानामनादौ यथाप्रयोगं लोपः स्वरशेषता च न कर्तव्या । यथा क्रमेण—आकाशं, मिगंको, वचनं, रजतं, वितानं, मदनो, सुपुरिसो, दयालू, लावण्णं । एवं सुको, सुभगो, सूची, गजो, भवति, नदी इत्यादि च । तथा खघथधफभानां हो न भवति । यथा—मुखं मेघो रथो विद्याधरो विफलं सभा इत्यादि । यथा थठयोर्ढोऽपि न भवति । यथा पथमं, पुथुवी, मठो, कमठो । तथा ज्ञस्य ञो भवति । यथा—यञकोसलं, राञा लपितं । तथा हृदये यस्य पः । हितपकं । तथा सर्वत्र तकारो न विक्रियते । एति बिंबमित्यादिषु । इत्यादयोऽन्येऽपि प्राकृतविहिता व्यञ्जनादेशा न क्रियन्ते ते च बृहत्कथादिलक्ष्यदर्शनाज्ज्ञेया इति । सूरसेन्यपि प्राकृतभाषैव । केवलमयं विशेषः । यथा सूरसेन्यामस्वसंयोगस्यानादौ तस्य दो भवति यथा तदो, दीसदि, होदि, अन्तरिदमित्यादिषु । अस्वसंयोगस्येति किम् । मत्तो, पसुत्तो । स्वग्रहणात् निच्चिन्दो, अन्देउरमिति स्यादेव । अनादावित्येव । तेव तदेत्यादौ न भवति । तथा र्यस्य य्यो भवति । यथा लक्ष्यम्—अय्यउत्त, पय्याकुलीकदह्मि । यथालक्ष्यमित्येव । तेन कज्जपरवसो, वज्जकज्ज इत्यादौ न भवति । इह थध्वमां धो वा भवति । इध, होध, परित्तायध । पक्षे इथ, होह, परित्तायह । तथा पूर्वस्य पुरवो वा । यथा—न कोवि अपुरवो पक्षे । अपुव्वं पदं । तथा कडुय करिय गडुय गच्छिय इति क्त्वान्तस्यादेशः तथा एदु भवं जयदुभवं, तथा आमन्त्रणे भयवं कुसुमाउह इत्यादि । तधा इनः आ वा ।

वाक्य भाषा के आधार पर छः प्रकार का होता है । वे छः भाषाएँ ये हैं:— प्राकृत, संस्कृत, मागध, पिशाच, शौरसेनी तथा अपभ्रंश । इनमें से अपभ्रंश भाषा विभिन्न देशों (विभिन्न भू-भागों के विभिन्न प्रयोगों) के कारण अनेक प्रकार की होती है ।११,१२।

यथा—भो कंचुइया। अतश्च। भो वयस्सा, भो वयस्स। तथा इलोप इदानीमि। यथा—किं दाणिं करइस्सं। निलज्जो दाणिं सो जणो। तथा अन्त्यान्मादिहेतोर्णो भवति, यथा—जुतण्णिमं, किण्णिमं, एवण्णेदं। यथाप्रयोगमित्येव। तेन किं एत्थं करइस्सं। तदस्ता भवति। यथा ता जाव पविसामि। तथा एवार्थे य्येव। यथा—मम य्येव एकस्स। हंजे चेट्याह्वाने। हंजे चतुरिए। हीमाणहे निर्वेदविस्मययोर्निपातः। यथा—हीमाणहे पलिस्संता हगे एदिणा नियविहिणो दुव्विलसिदेण। हीमाणहे जीवंतवच्छा मे जनणी। णं निपातो नन्वर्थे। यथा—णं भणामि। अम्महे हर्षे निपातः। हीहीभो विदूषकाणां हर्षे। शेषं प्राकृतसमं द्रष्टव्यमिति। तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः। स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यत्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देशविशेषात्कारणात्। तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्। सामान्यं तु किंचिदिदम्। मथा न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य। यथा—प्रखुरभ्रायरवग्रेणेत्यादि। तद्वदभूतोऽपि क्वाप्यधो रेफः क्रियते। यथा—व्राचालउव्रचव्रचउक्काखक्रूखीत्यादि। तथोदन्तस्य दकारो भवति। यथा—गोत्रुगजिद्रुमलिदुचारितु इत्यादि। तथा ऋतः स्थाने ऋकारो वा भवति। यथा—तृणसमुगणिजई। पक्षे तणं इत्यादि लक्ष्यादवसेयम्। व्यत्ययो बहुलं भाषालक्षणस्य। यथा—थहकारयोः सूरसेन्यां धत्वमुक्तं मागध्यामपि भवति। आभीरीभाषा अपभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते। सूरसेन्यामिदानींशब्दे इलोप उक्तः शुद्धप्राकृतेऽपि भवति। तथा कगचजतदपयादीनां पैशाचिक्यां स्वरशेषत्वाभावोऽभिहितः। खघधफभादीनां हत्वाद्यभावश्च सूरसेन्यामपि भवति। इत्याद्यन्यदपि सांकर्यं महाकविलक्ष्यादवसेयमिति। विशेषतस्तु भाषालक्षणं ग्रन्थान्तरादवसेयमिति॥

एवं शब्दलक्षणं गुणदोषांश्चाभिधायेदानीं तस्यालङ्कारान्विवक्षुराह—

वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दस्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु ॥१३॥

---

५. शब्दालंकार—

वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्र ये शब्दालङ्कार हैं। इनमें से श्लेष अर्थालङ्कार भी है।१३।

अलंकार के मुख्य दो भेद माने जाते हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। तीसरा अन्य भेद भी स्वीकृत किया जाता है—शब्दार्थालंकार। इन भेदों का आधार रुद्रट तक निर्णीत तो हो चुका होगा, पर इस पर प्रकाश नहीं डाला गया। रुद्रट ने भी प्रकाश

वक्रोक्तिरिति । तथाशब्दः समुच्चये । अन्यैरनुक्तं चित्रं शब्दालंकारमध्ये समुच्चीयते । परमुत्कृष्टमपरं वा । अन्यदित्यर्थः । शब्दस्येत्यर्थनिवृत्त्यर्थम् । अतश्च कश्चिदाशङ्कते—शब्दालंकार एवायं श्लेषो न त्वार्थालंकारोऽपीति तं प्रत्याह—श्लेषोऽर्थस्यापीति । किमयमेव श्लेषोऽर्थस्यापि नेत्याह—सोऽन्यस्तु । तुरवधारणे । सोऽन्यादृक्ष एवेत्यर्थः । तेन यदन्यैरभेदेन श्लेषलक्षणमवादि तदयुक्तमित्युक्तम् । नन्वलंकारोऽलंकार्यादिभन्नो दृष्टः । यथा पुरुषात्कटकादयः । न चैवमत्र भेदमवगच्छाम इति । सत्यम् । विद्यत एव भेदः । यथा—**किं गौरि मां प्रतिरुषा** इति शब्दसमुदायोऽलंकार्य एव । तस्य यद्भङ्ग्यन्तरेण व्याख्यानं सोऽलंकारः । अनुप्रासेऽपि प्रथमोक्ता वर्णा आवृत्ताश्चान्योन्यमलंकुर्वते । यथा हि—द्वौ साधू संगतौ परस्परमलंकुर्वाते इति । एवं यमके श्लेषे च द्रष्टव्यम् । चित्रेऽपि स्पष्टो वर्णक्रमोऽलंकार्यो भङ्ग्यन्तरकृतस्त्वलंकार इति ॥

नहीं डाला । आगे चलकर मम्मट ने उक्त विभाजन का आधार 'अन्वयव्यतिरेकभाव' स्वीकार किया है और रुय्यक ने 'आश्रयाश्रयिभाव'—

[क] **इह दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः स अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते ।** काव्यप्रकाश ९म उ०

[ख] **तत्र शब्दालङ्कारा यमकादयः । अर्थालङ्कारा उपमादयः । उभयालङ्कारा लाटानुप्रासादयः । × × × लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलङ्कारनिबन्धनम् ।**

अलंकारसर्वस्व पृष्ठ २५६

जिसके रहने पर जो रहे वह 'अन्वय' कहाता है और जिसके न रहने पर जो न रहे वह व्यतिरेक—यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम् अन्वयः । यदसत्त्वे यदसत्त्वम् व्यतिरेकः । इसी आधार पर मम्मट ने अनुप्रास आदि को शब्दालंकार, उपमा रूपक आदि को अर्थालङ्कार, तथा पुनरुक्तवदाभास, श्लिष्टपरम्परित रूपक और शब्दहेतुक अर्थान्तरन्यास को उभयालंकार माना है ।

इस प्रसंग में एक शंका उपस्थित होती है कि उभयालंकार होते हुए भी पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकारों के साथ और श्लिष्ट परम्परित रूपक तथा शब्दहेतुक अर्थान्तरन्यास को अर्थालंकारों के मध्य स्थान क्यों मिलता चला आया है ? इस शंका का समाधान अपेक्षाकृत चमत्काराधिक्य में सन्निहित है, क्योंकि एक ओर पुनरुक्तवदाभास में शब्दगत चमत्कार अधिक है तो अर्थगत कम, और दूसरी ओर अवस्था ठीक इस के विपरीत है ।

वक्रोक्ति, यमक और लाटानुप्रास के सम्बन्ध में भी एक ऐसी जिज्ञासा स्वाभाविक है । अन्वयव्यतिरेक की कसौटी पर क्या इनकी गणना शब्दार्थालंकारों में नहीं

यथोद्देशं निर्देश इति पूर्वं वक्रोक्तिलक्षणमाह—

वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः ।
वचनं यत्पदभंगैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः ॥१४॥

हो सकती ? यद्यपि इसी आधार पर इन्हें भी शब्दार्थालंकार मानना चाहिए, पर शब्द-गत चमत्कार की अत्यधिकता के कारण इनकी गणना शब्दालंकारों में ही की जाती है ।

१. वक्रोक्ति

अब रुद्रट वक्रोक्ति अलंकार का निरूपण करते हैं । रुद्रट का यह प्रसंग अपने प्रकार का मौलिक प्रयास है और आगे चलकर इसका अनुकरण भी हुआ । रुद्रट से पूर्व भामह, दण्डी और वामन ने वक्रोक्ति पर प्रकाश डाला था ।

भामह ने वक्रोक्ति का स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत नहीं किया, किन्तु इस प्रसंग में उन के निम्नोक्त कथनों से इस का स्वरूप आभासित हो जाता है,—[१] जहां अतिशयोक्ति होती है, वहां सर्वत्र वक्रोक्ति होती है । अतिशयोक्ति कहते हैं उस उक्ति को जिस में लोक (साधारण जन) के नैमित्तिक वचन का—कारण-कार्य सम्बन्ध पर आधारित कथन का—उल्लंघन किया गया हो । (२) वक्रोक्ति के द्वारा अर्थ (कवि का वर्ण्य विषय) विभावित (चमत्कृत) हो उठता है । (३) सफल कवि को इस (वक्रोक्ति के प्रदर्शन) में प्रयास करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना कोई अलंकार सम्भव नहीं होता । (४) इतना ही क्यों, काव्य के सभी अंग-उपांग वक्रतापूर्ण स्वभावोक्ति से युक्त होने चाहिएं । (५) जिन कथनों में वक्रोक्ति का अभाव रहता है, उन्हें अलंकार नाम से अभिहित नहीं करना चाहिए, उदाहरणार्थ—'सूर्य डूब गया', 'चन्द्रमा चमक रहा है', 'पक्षिगण अपने घोंसलों को जा रहे हैं'—ये कथन तो 'वार्ता' मात्र हैं, इन्हें काव्य कहना समुचित नहीं है । हेतु, सूक्ष्म और लेश ये तीनों अलंकार नाम से अभिहित नहीं होने चाहिएं, क्योंकि इनके [उदाहरणों में] समुदाय रूप से वक्रोक्ति का अभिधान नहीं होता—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरं ।
मन्यन्ते अतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ॥ का० अ० २।८१।
सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥२।८५।

वक्त्रा प्रतिपादकेन तस्मादुत्तरवचनादन्यथा प्रकारान्तरेणोक्तम् । तदन्यथोक्तं व्याचष्टे वक्ति चान्यथा । तस्योक्तस्योत्तरं ददातीति तदुत्तरदः । यद्वचनं यद्वाक्यम् । कैर्व्याचिष्टे पदभंगैः । पदखण्डनायेत्यर्थः । स श्लेषवक्रोक्तिर्ज्ञेया । वक्रोक्तिस्तु द्विविधा, श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च । तल्लक्षणयोश्च वैलक्षण्यान्नैकं लक्षणमस्तीति भेदेनाभिधानमुपपन्नम् ।

तत्रोदाहरणमाह—

किं गौरि मां प्रति रुषा ननु गौरहं किं

कुप्यामि कां प्रति मयीत्यनुमानतोऽहम् ।

जानाम्यतस्त्वमनुमानत एव सत्य-

मित्थं गिरो गिरिभुवः कुटिला जयन्ति ।।१५।।

किमिति । इत्थमेवं गिरो वाचो गिरिभुवो गौर्याः कुटिला वक्रा जयन्ति । कथम् । प्रणयकुपितां गौरीं शंभुरनुनयन्नाह–हे गौरि उमे, मां प्रति मामुद्दिश्य किं तव रुषा रोषेण । तत्प्रसीदेत्यर्थः । एतदुत्तरदायिनी सान्यथा पदभंगैराह––ननु गौरहं किम् । ननुरक्षमायाम् । किमहं गौस्त्वया कृता यद् गौरित्यामन्त्रयसे । कां च प्रति । मया कोपः कृतः यदात्थ किमिमां प्रति रुषेति । पुनः शंभुमाह––अतोऽस्मादनुमानतोऽनुमानाद्वक्रवचनलक्षणान्मयि विषये त्वं कुप्यसीत्यहं जाने । भूयो भवान्याह––त्वमनुमानत एव सत्यम् । न उमा अनुमा तस्या एव नतः । अस्मदनमनं केन तव ज्ञातमित्यर्थः ।।

युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ।१।३०।

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ।। २।८६ ।

गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं ? वार्त्तामेनां प्रचक्षते ।।२।८७।

निष्कर्षतः भामह के अनुसार अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति प्रत्येक अलंकार का अनिवार्य तत्त्व है, इसके बिना कोई कथन साधारण 'वार्ता-मात्र' होता है ।

दण्डी के अनुसार समस्त वाङ्मय दो प्रकारों में विभक्त हो सकता है—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति । उन्होंने स्वभावोक्ति से इतर अन्य सभी अलंकारों को

इदानीं काकुवक्रोक्तिलक्षणमाह—

विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतो भवति ।
अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः ॥१६॥

विस्पष्टमिति । यत्र स्वरविशेषादर्थान्तरप्रतीतिर्भवति । कीदृशात् । विस्पष्टं स्फुटं क्रियमाणादुच्चार्यमाणात् । कीदृशी अर्थान्तरप्रतीतिः । अक्लिष्टा कल्पनारहिता सा काकुवक्रोक्तिः ॥

प्रकारान्तर से वक्रोक्ति का पर्याय मानते हुए कहा है कि इन सभी अलंकारों में 'श्लेष' के कारण शोभावृद्धि होती है—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥ का० द० २।३६२

वामन के अनुसार सादृश्यमूला लक्षणा (अर्थात् गौणी लक्षणा) का नाम वक्रोक्ति अलंकार है: **सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः** (का० सू० वृ० ४।३।८) । इसी प्रसंग को अधिक स्पष्ट करते हुए स्वयं वामन लिखते हैं कि जहाँ सादृश्य सम्बन्ध न हो वहाँ वक्रोक्ति अलंकार नहीं मानना चाहिए । 'असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः । (का० सू० वृ० ४।३।८ वृत्ति) ।

इस प्रकार हमने देखा कि रुद्रट से पूर्व भामह और दण्डी ने वक्रोक्ति को कोई विशेष अलंकार न मानकर अलंकारों का मूल तत्त्व माना है, तथा वामन ने इसे गौणी लक्षणा का पर्याय स्वीकार करते हुए इसे विशेष प्रकार का अर्थालंकार माना है । किन्तु रुद्रट ने इसका नवीन स्वरूप उपस्थित करते हुए इसे विशेष प्रकार का शब्दालंकार घोषित किया—

[वक्रोक्ति के भेद हैं, श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति ।] जहाँ वक्ता के एक विशिष्ट अभिप्राय से कहे हुए वचन को [सुनकर] उत्तरदाता जान-बूझकर उस वचन के पदों को भंग करके अन्य रूप में उत्तर देता है वहाँ श्लेष वक्रोक्ति अलंकार माना जाता है ॥१४॥

निम्न श्लोक पदभंग श्लेष वक्रोक्ति का उदाहरण है—इसमें शिव-पार्वती से कहते हैं, 'किं गौरि मां प्रति रुषा'—हे गौरि ! तुम मुझसे क्यों अप्रसन्न हो? पार्वती इस पंक्ति के पदों को इस प्रकार पृथक् कर देती है । 'किं गौः इमां प्रति रुषा?' अर्थात् हे गौ ! तुम क्यों इस बेचारी पर अप्रसन्न हो । और कहती है 'क्या मैं गाय हूँ ?

तत्रोदाहरणम्—

शल्यमपि स्खलदन्तः सोढुं शक्येत हालहलदिग्धम् ।
धीरैर्न पुनरकारणकुपितखलालीकदुर्वचनम् ॥१७॥

शल्यमिति । इदमनपराधकुपितखलवचनान्यसहमानं कश्चित्स्वमुद्दीपयन्नाह—आस्तामन्यत् । शल्यमपि काण्डमपि स्खलदन्तर्मध्ये मर्मघट्टनां कुर्वाणं सोढुं क्षन्तुं शक्येत । कीदृशम् । हालहलेन विषेण दिग्धं लिप्तम् । धीरैर्धैर्योपेतैर्न पुनरकारणकुपितखलालीकदुर्वचनमित्येकोऽर्थः । एतदेव वाक्यं काक्वा स्वरविशेषेण वदन्स्वमाश्वासयति—यथा अपि शल्यं स्खलदन्तः सोढुं शक्येत धीरैर्न पुनरकारणकुपितखलालीकदुर्वचनम् । यदि शल्यमपि सोढुं शक्यते तदा दुर्वचनं सुसहमेवेत्यर्थः । पूर्वपक्षे खलदुर्वचनस्य दुःसहतोक्ता, द्वितीये तु सुसहतेति भेदः ।

अथानुप्रासलक्षणमाह—

एकद्वित्र्यन्तरितं व्यञ्जनमविवक्षितस्वरं बहुशः ।
आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः ॥१८॥

एकेति । यद्व्यञ्जनं बहुशो बहून्वारानावर्त्यते । कीदृशम् । एकद्वित्र्यन्तरितम् । एकेन द्वित्रैर्वा व्यञ्जनैरन्तरितं व्यवहितम् । किं व्यवहितानुवर्तनमेवानुप्रासो नेत्याह—

और मैं किस पर अप्रसन्न हूं?' शिव कहते हैं—'मयीत्यनुमानतोऽहम्—मेरा अनुमान है कि तुम मुझ पर कुपित हो।' पार्वती इस वाक्य में इस प्रकार पदविच्छेद कर देती है—मयि इति अनुमा-नतोऽहम्' अर्थात् तुम मुझपर कुपित हो ऐसा मैं (अनुमा) उमा से पृथक् किसी स्त्री से (नतः) प्रेम करने वाला कहता हूँ, और इस प्रकार वह यह जतलाती है कि मैं जानती हूँ कि तुम यथार्थतः उमा-भिन्न किसी स्त्री से प्रेम करते हो। पार्वती के ऐसे कुटिलार्थ-संयुक्त वचनों की जय हो।१५।

काकु वक्रोक्ति—

जहां अत्यन्त स्पष्ट रूप से किये गये विशेष प्रकार के स्वर अर्थात् उच्चारण से अक्लिष्ट (अर्थात् किसी प्रकार की कल्पना किये बिना नितान्त सरल) अन्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है, वहां काकु वक्रोक्ति अलंकार माना जाता है।१६।

जैसे धैर्यशाली पुरुष अपने वक्षःस्थल पर मर्मभेदी विषैले शल्य का प्रहार तो सह सकते हैं किन्तु बिना कारण ही कुपित हुए दुष्टों के मिथ्या कटुवचन नहीं सह सकते।१७।

रुद्रट-सम्मत वक्रोक्ति अलंकार का उक्त स्वरूप आगे चलकर अत्यन्त प्रचलित

निरन्तरमथवा । एतेनैकव्यञ्जनश्लोकानामनुप्रासतोक्ता । व्यञ्जनग्रहणं स्वरनिरासार्थम् । ननु स्वरनिरासे कृतेऽनुप्रासस्याभाव एव स्यात् । स्वररहितस्यावृत्तेरनुपलम्भादित्याह—अविवक्षितस्वरम् । अविवक्षिताः स्वरा यत्र तथा । स्वरचिन्ता न क्रियत इत्यर्थः । बहुशोग्रहणादेकावृत्तिमात्रेण नानुप्रासः । किं तर्हि । एकद्वित्रान्तरितमनेकवारानावर्त्यते ततोऽनुप्रास इति ॥

सामान्येनानुप्रासलक्षणमभिधायेदानीमस्यैव भेदानाह—

मधुरा प्रौढा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तयः पञ्च।
वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफलाः ॥१९॥

मधुरेति । अस्यानुप्रासस्य पञ्च वृत्तयो भवन्ति । कुतः । वर्णानां व्यञ्जनानां नानात्वात् । व्यञ्जनानामावृत्त्यानुप्रासस्योक्तत्वाद्वर्णानामित्युक्तेऽपि व्यञ्जनानामिति गम्यते । कास्ताः मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता, भद्रा । इतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थः । एता एव, न त्वष्टौ तिस्रो वा । तथा ह्यष्टौ हरिणोक्ताः । यथा—

रहा । रुय्यक, मम्मट, विश्वनाथ और अप्पय्यदीक्षित ने इसका यही स्वरूप निरूपित किया । हाँ, इन तीनों से पूर्व कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को भामह और दण्डी के अनुरूप सामान्य धरातल पर अवस्थित करते हुए इसे काव्य का 'जीवित' (आत्मा) घोषित किया तथा इसीमें अन्य काव्यांगों को अन्तर्भूत करने का प्रयास किया । वस्तुतः ये दोनों दृष्टिकोण अपनी अपनी सीमा तक समुचित हैं । संकुचित दृष्टि से देखें तो इसे एक विशिष्ट प्रकार का अलंकार न मानने की आशंका ही उपस्थित नहीं होती, तथा व्यापक दृष्टि से देखें तो वक्रता का व्यापार निस्सन्देह सामान्य वार्ता एवं स्वभावोक्ति आदि की अपेक्षा उच्च धरातल पर स्थित है । शेष प्रश्न रहा कि रस और ध्वनि जैसे महत्त्वपूर्ण काव्यांगों का समावेश इसमें कैसे सम्भव है तो पारिभाषिक दृष्टि से यह यदि उसमें समाविष्ट न किये जा सकें, किन्तु सामान्य 'वार्ता' की अपेक्षा ये भी उच्च धरातल पर स्थित हैं, तथा अधिकांश सीमा तक वक्र व्यापार की अपेक्षा रखते ही हैं । अस्तु !

२. अनुप्रास

एक व्यंजन की बहुत बार आवृत्ति को अनुप्रास अलंकार कहते हैं -- ऐसे आवृत्त व्यंजन के बीच एक, दो अथवा तीन अन्य व्यंजनों का व्यवधान रहना चाहिए तथा स्वर के [व्यवधान के] सम्बन्ध में कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए ।१८।

वर्णों के नाना प्रकार के [प्रयोग के] कारण अनुप्रास अलंकार की पाँच वृत्तियाँ हैं —मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा । इन वृत्तियों के जैसे नाम हैं वैसी ही इन में व्यंजन-योजना रहती हैं ।१९।

महुरं परुसं कोमलमोजस्सि निट्ठुरं च ललियं च ।
गंभीरं सामण्णं च अद्धभणिति उनायच्चा ॥

अत्रौजस्विनिष्ठुरगम्भीराणां न तथा भेद इत्येकतरोपादानमेव न्याय्यम् । तथा वृत्तीनां मिश्रता सामान्यम् । तच्चानुक्तमपि लभ्यते । इत्येताः पञ्चैव । तथान्यैर्ग्राम्या परुषोपनागरिकेत्युक्तं तत्र त्वसंग्रह एवेति । कीदृश्यस्ताः । यथार्थनामफलाः सान्वयनानिकाः । कुतः । इति हेत्वर्थे । सा च माधुर्यान्मधुरा, प्रौढत्वात्प्रौढा, इत्यादिहेत्वर्थो द्रष्टव्यः ॥

इदानीमासां लक्षणमाह । तत्र मधुरायास्तावत्—

निजवर्गान्त्यैर्वर्ग्याः संयुक्ता उपरि सन्ति मधुरायाम् ।
तद्युक्तश्च लकारो रणौ च ह्रस्वस्वरान्तरितौ ॥२०॥

निजवर्गान्त्यैरिति । मधुरायां वर्ग्याः कचटतपवर्गवर्णा उपर्युपरिष्टात्संयुक्ताः सहिताः सन्ति विद्यते । कैरित्याह—निजवर्गान्त्यैङञणनमैर्वर्णैः । तथा तद्युक्तस्तेन लकारेण युक्तो लकारः। रणौ च रेफणकारौ च । कीदृशौ । ह्रस्वस्वरेणान्तरितौ व्यवहितौ भवतः। नन्वेकव्यञ्जनावृत्तिरनुप्रासलक्षणमुक्तम्, तत्किमिह बहुवर्णसद्भाव उच्यते । सत्यम् । बहुत्वाद्वर्णानां बहवोऽनुप्रासा अपीति न दोषः । एतेषां च वर्णानां युगपत्प्रयोग एव मधुरा वृत्तिरित्येव न द्रष्टव्यम् । किं तर्हि । तेषां वर्णानां मध्यादन्यतमवर्णैरनुप्रासे मधुरा वृत्तिरिति ॥

किमविशेषेणैते प्रयोक्तव्याः । नेत्याह—

तत्र यथाशक्ति रणौ द्विस्त्रिर्वा युक्तितो लकारं च ।
पञ्चभ्यो न कदाचिद् वर्ग्यानूर्ध्वं प्रयुञ्जीत ॥२१॥

जैसा कि पीछे लिख आये हैं अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत वृत्तियों का निरूपण सर्वप्रथम उद्भट ने किया था । इन के पश्चात् रुद्रट ने तथा आगे चलकर मम्मट ने भी इसी पद्धति को अपना लिया ।

मधुरावृत्ति में वर्ग्य (कवर्ग आदि पाँचों वर्गों के २५ वर्ण) अपने-अपने अन्तिम वर्णों (ङ्, ञ्, ण्, न् और म्) के साथ आगे की ओर संयुक्त रहते हैं । इस वृत्ति में परस्पर संयुक्त लकार का प्रयोग भी अपेक्षित है तथा ह्रस्व स्वर के व्यवधान से युक्त रकार और णकार का भी ।२०,२१।

तत्रेति । तत्र तेषु वर्णेषु मध्ये रणौ यथाशक्ति यावतोः प्रयोगकरणे सामर्थ्यमस्ति तावत्प्रमाणौ प्रयोक्तव्यौ । माधुर्यलाभात् । युक्तितः संयोगाल्लकारं द्विस्त्रिर्वा प्रयुञ्जीत । वर्ग्यास्तु पञ्चभ्य ऊर्ध्वमधिकं न कदाचनापि प्रयुञ्जीत । माधुर्यभङ्गप्रसङ्गादित्यर्थः ।।

एतदुदाहरणमाह —

भण तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ।
यदि सल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत्किं त्वदीयं मे ।।२२।।

अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमंजुमञ्जीरम् ।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ।।२३।। (युग्मम्)

भणेति । अनण्विति । कश्चित्परमहिलां निजदयितगृहं व्रजन्तीं वीक्ष्याह भण वद त्वमेव हे तरुणि, यदि त्वं निजदयितमन्दिरं व्रजसि तत्किम् । त्वदीयं परिसरणं मे निष्प्रयोजनमेव रणरणकं हृदयाकुलत्वं कुरुते । आनन्दस्यन्दि हर्षकारि सुन्दरं रम्यमिन्दुवन्मुखं यस्याः सामन्त्र्यते । तथा सल्लीलया सुविलासेनोल्लपितुं वक्तुं शीलं यस्याः सा चामन्त्र्यते । तथारुणचरणे लोहितक्रमे । कीदृशं परिसरणम् । अनणु तारं रणन्ती शब्दायमाना मणिमेखला रत्नरशना यत्र तत् । तथाविरतं शिञ्जानानि रणन्ति मञ्जूनि मधुराणि मञ्जीराणि चरणाभरणानि यत्र तत् । लक्षणं तु स्वधिया सर्वमायोज्यम् ।।

अथ प्रौढामाह

अन्त्यटवर्गान्मुक्त्वा वर्ग्ययणा उपरि रेफसंयुक्ताः ।
कपयुक्तश्च तकारः प्रौढायां कस्तयुक्तश्च ।।२४।।

उदाहरणार्थ —

किसी स्त्री को अपने पति के घर में जाते देखकर कोई पुरुष कहता है:—

आनन्ददायी चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाली ! हावभाव से मधुर आलाप करनेवाली तथा लाल-लाल चरणों से युक्त हे तरुणि! जब तुम ज़ोर से बजती हुई मणियों की कांची का शब्द करती हुई तथा सुन्दर नूपुरों की मधुर-झंकार के साथ अपने पति-गृह में प्रवेश करती हो, तब न जाने क्यों अकारण ही मेरा हृदय उत्कंठावश आतुर हो उठता है ।२२-२३।

प्रौढा वृत्ति में वर्गों के अन्तिम वर्णों (ङ्, ञ् ण्, न्, म्) और टवर्ग को छोड़कर शेष वर्ग्य (स्पर्श वर्ण) तथा य और ण ये सभी रकारके साथ आगे की ओर संयुक्त रहते

अन्त्यटवर्गानिति । प्रौढायां वृत्तौ वर्ग्याः कादयो यकारणकारौ चोपरिभागे रेफेण संयुक्ता भवन्ति । किं कृत्वा । अन्त्यान् ङञणनमान् टवर्गं च मुक्त्वा विहाय । तथा ककारपकाराभ्यामुपरिभागे तकारश्च युक्तो भवति । चः समुच्चये । तथा ककारस्तकारेणोपरिभागे संयुक्त इत्यर्थः ॥

तत्रेदमुदाहरणम्—

कार्याकार्यमनार्यैरुन्मार्गनिरर्गलैर्गलन्मतिभिः ।
नाकर्ण्यते विकर्णैर्युक्तोक्तिभिरुक्तमुक्तमपि ॥२५॥

कार्याकार्यमिति । येऽनार्या अशिष्टा उन्मार्गे कुमार्गे निरर्गला निरङ्कुशाः स्वच्छन्दा इत्यर्थः । तथा गलन्मतयो नश्यद्बुद्धयः । विकर्णा जडस्तैरेवंभूतैः कार्याकार्यं हिताहितमुक्तमुक्तमपि पुनःपुनर्भणितमपि नाकर्ण्यते न श्रूयते । कैरुक्तमित्याह—युक्ता संगता उक्तिर्वचनं येषां तैः । पयुक्तकारस्य तयुक्तककारस्य च स्वमुदाहरणं द्रष्टव्यमिति । एषा वृत्तिरन्यैरोज इत्युक्ता ॥

अथ परुषामाह—

सर्वैरुपरि सकारः सर्वे रेणोभयत्र संयुक्ताः ।
एकत्रापि हकारः परुषायां सर्वथा च शषौ ॥२६॥

सर्वैरिति । परुषायां वृत्तौ सर्वैरुक्तैरनुक्तैश्च वर्णैरुपरिभागे सकारो युक्तो भवति । तथा सर्वे वर्णा उक्ता अनुक्ता रेफेणोभयत्रोपर्यधोभागयोः पर्यायेण युगपद्वा

हैं । इसके अतिरिक्त इसमें त का संयोग क् और प् के साथ [आगे की ओर] रहता है (जैसे युक्त, गुप्त आदि), तथा क का संयोग के साथ आगे की ओर रहता है (जैसे सत्कार आदि) ।२४।

उदाहरणार्थ—

सुन्दर युक्तियों द्वारा उपदेश देने वाले विद्वानों के बार-बार कहने पर भी अनार्य, स्वेच्छाचारी, नष्ट एवं जड़बुद्धि लोग अपने हित और अहित की बात नहीं सुनते ।२५।

पुरुषा वृत्ति में सकार सब वर्णों के साथ आगे की ओर संयुक्त रहता है (जैसे लिप्सा, कुत्सित आदि) । सभी वर्ण रकार के साथ दोनों रूपों में पहले अथवा बाद में युक्त रहते हैं (जैसे–कर्म, क्रम आदि), र के साथ ह का प्रयोग एक ही ओर होता है– ऊपर या नीचे । जैसे 'अर्ह, ह्री आदि) तथा श और ष का प्रयोग सर्व प्रकार से होता है [जैसे परामर्श, श्री आदि] ।२६।

युक्ता भवन्ति । तथा हकारो रेफेणैकत्रोपर्यधो वा युक्तो भवति । अपि शब्दो नियमार्थः । एकत्रैवेत्यर्थः । शकारषकारौ च सर्वथा सर्वेण प्रकारेण । रेफेणान्यैर्वा युक्तावसंयुक्तौ वेति सर्वथाशब्दार्थः ॥

उदाहरणम्—

लिप्सून्सर्वान्सोऽन्तर्ब्रह्मोद्यैर्ब्राह्मणैर्वृतः पश्यन् ।
जिह्रेत्यगर्ह्यबर्हिःशेषशयः कोषशून्यः सन् ॥२७॥

लिप्सूनिति । कश्चिन्महासत्वो दत्तसर्वस्वोऽत्र वर्ण्यते । स महासत्त्वोऽन्तर्मध्ये जिह्रेति लज्जते । किं कुर्वन् । पश्यन् । कान् । लिप्सूंल्लब्धुकामान् सर्वान्याचकानित्यर्थः । कीदृशः । वृतः परिगतः । कैः ब्रह्मोद्यैर्वेदपारगैर्ब्राह्मणैः । पुनः कीदृक् । अगर्ह्यः प्रशस्तो यो बर्हिर्दर्भः स एव शेषमुर्वरितं तत्र शेते यः । तन्मात्रधन इत्यर्थः । लक्षणयोजना स्वयं कार्या ॥

अथास्याः सर्वत्र प्रयोगनिवारणार्थमाह –

परुषाभिधायिवचनादनुकरणाच्चापरत्र नो परुषाम् ।
रचयेदथागतिः स्यात्तत्रापि ह्लादयो हेयाः ॥२८॥

परुषेति । परुषाभिधायिवचनान्निष्ठुरत्वप्रतिपादनपरगिरोऽनुकरणाच्चान्यत्र परुषां वृत्तिं न रचयेत् । अथागतिर्गत्यन्तराभावः स्यात्, तत्रापि ह्लादयो हेयास्त्याज्याः । अत्यन्तपरुषत्वात् । केवलं शषादिप्रयोगः कार्यः ॥

[सर्वस्वदान करने के पश्चात्] राज्य-कोष के रिक्त हो जाने पर पवित्र दर्भ-शय्या पर शयन करने वाले महाराज वेदज्ञ ब्राह्मणों द्वारा घिरे हुए हैं, और धन की कामना से आये हुए सब याचकों को देखकर मन-ही-मन लज्जा अनुभव कर रहे हैं।२७।

परुषा वृत्ति का प्रयोग कठोरता-सूचक वचनों में अथवा ऐसे वचनों के अनुकरण में करना चाहिए, अन्य प्रसंगों में नहीं। यदि किसी रचना में गति (प्रवाह) का अभाव उपस्थित होने लगे तो 'ह' आदि वर्णों का त्याग कर देना चाहिए । (हाँ, श, ष का प्रयोग किया जा सकता है।) ।२८।

ललिता वृत्ति में घ, थ भ, र और स का प्रयोग होता है, और वे लघु होने चाहिएं। इसमें 'ल' का प्रयोग किसी वर्ण से असंयुक्त रूप में होना चाहिए।

भद्रा वृत्ति में उक्त चारों वृत्तियों के वर्णों से शेष बचे हुए वर्णों का पृथक्

ललिताभद्रयोर्लक्षणमाह—

ललितायां घधभरसा लघवो लश्चापरैरसंयुक्ताः ।

परिशिष्टाभद्रायां पृथगथवा श्रव्यसंयुक्ताः ॥२९॥

ललितायामिति । ललितायां वृत्तौ घकारधकारभकाररेफसकारा भवन्ति । ते च लघवो न गुरवः । तथा लकारश्चापरैर्वर्णैरसंयुक्तः । आत्मना तु भवेदिति । भद्रायां तु वृत्तौ परिशिष्टा वृत्तिचतुष्टयोपयुक्तवर्णशेषाः । ते च पृथगसंयुक्ताः सन्ति । युक्ताश्चेद्भवन्ति तदा श्रव्यैः श्रुतिसुखैर्योज्या इति ॥

ललितोदाहरणमाह—

मलयानिलललनोल्ललमदकलकलकण्ठकलकलललामः ।

मधुरमधुविधुरमधुपो मधुरयमधुना धिनोति धराम् ॥३०॥

मलयेति । अयं मधुर्वसन्तोऽधुना धरां पृथ्वीं धिनोति प्रीणयति । किंभूतः । मलयानिलस्य मलयवायोर्यल्ललनं गमनं तेनोल्ललाः सोत्कण्ठा मदकला मदमधुरा ये कलकण्ठा कोकिलास्तेषां यः कलकलः कोलाहलस्तेन ललामः श्रेष्ठः । अथवा स एव ललामो ध्वजो यस्य स तथा । अन्यच्च मधुरेण मधुना मकरन्देन विधुरा मत्ता भ्रमरा यस्य स तथा । अत्रान्ये उदाहृताः । घभसानां स्वयमुदाहरणं द्रष्टव्यम् ॥

भद्रोदाहरणमाह—

उत्कटकरिकरटतटस्फुटपाटनसुपटुकोटिभिः कुटिलैः ।

खेलेऽपि न खलु नखरैरुल्लिखति हरिः खरैराखुम् ॥३१॥

अर्थात् असंयुक्त रूप से प्रयोग होता है । यदि वे संयुक्त रूप से प्रयुक्त किये जाते हैं तो इस रूप में कि वे श्रुति-सुखद प्रतीत हों ।२९।

दक्षिण दिशा की शीतल एवं सुगन्धित वायु के चलने से उत्कंठा और मद से पूर्ण कोयलों के मधुर आलाप से रमणीय, तथा मधुर पुष्प रस-पान से मस्त भ्रमरों से युक्त यह वसन्त अब पृथ्वी को पुलकित बना रहा है ।३०।

तीव्र अग्रभाग वाले अपने भयानक एवं कठोर नाखूनों से दुर्दान्त हस्तियों के

उत्कटेति । हरिः सिंहो न खलु नैव खेलेऽपि क्रीडायामप्याखुं मूषकमुल्लिखति विदारयति नखैः । कीदृशैः । उत्कटा दृढा ये करिकरटतटा द्विपगण्डस्थलानि तेषां यत्स्फुटं प्रकटं दारणं तत्र सुष्ठु पटुर्दक्षा कोटिरग्रं येषां तैः । तथा कुटिलैरनृजुभिः खरैस्तीक्ष्णैः । अत्र कटखाः केवलाः केवलाः पूर्वत्र न प्रयुक्ता इति परिशिष्टत्वम् ॥

अथाध्यायमुपसंहरन्यथैता वृत्तयो रचिता रमणीया भवन्ति तथाह—

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम् ।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः ॥३२॥

एता इति । एता पूर्वोक्ता वृत्तयः कवीन्द्रैः सुकविभिर्मिश्राः परस्परान्तरित कार्याः । किं कृत्वा । अधिगम्य ज्ञात्वा प्रयत्नात्तात्पर्येण । कथम् । सम्यगविपरीतम् ।ः तथा औचित्यमर्थसंस्थं पात्रगतमभिधेयगतं चालोच्य विमृश्य । कीदृश्यः सत्यो मिश्रा कार्या इत्याह—अघनाल्पदीर्घाः । अघना असंहताः । वृत्तौ वृत्तिर्निरन्तरलग्ना न कार्या । यदि वा अघना असंयोगाक्षरा. । एवंविधा अप्यल्पदीर्घाः कर्तव्याः । एकैव वृत्तिरत्यन्तमायता न कार्या यदि वा अल्पानि दीर्घाणि दीर्घाक्षराणि यास्विति योज्यम् । एवंविधा अप्यलकारान्तररहिता उद्वेगकारिण्यः श्रोतॄणां स्युरित्याह- कार्या मुहुः पुनर्गृहीतमुक्ताः । मुहुर्मोक्तव्यः कर्तव्यश्चानुप्रास इति ॥

इति श्रीरुद्रट कृते काव्यालङ्कारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतो
द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।

कपोलों को फाड़ने वाला सिंह खेल में भी कभी चूहे के मृदु शरीर को विदीर्ण नहीं करता ।३१।

इस प्रकार सुसज्जनों द्वारा इन वृत्तियों को प्रयत्नपूर्वक समझकर, इनके [पात्रगत] औचित्य की तथा अर्थस्थ अर्थात् अभिधेयार्थ की अनुकूलता को देखकर इनका प्रयोग कहीं मिश्रित अर्थात् परस्पर संयुक्त रूप से, कहीं अल्प तथा कहीं दीर्घ रूप से करना चाहिए, तथा कहीं इनका प्रयोग करके फिर छोड़ देना चाहिए जिससे निरूपण-शैली एकरूपता न रहे ।] ।३२।

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्य हिन्दी-व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।
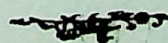
तृतीयोऽध्यायः

अथेदानीं यमकलक्षणमाह —

तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम् ।
पुनरावृत्तिर्यमकं प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य ।।१।।

तुल्येति । पुनरावृत्तिः पुनरुच्चारणं वर्णानां तद्यमकम् । कीदृशानाम् । तुल्या समाना श्रुतिः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः क्रमश्च परिपाटी येषाम् श्रुतिग्रहणाद्यत्र वर्णविकारेण षत्वरत्वादिना वपुष्टा वपुस्ता इत्यादौ तथा पुनर्गता पुना रौतीत्यादौ च सत्यपि क्रमे तुल्यश्रुतित्वाभावस्तत्र यमकत्वनिरासः । क्रमग्रहणात्प्रतिलोमानुलोमसर्वतोभद्रानुप्रासादीनां यमकत्वनिरासः । नहि तेषु तुल्यश्रुतिसद्भावेऽपि तुल्यक्रमो विद्यते । मिथोऽन्यार्थानां परस्परं भिन्नार्थानाम् । इत्यनेन तु पुनरुक्तस्य यमकत्वव्युदासः । यथा—

अहो रूपमहो रूपमहो मुखमहो मुखम् ।
अहो कान्तिरहो कान्तिस्तस्याः सारङ्गचक्षुषः ।।

इत्यादिषु । अन्यार्थानामित्यत्रार्थशब्दः प्रयोजनवाच्यपि । तेनेहापि यमकत्वं सिद्धं भवति ।

विजृम्भितोद्दामरसेन चेतसा निरूप्यमाणं किमपि प्रियावपुः ।
तदेव वैराग्यवता विभागशो निरूप्यमाणं किमपि प्रियावपुः ।।

अत्र हि वर्णानामेकाभिधेयत्वेऽपि प्रयोजनं भिद्यते । अस्य च यमकस्य प्रायो बाहुल्येन च्छन्दांसि पद्यं विषयः । प्रायोग्रहणाद् गद्यमपि क्वापीति ।।

तृतीय अध्याय

द्वितीय अध्याय में दो शब्दालंकारों--वक्रोक्ति और अनुप्रास का निरूपण किया गया था । इस अध्याय में यमक का निरूपण प्रस्तुत है ।

(१)

इस अध्याय में यमक का लक्षण प्रस्तुत करने के उपरान्त इसके भेदोपभेदों पर प्रकाश डाला गया है, जिनका विवरण इस प्रकार है—

पहले यमक के दो भेद किये गये हैं—

(क) समस्तपादज और (ख) देशज ।

(क) इनमें से समस्त पादज के तीन भेद हैं—पादावृत्ति, अर्द्धावृत्ति और श्लोकावृत्ति । इनमें से पादावृत्ति के पहले तीन भेद हैं—मुख, संदंश और आवृत्ति । फिर इसके दो अन्य भेद हैं—गर्भयमक और संदष्टक । फिर दो अन्य भेद—पुच्छ और पंक्ति, और फिर दो अन्य भेद—परिवृत्ति और युग्मक । इस प्रकार पादावृत्ति समस्तपादज यमक के कुल ६ भेद हुए ।

अर्द्धावृत्ति समस्तपादज का दूसरा नाम 'समुद्गक' है और श्लोकावृत्ति का दूसरा नाम महायमक ।

इस प्रकार समस्तपादज यमक के कुल ११ भेद हुए । (३।१६)

(ख) 'एकदेशज यमक' के अनेक भेद सम्भव हैं । उदाहरणार्थ—चारों पादों के प्रथम अर्द्धभाग की दूसरे पादों में पारस्परिक आवृत्ति । इस प्रकार 'एकदेशज' के स्थूल रूप से २० भेद हो जाते हैं । (देखिए ३।२०-२१)

इसी प्रकार एक पाद के अन्तिम अर्द्ध भाग की किसी अन्य पाद के प्रथमार्द्ध रूप में आवृत्ति के भी भेद गिनाये गये हैं । इस आवृत्ति का नाम 'अन्तादिक' है । इसके दो भेद हैं—व्यस्त और समस्त । व्यस्त के भी दो रूप हैं । (देखिए ३।२३) । इस प्रकार अन्तादिक यमक के तीन रूप हुए ।

अन्तादिक यमक का एक अन्य रूप है—'मध्य यमक' जिसका तात्पर्य है—द्वितीय पाद के अन्तिम अर्द्ध भाग की तृतीय पाद के अर्द्धभाग में आवृत्ति ।

मध्य और समस्त के योग का नाम 'वंश' यमक है और 'वंश' की विशिष्ट स्थिति में योग का नाम चक्रक यमक है ।

इस प्रकार अन्तादिक यमक के ६ भेद हुए—व्यस्त–२, समस्त–१, मध्य–१, वंश–१, चक्रक–१ । (देखिए ३।३०)

अन्तादिक यमक के अतिरिक्त 'आद्यन्तक' यमक भी माना गया है । इसके भी अन्तादिक के समान छः भेद हैं । (३।३३)

इनके अतिरिक्त अर्द्धपरिवृत्ति, पादसमुद्गक दो यमक और माने गये हैं । (३।३४)

पादसमुद्गक के चार भेद हैं—अन्तरित, अनन्तरित, व्यस्त और समस्त । इनमें से अन्तरित और अनन्तरित के ५-५ भेद हैं, व्यस्त के ४ तथा समस्त का १ भेद है । इस प्रकार पादसमुद्गक के १५ भेद हुए । (३।३६)

इनके उपरान्त पाद के चतुर्थ अंश की आवृत्ति के आधार पर यमक के निम्नोक्त तीन रूप निर्दिष्ट किये गये हैं—वक्त्र यमक, शिखायमक और मालायमक (३।४०);

पुनः ये तीन भेद और—मध्ययमक, आद्यन्त यमक और काञ्ची यमक। (३।४४)

किसी एक पाद के तृतीयांश की आवृत्ति के आधार पर यमक के दस भेद होते हैं, और यही आपस में आवृत्त होकर ३० प्रकार के बन जाते हैं। (३।४८, ४९)

आद्यन्त और अन्तादिक के छः-छः भेदों के अतिरिक्त एक ऐसा अन्य भेद है—अर्धपरिवृत्ति। इस प्रकार ये कुल १३ भेद हुए। इन तेरहों के भी अर्द्धार्द्ध भागों की आवृत्ति करने से कई भेद बन जाते हैं। (३।५१)

स्थान के आधार पर यमक के तीन अन्य भेद भी सम्भव हैं—आदिमध्य, आद्यन्त और मध्यान्त। (३।५२) और अन्ततः एक भेद और—जिसमें पाद के किसी अवयव का स्थान नियत नहीं होता। (३।५६)

इस प्रकार रुद्रट ने यमक की अनेक चमत्कृतियों की चर्चा करने के उपरान्त इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में इनके प्रयोग की विधि का निर्देश किया है।

: २ :

रुद्रट से पूर्व भामह ने यमक के पाँच भेद गिनाये हैं—आदि यमक, मध्य-यमक, अन्त यमक, पादाभ्यास, आवली और समस्तपाद यमक। भामह के कथनानुसार सन्दष्टक, समुद्गक आदि अन्य यमक-प्रकार इन्हीं पाँचों में अन्तर्भूत हो जाते हैं, इन्हें स्वतन्त्र नहीं मानना चाहिए। (काव्यालंकार २।९,१०)

भामह के उपरान्त दण्डी ने यमक के दो प्रमुख भेद माने हैं—अव्यपेत और व्यपेत। ये दोनों एक, दो, तीन अथवा चारों पादों के आदि, मध्य और अन्त के अति-रिक्त मध्यान्त, मध्यादि और आद्यन्त में घटित होने के कारण अनेक प्रकार के हैं। (काव्यादर्श ३।१, २, १९, ३३)। इनके अतिरिक्त दण्डी ने 'श्लोकाभ्यास' नामक यमक भी निर्दिष्ट किया है, जिसमें एक श्लोक की पूर्णतः आवृत्ति की जाती है (३।६७)। यमक का एक और रूप है—'महायमक'। (३।७०) इन सब के विपरीत यमक का एक और रूप भी दण्डी ने माना है—प्रतिलोम। (३।७३)

दण्डी के ही अनुरूप वामन ने भी यमक-भेदों को निम्नोक्त रूप में प्रतिपादित किया है—एक पाद का यमक; एक, दो, तीन अथवा चारों पादों के आदि, मध्य और अन्त भागों का यमक। (का० सू० वृ० ५।१।२)। इसी प्रसंग में वामन ने यमक-भंग की भी चर्चा की है। इसे उन्होंने तीन प्रकार का माना है—शृंखला, परिवर्तक और चूर्णा। (४।१।४)

भामह, दण्डी और वामन के इन यमक-भेदों पर आपाततः दृष्टिपात करने से ज्ञात हो जाता है कि रुद्रट ने उक्त सभी ग्रन्थों से साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से सामग्री ग्रहण की है, किन्तु इनका यमक-प्रकरण उनकी अपेक्षा पर्याप्त रूप से परि-वर्द्धित एवं व्यवस्थित है।

: ३ :

अब विवेच्य प्रश्न यह है कि क्या ये सब भेदोपभेद-चक्र ग्राह्य है ? काव्य-सौन्दर्य के दो पक्ष स्वीकृत किये जाते हैं—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य काव्य-सौन्दर्य के अन्तर्गत अनुप्रास, वक्रोक्ति, श्लेष और यमक नामक शब्दालंकारों, 'पुनरुक्तवदाभास' नामक उभयालंकार का चमत्कार आता है। उपमा, रूपक, दीपक आदि अर्थालंकार भी निस्सन्देह बाह्य सौन्दर्य से सम्बद्ध हैं, किन्तु उनमें आन्तरिक सौन्दर्य भी कम नहीं है। रस और ध्वनिगत सौन्दर्य वस्तुतः काव्य का ऐकान्तिक आन्तरिक सौन्दर्य है। अर्थालंकारों का सौन्दर्य रस-ध्वनिगत सौन्दर्य का परिवर्द्धक है, और केवल इसी स्थिति में ही वे मान्य हैं—

(क) रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥

—हिन्दी ध्वन्यालोक, पृष्ठ १२२

(ख) ध्वन्यात्मभूतश‍ृंगारे समीक्ष्य विनिवेशतः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम्॥

—ध्वन्यालोक २।१७

(क) सभी अलंकारों का अलंकारत्व इसी तथ्य में है कि वे रस, भाव आदि के तात्पर्य के आश्रित होकर रहें—वे रस आदि का अंग बनकर रहें।

(ख) रूपक आदि अर्थालंकारों की यथार्थता इसीमें है कि कवि इन्हें अपनी समीक्षा-बुद्धि द्वारा काव्य की आत्मा ध्वनि [पर आश्रित] श‍ृंगार [आदि रसों] के आश्रित रूप में वर्णित करें।

इसका तात्पर्य यह कि अलंकार रसों के उपकारक रूप में ही वर्णित हों। उनके अंग बनकर रहें, स्वतन्त्र रूप में वर्णित न हों—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ का० प्र० ८।६७

शब्दालंकारों की, विशेषतः विवेच्य अलंकार यमक की, यथार्थता के सम्बन्ध में संस्कृत का काव्याचार्य प्रारम्भ से सतर्क रहा है। उन्होंने उक्त चार शब्दालंकारों में से 'चित्र' अलंकार को सर्वाधिक हेय माना है, और इसके उपरान्त इस दृष्टि से क्रमशः यमक और अनुप्रास को। 'श्लेष' की हेयता पर विशिष्ट रूप से बल नहीं दिया गया। इसका एक मात्र कारण यह है कि इस अलंकार में उपमेय और उपमान दोनों का साम्य श्लिष्टता के आधार पर पाठक के हृदय में कुछ चमत्कार अवश्य उत्पन्न कर देता है। अस्तु, अनुप्रास और यमक के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के कतिपय कथन उल्लेखनीय हैं—

१. दण्डी ने केवल दो शब्दालंकारों—अनुप्रास और यमक का निरूपण किया

है और दोनों को समादर की दृष्टि से नहीं देखा। उनके कथनानुसार अनुप्रास का अर्थ शैथिल्य है, और यह 'श्लेष' नामक गुण के अभाव का दूसरा नाम है। गौड मार्ग (जा कि वैदर्भ मार्ग की अपेक्षा निकृष्ट मार्ग है) के अवलम्बी ही इसे अपनाते हैं।

—का० द० १।४३,४४

यमक के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि उसका अकेला प्रयोग मधुरताजनक नहीं होता—**'तत्तु नैकान्तमधुरम्'** —का० द० १।६१

२. आनन्दवर्द्धन ने यमक आदि शब्दालंकारों की अपेक्षाकृत हीनता प्रबल शब्दों में व्यक्त की है :

ध्वन्यात्मभूतशृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥

× × × **यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः।** × × ×

अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारोध्वनौमतः। यत्तु रसवन्ति कानिचिद् यमकादीनि दृश्यन्ते तत्र रसादीनामङ्गता, यमकादीनान्त्वंगितैव। ध्वन्या० २।१५,१६ तथा वृत्ति

अर्थात् ध्वन्यात्मक शृङ्गार में यमक आदि का निबन्ध कवि के प्रमाद का सूचक है। काव्य में अलंकार का प्रयोग अप्रयत्नज होना चाहिये, पर यमक-निबन्धन के लिये तो कवि को विशेष शब्दों की खोज करनी पड़ती है। सरस रचना में यमक अलंकार रस को अंग बना देता है और स्वयं अंगी बन जाता है।

३. कुन्तक की भी यमक के सम्बन्ध में यही धारणा है कि यह शोभाशून्य अलंकार है, इसके विस्तृत जाल में उलझने से क्या लाभ ?

स तु शोभान्तराभावादिह नातिप्रतन्यते। —व० जी० २।७

और स्वयं रुद्रट भी यमक अलंकार के प्रयोग के विशेष में सतर्कता और सावधानी बरतने का आदेश दे रहे हैं। (देखिये ३।५९)

यमक का लक्षण

ऐसे वर्णों की आवृत्ति को यमक कहते है जो सुनने में समान प्रतीत हों, जिनका क्रम समान हो किन्तु उनका अर्थ परस्पर भिन्न हो।

रुद्रट के अनुसार यमक का पहला तत्त्व है—समानश्रुति, अर्थात् उन वर्णों की आवृत्ति जो सुनने में एक-समान हों, किन्तु यह विशेषण निरर्थक प्रतीत होता है। स्वयं 'आवृत्ति' शब्द ही 'समानश्रुति' तत्त्व का सूचक है। नमिसाधु ने **'वपुष्टा वपुस्ता'** तथा **'पुनर्गता पुना रौति'** उदाहरण देते हुए कहा है कि इनमें क्रमशः षत्व (स को ष) और रत्व (विसर्ग को र) वर्णविकार हो जाने के कारण समानश्रुति नहीं मानी जाएगी, अतः यहाँ यमक अलंकार भी नहीं होगा। किन्तु ऐसे स्थलों में भी यमक अलंकार

मानना चाहिए—क्योंकि यहाँ 'वपु' और 'पुन' वर्णों की आवृत्ति है। वस्तुतः निरर्थक वर्ण-समुदाय (शब्दों) की आवृत्ति में भी यमक मान लिया जाता है यद्यपि रुद्रट ने इस ओर कोई संकेत नहीं किया।

यमक का दूसरा तत्त्व है वे वर्ण जिनका क्रम समान हो, जैसे—**चक्रं दहतारं चक्रन्द हतारम्।** यह तत्त्व यमक अलंकार को चित्र अलंकार के अनुलोम और प्रतिलोम नामक भेदों से अलग करता है। इनमें वर्णों की आवृत्ति अथवा समानश्रुति होने पर भी समान क्रम नहीं रहता। (देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ ५।१७)

इस अलंकार का तीसरा तत्त्व है—आवृत्त वर्णों का अर्थ भिन्न-भिन्न हो। नमिसाधु के अनुसार 'अर्थ' शब्द से यहाँ 'प्रयाजन' अथवा 'तात्पर्य' भी अभिप्रेत है। जैसे—

विजृम्भितोद्दामरसेन चेतसा
निरूप्यमाणं किमपि प्रियावपुः
तदेव वैराग्यवता विभागशो
निरूप्यमाणं किमपि प्रियावपुः।

इस उदाहरण में 'निरूप्यमाणं किमपि प्रियावपुः' वाक्य दो बार आवृत्त किया गया है किन्तु दोनों स्थलों पर इसका आशय भिन्न-भिन्न है। 'रसिक चित्त से देखना'—इस पक्ष में 'प्रिया का शरीर जगत् का सर्वोत्कृष्ट सार है' यह ध्वनित होता है। 'वैराग्यपूर्ण चित्त से देखना'—पक्ष में उसे 'अस्थिचर्ममय' मानते हुए उसके प्रति घृणा व्यक्त की गयी है। इस प्रकार नमिसाधु के अनुसार इस उदाहरण में प्रयाजन की भिन्नता होने पर भी यमक अलंकार माना जाएगा, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने ऐसे स्थलों में लाटानुप्रास माना है—

शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः।
लाटानुप्रास इत्युक्तो × × ×॥

उदाहरणार्थ—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य॥

—सा० द० १० म० परि०

जिन स्थलों में वर्णों की समान क्रम से आवृत्ति तो हो किन्तु उनमें अर्थ भिन्न न होकर समान हो वहाँ पुनरुक्त (अथवा वीप्सा) अलंकार मानना चाहिए, जैसे—

अहो रूपमहो रूपमहो मुखमहो मुखम्।
अहो कान्तिरहो कान्तिस्तस्याः सारंगचक्षुषः॥

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रायः पद्य ही यमक का प्रयोगक्षेत्र है, गद्य में इसका

अथ परोक्तयमकभेदान्निरस्यन्स्वाभिमतयमकभेदांल्लक्षणाभिधानायाह—

पूर्वं द्विभेदमेतत्समस्तपादैकदेशजत्वेन ।

पादार्धश्लोकानामावृत्त्या सर्वजं त्रेधा ।। २ ।।

पूर्वमिति । पूर्वं मूलभेदाद्यपेक्षया एतद्यमकं द्विभेदम् । केन भेदेनेत्याह—समस्तेत्यादि । तत्र समस्तपादश्च समस्तपादौ च समस्तपादाश्चेत्येकशेषः । तथा एकदेशश्च एकदेशौ च एकदेशाश्चेति । समस्तपादजमेकदेशजं चेति भेदद्वयम् । अत्र च वक्ष्यमाणभेदाः सर्वेऽप्यन्तर्भवन्तीति पंचधा चतुर्दशधा चेति परोक्तवचनव्युदास इति । तत्र समस्तपादजप्रभेदानाह—पादार्धेत्यादि । पादावृत्त्या अर्धावृत्त्या श्लोकावृत्त्या च समस्तपादजं त्रेधा भवति ।।

तत्रापि पादावृत्तेस्तावद्भेदानाह—

पर्यायेणान्येषामावृत्तानां सहादिपादेन ।

मुखसंदंशावृतयः क्रमेण यमकानि जायन्ते ।। ३ ।।

पर्यायेणेति । पर्यायेण क्रमेणान्येषां द्वितीयादीनां त्रयाणां पादानामादिपादेन सहावृत्तानां यमकितानां मुखसंदंशावृतिसंज्ञितानि क्रमेण यथासंख्यं यमकानि त्रीणि जायन्ते भवन्तीति ।।

तदुदाहरणानि क्रमेणाह—

चक्रं दहतारं चक्रन्द हतारम् ।

खड्गेन तवाजौ राजन्नरिनारी ।। ४ ।।

प्रयोग विरल एवं चमत्कारशून्य होता है ।

यमक के भेद

यमक अलंकार के [प्रमुख] दो भेद हैं—

समस्तपादज और एकदेशज । इनमें से समस्तपादज के तीन भेद हैं—

पादावृत्ति, अर्द्धावृत्ति और श्लोकावृत्ति ।२।

पादावृत्ति यमक के भेद

इनमें से पादावृत्ति के तीन भेद हैं । प्रथम पाद की शेष तीन पादों में क्रमिक आवृत्ति क्रमशः मुख, संदंश और आवृति कहाती है ।

अर्थात् प्रमुख पाद की द्वितीय पाद में आवृत्ति 'मुख' कहाती है, तृतीय पाद में वह 'संदंश' कहाती है और चतुर्थ पाद में इसका नाम 'आवृत्ति' है ।३।

मुख का उदाहरण

अन्वय—हे राजन् ! आजौ आरं (रिपुसम्बन्धि) चक्रं (समूहं) अरं दहता तव खड्गेन हता (शोकं प्रापिता) अरिनारी चक्रन्द ।

चक्रमिति । कश्चिन्नृपमाह—हे राजन्, तव संबन्धिना खड्गेनाजौ रणे आरं रिपुसक्तं चक्रं समूहमरं शीघ्रं दहता घ्नता अरिनारी रिपुस्त्री भर्तृवधेन हता ताडिता सती चक्रन्द । क्रन्दितवतीत्यर्थः । इति प्रथमद्वितीयपादयमकं मुखसंज्ञम् ।।

अथ संदंशः—

सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम् ।
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ।। ५ ।।

सन्नारीति । कश्चिन्नृपस्याशिषमाह—त्वं विधुशेखरं हरमाराध्य ततः पृथिवीं जय । कीदृशं हरम् । सत्यश्च ता नार्यश्च सन्नार्यः साध्व्यः स्त्रियस्ता बिभर्ति पोषयतीति सन्नारीभरणः स चासावुमायश्च । उमा पार्वती तां याति गच्छति तया सह संयुज्यते यस्तं तथाविधम् । त्वं कीदृशः । सन्नाः खिन्ना अरीभा रिपुद्विपा यत्र स तथाविधो रणः संग्रामो यस्य स तथा । पुनः कीदृशः । अमायो मायारहितः । सात्त्विक इत्यर्थः । अत्र प्रथमतृतीयपादयोः संदंशनामकं यमकम् ।।

अथावृतिः—

मुदारताडी समराजिराजितः प्रवृद्धतेजाः प्रथमो धनुष्मताम् ।
भवान्बिभर्तीह नगश्च मेदिनीमुदारताडीसमराजिराजितः ।। ६ ।।

हे राजन् ! युद्धक्षेत्र में तुम्हारी तलवार द्वारा शत्रुमण्डल के मारे जाने पर शत्रु पक्ष की स्त्रियाँ अपने स्वामियों के वध से शोकाकुल होकर क्रन्दन कर रही थीं ।४।

संस्कृत पद्य में प्रमथ पाद की द्वितीय पाद में आवृत्ति की गयी है, अतः यहाँ 'मुख' यमक है ।

संदंश का उदाहरण

अन्वय—त्वं सन्नारी-भरण-उमायं विधुशेखरं आराध्य सन्न-अरि-इभ-रणः, अमायः [सन्] पृथिवीं जय ।

हे राजन् ! पतिव्रता स्त्रियों के रक्षक उमा के पति तथा चन्द्रशेखर भगवान् शिव की आराधना करके आप रणक्षेत्र में शत्रुओं के हाथियों को अपने पराक्रम से व्याकुल बनाते हुए सात्त्विक भाव से पृथ्वी को जीतें ।५।

यहाँ संस्कृत-पद्य में प्रथम की तृतीयपाद पाद में आवृत्ति की गयी है । अतः यहाँ **'संदंश'** यमक है ।

आवृति का उदाहरण

अन्वय—इह भवान् (नगश्च), मुदा-आर-ताडी, समर-अजिर-अजितः, प्रवृद्ध-तेजाः, धनुष्मतां प्रथमः [मेदिनीं विभर्ति] । नगश्च उदार-ताडी-सम-राजि-राजितः, मेदिनीं बिभर्ति ।

मुदेति । कश्चिच्चाटुकक्कन्नृपमाह—इह भवांस्त्वं नगश्चाद्रिश्च मेदिनीं भुवं बिभर्ति पोषयति धारयते च। कीदृशस्त्वम्। मुदा हर्षेण, न तु भयेन, आरताडी रिपुसमूहताडनशील:। तथा समराजिरे रणाङ्गणेऽजितोऽपरिभूतः। तथा प्रवृद्धतेजाः प्रथितप्रतापः। धनुष्मतां धानुष्काणां प्रथमो मुख्यः। नगः कीदृशः। उदारा उन्नता यास्ताडचस्ताडिवृक्षास्तासां समा अविषमा या राजयः पंक्तयस्ताभी राजितः शोभितः। इह चतुर्थपादयमकमावृतिर्नाम ॥

भेदान्तरमाह—

प्रत्येकं पश्चिमयोरावृत्त्या पादयोर्द्वितीयेन ।
यमके संजायेते गर्भः संदष्टकं चेति ॥ ७ ॥

प्रत्येकमिति। पश्चिमयोस्तृतीयचतुर्थपादयोर्द्वितीयेन पादेन सहावृत्त्या प्रत्येकं पृथग्यमके संजायेते भवतो गर्भसंदष्टकसंज्ञिते ॥

तत्र गर्भोदाहरणम्—

यो राज्यमासाद्य भवत्यचिन्तः समुद्रतारम्भरतः सदैव ।
समुद्रतारं भरतः स दैवप्रमाणमारभ्य पयस्युदास्ते ॥ ८ ॥

हे राजन् ! अरिगण को भयभीत करने वाले अमित तेजस्वी, धनुर्धारियों में श्रेष्ठ तथा युद्धभूमि में अपराजित आप प्रसन्नता से पृथ्वी का पालन-पोषण करते हैं, और [इधर] पर्वत भी आपके समान पृथ्वी को धारण कर रहा है जो ऊँचे-ऊँचे ताड़ वृक्षों की समान पंक्तियों से शोभित है।६।

संस्कृत-पद्य में प्रथम पाद की आवृत्ति चतुर्थ पाद में की गयी है। अतः यहाँ 'आवृति' नामक यमक है।

पादावृत्ति यमक के दो अन्य भेद

द्वितीय पाद की परवर्ती दोनों पादों में (अर्थात् तृतीय और चतुर्थ पाद में) आवृत्ति को क्रमशः गर्भ-यमक और संदष्टक यमक कहते हैं।७।

अर्थात् द्वितीय पाद की तृतीय पाद में आवृत्ति को 'गर्भ-यमक' कहते हैं और इसी पाद की चतुर्थ पाद में आवृत्ति को 'संदष्टक-यमक'।

गर्भ का उदाहरण

अन्वय—यः राज्यं आसाद्य अचिन्तः भवति तथा सन्मुत् (सन्) सदैव रत-आरम्भ-रतः (भवति), (स) भर-तः समुद्र-तारं आरभ्य दैवप्रमाणं पयसि उदास्ते।

जो पुरुष राज्य पाकर उसकी रक्षा करने में उदासीन हो जाता है और नित्य रति-क्रीड़ा में आनन्द अनुभव करता रहता है, वह उस पुरुष के समान है जो

य इति । यः पुरुषो राज्यं प्राप्य तस्य रक्षणादौ निश्चिन्तो भवति । तथा प्राप्तं राज्यमिति समुत्सहर्षः । यो रतारम्भरतः सदैव निधुवनप्रारम्भासक्तः । सततं स तथाविधनृपो भरतो भरेण समुद्रतारं जलनिधितरणं बाहुभ्यामारभ्य पयसि जलमध्य उदास्ते निष्क्रियो भवति । कथम् । दैवं पुराकृतं कर्म प्रमाणं यत्र तत्तथेति क्रियाविशेषणम् । यः प्राप्तराज्यो निरुद्यमः स बाहुतरणप्रवृत्तजलधिमध्यस्थितनिष्क्रियनरतुल्य इत्यर्थः । इति मध्यमपादयोर्गर्भो नाम यमकम् ।।

अथ संदष्टकम्—

इदं च येन स्वयमात्मभोग्यतां समस्तकाञ्चीकमनीयताकुलम् ।
नितम्बबिम्बं कथमस्तु नो नृणां स मस्तकाञ्चीकमनीयताकुलम् ।।६।।

इदमिति । कश्चिद्रागी परस्त्रियं दृष्ट्वा कंचिदाह—इदं नितम्वबिम्बं श्रोणीतटं येन स्वयमसहायेनात्मभोग्यतां स्वोपकारितामनीयत नीतं स तथाविधो नृणां पुंसां मस्तकाञ्ची शिरोवर्ती कथं नो अस्तु कथं मा भूत् । सौभाग्यातिशयवानित्यर्थः । कीदृशं कटितटम् । आकुलं प्रयोगवशाच्चटुलमत एव समस्ता सम्यक्क्षिप्ता काञ्ची मेखला यतस्तत्समस्तकाञ्चीकम् । तथा च कमनीयताया रामणीयकस्य कुलं स्थानम् । अत्र द्वितीयचतुर्थपादयोः संदष्टयमकम् ।।

भुजाओं से समुद्र पार करना प्रारम्भ करके फिर भाग्य पर ही जीवन छोड़कर तैरना बन्द कर देता है ।८।

संस्कृत-पद्य में द्वितीय पद्य की आवृत्ति तृतीय पद्य में भी गयी है । अतः यहाँ 'गर्भ' नामक यमक है ।

सन्दष्टक का उदाहरण

अन्वय—येन सम्-अस्त-काञ्चीकम् (अतएव)आकुलम्, (तथा) कमनीयता-कुलम्, इदं नितम्वबिम्बं, स्वयं आत्मभोग्यतां अनीयत, सः नृणां मस्तक-अञ्ची कथं नो अस्तु ।

[कोई कामुक किसी पर-स्त्री को देखकर अपने साथी से कहता है—] जिस पुरुष ने बड़ी अधीरता से इसकी कमर में बँधी मेखला (तगड़ी) को खींचकर सौंदर्य के केन्द्रस्थल इन नितम्बों का उपभोग किया है, वह सबसे अधिक भाग्यशाली कैसे न होगा ।६।

संस्कृत-पद्य में द्वितीय पद्य की आवृत्ति चतुर्थ पद्य में की गयी है । अतः यहाँ 'सन्दष्टक' नामक यमक है ।

पुनराह—

अन्योन्यं पश्चिमयोरावृत्त्या पादयोर्भवेत्पुच्छः ।
सर्वैः सार्धं युगपत्प्रथमस्य तु जायते पंक्तिः ।। १० ।।

अन्योन्यमिति । पश्चिमयोस्तृतीयचतुर्थपादयोः परस्परावृत्त्या पुच्छो नाम यमकं भवेत् । तथा प्रथमपादस्य सर्वैस्त्रिभिरन्यैः सार्धं युगपत्समकालमावृत्त्या पंक्तिर्नाम यमकं जायते ।।

तत्र पुच्छः—

उत्तुङ्गमातङ्गकुलाकुले यो व्यजेष्ट शत्रून्समरे सदैव ।
स सारमानीय महारि चक्रं ससार मानी यमहारिचक्रम् ।।११।।

उत्तुङ्गेति । कश्चिद्वीरो वर्ण्यते—स मानी मानवान्नरोऽरिचक्रं रिपुराष्ट्रं ससार जगाम । कीदृशः । यः समरे रणे । कीदृशे । उत्तुङ्गमातङ्गकुलाकुले उन्नतद्विपसमूहसंकुले सदैव सर्वदैव व्यजेष्टाभ्यभूत्, शत्रून्रिपून् । कथम् ! सारमुत्कृष्टं महारि महद्भिररैर्युक्तं चक्रमायुधविशेषमानीयादाय । कीदृशो मानी । यमं युग्मं कृतान्तमपि वा हन्तीति यमहा ।।

पादावृत्ति यमक के दो अन्य भेद

पश्चिम अर्थात् तृतीय और चतुर्थ पादों की पारस्परिक आवृत्ति को पुच्छ-यमक कहते हैं, तथा प्रथम पाद की शेष तीनों पादों में आवृत्ति को पंक्ति-यमक ।१०।

पुच्छ का उदाहरण

अन्वय—स मानी सदैव उतुङ्ग-मातङ्ग-कुल-आकुले समरे शत्रून् व्यजेष्ट । (अथ च) [सः] यम-हा, सारं, महा-अरि चक्रं आदाय अरि-चक्रं ससार ।

जो बड़े-बड़े हाथियों से व्याप्त रणभूमि में शत्रुओं पर सदा विजय पाता था, वही यमराज को भी आतंकित करने वाला मानी वीर बड़े-बड़े अरों वाले श्रेष्ठ चक्र को लेकर 'अरिचक्र' अर्थात् शत्रु देश में चला गया है ।११।

संस्कृत पद्य में तृतीय और चतुर्थ पाद की परस्पर आवृत्ति की गयी है, अर्थात् दोनों पाद एक से हैं । अतः यहाँ 'पुच्छ' नामक यमक है ।

पंक्ति का उदाहरण

अन्वय—सभाजनेन, सभा-अजने, न उपरिपु-ऊरित-असौ अपरिपूरित-असौ नः सभाजने इत-असौ उपरि पूः इता जन-इनः स-भाः अथ च ऊः ।

शब्दार्थ

सभाजनेन—मंत्रियों द्वारा, सभा-अजने—[मंत्रियों पर] आक्षेप करने वाले, न उपरिपु ऊरितासौ—शत्रु के समीप खड्ग न उठानेवाले, अपरिपूरित-असौ—मृतक तुल्य, नः सभाजने—हमें प्रसन्नता देने वाले, इत-असौ—अपमानित होने वाले [पुरवासियों

अथ पंक्त्युदाहरणम्—

सभाजनेनोपरि पूरितासौ सभाजने नोपरिपूरितासौ ।
सभा जनेनोऽपरिपूरितासौ सभाजने नोऽपरिपूरितासौ ।।१२।।

सभाजनेनेति । 'कस्यचिद्राज्ञो मन्त्रिणः पौरैस्तिरस्कृताः । ततस्तस्य स्वसभ्याधिक्षेपजातकोपस्यापरागभयात्पौराननिगृह्णतः कान्तिभ्रंशो बभूव । ततः कस्मिंश्चिद्दवसरे ते सभ्या लब्धावसराः सन्तः पौराणामुपरि कटकयात्रामदुः । ततस्ते पौरा निरायुधाः सन्तः पराजिग्यिरे । ततो राजा परितुष्टः पुनरात्मीयां कान्तिमाप' इति समुदायार्थः । पादानां त्वेवं योजना । कश्चित्सभ्यः परस्य कथयति—सभाजनेन सभ्यलोकेन । मन्त्रिजनेनेत्यर्थः । उपरि पृष्ठतः, पूः पौरजनता । इता प्राप्ता, असौ । एषां पौराणां पृष्ठतः सभ्या आगता इत्यर्थः । कदा । सभां सभालोकमजति क्षिपतीति सभाजनस्तस्मिन्पौरजने । न उपरिपु शत्रुसमीपे सभ्यसंनिधाने ऊरिता असयः खड्गा येन स ऊरितासिस्तस्मिन्नेवंविधे । अनुद्यतखड्ग इत्यर्थः । अत एव जनानामिनः स्वामी जनेनो राजा, सह भासा वर्तते इति सभाः सदीप्तिकः संवृत्तः । अन्यच्च कीदृशे पौरलोके । अपरिपूरिता अनाप्यायिता असवः प्राणा यस्यासौ तथोक्तस्तस्मिन् । मृततुल्य इत्यर्थः । तथा सभाजने । 'सभाज प्रीतिदर्शने'[1] इत्यस्मात्कर्तरि ल्युट् । नोऽस्माकं प्रीतिकरे । पूजक इत्यर्थः । अत एवास्माकं पूर्वप्रक्रान्तो जनेनः, अवतीत्यूः । रक्षिता संपन्न इत्यर्थः । कथम् । अपगता रिपवो यत्रावने तत्तथेतिं क्रियाविशेषणम् । किंभूते पौरलोके । इतासौ इता प्राप्ता असुः अपूजा येन तस्मिन् । अधिगतमानभ्रंश इत्यर्थः ।

'परिप्रतिगतार्थौ तु सु पूजायां यदा भवेत् ।
अतिरतिक्रमणे चैव नोपसर्गा इमे तदा ।।'

इति सर्वपादजं पंक्तियमकम् ।।

पर], उपरि पूः इता—पीछे से आक्रमण किया गया, जन-इनः—[अतएव] राजा, स-भाः—दीप्तिमान्, ऊः—[और] रक्षक [हो गया] ।

[नगरवासियों ने किसी राजा के मन्त्रियों का तिरस्कार किया । किन्तु राजा ने प्रतिक्रियास्वरूप कोई कदम नहीं उठाया, इसलिए उसकी प्रतिष्ठा को धक्का लगा । उधर मन्त्रियों ने अवसर पाकर उन नागरिकों पर आक्रमण कर दिया । वे नागरिक शस्त्र-रहित होने के कारण पराजित हो गये और राजा को अपनी खोई प्रतिष्ठा मिल गयी । निम्नांकित उदाहरण में यह वर्णन प्रस्तुत है—]

एक मन्त्री किसी से कह रहा है कि मन्त्रियों ने अपना अपमान करने वाले निःशस्त्र, मृतक-समान नागरिकों पर पीछे से आक्रमण कर दिया । इससे राजा फिर अपने राजतेज से दीप्त हो उठा ।१२।

भूयोऽपि भेदान्तरमाह—

परिवृत्तिर्नाम भवेद्यमकं गर्भावृतिप्रयोगेण ।
मुखपुच्छयोश्च योगाद् युग्मकमिति पादजं नवमम् ।। १३ ।।

परिवृत्तिरिति । पूर्वोक्तगर्भावृतियमकयोर्युगपद्योगे वृत्तिर्नाम यमकं भवति । तथा पूर्वोक्तमुखपुच्छयोर्युगपद्योगाद्युग्मकं नाम समस्तपादसंभवं नवमं यमकं भवति ।।

तत्र परिवृत्त्युदाहरणम्—

मुदा रतासौ रमणी यता यां स्मरस्यदोऽलं कुरुतेन वोढा ।
स्मरस्यदोऽलंकुरुतेऽनवोढामुदारतासौ रमणीयतायाम् ।।१४।।

मुदेति । एतन्मानिन्याः सखी अनुनयप्रत्याख्यानभयादपसृतं नायकमाह—असौ रमणी स्त्री त्वयि रता । मुदा प्रीत्या । न तु धनलोभादिना । यता त्वदागमनार्थं प्रयत्न-

---

संस्कृत पद्य में प्रथम पाद की आवृत्ति शेष तीनों पादों में की गयी है, अर्थात् चारों पाद एक-समान हैं । अतः यहाँ 'पंक्ति' नामक यमक है ।

पादावृत्ति यमक के दो अन्य भेद

उपर्युक्त गर्भ और आवृत्ति नामक यमकों के पारस्परिक योग को परिवृत्ति नामक यमक कहते हैं, तथा मुख और पुच्छ का योग युग्मक नामक नवम यमक कहाता है ।१३।

अन्वय—कुरुतेन (उपलक्षितः) यां वोढा, अदः अलं स्मरसि । असौ रमणी मुदा रता यता (च) । असौ उ.ारता, (यत्) रमणीयतायां स्मरस्यदः अनवोढां अलंकुरुते ।

शब्दार्थ

यां वोढा—जिससे तुम विवाह करने जा रहे हो, अदः अलं स्मरसि—अवश्य ही तुम उसे निरन्तर स्मरण करते रहते हो, कुरुतेन [उपलक्षितः]—अनायास ही तुम्हारे मुख से उसके विषय में वचन निकल पड़ते हैं, असौ रमणी मुदा रता—वह भी तुम्हें सच्चे हृदय से प्रेम करती है, यता—तुमसे मिलने के लिए प्रयत्नशील रहती है, [रहा उसका मान करना] असौ उदारता—वह भी उचित ही है, रमणीयतायां स्मरस्यदः अनवोढाम् अलंकुरुते—प्रगल्भ नायिका के लावण्य का काम का उद्रेक [भाव] भूषित ही करता है [दूषित नहीं] ।

परिवृत्ति का उदाहरण

प्रार्थना के ठुकरा दिए जाने के भय से लौटते हुए नायक के प्रति किसी मानवती नायिका की सखी द्वारा प्रस्तुत यह उक्ति है—

जिससे तुम विवाह करने जा रहे हो अवश्य ही तुम उसे निरन्तर स्मरण करते हो, क्योंकि अनायास ही तुम्हारे मुख से उसके विषय में वचन निकल पड़ते हैं और

परा । यां त्वं वोढा परिणेता । अदोऽलं निःसंदेहं स्मरसि ध्यायसि । कीदृशस्त्वम् । कुरुतेनोपलक्षितः । कुत्सितं रुतं कुरुतं तेन । यत्पुरुषस्य धैर्यच्युतिप्रकाशकमत एव तत्स्मरणपरिज्ञानम् । ननु यदि सा मानिनी तत्किमनुनयार्थं त्वं प्रेषितेत्याह—यस्मादुदारतासौ औचित्यमिदम् । रमणीयतायां रमणीयत्वे । यत्स्मरस्यदः कामोद्रेकोऽलंकुरुते भूषयति । अनवोढां प्रगल्भां नायिकाम् ।।

अथ युग्मकम्—

विनायमेनो नयताऽसुखादिना विना यमेनोनयता सुखादिना ।
महाजनोऽदीयत मानसादरं महाजनोदी यतमानसादरम् ।।१५।।

विनेति । कश्चित्कंचिदाह—अयं महाजनः सत्पुरुषलोकः । एनोऽपराधं विना । अनपराध इत्यर्थः । अदीयत खण्ड्यते स्म । केन । यमेन । किं कुर्वता यमेन । नयता-

---

वह भी तुम्हें सच्चे हृदय से प्रेम करती है तथा तुमसे मिलने के लिए प्रयत्नशील रहती है । [रहा उसका मान करना] वह भी उचित ही है, क्योंकि प्रगल्भ नायिका के लावण्य को काम का उद्रेक-भाव भूषित ही करता है, (दूषित नहीं) ।१४।

संस्कृत पद्य में प्रथम पाद की आवृत्ति चतुर्थ पाद में की गयी है (आवृत्ति-यमक), और द्वितीय पाद की तृतीय पाद में की गयी है (गर्भ यमक) । अतः यहाँ इन दोनों यमकों के प्रयोग के कारण 'परिवृत्ति' यमक है ।

युग्मक का उदाहरण

अन्वय—नयता असुखादिना ऊनयता सुखादिना यमेन अयं मानसात् महाजनोदी महाजनः एनः विना अरं यतमान सादरं [च] अदीयत ।

शब्दार्थ

नयता—अपने पास बुलाकर, असुखादिना—प्राणों का भक्षण करनेवाले, ऊनयता—[श्रेष्ठ पुरुष को मारकर] जनसंख्या कम करने वाले, सुखादिना—सुख-समृद्धि के विनाशक, अथवा-सुखादिना ऊनयता—सुख-समृद्धि के विरहित करने वाले, यमेन—यमराज ने, एनः विना—अपराध के बिना, अयं महाजनः—इस सत्पुरुष का अरं—शीघ्र, यतमान-सादरं [प्राण रक्षार्थ] प्रयत्नशील बन्धुओं को खेद पहुँचाते हुए अर्थात् उनके यत्न को निष्फल बनाते हुए, [यमराज ने] अदीयत—वध कर दिया, जो [सत्पुरुष] बिना यमराज के आगे पुरुषार्थहीन हो गया था, मानसात्—[शत्रुओं का] मानमर्दन करने वाला था, [और] महाजनोदी—सुख में बाधा डालने वाले दुष्टों का नियामक था ।

कोई किसी से कहता है कि—

अपने पास बुलाकर, प्राणों का भक्षण करने वाले श्रेष्ठ पुरुष को मारकर जन-संख्या कम करने वाले, सुख-समृद्धि के विनाशक अथवा सुख-समृद्धि से विरहित करने

त्मसमीपं प्रापयता । तथाऽसुखादिना प्राणभक्षणशीलेन । ऊनयता महाजनमूनीकुर्वता । सुखादिना सौख्यभक्षकेण । अथवा सुखादिनार्थेन न्यूनयता । कीदृशो महाजनः । विना विगता नरो यस्मात् । यमं प्रति पुरुषकारविफलत्वाद्विपुरुष इत्यर्थः । बहुलत्वात्को न भवति । यद्वा विनष्टो ना पुरुषो विना । पुनः महाजनः कीदृशः । मानसान्मानमहंकारं सादयतीति मानसाद्रिपूणाम् । यदि वा मानसाच्चित्तात्सकाशात्सुखादिना । तथा महाजनोदी महमुत्सवमजन्ति क्षिपन्ति महाजा दुर्जनास्तान्नुदति प्रेरयतीति महाजनोदी । कथमदीयत । अरं शीघ्रम् । तथा यतमानसादरं यतमानानां मरणप्रतिक्रियाव्यापृतानां सादं खेदं राति ददातीति च क्रियाविशेषणम् ॥

एतानि नव यमकानि समस्तपादस्योक्तानि । अधुना समस्तपादयोः समस्तपादानां चाह—

अर्धं पुनरावृत्तं जनयति यमकं समुद्गकं नाम ।
श्लोकस्तु महायमकं तदेवमेकादशैतानि ॥ १६ ॥

अर्धमिति । प्रथममर्धं पुनरावृत्तं भूय उच्चरितं समुद्गकाख्यं यमकं जनयति करोति । नामशब्दः संस्थाननिषेधसूचनार्थः । तेन चित्रमध्येऽस्य नान्तर्भावः । अर्धद्वय-

---

वाले, यमराज ने अपराध के बिना इस सत्पुरुष का [प्राण-रक्षार्थ] प्रयत्नशील बन्धुओं को खेद पहुँचाते हुए अर्थात् उनके यत्न को निष्फल करते हुए शीघ्र वध कर दिया । वह सत्पुरुष यमराज के आगे पुरुषार्थहीन हो गया था, शत्रुओं का मानमर्दन करने वाला था और सुख में बाधा डालने वाले दुष्टों का नियामक था ।१५।

संस्कृत पद्य में प्रथम पाद की आवृत्ति द्वितीय में की गयी है (मुख यमक), और तृतीय पाद की आवृत्ति चतुर्थ में । अतः यहाँ 'युग्मक' यमक है ।

इस प्रकार पादावृत्ति यमक के ९ भेद हुए ।

अर्द्धावृत्ति : समुद्गक तथा श्लोकवृत्ति महायमक

पाद का अर्द्ध भाग आवृत्त होने पर 'समुद्गमक' नामक यमक कहाता है । किसी पूरे श्लोक (पद्य) की आवृत्ति को महायमक कहते हैं ।

इस प्रकार यमक के ये (९+२=) ११ भेद हुए ।१६।

समुद्गक का उदाहरण

अन्वय—मही, न च अरित्रमुत्, न नामलः लोकः आनवेन आरधीरं अकोविदमानवेनं अहीनचारित्रं उदारधीरं विदं ननाम ।

शब्दार्थ

मही—सुप्रसन्न, न च अरित्रमुत्—शत्रु की प्राणरणा में जिन्हें प्रसन्नता नहीं होती, ऐसे, न नामलः—शुद्ध स्वभाव, लोकः—लोगों ने, आनवेन—स्तुति से, विदं—

सारूप्येण च समुद्गकसादृश्यम् । श्लोकः श्लोकान्तरे यमकितो महायमकं जनयति । तुः पुनरर्थे । श्लोक इत्येकवचनं द्वयोस्त्र्यादीनां च यमकत्वनिवृत्त्यर्थम् । यथालक्ष्येष्वदर्शनात् । एवं मुखादारभ्य महायमकान्तान्येकादशैतानि समस्तपादयमकानि भवन्ति ।।

तत्र समुद्गकम्—

ननाम लोको विदमानवेन मही न चारित्रमुदारधीरम् ।
न नामलोऽकोविदमानवेनमहीनचारित्रमुदारधीरम् ।।१७।।

ननामेति । लोको जनो विदं पण्डितं ननाम प्रणतः । केन । आनवेन स्तुत्या । कीदृशः । महा उत्सवाः सन्त्यस्येति मही तथारीन्रिपूंस्त्रायतेऽरित्रा मुत्प्रमोदो यस्य स तथाभूतो न च नैव । विदं कीदृशम् । अरीणां समूह आरं तस्य धीर्बुद्धिस्तामीरयतीति तं तथाविधम् । लोकस्तु न नामलः, अपि त्वमलो निर्मल एव । विदं पुनः कीदृशम् । अकोविदा मूर्खास्तेषां मानमहंकारं वान्ति गन्धयन्ति नाशयन्तीत्यकोविदमानवास्तेषा-

---

उस विद्वान् पुरुष को, ननाम—नमस्कार किया, [जो] आरधीरं—शत्रुओं की बुद्धि को कुण्ठित करने वाला है, अकोविदमानवेनं—मूर्ख लोगों के अहंकार का नाश करने वालों में अग्रणी है, अहीनचारित्रम्—जिसका चरित्र अखण्डित है, [तथा] उदारधीरम्—जो उदारता एवं धैर्य से भूषित है ।

सुप्रसन्न तथा शत्रु की प्राणरक्षा में प्रसन्न न होने वाले शुद्ध स्वभाव लोगों ने स्तुति से उस विद्वान् पुरुष को नमस्कार किया, जो शत्रुओं की बुद्धि को कुण्ठित करने वाला है और मूर्ख लोगों के अहंकार का नाश करने वालों में अग्रणी है, जिसका चरित्र अखण्डित है तथा जो उदारता एवं धैर्य से भूषित है ।१७।

संस्कृत पद्य में प्रथम श्लोकार्ध की आवृत्ति द्वितीय श्लोकार्ध में की गई है । अतः यहाँ 'समुद्गक' नामक यमक है ।

महायमक का उदाहरण

अन्वय—स तु अलसं अवान् (तथा) अस्थितः (वित्) आरं भरतः अवश्यं अबलं विततारवं सर्वदा रणम् आनैषीत । [तथा] सत्त्वारम्भरतः सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः (स वित्) वश्यं अवलम्बिततारवं [आरम्] ।

शब्दार्थ

स तु [वित्]—वह रणपंडित, अलसं अवान्—निष्क्रिय अथवा कायर शत्रुओं के पास जाने वाला नहीं है, [तथा] अस्थितः—शत्रुओं की अस्थियों को चूर्ण करने वाला है, [उसने] आरं—शत्रुसमूह को, सदा—हमेशा, भरतः—अपने पराक्रम से, समरम्—युद्ध में, अवश्यं—निश्चय ही, अबलम्—बलहीन, विततारवं [भयजनित]—क्रन्दन के शब्द से दिशाओं को गुँजाने वाला, आनैषीत्—बना दिया है ।

मिनः स्वामी तम् । तथाहीनचारित्रमखण्डशीलम् । उदारो विपुलाशयो धीरो धैर्योपेतः । उदारं च धीरं चेति ।

अथ महायमकं श्लोकद्वयेनाह—

स त्वारं भरतोऽवश्यमबलं विततारवम् ।
सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः ॥ १८ ॥
सत्त्वारम्भरतो वश्यमवलम्बिततारवम् ।
सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः ॥ १९ ॥

स इति । सत्त्वेति । स पूर्वप्रक्रान्तो वित् । तुशब्दः क्रियान्तरोपन्यासार्थः । आरमरिसमूहम्, भरतो भरेण, अवश्यं निश्चितम्, अबलं बलरहितम्, विततारवं कृतभयार्तिविस्तीर्णनिःस्वनम्, सर्वदा सदा, रणं समरम्, आनैषीदानीतवान् । कीदृशोऽसौ । अवानगच्छन् । कम् । अलसं निष्क्रियं जनम् । तथास्थितोऽस्थीनि शत्रूणां तस्यति क्षयं नयतीत्यस्थित इति । तथा सत्त्वेनावष्टम्भेनारम्भा ये तेषु रतः सक्तः । कीदृशमारम् । वश्यं वशगतमथवावश्यमनायत्तम्, अवलम्बिततारवं समाश्रिततरुसमूहम् । वित्कीदृशः । सर्वदारणमानैषी सर्वेषां यद्दारणं विनाशनं तेन मानमिच्छतीति कृत्वा, अत

इन्हीं शब्दों के श्लेष से उस 'रणपंडित और 'शत्रुसमूह' के अन्य विशेषण इस प्रकार बन जाते हैं—

[वह रणपण्डित] सत्त्वारम्भरतः—पराक्रम के कार्यों में उत्साह रखने वाला, सर्वदारणमानैषी—सभी [शत्रुओं] के विनाश कर देने के मान का इच्छुक [अतएव] दवानल समस्थितः—दवाग्नि के सदृश प्रचण्ड है ।

[वह शत्रुसमूह] अवश्यम् (उस रणकुशल के वश में है) [अथवा अवश्यम्= स्वाधीन है], अवलम्बिततारवम् [वनों में] (वृक्षों का आश्रय लेने वाला है) ।

प्रथम अर्थ—वह रणपंडित निष्क्रिय अथवा कायर शत्रुओं के पास जाने वाला नहीं है तथा शत्रुओं की अस्थियों को पूर्ण करने वाला है । उसने शत्रुसमूह को हमेशा अपने पराक्रम से युद्ध में निश्चय ही बलहीन तथा [भयजनित] क्रन्दन के शब्द से दिशाओं को गूँजाने वाला बना दिया है ।

द्वितीय अर्थ—वह रणपंडित पराक्रम के कार्यों में उत्साह रखने वाला [सभी शत्रुओं के] विनाश कर देने के मान का इच्छुक है, [अतएव] वह दावाग्नि के सदृश प्रचण्ड है । [वह शत्रु-समूह] उस रणकुशल के वश में है, अथवा स्वाधीन है, एवं वनों में वृक्षों का आश्रय लेने वाला है ।१८-१९।

संस्कृत के दोनों पद्यों में से प्रथम पद्य की आवृत्ति द्वितीय पद्य में की गयी है । अतः यहाँ 'महायमक' है ।

एव दवानलेन दवाग्निना समं तुल्यं स्थितं स्थितिर्यस्येति । शब्दश्लेषस्यास्य च महायमकस्यायं विशेषः । तत्रैकेनैव प्रयत्नेन वाक्यद्वयमुच्चार्यते, इह तु द्वाभ्याम् ।

एवं समस्तपादजं यमकमाख्यायेदानीमेकदेशजमाह—

पादं द्विधा त्रिधा वा विभज्य तत्रैकदेशजं कुर्यात् ।
आवर्तयेत्तमंशं तत्रान्यत्रापि वा भूयः ॥ २० ॥

पादमिति । यच्छन्दोऽर्धादिभागं ददाति तस्य पादं द्विधा त्रिधा वा विभज्य द्विखण्डं त्रिखण्डं वा कृत्वा तत्र विभक्तेंऽश एकदेशजं यमकं कुर्यात् । कथमित्याह—आवर्तयेद्यमकयेत्तमंशं विभक्तं भागम् । तत्रैवांशे प्रथमार्धानि प्रथमार्धेषु द्वितीयार्धानि द्वितीयार्धेष्वित्यादिक्रमेण । अन्यत्र वाप्यंशान्तरैर्भूयः प्रभूतमावर्तयेत् । अंशान्तरावृत्तौ बहवो भेदा भवन्तीत्यर्थः । अपिशब्दः समुच्चये ॥

तत्रैवावृत्त्या ये भेदाः संभवन्ति तानाह—

आद्यर्धान्यन्योन्यं पादावृत्ति क्रमेण जनयन्ति ।
दश यमकान्यपरस्मिन्परिवृत्त्या तद्वदन्यानि ॥ २१ ॥

आद्यर्धानीति । श्लोकपादचतुष्टयस्य प्रथमार्धान्यपरस्मिन्पादेऽन्योन्यं परस्परं पादावृत्तिक्रमेण समस्तपादद्वययमकवद्दश यमकानि जनयन्ति । तद्वत्तथैव चान्यान्यपि दश जनयन्ति । तानि च मुखसंदंशावृत्तिगर्भसंदष्टकपुच्छपंक्तिपरिवृत्तियुग्मकसमुद्गकसंज्ञानि ॥

किं पुनरेषामुदाहरणानि नोक्तानीत्याह—

एतदुदाहरणानां पादावृत्त्यैव दर्शितो मार्गः ।
इह विंशतिभेदमिदं यमकं नोदाहृतं तेन ॥ २२ ॥

एकदेशज यमक

एक पाद को दो अथवा तीन भागों में विभक्त करने के उपरान्त एक भाग 'एकदेशज' कहाता है । यदि उस अंश की आवृत्ति दूसरे स्थानों पर की जाए तो एकदेशज के बहुत से भेद सम्भव हैं ।२०।

चारों पादों के प्रथम अर्द्ध भाग की दूसरे पादों में पारस्परिक आवृत्ति [समस्त पाद यमक के उपर्युक्त दस भेदों के समान] दस भेदों को उत्पन्न करती है । इसी प्रकार अन्य एकदेशज भी पारस्परिक आवृत्ति द्वारा विभिन्न प्रकार के यमक-भेदों को उत्पन्न करते हैं ।

इन सब भेदों के उदाहरण का मार्ग उपर्युक्त पादों की आवृत्ति में दिखाया गया है । (वहाँ से ही समझ लेना चाहिए) । इसलिए यमक के इन बीस भेदों के उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये जा रहे ।२१-२२।

मिनः स्वामी तम् । तथाहीनचारित्रमखण्डशीलम् । उदारो विपुलाशयो धीरो धैर्योपेतः । उदारं च धीरं चेति ।

अथ महायमकं श्लोकद्वयेनाह—

स त्वारं भरतोऽवश्यमबलं वितताखम् ।
सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः ।। १८ ।।
सत्त्वारम्भरतो वश्यमवलम्बिततारवम् ।
सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः ।। १६ ।।

स इति । सत्त्वेति । स पूर्वप्रक्रान्तो वित् । तुशब्दः क्रियान्तरोपन्यासार्थः । आरमरिसमूहम्, भरतो भरेण, अवश्यं निश्चितम्, अबलं बलरहितम्, वितताखं कृतभयार्तिविस्तीर्णनिःस्वनम्, सर्वदा सदा, रणं समरम्, आनैषीदानीतवान् । कीदृशोऽसौ । अवानगच्छन् । कम् । अलसं निष्क्रियं जनम् । तथास्थितोऽस्थीनि शत्रूणां तस्यति क्षयं नयतीत्यस्थित इति । तथा सत्त्वेनावष्टम्भेनारम्भा ये तेषु रतः सक्तः । कीदृशमारम् । वश्यं वशगतमथवावश्यमनायत्तम्, अवलम्बिततारवं समाश्रिततरुसमूहम् । वित्कीदृशः । सर्वदारणमानैषी सर्वेषां यद्दारणं विनाशनं तेन मानमिच्छतीति कृत्वा, अत

इन्हीं शब्दों के श्लेष से उस 'रणपंडित और 'शत्रुसमूह' के अन्य विशेषण इस प्रकार बन जाते हैं—

[वह रणपण्डित] सत्त्वारम्भरतः—पराक्रम के कार्यों में उत्साह रखने वाला, सर्वदारणमानैषी—सभी [शत्रुओं] के विनाश कर देने के मान का इच्छुक [अतएव] दवानल समस्थितः—दवाग्नि के सदृश प्रचण्ड है ।

[वह शत्रुसमूह] अवश्यम् (उस रणकुशल के वश में है) [अथवा अवश्यम्= स्वाधीन है], अवलम्बिततारवम् [वनों में] (वृक्षों का आश्रय लेने वाला है) ।

प्रथम अर्थ—वह रणपंडित निष्क्रिय अथवा कायर शत्रुओं के पास जाने वाला नहीं है तथा शत्रुओं की अस्थियों को पूर्ण करने वाला है । उसने शत्रुसमूह को हमेशा अपने पराक्रम से युद्ध में निश्चय ही बलहीन तथा [भयजनित] क्रन्दन के शब्द से दिशाओं को गूँजाने वाला बना दिया है ।

द्वितीय अर्थ—वह रणपंडित पराक्रम के कार्यों में उत्साह रखने वाला [सभी शत्रुओं के] विनाश कर देने के मान का इच्छुक है, [अतएव] वह दावाग्नि के सदृश प्रचण्ड है । [वह शत्रु-समूह] उस रणकुशल के वश में है, अथवा स्वाधीन है, एवं वनों में वृक्षों का आश्रय लेने वाला है ।१८-१६।

संस्कृत के दोनों पद्यों में से प्रथम पद्य की आवृत्ति द्वितीय पद्य में की गयी है । अतः यहाँ 'महायमक' है ।

एव दवानलेन दवाग्निना समं तुल्यं स्थितं स्थितिर्यस्येति । शब्दश्लेषस्यास्य च महायमकस्यायं विशेषः । तत्रैकेनैव प्रयत्नेन वाक्यद्वयमुच्चार्यते, इह तु द्वाभ्याम् ।

एवं समस्तपादजं यमकमाख्यायेदानीमेकदेशजमाह—

पादं द्विधा त्रिधा वा विभज्य तत्रैकदेशजं कुर्यात् ।
आवर्तयेत्तमंशं तत्रान्यत्रापि वा भूयः ॥ २० ॥

पादमिति । यच्छन्दोऽर्धादिभागं ददाति तस्य पादं द्विधा त्रिधा वा विभज्य द्विखण्डं त्रिखण्डं वा कृत्वा तत्र विभक्तेंऽश एकदेशजं यमकं कुर्यात् । कथमित्याह—आवर्तयेद्यमकयेत्तमंशं विभक्तं भागम् । तत्रैवांशे प्रथमार्धानि प्रथमार्धेषु द्वितीयार्धानि द्वितीयार्धेष्वित्यादिक्रमेण । अन्यत्र वाप्यंशान्तरैर्भूयः प्रभूतमावर्तयेत् । अंशान्तरावृत्तौ बहवो भेदा भवन्तीत्यर्थः । अपिशब्दः समुच्चये ॥

तत्रैवावृत्त्या ये भेदाः संभवन्ति तानाह—

आद्यर्धान्यन्योन्यं पादावृत्ति क्रमेण जनयन्ति ।
दश यमकान्यपरस्मिन्परिवृत्त्या तद्वदन्यानि ॥ २१ ॥

आद्यर्धानीति । श्लोकपादचतुष्टयस्य प्रथमार्धान्यपरस्मिन्पादेऽन्योन्यं परस्परं पादावृत्तिक्रमेण समस्तपादद्वययमकवद्दश यमकानि जनयन्ति । तद्वत्तथैव चान्यान्यपि दश जनयन्ति । तानि च मुखसंदंशावृत्तिगर्भसंदष्टकपुच्छपंक्तिपरिवृत्तियुग्मकसमुद्गकसंज्ञानि ॥

किं पुनरेषामुदाहरणानि नोक्तानीत्याह—

एतदुदाहरणानां पादावृत्त्यैव दर्शितो मार्गः ।
इह विंशतिभेदमिदं यमकं नोदाहृतं तेन ॥ २२ ॥

एकदेशज यमक

एक पाद को दो अथवा तीन भागों में विभक्त करने के उपरान्त एक भाग 'एकदेशज' कहाता है । यदि उस अंश की आवृत्ति दूसरे स्थानों पर की जाए तो एकदेशज के बहुत से भेद सम्भव हैं ।२०।

चारों पादों के प्रथम अर्द्ध भाग की दूसरे पादों में पारस्परिक आवृत्ति [समस्त पाद यमक के उपर्युक्त दस भेदों के समान] दस भेदों को उत्पन्न करती है । इसी प्रकार अन्य एकदेशज भी पारस्परिक आवृत्ति द्वारा विभिन्न प्रकार के यमक-भेदों को उत्पन्न करते हैं ।

इन सब भेदों के उदाहरण का मार्ग उपर्युक्त पादों की आवृत्ति में दिखाया गया है । (वहाँ से ही समझ लेना चाहिए) । इसलिए यमक के इन बीस भेदों के उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये जा रहे ।२१-२२।

एतदिति । समस्तपादावृत्तियमकोदाहरणैरेव पूर्वोक्तैरेतदुदाहरणानां दिक्प्रदर्शनं कृतमितीह विंशतिभेदं यमकं नोदाहृतमिति । यद्यपि चोभयत्राप्यत्रैकादशोऽपि भेदः संभवति । यथा यादृशानि प्रथमश्लोक आद्यन्तानि चार्धानि कृतानि तादृशान्येव तानि श्लोकान्तरे क्रियन्त इति कृत्वा तथापि महाकवीनां न क्वचिदेवंविधं लक्ष्यं दृश्यत इति दशैव भेदा उक्ताः ।।

इदानीमन्यत्र देश आवृत्त्या तानाह—

प्रथमतृतीयान्त्यार्धे तदनन्तरभागयोः परावृत्ते ।
अन्तादिकमिति यमकं व्यस्तसमस्ते त्रिधा कुरुतः ।।२३।।

प्रथमेति । प्रथमपादान्त्यार्धं द्वितीयपादाद्यर्धे तृतीयपादान्त्यार्धं च चतुर्थपादाद्यर्धे परावृत्तं प्रत्येकं युगपच्चेत्यन्तादिकं नाम त्रिविधं यमकमन्ताद्योर्यमकनाद्भवतीति ।।

तत्रोदाहरणानि—

नारीणामलसं नाभि लसन्नाभि कदम्बकम् ।
परमास्त्रमनङ्गस्य कस्य नो रमयेन्मनः ।।२४।।

नारीणामिति । नारीणां कदम्बकं स्त्रैणं कस्य मनश्चित्तं नो रमयेत्प्रीणयेत् । कीदृशम् । अलसं मन्थरगमनम् । तथा नाभि अबलात्वात्सभयम् । तथा लसन्ती मनोज्ञा नाभिर्यस्य तत्तथा । तथा परमास्त्रं प्रकृष्टायुधमनङ्गस्य ।।

प्रथम पाद के अन्तिम अर्द्धभाग की आवृत्ति द्वितीय पाद के प्रथमार्द्ध में, तथा तृतीय पाद के अन्तिम अर्द्धभाग की आवृत्ति चतुर्थ पाद के प्रथमार्द्ध में करना अन्तादिक यमक कहाता है । इसके दो भेद हैं—व्यस्त और समस्त । [व्यस्त उसे कहते हैं जहाँ उक्त दोनों रूपों में से केवल कोई एक रूप हो । इस प्रकार व्यस्त के दो भेद हुए । 'समस्त ' उसे कहते हैं जहाँ दोनों रूप एक साथ हों ।] इस प्रकार ये कुल तीन भेद हुए ।२३।

अन्वय—अलसं, नाभि (न-अ-भि), लसन्नाभि, अनङ्गस्य परमास्त्रं नारीणां कदम्बकम् कस्य मनः नो रमयेत् ।

मन्द गति से चलने वाली, भीरु स्वभाव वाली, सुन्दर नाभि धारण करने वाली तथा कामदेव का अमोघ अस्त्र ये नारियाँ किसके मन को हरण नहीं कर लेतीं ।२४।

इस पद्य में प्रथम पाद का अन्त्यार्द्ध द्वितीय पाद के आद्यार्द्ध में आवृत्त हुआ है । अतः यहाँ प्रथम 'व्यस्त' अन्तादिक यमक है ।

अन्वय—पथिकाः काम-शिखि-धूम-शिखामिव पद्मालय-अलीनां, लय-आलीनां, इमां महा-आवलीं पश्यन्ति ।

द्वितीयोदाहरणमाह—

पश्यन्ति पथिकाः कामशिखिधूमशिखामिव ।
इमां पद्मालयालीनां लयालीनां महाबलीम् ॥२५॥

पश्यन्तीति । पद्मान्यालयो येषां ते च तेऽलयश्च भ्रमराश्च तेषां महावलीं दीर्घश्रेणीमिमां पथिकाः पान्थाः पश्यन्ति । कीदृशीम् । लयेनान्योन्यश्लेषेणालीनां संबद्धाम् । कामशिखिधूमशिखामिव स्मरानलधूमलेखामिव । इति व्यस्तोदाहरणे ॥

समस्तोदाहरणमाह—

पुष्यन्विलासं नारीणां सन्नारीणां कुलक्षयम् ।
आ कल्पं वसुधासार सुधासार जगज्जय ॥२६॥

पुष्यन्निति । हे वसुधासार भूप्रधान नृप, आ कल्पं युगान्तं यावज्जगद्भुवनं जय । कीदृश । सुधासार अमृतवेगवर्ष । किं कुर्वन् । पुष्यन्पुष्टिं नयन् । कम् विलासम् । कासाम् । नारीणाम् । तथा सन्नानामवसादं गतानामरीणां रिपूणां कुलक्षयमन्वायान्तं पुष्यन् । अन्तर्भावितकारितार्थोऽत्र पुषिः सकर्मकः ॥

भेदान्तराण्याह—

द्वैतीयमन्यमर्धं परिवृत्तमनन्तरे भवेन्मध्यम्
मध्यसमस्तान्तादिकयोगादपि जायते वंशः ॥२७॥

प्रवासी लोग कमलों के कोष में रहने वाले भ्रमरों की परस्पर सम्बद्ध दीर्घ पंक्ति को कामाग्नि की धूमशिखा समझते हैं ।२५।

इस पद्य में तृतीय पाद का अन्त्यार्द्ध चतुर्थ पाद के आद्यार्द्ध में आवृत्त हुआ है। अतः यहाँ द्वितीय व्यस्त अन्तादिक यमक है ।

अन्वय—वसुधासार ! सुधासार ! (त्वम्) नारीणां विलासं पुष्यन् (तथा) सन्न-अरीणां कुलक्षयं (पुष्यन्) आकल्पं जगत् जय ।

हे भूमण्डल के रत्नरूप अमृतवर्षी राजन् ! आप नारियों को विलास-सुख प्रदान करते हुए तथा विषादग्रस्त शत्रुओं को समूल नष्ट करते हुए जगज्जयी बनो ।२६।

इस पद्य में प्रथम पाद का अन्त्यार्द्ध ('सं नारीणां') द्वितीय पाद के आद्यार्द्ध में तथा तृतीय पाद का अन्त्यार्द्ध ('सुधासार') चतुर्थ पाद के आद्यार्द्ध में आवृत्त हुआ है । अतः यहाँ समस्त अन्तादिक यमक है ।

द्वितीय पाद के अन्तिम अर्द्धभाग की आवृत्ति तृतीय पाद के अर्द्धभाग में होने पर मध्य यमक माना जाता है ।

मध्य और समस्त नामक अन्तादिक के योग का नाम वंश यमक है ।२७।

द्वैतीयमिति। द्वितीयपादस्यान्त्यार्धं तृतीयपादाद्यर्धे परिवृत्तं मध्याख्यं यमकं जनयति। एतस्य मध्यस्य पूर्वोक्तसमस्तान्तादिकस्य योगे वंशो नाम यमकम्। समस्तग्रहणं व्यस्तान्तादिकनिवृत्त्यर्थम्। तन्निवृत्तिस्तु लक्ष्यदर्शनात्, न त्वसंभवात्। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। अपिः समुच्चये॥

तत्रोदाहरणमाह—

समस्तभुवनव्यापियशसस्तरसेहते।
रसेहते प्रियं कर्तुं प्राणैरपि महीपते॥२८॥

समस्तेति। हे महीपते भूपते, तवेहात्र रसा पृथ्वी प्राणैरपि। आस्तां धनादिभिः। प्रियं हितं कर्तुमीहते चेष्टते। तरसा झगिति। कीदृशस्य ते। समस्तभुवनव्यापियशसः सकलजगद्व्यापिश्लोकस्य। इति मध्यः॥

अथ वंशः—

ग्रीष्मेण महिमानीतो हिमानीतोयशोभितः।
यशोऽभितः पर्वतस्य पर्व तस्य हि तन्महत्॥२९॥

ग्रीष्मेणेति। ग्रीष्मेण निदाघेन पर्वतस्य शैलस्य महिमा माहात्म्यमानीतः। कीदृशः। महद्धिमं हिमानी ततः स्रुतेन तोयेनाम्बुना शोभितो राजितः। हि यस्मात्तस्य पर्वतस्य तद्धिमानीतोयमभितः समन्ताद्यशो वर्तते। तथा पर्व महोत्सवश्च महन्महाप्रमाणम्॥

अन्वय—महीपते! इह रसा समस्तभुवनव्यापियशसः ते प्रियं प्राणैरपि कर्तुं तरसा ईहते।

हे राजन्! आपका यश समस्त संसार में व्याप्त है। यह पृथ्वी अपने प्राणों से भी आपके अभीष्ट सम्पादन के अिए आतुर है।२८।

इस पद्य में द्वितीय पाद का अन्त्यार्द्ध ('रसेहते') तृतीय पाद के आद्यार्द्ध में आवृत्त होने से मध्य अन्तादिक यमक है।

अन्वय—ग्रीष्मेण हिमानी-तोय-शोभितः पर्वतस्य महिमा आनीतः। हि तस्य (पर्वतस्य) अभितः यशः पर्व (च) महत् (प्रमाणम्)

ग्रीष्म ऋतु पर्वत-जैसी विशिष्टता धारण कर रही है, क्योंकि यह बर्फ के बहते हुए पानी से शोभित है और प्रसन्नता का कारण है, इधर बहते हुए निर्झर उसका यश हैं और वह पर्वों (पेरवों) से युक्त है।२९।

इस पद्य में प्रथम पाद का अन्त्यार्द्ध ('हिमानीतो') द्वितीय पाद के आद्यार्द्ध में, द्वितीय पाद का अन्त्यार्द्ध ('यशोभितः') तृतीय पाद के आद्यार्द्ध में और तृतीय

पुनर्भेदमाह—

आवृत्तं प्रथमादौ द्वितीयमर्धं चतुर्थपादस्य ।
वंशश्च चक्रकाख्यं षष्ठं चान्तादिकं यमकम् ॥३०॥

आवृत्तमिति । चतुर्थपादद्वितीयार्धं प्रथमपादाद्यर्धेन सहावृत्तं पूर्वोक्तवंशश्चेति यमकयोगे चक्रकं नाम यमकम् । षष्ठोऽन्तादिकभेदः । एकश्चकारो वंशकसमुच्चये द्वितीयश्च चक्रस्यान्तादिकमध्ये समुच्चयार्थः ॥

सभाजनं समानीय स मानी यः स्फुटन्नपि ।
स्फुटं न पिहितं चक्रे हितं चक्रे सभाजनम् ॥३१॥

सभाजनमिति । स एव मानी मनस्वी यश्चक्रे राष्ट्रे हितं चक्रेऽनुकूलं चकार । किं कृत्वा । सभाजनं सभालोकं समानीय सम्यगात्मसमीपं प्रापय्य । सभ्यानां विदितं कृत्वेत्यर्थः । कथं हितं चक्रे । पिहितं गुप्तम्, न स्फुटं प्रकटम् । अविकत्थनात् । किं कुर्वन्नपि । स्फुटन्नपि पीडितोऽपि । कीदृशं सभाजनम् । सभाजनं प्रीतिदर्शनम् । लक्षणं सर्वत्र स्वधिया योज्यम् । अत्र च सप्तमोऽप्येष भेदः संभवति । यत्र केवलमेव प्रथमाद्यर्द्धे चतुर्थान्त्यार्धमावर्त्यते स तु पूर्वकविलक्ष्येषु दृश्यमानोऽपि कथमपि नोक्तः ॥

पाद का अन्त्यार्द्ध ('पर्वतस्य') चतुर्थ पाद के आद्यार्द्ध में आवृत्त है । अतः यहाँ वंश अन्तादिक यमक है ।

चतुर्थ पाद का द्वितीय अर्द्धभाग प्रथम पाद के आदि में आवृत्त हो तथा साथ ही उक्त 'वंश' यमक का योग भी हो, वहाँ 'चक्रक' नामक यमक माना जाता है । इस प्रकार अन्तादिक यमक छः प्रकार का हुआ [दो प्रकार का व्यस्त, एक समस्त, एक मध्य, एक वंश और एक चक्रक ।] ।३०।

अन्वय—स एव मानी यः स्फुटन्नपि सभाजनं, सभा-जनं समानीय चक्रे पिहितं, न स्फुटं हितं चक्रे ।

इस पद्य में प्रथम पाद का अन्त्यार्द्ध ('समानीय') द्वितीय पाद के आद्यार्द्ध में, द्वितीय पाद का अन्त्यार्द्ध ('स्फुटन्न') तृतीय पाद के आद्यार्द्ध में, और तृतीय पाद का अन्त्यार्द्ध (हितं चक्रे) चतुर्थ पाद के आद्यार्द्ध में आवृत्त हुआ है । [यहाँ तक 'वंश' यमक हुआ ।] इसके अतिरिक्त इस पद्य में चतुर्थ का अन्त्यार्द्ध (सभाजनम्) प्रथमपाद के आद्यार्द्ध में आवृत्त हुआ है । अतः इस पद्य में 'चक्रक' नामक अन्तादिक यमक है ।

[नमिसाधु के अनुसार उक्त छः भेदों के अतिरिक्त 'अन्तादिक' यमक का सातवाँ भेद भी सम्भव है और जिसके उदाहरण भी पूर्व कवियों के काव्यों में मिल जाते हैं, किन्तु रुद्रट द्वारा यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया गया । वह इस प्रकार है— जहाँ केवल चतुर्थ पाद के अन्त्यार्द्ध की प्रथम पाद के आद्यार्द्ध में आवृत्ति हो ।]

अथाद्यन्तकभेदानाह—

प्रथमादिप्रथमार्धैः परिवृत्तान्यत्र सार्धमर्धानि ।
अन्त्यान्यनन्तराणां जनयन्त्याद्यन्तकं नाम ॥ ३२ ॥

प्रथमादीति । प्रथमद्वितीयतृतीयपादप्रथमार्धैः सार्धमनन्तराणां द्वितीयतृतीयचतुर्थ-पादानामन्त्यार्धानि परिवृत्तानि यमकितानि सन्त्याद्यन्तकसंज्ञकं यमकं जनयन्ति ॥

किमेकभेदमेवेदम् । नेत्याह—

इदमप्यन्तादिकवत्क्रमेण षोढैव भिद्यते भूयः ।
अस्योदाहरणानां तेनैव च दर्शितो मार्गः ॥ ३३ ॥

इदमिति । न केवलमन्तादिकमिदमप्याद्यन्तकं तेनैव क्रमेण षोढा षड्भिर्भेदैर्भिद्यते । भूयः पुनः यथा प्रथमाद्यर्धे द्वितीयपादान्त्यार्धेन सह यमकिते तृतीयाद्यर्धे चतुर्थान्त्यार्धेन सह व्यस्तमाद्यन्तकं द्विधा तदुभययोगे समस्तमिति तृतीयो भेदः । द्वितीयाद्यार्धं तृतीयान्त्यार्धेन सह मध्यनामा चतुर्थः । मध्यसमस्ताद्यन्तकयोगे वंशः पञ्चमभेदः । प्रथमान्त्यार्धचतुर्थाद्यर्धसारूप्ये वंशे च युगपत्कृते चक्रकं नाम षष्ठः । पूर्ववच्च सप्तमो भेदः संभवतीति यत्र प्रथमाद्यर्धचतुर्थान्त्यभागयोः सारूप्यम् । अस्य च निदर्शनानां तेनैवान्तादिकेन मार्गो दर्शितो दिक्प्रदर्शनं कृतमिति नोदाहरणं दत्तम् ॥

भूयो भेदमाह—

प्रथमतृतीयाद्यर्धे तदनन्तरचरमयोः परावृत्ते ।
भवति समस्तान्तादिकयोगादप्यर्धपरिवृत्तिः ॥ ३४ ॥

प्रथमेति । प्रथमाद्यर्धं द्वितीयपादान्त्यार्धेन तृतीयाद्यर्धं चतुर्थान्त्यार्धेन यमकितं समस्तान्तादिकं चेत्युभययोगेऽर्धपरिवृत्तिर्नाम भवति ॥

आद्यन्तक यमक

प्रथम, द्वितीय और तृतीय पाद के प्रथमार्द्ध भाग क्रमशः द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पादों के अन्तिम अर्द्धभागों में आवृत्त होने पर 'आद्यन्तक' नामक यमक कहलाता है ।३२।

आद्यन्तक यमक के भेद

इस आद्यन्तक यमक के भी अन्तादिक के समान पुनः छः भेद होते हैं । इनके उदाहरण उक्त उदाहरणों के अनुरूप जान लेने चाहिए ।३३।

यमक का अन्य भेद—अर्द्धवृत्ति

प्रथम पाद का प्रथमार्द्ध द्वितीय पाद के अन्तिम भाग में तथा तृतीय पाद का प्रथमार्द्ध चतुर्थ पाद के अन्तिम भाग में आवृत्त होने के साथ-साथ यदि समस्त नामक

यथा—

ससार साकं दर्पेण कंदर्पेण ससारसा ।
शरन्नवाना बिभ्राणा नाविभ्राणा शरं नवा ।। ३५ ।।

ससारेति । कंदर्पेण कामेन साकं सार्धं दर्पेण वेगेन शरत्ससार प्रसृता । कीदृशी सा । ससारसा सह सारसैः पक्षिविशेषैर्वर्तते या सा । तथा नवानि नूतनान्यनांसि शकटानि यस्यां सा नवाना: । तथा शरं काण्डतृणविशेषं बिभ्राणा धारयमाणा । तथा भ्राणनं भ्राणः शब्दः । वीनां पक्षिणां भ्राणो विभ्राणो न विद्यते विभ्राणो यस्यां साऽविभ्राणा नैवंविधा । सपक्षिरुतेत्यर्थः । तथा नवा प्रत्यग्रा तत्कालप्रवृत्तत्वात् ।।

पुनर्भेदान्तराण्याह—

पादसमुद्गकसंज्ञं तत्रावृत्तानि कुर्वते तच्च ।
अन्तरितानन्तरितव्यस्तसमस्तेषु पादेषु ।। ३६ ।।

पादेति । चतुर्णामपि पादानां यान्यर्धानि तानि तत्रैव पादे परिवृत्तानि सन्ति पादे पादे समुद्गकसादृश्यात्पादसमुद्गकं नाम यमकं कुर्वन्ति । तच्च पादेष्वन्तरितेषु व्यवहितेष्वनन्तरितेषु च तथा व्यस्तेषु केवलेषु समस्तेषु च पादेषु बहुधा भवति । ते च बहवः

अन्तादिक का भी योग हो तो वहाँ 'अर्धपरिवृत्ति' नामक यमक स्वीकृत किया जाता है ।३४।

अन्वय—स-सारसा, नव-अना, शरं बिभ्राणा, न-अ-वि-भ्राणा, नवा शरत् कंदर्पेण साकं दर्पेण ससार ।

यह नई-नई शरद् ऋतु कामदेव को साथ लेकर बड़े गर्व से सर्वत्र व्याप्त हो रही है । इस ऋतु में सारस पक्षी यत्र-तत्र विहार करते दिखाई देते हैं । नये-नये शकट (छकड़े) चलते हैं । शर नाम की घास यत्र-तत्र उग रही है, तथा पक्षियों का मनोहर शब्द दिशाओं को मुखरित कर रहा है ।३५।

इस पद्य में (१) प्रथम पाद का आद्यर्द्ध द्वितीय पाद के अन्त्यार्द्ध में आवृत्त है, (२) तृतीय पाद का आद्यर्द्ध चतुर्थ पाद के अन्त्यार्द्ध में आवृत्त है, (३) तथा इसके अतिरिक्त यहाँ समस्त अन्तादिक यमक भी है—अर्थात् प्रथम पाद का अन्त्यार्द्ध द्वितीय पाद के आद्यर्द्ध में तथा तृतीय पाद का अन्त्यार्द्ध चतुर्थ पाद के आद्यर्द्ध में आवृत्त है । अतः यहाँ अर्द्धपरिवृत्ति नामक यमक है ।

यमक का एक अन्य भेद : पादसमुद्गक

चारों पादों के अर्द्धभाग यदि वहीं अपने-अपने पादों में ही आवृत्त किये जाते हैं तो 'पादसमुद्गक' नामक यमक माना जाता है। वह यमक अन्तरित और अनन्तरित तथा व्यस्त और समस्त पादों में होता है ।३६।

प्रकाराः पञ्चदश । कथमन्तरितं तावत्पञ्चधा । प्रथमतृतीययोर्द्वितीयेन, द्वितीयचतुर्थयोस्तृतीयेन, प्रथमतृतीयचतुर्थानां द्वितीयेन, प्रथमद्वितीयचतुर्थानां तृतीयेनान्तरणम् । इत्येकान्तरितं चतुर्भेदम् । प्रथमचतुर्थयोस्तु द्वितीयतृतीयाभ्यामिति द्व्यन्तरितमेकमेव । इत्यन्तरितं पञ्चभेदम् । अनन्तरितमपि प्रथमद्वितीययोर्युगपद्द्वितीयतृतीययोर्वा तृतीयचतुर्थयोर्वेति द्वियोगे त्रिभेदम् । त्रियोगेण तु प्रथमद्वितीयतृतीयानां द्वितीयतृतीयचतुर्थानां चेति द्विभेदम् । एवमेकत्रानन्तरितं तत्पञ्चधा । तथा व्यस्तेषु चतुर्षु पादेषु चत्वारो भेदाः, समस्तेषु त्वेक एव भेदः । इत्येवं सर्वे पञ्चदश ॥

तत्राद्येऽन्तरितभेदद्वये तथा पञ्चदशे समस्तजभेदे च दिक्प्रदर्शनायोदाहरणत्रयमाह । यथा—

मुदा सेनामुदासेनादसौ तामसमञ्जसम् ।
महीनाथमहीनाथ जयश्रीरालिलिङ्ग तम् ॥ ३७ ॥

[अन्तरित से अभिप्राय है दो अथवा तीन पादों के बीच व्यवधान' और अनन्तरित से अभिप्राय है दो पादों के बीच व्यवधान का अभाव । पाद्समुद्गक यमक के निम्नोक्त १५ प्रकार सम्भव हैं—अन्तरित के पाँच, अनन्तरित के पाँच, व्यस्त के चार और समस्त का एक ।

अन्तरित के पाँच भेद—(१) प्रथम और तृतीय पादों में समुगद्क किन्तु द्वितीय पाद में नहीं, (२) द्वितीय और चतुर्थ में समुद्गक किन्तु तृतीय पाद में नहीं, (३) प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पादों में समुद्गक, किन्तु द्वितीय पाद में नहीं, (४) प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पादों में समुद्गक, किन्तु तृतीय पाद में नहीं । (५) प्रथम और चतुर्थ पादों में समुद्गक किन्तु द्वितीय और तृतीय पादों में नहीं ।

अनन्तरित के पाँच भेद—(१) प्रथम और द्वितीय पाद में समुद्गक, (२) द्वितीय और तृतीय पाद में समुद्गक, (३) तृतीय और चतुर्थ पाद में समुद्गक, (४) प्रथम, द्वितीय और तृतीय पादों में समुद्गक, (५) द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पादों में समुद्गक ।

व्यस्त के चार भेद—चारों पादों में से किसी एक-एक में समुद्गक ।

समस्त का एक भेद—चारों पादों में समुद्गक ।]

अन्तरित पादसमुद्गक का उदाहरण

अन्वय—असौ तां सेनां मुदा इनात् असमञ्जसम् उदास । अथ अहीना जयश्रीः तं महीनाथं आलिलिङ्ग ।

उस महीनाथ राजा ने उस (शत्रु) सेना को हर्षपूर्वक (अनायास ही) उसके स्वामी से पृथक कर दिया । अर्थात् सेनापति अथवा राजा को मारकर सेना को अनाथ

मुदेति । असौ महीनाथो राजा तां सेनां मुदा हर्षेण इनात्स्वामिनः सेनाभर्तुः सकाशादुदास चिक्षेप । वियोजितवानित्यर्थः । कथम् । असमञ्जसमितस्ततः । अथानन्तरं महीनाथमहीना संपूर्णा जयलक्ष्मीरालिलिङ्ग परिषस्वजे ॥

द्वितीयोदाहरणमाह—

यत्त्वया शात्रवं जन्ये मदायतमदायत ।
तेन त्वामनुरक्तेयं रसायत रसायत ॥ ३८ ॥

यदिति । कश्चिद्राजानमाह—यद्यस्मात्त्वया शात्रवं शत्रुगणो जन्ये रणेऽदायतालूयत तेन हेतुनेयं रसा पृथ्व्यनुरक्ता सती त्वामयतागता । 'अय गतौ' इत्यस्य रूपम् । कीदृशम् । शात्रवं मथ्नातीति मत् रिपुमथनसमर्थम् । आयतं विस्तीर्णम् । यद्वा मदेनायतम् । कीदृशी रसा । आयतरसा त्वां प्रति दीर्घाभिलाषा ॥

तृतीयोदाहरणमाह—

रसासार रसासार विदा रणविदारण ।
भवतारम्भवतारं महीयतमहीयत ॥ ३९ ॥

रसासारेति । हे रसासार भूश्रेष्ठ, तथा रसानां शृङ्गारादीनामासार वेगवर्ष-

---

कर दिया । तब सम्पूर्ण जयलक्ष्मी ने महीनाथ का आलिङ्गन किया ।३७।

इस पद्य में प्रथम और तृतीय पादों में समुद्‌गक है अर्थात् इन पादों का पूर्वार्द्ध इन्हीं पादों के उत्तरार्द्ध में आवृत्त हुआ है, तथा समुद्‌गक युक्त इन प्रथम और तृतीय पादों के बीच समुद्‌गक-रहित द्वितीय पाद का व्यवधान है । अतः यहाँ प्रथम प्रकार का अन्तरित समुद्‌गक यमक है ।

दूसरा उदाहरण

अन्वय—यत् त्वया जन्ये शात्रवं अदायत्, तेन इयं आयतरसा रसा मत् आयतं (अथवा मद-आयतं) त्वां (प्रति) अनुरक्ता (सती) अयत ।

हे राजन् ! तुमने रण-क्षेत्र में अभिमानी शत्रुओं को काट-काट कर गिराया है इसलिये यह पृथ्वी तुम पर अनुरक्त होकर बड़ी अभिलाषा से तुम्हारे पास आई है ।३८।

यहाँ द्वितीय और चतुर्थ पादों में समुद्‌गक है और इन दोनों के बीच तृतीय में नहीं है । अतः द्वितीय प्रकार का अन्तरित समुद्‌गक यमक है ।

अन्तरित पाद समुद्‌गक का उदाहरण

अन्वय—रसा-सार ! रस-आसार ! रण-विदारण ! विदा आरम्भवता भवता मही-यतम् आरं अहीयत ।

हे भूमण्डल के सार ! शृङ्गारादि रसों के उद्दाम प्रवाह रूप ! एवं युद्ध-विशारद राजन् ! उत्साही एवं कुशल आपने समस्त पृथ्वी के शत्रुओं को जीत लिया है ।३९।

तुल्य, तथा रणविदारण समरभेदक, भवता त्वया, विदा पण्डितेन, आरम्भवता सोद्योगेन, आरं शात्रवमहीयत हानिं नीतम्। जितमित्यर्थः। कीदृशम्। मह्यां पृथिव्यां यतं संबद्धम्। हर्म्यादिवियोजितत्वादिति। अन्यदेशावृत्तौ मनोहारित्वमाश्रित्यैते त्रिशद्भेदा जाताः। यथान्तादिके षट्कमाद्यन्तके षट्कमिति द्वादश संभवन्ति। सप्तमभेदाभ्यां सह चतुर्दश। पञ्चदशार्धपरिवृत्तिः तथामी पादसमुद्गकभेदाश्च पञ्चदशेति। यथेष्टं चावृत्ताव-संख्याता भेदाः संभवन्ति। ते तु नोक्ताः कविलक्ष्येष्वदर्शनादरम्यत्वाच्चेति ॥

अधुना प्रकारान्तरमाह—

आवृत्तानि तु तस्मिन्नाद्यर्धान्यर्धशो विभक्तानि।
वक्त्रं तथा शिखान्त्यान्युभयानि च जायते माला ॥४०॥

आवृत्तानीति। पादानामाद्यान्यर्धान्यर्धशः खण्डितानि तस्मिन्नेव खण्डितेऽर्धे यमकितानि वक्त्रं नाम यमकं जनयन्ति। तथान्त्यार्धान्यर्धीकृतानि तस्मिन्नेव यमकितानि शिखां जनयन्तीति। वक्त्रशिखयोश्च युगपद्योगे माला भवति।

क्रमेणैषामुदाहरणत्रयमाह—

घनाघनाभिनीलानामास्थामास्थाय शाश्वतीम्।
चलाचलापि कमले लीनालीनामिहावली ॥४१॥

घनेति। इह कमले पद्मेऽलीनां भ्रमराणामावली पङ्क्तिर्लीना श्लिष्टा। कीदृक्। चलाचलापि चञ्चलापि। कीदृशामलीनाम्। घनाघना वार्षुकमेघास्तद्वदभि-

---

प्रथम और द्वितीय पादों में समुद्गक होने के कारण, इस पद्य में प्रथम प्रकार का 'अनन्तरित समुद्गक' यमक है।

यमक के अन्य तीन भेद

पादों के प्रथम अर्द्धभाग का अर्द्धभाग अर्थात् चतुर्थांश यदि उसी प्रथम अर्द्ध-भाग में आवृत्त हो तो उसे 'वक्त्र यमक' कहते हैं। पादों के द्वितीय अर्द्धभाग का अर्द्ध-भाग अर्थात् चतुर्थांश यदि उसी द्वितीय अर्द्धभाग में आवृत्त हो तो 'शिखा यमक' कहते हैं। और यदि किसी पाद में दोनों का संयोग हो तो उसे 'माला' कहते हैं।४०।

वक्त्र यमक का उदाहरण

अन्वय—इह कमले घनाघन-अभिनीलानां अलीनां चलाचलापि आवली शाश्वतीं आस्थां आस्थाय लीना।

इस कमल में वर्षाकालिक मेघों की तरह श्यामल एवं चञ्चल भ्रमरों की पंक्ति स्थिरता के साथ लीन होकर स्थित है।४१।

चारों पादों के प्रथमार्द्ध का चतुर्थांश उन्हीं पादों के प्रथमार्द्ध में ही आवृत्त होने के कारण यहाँ वक्त्र यमक है।

नीलानां श्यामानाम् । किं कृत्वा । लीनां शाश्वतीं स्थिरामास्थां वृत्तिमास्थाय कृत्वा । वक्त्रमिदम् ।

यासां चित्ते मानोऽमानो नारीर्भूयोऽरं ता रन्ता ।
सारप्रेमा सन्नासन्ना जायेतैवानन्ता नन्ता ॥४२॥

यासामिति । सन्ना सत्पुरुषो भूयः पुनररं शीघ्रं जायेतैव भवेदेव । कीदृशः । रन्ता रमणशीलः । रमेरन्तर्भूतकारितार्थाद्रमयितेत्यर्थः । कास्ताः । नारीः । कीदृशीः । अनन्ताः प्रचुरास्तथा आसन्ना अभ्यर्णाः । यासां नारीणां चित्ते मनसि मानोऽहंकारोऽमानोऽतिबहुः । कीदृशः । सन्ना नन्ता नम्रः । सारप्रेमा स्थिरप्रीतिः । इति शिखा ।

भीताभीता सन्नासन्ना सेना सेनागत्यागत्या ।
धीराधीराह त्वा हत्वा संत्रासं त्रायस्वायस्वा ॥४३॥

भीतेति । कश्चिद्दूतो राजानमाह—हे धीर निर्भय, आधीर मनोदुःखप्रेरक, सा परकीया सेना चमूः सेना सस्वामिका त्वा भवन्तमाह ब्रूते । कीदृशी । भीता त्रस्ता, अभीता संमुखमागता, सन्ना सखेदा, आसन्ना निकटवर्तिनी, आगत्य समेत्य, अगत्या गत्यन्तराभावेन । किं तदाह—हत्वा विनाश्य, संत्रासं भयम्, त्रायस्व पालय । पुनः कीदृशी । आयस्वा आयस्त्वत्सकाशादागमनमेव स्वं धनं यस्याः । इति माला ॥

शिखा यमक का उदाहरण

अन्वय—यासां चित्ते अमानः मानः, ताः अनन्ताः, आसन्ना नारीः रन्ता, नन्ता, सारप्रेमा, सत्-ना भूयः अरं जायेत एव ।

अतिशय मानवती असंख्य तथा समीप रहनेवाली स्त्रियों से रमण करनेवाला, विनम्र तथा स्थिरप्रेम से युक्त सत्पुरुष फिर शीघ्र होना चाहिए।४२।

चारों पादों के द्वितीयार्द्ध का चतुर्थांश उन्हीं पादों के द्वितीयार्द्ध में आवृत्त होने के कारण यहाँ शिखा यमक है ।

माला यमक का उदाहरण

अन्वय—धीर ! आधी-र ! सा भीता, अभि-इता, सन्ना, आसन्ना, आय-स्वा स-इना सेना अगत्या आगत्य त्वा आह संत्रासं हत्वा त्रायस्व ।

एक दूत राजा से कहता है—हे निर्भय एवं मानसिक दुःखों के विनाशक राजन् ! शत्रु-सेना अपने स्वामी के साथ आपके पास आकर कहती है कि हमारे भय का नाश कर हमारी रक्षा करो । वह सेना खिन्न तथा भयभीत होकर आपके पास आई है, उसके पास अब और कोई चारा नहीं रहा । आपकी शरण में आना ही उसका एकमात्र धन है, अर्थात् उपाय है ।४३।

इस पद्य में वक्त्र और शिखा का योग होने के कारण माला यमक है ।

भूयोऽप्याह—

मध्यान्यर्धार्धानि तु मध्यं कुर्वन्ति तत्र परिवृत्त्या ।
आद्यन्तान्याद्यन्तं काञ्चीयमकं तथैकत्र ।।४४।।

मध्यानीति । तुः पुनरर्थे । मध्यान्यर्धार्धानि पुनस्तत्रैव मध्ये परिवृत्त्या मध्यं नाम यमकं जनयन्ति । एवमाद्यन्तान्यर्धार्धानि परिवृत्त्याद्यन्तं नाम कुर्वन्ति । तदुभय-योगे समकालं काञ्चीयमकं जनयन्ति । तथाशब्दः समुच्चये ।

तत्रोदाहरणत्रयं क्रमेणाह—

सन्तोऽवत बत प्राणानिमानिह निहन्ति नः ।
सदाजनो जनोऽयं हि बोद्धुं सदसदक्षमः ।।४५।।

सन्त इति । कश्चिदाह—हे सन्तः शिष्टाः, नोऽस्माकं प्राणानवत रक्षत । हि यस्मादयं जनो लोक इहात्रेमान्प्राणान्निहन्ति हिनस्ति । बतेति खेदे । कीदृशो जनः । सदा-जनः सतां क्षेप्ता । तथा सच्चासच्च युक्तायुक्तं बोद्धुं ज्ञातुमक्षमोऽसमर्थः । इति मध्यम् ।

यमक के अन्य भेद

मध्य अर्द्धार्द्ध (चतुर्थांश) आवृत्त हो तो उसे मध्य यमक कहते हैं, आद्यन्त [अर्द्धार्द्ध अर्थात् चतुर्थांश आवृत्त हो तो उसे] 'आद्यन्त' कहते हैं, [तथा इन दोनों मध्य और आद्यन्त के] एकत्र [प्रयोग] को काञ्ची यमक कहते हैं ।४४।

इसका तात्पर्य यह है—पाद के प्रथम अर्द्धभाग का अन्तिम आधा भाग (अर्थात् चतुर्थांश) यदि द्वितीय अर्द्धभाग के प्रथम अर्द्धभाग में (अर्थात् चतुर्थांश रूप में) आवृत्त हो तो उसे 'मध्य यमक' कहते हैं।

यदि पाद के प्रथम अर्द्धभाग का प्रथम अर्द्धभाग अर्थात् चतुर्थांश उसी पाद के द्वितीय अर्द्धभाग से द्वितीय अर्द्धभाग अर्थात् चतुर्थांश के रूप में आवृत्त हो तो उसे 'आद्यन्त यमक' कहते हैं ।

यदि मध्य और आद्यन्त का योग किया जाए तो 'काञ्ची' नामक यमक कहाता है ।

मध्य यमक का उदाहरण

अन्वय—सन्तः ! नः प्राणान् अवत । हि अयं सदाजनः जनः इह इमान् प्राणान् निहन्ति बत । (अथच सः) सत्-असत् बोद्धुम् अक्षमः ।

हे सज्जनो ! हमारे प्राणों की रक्षा करो । यहाँ अविवेकी दुष्ट लोग प्राणों का हनन करने वाले हैं ।४५।

प्रस्तुत पद्य में बत-बत, निह-निह, जनो-जनो, सद-सद—पादों के इन मध्यवर्ती चतुर्थांश की आवृत्ति होने के कारण यहाँ मध्य यमक है ।

दीना दूनविषादीना शरापादितभीशरा ।
सेना तेन परासे ना रणे पुञ्जीवितेरणे ।।४६।।

दीना इति । कश्चित्कस्यापि कथयति—हे नः पुरुषः, तेन केनापि वीरेण रणे समरे सेना चमूः परासे क्षिप्ता । कीदृशे रणे पुंजीवितस्येरणे क्षेप्तरि । सेना कीदृशी । दीना निष्पौरुषा । तथा दूनः परितप्तो विषादी विषण्ण इनः स्वामी यस्याः सा तथाभूता । तथा शरैर्बाणैरापादिता भीर्भयं शरो हिंसा च यस्याः सा तथा इत्याद्यन्तम् ।

या मानीतानीतायामा लोकाधीरा धीरालोका ।
सेनासन्नासन्ना सेना सारं हत्वाह त्वा सारम् ।।४७।।

येति । कश्चिद्दूतः स्वसेनासंदेशं राज्ञः कथयति—सा त्वदीया सेना पृतना, आरं रिपुसमूहम्, हत्वा विनाश्य, आह ब्रवीति । त्वा भवन्तम् । किं ब्रवीति । सारं प्रधानं वस्तु । शत्रवो जिता इति निवेदयतीत्यर्थः । तस्यैव सारत्वादिति । कीदृशी । या मानिभिर्मनस्विभिरिताधिष्ठिता । तथा आनीतः संपादितः परबलस्वीकारेणायामो विस्तारो यस्याः सा तथाभूता । लोकानामाधीर्मनःपीडा ईरयति सा लोकाधीरा । तथा धीरो निर्भय आलोकः प्रेक्षणं यस्याः सा तथाभूता । सेना सदण्डनायका, असन्ना सोत्साहा, आसन्ना निकटा । इति काञ्चीयमकम् । पादसमुद्गकभेदवदन्तादिकादियमकभेदवच्चेहापि सर्व एव भेदा द्रष्टव्या इति ।।

आद्यन्त यमक का उदाहरण

अन्वय—नः ! तेन पुंजीवित-ईरणे रणे दीना दून-विषादी-इना शर-आपादित-भी-शरा सेना परासे ।

एक व्यक्ति किसी से कह रहा है—हे भद्रजन ! उस वीर पुरुष ने प्राणों का हरण करने वाले रण में सन्तप्त तथा विषण्ण स्वामी से युक्त, शर-वर्षा से नष्ट हुई तथा डरी हुई उत्साहहीन सेना को तितर-बितर कर दिया ।४६।

प्रस्तुत पद्य में प्रत्येक पाद का प्रथम चतुर्थांश उसी पाद के अन्तिम चतुर्थांश के रूप से आवृत्त होने के कारण 'आद्यन्त यमक' है ।

माला यमक का उदाहरण

अन्वय—या मानी-इता, आनीत-आयामा, लोक-आधी-रा, धीर-आलोका सा स-इना, असन्ना, आसन्ना सेना आरं हत्वा त्वा सारं आह ।

एक दूत राजा से अपनी सेना का वृत्तान्त सुना रहा है—हे राजन् ! सेनानायक की अध्यक्षता में आपकी सेना शत्रुओं को मारकर आपसे विजय का समाचार निवेदित करती है । इस सेना के सैनिक मनस्वी तथा उत्साही हैं । पराजित शत्रुओं

'पादं द्विधा त्रिधा वा विभज्य' (३।२०) इत्युक्तम्, तत्र द्विधा विभक्ते यमकान्याख्यायेदानीं त्रिधा विभक्तस्याह—

पादस्त्रिधा विभक्तः सकलस्तस्यादिमध्यपर्यन्ताः ।
तेष्वपरत्रावृत्त्या दश दश यमकानि जनयन्ति ।।४८।।

पाद इति । यस्य पादस्य त्रिधा भागः संभवति स त्रिधा खण्डितस्ततश्च तस्यादिमध्यान्तभागा अपरत्र पादान्तरे तेष्वेव प्रथमद्वितीयतृतीयभागेषु यथाक्रमं यमकिता दश दश यमकानि पूर्ववज्जनयन्ति । एवं त्रिंशद्यमकानि भवन्ति ।।

एतदाह—

सुमतिरिमानि त्रीण्यपि पादावृत्तिक्रमेण दशकानि ।
यमकानां जानीयात्तदुदाहरणानि तद्वच्च ।।४९।।

सुमतिरिति । एतानि यमकानां त्रीणि दशकानि प्राज्ञः पादावृत्तिक्रमेण मुखसंदंशादिसंज्ञाभिर्जानीयात् । तदुदाहरणान्यपि तद्वदेव तेनैव प्रकारेण । सर्वं चैतद् द्विधा विभक्तपाद इव यमकजातं ज्ञेयम् । केवलं तृतीयभागकृतो विशेषः ।

तदेवाह—

अन्तादिकमिव षोढा विभिन्नमेतत्करोति तावन्ति ।
यमकान्याद्यन्तकवत्तथापरामर्धपरिवृत्तिम् ।।५०।।

अन्तादिकमिति । यथान्तादिकमाद्यन्तकं च पूर्वत्र षोढा भिन्नं सत्प्रत्येकं षड्-

---

को अपनी सेना में प्रविष्ट कर लेने से यह विशाल हो गई है तथा लोगों के मानसिक सन्तापों का नाश करने वाली है ।४७।

प्रस्तुत पद्य में मध्य और आद्यन्त का योग होने के कारण 'काञ्ची यमक' है ।

[पीछे कह आये हैं कि पाद के दो अथवा तीन भाग करके उनकी आवृत्ति से अनेक यमक-भेद सम्भव हैं (देखिए ३।२०) । पाद के दो भाग करके अनेक भेद दिखाये गए हैं । अब आगे तीन भाग करके भेद दिखाये जाते हैं ।]

यदि पाद के तीन भाग—आदि, मध्य और अन्त के रूप में—करके उनकी परस्पर आवृत्ति की जाए तो दस प्रकार का यमक बन जाता है ।४८।

इस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति को पादों की परस्पर आवृत्ति के क्रम से उक्त तीन दशकों अर्थात् तीस प्रकार के यमक-भेदों के उदाहरण जानने चाहिए ।९४।

जैसे यह श्लेष अलंकार 'अन्तादिक' के [उक्त] छः भेदों में विभक्त है, तथा जैसे यह [श्लेष] अन्तादिक को भी छः भेदों [में] विभक्त करता है, उसी प्रकार यह श्लेष 'अर्धपरिवृत्ति' नामक अलंकार को भी [उत्पन्न] करता है ।५०।

यमकानि जनितवत्तथेदमपि । तथापरामन्यामर्धपरिवृत्तिं द्वेधाविभक्तपादवज्जनयति । तथाशब्दस्योभयत्र योगः । इति त्रयोदश यमकानि ॥

एषामुदाहरणानि कानीत्याह—

तद्वदुदाहरणान्यपि मन्तव्यानि त्रयोदशैतेषाम् ।

कृत्वार्धशश्च भागानिहापि सर्वं तथा रचयेत् ॥५१॥

तद्वदिति । उदाहरणान्यपि तद्वदेव त्रयोदश ज्ञेयानि । उपलक्षणं चैतत् । पादसमुद्गकवदिहापि पञ्चदशानां भेदानां संभवात्केवलमिह भागत्रयस्य सादृश्यम् । तत्र तु द्वयस्य पुनरपि भेदानाह—कृत्वार्धशश्चेत्यादि । यथा पूर्वत्रार्धार्धानि कृत्वा वक्त्रशिखामालामध्याद्यन्तकाञ्चीयमकानि कृतान्येवमिहापि कर्तव्यान्युदाहरणानि च देयानीति ॥

भूयो भेदान्तराण्याह—

स्थानाभिधानभाञ्जि त्रीण्यन्यानीति सन्ति यमकानि ।

आदिर्मध्येऽन्ते वा मध्योऽन्ते तत्र परिवृत्तः ॥५२॥

स्थानेति । त्रिधा विभक्ते पादेऽन्यानि त्रीणि वक्ष्यमाणानि यमकानि सन्ति । किं नामधेयानीत्याह—स्थानाभिधानभाञ्जीति । स्थानकृतमभिधानं भजन्ते यानि । कथमित्याह—आदिभागे मध्यभागेन यमकिते आदिमध्ययमकम् । आदिभागेऽन्त्येन चेत्तदाद्यन्तयमकम् । मध्यभागेऽन्त्येन यदि तदा मध्यान्तयमकम् ॥

तदुदाहरणत्रयं क्रमादाह—

स रणे सरणेन नृपो बलितावलितारिजनः ।

पदमाप दमात्स्वमतेरुचितं रुचितं च निजम् ॥५३॥

इसका आशय यह है कि अन्तादिक और आद्यन्तक के छः-छः भेदों के अतिरिक्त एक अन्य १३वाँ भेद भी होता है—अर्धपरिवृत्ति, जिसका तात्पर्य है पाद के आधे भाग की आवृत्ति ।

इसी प्रकार इन १३ यमक-भेदों के १३ उदाहरण भी जानने चाहिए । तथा आधे का आधा भाग करके भी [पूर्वोक्त वक्त्र, शिखा, माला आदि के समान] यहाँ भी इसी प्रकार के भेदों की रचना करनी चाहिए ।५१।

स्थान [के आधार पर] अभिधान अर्थात् नाम को धारण करनेवाले तीन यमक-भेद और होते हैं—(१) आदि की मध्य में आवृत्ति, (२) आदि की अन्त में आवृत्ति, (३) और मध्य की अन्त में आवृत्ति ।५२।

इनके क्रमशः तीन नाम इस प्रकार हैं—आदिमध्य-यमक, आद्यन्त-यमक और मध्यान्त-यमक ।

स इति । स कश्चिन्नृपो रणे समरे सरणेन यानेन तथा दमादुपशमाच्च हेतोः स्वमतेर्निजबुद्धेरुचितं योग्यं रुचितमिष्टं च निजं स्वकीयं पदं स्थानमाप लेभे । कीदृशोऽसौ । बलिता बलित्वं तया वलितो वेष्टितोऽरिजनः शत्रुलोको येन स तथाविधः । इत्यादिमध्यम् ॥

घनाघ नायं न नभा घनाघनानुदारयन्नेति मनोऽनु दारयन् ।
सखेऽदयं तामविलास खेदयन्नहीयसे गोरथवा न हीयसे ॥५४॥

घनेति । एतत्प्रावृषि पथिकस्य सुहृदोच्यते—हे घनाघ गृहाननुसरणाद्बहुपाप, अयमसौ नभाः श्रावणो मासो न नैति । अपि त्वायात्येव । नभःशब्दो मासवाचकः पुंलिङ्गः । कीदृशो नभाः । घनाघनान्सजलजलदानुदारयन्विस्तारयन् । अनु पश्चाच्च मनश्चित्तं दारयन्विपाटयन् । तथा हे सखे अविलास निर्लील, तां कान्तामदयं निर्दयं खेदयन्नुद्वेजयन्नहीयसे सर्पायिसे । अथवा गोर्बलीवर्दान्न हीयसे । बलीवर्द एवासीत्यर्थः । इत्याद्यन्तयमकम् ॥

आदिमध्य-यमक का उदाहरण

अन्वय—सः बलित-वलित-अरिजनः नृपः रणे सरणेन, दमात् स्वमतेः उचितं रुचितं च निजं पदम् आप ।

अपने पराक्रम से शत्रुओं को घेरकर इस राजा ने युद्ध में वीरता द्वारा तथा सामनीति का आश्रय लेकर अपनी बुद्धि के अनुकूल अभीष्ट पद प्राप्त कर लिया है ।५३।

उक्त पद्य में चारों पादों का तृतीयांश [सरणे, बलिता, पदमा, रुचितं रुचितं] अपने-अपने पादों के मध्य में आवृत्त हुआ है ।

आद्यन्त यमक का उदाहरण

अन्वय—घन-अघ ! घनाघनान् उदारयन्, अनु मनः दारयन् अयं नभाः न न एति । सखे ! अविलास ! तां अदयं खेदयन् अहीयसे अथवा गोः न हीयसे ।

एक मित्र किसी प्रवासी को कह रहा है—(घर न जाने के कारण) अरे महापापी ! जलपूर्ण मेघों का विस्तार करता हुआ, फिर मन को विदीर्ण करता हुआ क्या यह श्रावण का मास नहीं आ गया । हे विलासशून्य विरक्त पुरुष ! निर्दयतापूर्वक उस अपनी प्रिया को दुःख पहुँचाने वाले तुम सर्पतुल्य हो अथवा बैल से तो किसी प्रकार कम नहीं हो, अर्थात् मूर्ख हो ।५४।

उक्त पद्य में चारों पादों के प्रथम तृतीयांश [घनाघना, नुदारयन्, सखेदयं, नहीयसे] को उन्हीं पादों के अन्त में आवृत्त किया गया है ।

असतामहितो युधि सारतया रतया ।
स तयोरुरुचे रुरुचे परमेभवते भवते ॥५५॥

असतामिति । हे उरुरुचे विस्तीर्णकान्ते । अथवा उर्वी रुग्यस्य स तस्मै विस्तीर्ण-कान्तये । स कश्चिद्वीरो भवते तुभ्यं रुरुचे प्रीतिमुत्पादितवान् । तया जगत्प्रसिद्धया युधि रणे सारतयोत्कृष्टतया हेतुभूतया । कीदृश्या । रतया सक्तया । संवद्धयेत्यर्थः । कीदृशोऽसौ । असतां दुर्जनानामहितो द्रोहकारी । अत एव महितः पूजितः । भवते कीदृशाय । परमा उत्कृष्टा इभा हस्तिनो विद्यन्ते यस्य स तथा तस्मै ॥

अथोपसंहारं कुर्वन्ननियतदेशावयवयमकानामानन्त्यमाह—

यमकानां गतिरेषा देशावयवावपेक्षमाणानाम् ।
अनियतदेशावयवं तदपरमसंख्यं सदेवास्ति ॥५६॥

यमकानामिति । देश आदिमध्यान्तलक्षणः । अवयवोऽर्धत्रिभागादिः । तौ देशाव-यवावपेक्षमाणानामत्यजतां यमकानां गतिरेषा परिपाटीयं पूर्वोक्ता । यत्तु यमकं देशाव-यवौ नापेक्षते तदपरमसंख्यमसंख्यातम् । तच्च महाकविलक्ष्येषु सदेव साध्वेवास्ति विद्यते । एतदुक्तं भवति—स्वेच्छाकृतत्वेनानन्तत्वात्तस्य लक्षणं कर्तुं न शक्यते । केवलं महाकविलक्ष्यदर्शनाज्ज्ञेयम् ॥

मध्यान्त यमक का उदाहरण

अन्वय—उरुरुचे ! असतां अहितः सः तया युधि सारतया रतया परम-इभवते भवते रुरुचे ।

हे अतुल कान्तिमान् ! दुष्टों के अहितकारी उस वीर ने युद्ध में अपनी अनुपम वीरता से सुन्दर गजसेना रखनेवाले आपके हृदय में अपना स्थान बना लिया है ।५५।

इस पद्य में तीन पादों के मध्य भाग [रतया, रुरुचे, भवते] को अन्तिम भाग में आवृत्त किया गया है ।

इस प्रकार देश अर्थात् आदि, मध्य और अन्त और अवयव अर्थात् पाद के अर्द्धभाग अथवा तिहाई भाग की अपेक्षा रखनेवाले यमक की यही उक्त व्यवस्था है। किन्तु जिस यमक में देश और अवयव नियत नहीं है, उसके असंख्य भेद हैं और वह (उसका काव्यों में प्रयोग) सुन्दर होता है ।५६।

अनियत देश तथा अवयव यमक का उदाहरण

अन्वय—सा अलिनी तेन (दयितेन) सह निषेवितां कमलिनीं (सम्प्रति) दयितं विना न सहते । अधुना मधुना हृदि निहितं रतिसारं तं प्रियं अहर्निशं स्मरति ।

अत्र तु दिङ्मात्रप्रदर्शनार्थमाह—

कमलिनीमलिनी दयितं विना न सहते सह तेन निषेविताम् ।
तमधुना मधुना निहितं हृदि स्मरति सा रतिसारमहर्निशम् ।।५७।।

कमलिनीति । सालिनी भ्रमरी दयितं प्रियं विना कमलिनीं पद्मिनीं न सहते न क्षमते । तां दृष्ट्वा तप्यत इत्यर्थः । कीदृशीं कमलिनीम् । तेन दयितेन सह समं निषेविताम् । किं तर्हीदानीं करोतीत्याह—तं प्रियमधुनेदानीं मधुना वसन्तेन हृदि मनसि निहितमर्पितं रतिसारं रसप्रधानं सा स्मरति ध्यायति । अहर्निशं दिवानिशम् । अत्र न देशविभागेनावृत्तिर्नाप्यवयवविभागेन । यतो द्रुतविलम्बिताख्यं द्वादशाक्षरमेतद्वृत्तम् । अस्यार्धे षडक्षराणि । अत्र च प्रथममक्षरं मुक्त्वा त्रीणि यमकितानि ।।

तथा—

कमलिनी सरसा सरसामियं विकसितानवमं नवमण्डनम् ।
किमिति नाधिगता धिगतादृशं मधुकरेण बताणवता कृतम् ।। ५८ ।।

कमलिनीति । इयं कमलिनी पद्मिनी किमिति तस्मान्मधुकरेण भृङ्गेण नाधिगता न संप्राप्ता । धिक्कष्टम् । तेनाणवता शब्दवता तादृशमयुक्तं कृतम् । धिग्बतशब्दावत्र खेदाधिक्यं सूचयतः । कीदृशी । सरसा नूतना । विकसिता प्रफुल्ला । अत एव सरसां जलाशयानामनवमं श्रेष्ठं नवमण्डनं प्रत्यग्रालंकरणम् । अत्रापि देशावयवानपेक्षयावृत्तिः ।।

प्रिय के साथ कमलिनी के रस का आस्वादन करनेवाली वह भँवरी अब प्रिय के वियोग में कमलिनी का दर्शन नहीं सह सकती, अर्थात् उसे देखकर संतप्त होती है । इस मधुमास में अपने रति-सर्वस्व प्रिय का विचार आ जाने से रात-दिन उसका स्मरण करती रहती है ।५७।

उक्त पद्य में पाद के किसी भी अवयव की आवृत्ति का स्थान नियत नहीं है ।

एक अन्य उदाहरण

अन्वय—इयं सरसा, विकसिता, सरसां अनवमं नवमण्डनं कमलिनी मधुकरेण किमिति न अधिगता धिक् । अणवता (तेन) अतादृशं कृतम्, बत !

सरस, विकसित एवं सरोवरों का श्रेष्ठ मण्डन-रूप यह कमलिनी भ्रमर को क्यों नहीं प्राप्त हुई । बड़े खेद की बात है कि भ्रमर ने कोलाहल करके यह अनुचित कार्य किया है [और कमलिनी को प्राप्त नहीं कर सका] ।५८।

इस पद्य में भी उपर्युक्त स्थिति है ।

अध्यायमुपसंहरन्यमकस्वरूपं विषयं चाह—

इति यमकमशेषं सम्यगालोचयद्भिः
सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यविद्भिः ।
सुविहितपदभङ्गं सुप्रसिद्धाभिधानं
तदनु विरचनीयं सर्गबन्धेषु भूम्ना ।। ५९ ।।

इतीति । इति पूर्वोक्तं यमकमशेषं सर्वं समस्तपादैकदेशजं सम्यग्यथान्याय-मालोचयद्भिः सत्कविभिरभियुक्तैः सावधानैः । तथा वस्तु च विषयविभागमालोचयद्भिः । यथा कस्मिन्रसे कर्तव्यम्, क्व वा न कर्तव्यम् । यमकश्लेषचित्राणि हि सरसे काव्ये क्रियमाणानि रसखण्डनां कुर्युः विशेषतस्तु शृङ्गारकरुणयोः कवेः किलैतानि शक्तिमात्रं पोषयन्ति, न तु रसवत्ताम् । यदुक्तम्—'यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदो हि रस-विरोधिन्यः । अभिधानमात्रमेतद्गड्डरिकादिप्रवाहो वा ।।' प्रयोगस्तु तेषां खण्डकाव्येषु देव-तास्तुतिषु रणवर्णनेषु च । तदेवाह—औचित्यविद्भिरिति । औचित्यं यमकादिविधाना-स्थानस्थानादिकं विदन्ति ये तैः । कीदृशं यमकम् । सुष्ठु विहिता हृदयंगमाः पदभङ्गा यत्र तत्तथाभूतम् । तथा सुप्रसिद्धान्यभिधानानि वस्तुवाचकशब्दा यत्र तत्तथाभूतं यमकम् । तदनु चौचित्यादिज्ञानानन्तरं विरचनीयम् । भूम्ना बाहुल्येन सर्गबन्धेषु महा-काव्येषु । नाटककथाख्यायिकादिषु पुनः स्वल्पमेवेत्यर्थः ।।

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतः तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ।

इस अध्याय में निरूपित यमक के समस्तपादज, एकदेशज आदि भेदों का अच्छी तरह पर्यवेक्षण करके एवं यमक के प्रयोगक्षेत्र को ध्यान में रखते हुए औचित्य के ज्ञाता सत्कविगण इसकी रचना में प्रवृत्त हों । प्रसिद्ध शब्दों का चयन तथा पदों का भङ्ग ठीक प्रकार से होना चाहिए । मुख्यतया महाकाव्यों में इसका प्रयोग समीचीन है, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि में इसका प्रयोग कम ही होना चाहिए ।५९।

[यमक के प्रयोग में औचित्य का ध्यान रखना अपेक्षित होता है । विशेषतः रस के क्षेत्र में किस रस में इसका प्रयोग उचित रहेगा और किस में अनुचित, यह बड़े अवधान का विषय है । वस्तुतः यमक, श्लेष आदि सरस काव्य में रस का व्याघात ही उत्पन्न करते हैं, विशेषतः शृंगार और करुण में । इसका कारण यह है कि इन दोनों अलंकारों का प्रयोग कवि के विशाल शब्द-ज्ञान एवं उसके प्रयोग की प्रवीणता को तो प्रकट करते हैं किन्तु इससे काव्य की रसप्राणता पर आवरण छा जाता है, जो कि उसका मुख्य तत्त्व है । हाँ, खण्डकाव्य, रणवर्णन, देवस्तुति आदि के अतिरिक्त गद्य काव्य—ये सभी यमक और श्लेष के प्रयोगक्षेत्र हैं ।]

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्य-हिन्दी-व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ।

चतुर्थोऽध्यायः

यमकं व्याख्याय श्लेषं व्याचिख्यासुराह—

वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्टाक्लिष्टविविधपदसंधि ।
युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयेत स श्लेषः ।।१।।

वक्तुमिति । यत्रालंकारे युगपत्तुल्यकालमेकप्रयत्नेनैवानेकं द्व्यादिकं वाक्यं विधीयेत स श्लेषः । युगपत्पदग्रहणान्महायमकादीनां श्लेषत्वनिवृत्तिः । कीदृशम् । वाक्यमर्थमभिधेयं वक्तुं भणितुं समर्थं शक्तम् । अनेकमितीहापि द्रष्टव्यम् । तथा सुष्ठु श्लिष्टः सुप्रयोजितोऽक्लिष्टः कष्टकल्पनारहितो विविधो नानाविधः पदानां सुप्तिङन्तानां संधिरेकीभावो यत्र तत्सुश्लिष्टाक्लिष्टविविधपदसंधीति ।

चतुर्थ अध्याय

इस अध्याय में श्लेष नामक शब्दालंकार का निरूपण है।

श्लेष का लक्षण देने के उपरान्त इसके निम्नोक्त आठ भेदों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं—वर्णगत, पदगत, लिंगगत, भाषागत, प्रकृतिगत, प्रत्ययगत, विभक्तिगत और वचनगत । भाषागत श्लेष के अन्तर्गत निम्नोक्त भाषाओं के उदाहरण दिये गये हैं—(१) संस्कृत, मागधी, (२) संस्कृत, पिशाच, (३) संस्कृत, शूरसेनी, (४) संस्कृत, अपभ्रंश । इन आठ भेदों के उपरान्त श्लेष के सम्बन्ध में कहा गया है कि भाषा-श्लेष के अतिरिक्त अन्य सभी श्लेष-प्रकार अलंकारों (अर्थालंकारों) से संस्पृष्ट रहते हैं, विशेषतः उपमा और समुच्चय के साथ तो ये वैचित्र्य को धारण करते हैं । रुद्रट का यह प्रसंग भामह से गृहीत है । (देखिए आगे ४।३१-३४) ।

[अर्थश्लेष तथा श्लेष-विषयक अन्य शास्त्रीय चर्चा के लिए देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ का दशम अध्याय ।]

श्लेष

जिस [रचना] में श्लिष्ट (अर्थात् सुनियोजित, उचित प्रकार से जुड़े हुए), अक्लिष्ट (अर्थात् कष्ट-कल्पना रहित) तथा विविध पदों (सुबन्तों और तिङन्तों) की सन्धि से युक्त ऐसे अनेक वाक्यों की युगपद् (अर्थात् एक साथ, एक काल में ही, स्पष्टतः कहें तो एक वाक्य में ही) रचना हो जो [अनेक] अर्थ बताने में समर्थ हो, वहां श्लेष अलंकार माना जाना है।१।

रुद्रट से पूर्व भामह, दण्डी और उद्‌भट ने श्लेष अलंकार का निरूपण किया है। इस अलंकार के सम्बन्ध में दो बातें ज्ञातव्य हैं—

(क) इस अलंकार में उपमान और उपमेय के समान धर्मों में द्व्यर्थकता के आधार पर समानता रहती है।

सामान्यलक्षणमभिधाय विशेषाभिधानाय श्लेषप्रकारानाह—

वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम् ।
अत्रायं मतिमद्भिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति ।।२।।

वर्णपदेति। अत्र शब्दालंकारेष्वयं श्लेषो मतिमद्भिर्विधीयमानो धीमद्भिः क्रियमाणोऽष्टधाष्टप्रकारो भवति । केषां विधीयमान इत्याह—वर्णेत्यादि । वर्णश्च पदं च लिङ्गं च भाषा च प्रकृतिश्च प्रत्ययश्च विभक्तिश्च वचनं च वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानि तेषाम् । वर्णपदादिविषयभेदात्तन्नामाष्टधा श्लेष इत्यर्थः । अत्रेति परमतनिरासार्थम् । अन्यैर्ह्य विशेषेण शब्दार्थयोः श्लेषोऽभ्यधायि । वर्णादिनिर्देशादेवाष्टविधत्वे लब्धेऽष्टधेति नियमार्थम् । भेदे सत्यष्टधैव नान्यथेत्यर्थः केचिद्धि पदेषु लिङ्गमन्तर्भावयन्ति । प्रत्यये च विभक्तिवचने । विभक्तौ च वचनम् । तदेतन्न चारु । भेददर्शनात् । तथाहि हार इति भूषणं मुक्ताकलापः, हरणं हारो मोषः, हरस्यायं हारः कोऽप्यर्थः इत्यत्र पदश्लेषेऽपि लिङ्गश्लेषो न विद्यते । सर्वत्र पुलिङ्गत्वात् । तथा पद्मो

(ख) यह समानता अलग-अलग न कही जाकर 'युगपद्' ही कही जाती है—

(क) **उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते ।**
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते ।।

× × ×

इष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः ।।

का० अ० (भा०) ३।१४-१५

(ख) **श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः ।।**

का० द० २।३१०

इधर रुद्रट के उक्त लक्षण में प्रयुक्त 'युगपद् अनेकवाक्यम्' यह कथन द्व्यर्थकता तत्त्व की ओर प्रकारान्तर से ही संकेत करता है। वस्तुतः इनका यह कथन भामह के निम्नोक्त कथन से प्रभावित है—

"इष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः ।।" भामहालंकार ३।१५

अर्थात्—श्लेष अलंकार में उपमान और उपमेय का प्रयोग 'युगपद्' अर्थात् एक साथ करना अभीष्ट रहता है।

बुद्धिमानों ने इस श्लेष के आठ प्रकारों का इस प्रकार परिगणन किया है—(१) वर्ण, (२) पद, (३) लिङ्ग, (४) भाषा, (५) प्रकृति, (६) प्रत्यय, (७) विभक्ति और (८) वचन। २।

रुद्रट से पूर्व दण्डी ने श्लेष के अनेक भेद गिनाये हैं। भामह ने श्लेष के भेदों का उल्लेख नहीं किया, इसके तीन रूपों और तीन आधारों की चर्चा-मात्र की है। उनके

निधिः, पद्मं कमलम्, पद्मा श्रीरिति लिङ्गश्लेषेऽपि पदमभिन्नम् । तथा तपनस्यायं तापयतीति वा तापनः । इत्यादिषु प्रत्ययभेदेऽपि विभक्तिवचनभेदो न विद्यते । तथा सतां मुख्यः पुरःसरः सन्मुख्यः सच्छोभनं मुखं यासां ताः सन्मुख्यः इत्यत्र वचनभेदेऽपि विभक्ति भेदो न विद्यते इति भेदप्रतीतेर्न शोभनोऽन्तर्भाव इति ।

यथोद्देशस्तथा निर्देश इत्यादौ वर्णश्लेषलक्षणमाह—

यत्र विभक्तिप्रत्ययवर्णवशादैकरूप्यमापतति ।
वर्णानां विविधानां वर्णश्लेषः सः विज्ञेयः ।।३।।

यत्रेति । यत्र विविधानां नानारूपाणां वर्णानामैकरूप्यं साम्यमागच्छति स वर्णश्लेषः । विरूपाणां कथं सादृश्यमित्याह—विभक्तिबलात्प्रत्ययबलाद्वर्णबलाच्चेति ।।

उदाहरणमिदम्—

साधौ विधावपर्तावपराहावास्थितं विषादमितः ।
आयासि दानवत्त्वं तद्धर्म्यं परमकुर्वाणः ।।४।।

अनुसार श्लेष के तीन रूप हैं—गुण, क्रिया और नाम, तथा इसके तीन आधार हैं—सहोक्ति, उपमा और हेतु [का० अ० ३ । १४-२०] । उक्त तीन रूप परवर्ती श्लेष-भेदों के बीज माने जा सकते हैं, और उक्त तीन आधार इस शास्त्रीय चर्चा के उद्गम माने जा सकते हैं कि श्लेष विविक्त रहता है अथवा नहीं [विशेष विवरण के लिए आगे देखिए ४।३१-३४] ।

दण्डी के अनुसार श्लेष के दो प्रमुख भेद हैं—अभिन्नपद और भिन्नपदप्राय । इन्हें क्रमशः अभङ्ग और सभङ्ग भी कह सकते हैं । (का० द० २।३१०) इनके अतिरिक्त श्लेष निम्नोक्त रूपों में भी प्रकट किया जा सकता है—अभिन्नक्रियश्लेष, अविरुद्धक्रियश्लेष, विरुद्धक्रियश्लेष, सनियमश्लेष, नियमाक्षेपरूपकोक्तिश्लेष, अविरोधी श्लेष, विरोधी श्लेष आदि (का० द० २।३१४, ३१५) ।

वर्णश्लेष

जहां विभक्ति, प्रत्यय ओर वर्ण के कारण विविध वर्णों में एकरूपता आ जाती है उसे वर्णश्लेष कहते हैं ।३।

उदाहरण

श्लिष्ट पदों का अर्थ—

साधौ— (क) अभेद्यसंयुक्ते, (ख) सुन्दरे ।
विधौ— (क) दैवे, भाग्ये, (ख) चन्द्रमसि ।
अपर्तौ— (क) अपगतकालविशेषे,

साधाविति । अत्र महासत्त्वो दरिद्रो वर्ण्यते—कश्चिन्नरो दानवतो भावो दानवत्त्वं दातृत्वं तत्पुराकृतमकुर्वाणोऽसंपादयन्विषादं खेदमितः प्राप्तः । कीदृशं दातृत्वम् । विधिर्दैवं तस्मिन्नास्थितमायत्तम् । दैवाधीनमित्यर्थः । दैवेऽनुकूले भवतीति भावः । कीदृशे विधौ । सहाधिभिर्वर्तत इति साधिस्तस्मिन् । नित्यमेव मनःपीडावह इत्यर्थः । तथापर्तौ सदा संनिधानादपगतोऽर्तुः कालविशेषो यस्य सोऽपर्तुस्तस्मिन् । तथापराहाव-

---

(ख) गतिरहिते, सदाऽवस्थिते ।

अपराहौ— (क) शत्रुविहीने अहिवत् कुटिले च

(ख) अपगतराहौ ।

आस्थितम् — (क) आधीनम्, (ख) आस्थाधारिणम् ।

विषादं— (क) खेदम्, (ख) कालकूटभक्षकं (शिवम्) ।

इतः— (क) प्राप्तः, (ख) अस्मात् प्रदेशात् ।

आयासि— (क) आयासजनकं, खेदावहं, (ख) आगच्छसि ।

दानवत्त्वम्— (क) दातृत्वम्, दानशीलताम्

(ख) दानव+त्वम्=हे दनुसुत ! त्वम् (वाणासुरः) ।

(तत्) धर्म्यम्— (क) धर्मसंयुक्तम्, श्रेष्ठम्

तत् हर्म्यम्— (ख) तस्य स्थानम् ।

परम्, अकुर्वाणः—(क) श्रेष्ठम्, असंपादयन्

परम-कुः-वाणः— (ख) उत्कृष्टा भूमिः (निर्वाण-पदम् । वाणासुरः ।)

प्रथम अर्थ

अन्वय—[कश्चिन् नरः] साधौ अपर्तौ अपराहौ विधौ आस्थितं धर्म्यं आयासि तद् दानवत्त्वम् अकुर्वाणः परं विषादम् इतः ।

कोई महासत्त्व मनुष्य दरिद्र बन जाने के कारण पूर्वकृत दान अब नहीं कर सकता, अतः अत्यन्त खिन्न है । उसी का वर्णन इस श्लोक में है—

[कोई महासत्त्व पुरुष] आधिसंयुक्त अर्थात् मन को अशान्त करने वाली, कालरहित अर्थात् सदा साथ रहने वाली, तथा मानो दूसरे सर्प के सदृश [दुःखदायी] विधि के अधीन, धर्मसम्मत तथा [अब न हो सकने के कारण] खेद देने वाले दान को न करता हुआ विषाद को प्राप्त हुआ ।४।

द्वितीय अर्थ

अन्वय—दानव ! त्वं वाणः इतः साधौ अपर्तौ अपराहौ विधौ आस्थितं विषादं तद् हर्म्यं परम-कुः आयासि ।

कोई बाणासुर से कहता है—हे दानव ! तुम, कालकूट-विष भक्षण करनेवाले, राहु के आक्रमण से मुक्त, सुन्दर तथा [शिव के मस्तक पर] सदावस्थित चन्द्रमा पर

विद्यमानः परः प्रतिपक्षो यस्यासावपरः स चासावहिश्च सर्पश्च पीडाकारित्वादपराहिस्तस्मिन् । अपरस्याहेर्नकुलादिर्हिंसको भवति, अस्य तु नैव । अन्यच्च कीदृशं दानवत्वम् । आयास्यघटनादभीक्ष्णं खेददायि । तथा धर्म्यं स्वभावतो धर्मादनपेतम्, अत एव परं श्रेष्ठम् । एष एकस्य वाक्यस्यार्थः ।। अपरस्य तु—साधावित्यादि कश्चिद्वाणासुरमाह—हे दानव दनुसुत, त्वं बाणो वाणाख्य इतोऽस्मात्प्रदेशाद्विषादं कालकूटभक्षकं शिवमायास्यागच्छसि । कीदृशं शिवम् । विधौ चन्द्रमस्यास्थितमास्था संजातास्येति तम् । कीदृशे विधौ । साधौ सुन्दरे । तथापगता ऋतिर्गमनं यस्यासावपर्तिस्तस्मिन् सदावस्थिते । तथापगतो राहुर्विधुंतुदो यस्मादसौ तथाविधस्तस्मिन् । किमिति तत्सकाशमायासीत्याह—तस्य हर्म्यं स्थानं तद्धर्म्यं यतः परमोत्कृष्टा कुर्भूमिः । निर्वाणपदमित्यर्थः । साधावित्यादाविकारोकारयोः सप्तमीविभक्तिवशादैकरूप्यम् । आस्थितमितः प्रभृतिषु प्रत्ययचवशात् । तद्धर्म्यमित्यत्र धकारहकारवर्णवशादिति । परमकुर्वाण इत्यत्रैकत्रौष्ठ्योऽन्यत्र दन्त्यौष्ठ्यो वकारस्तत्कथमेकरूपता वर्णानाम् । सत्यम् । यमकश्लेषचित्रेषु बवकारयोरौष्ठ्यदन्त्यौष्ठ्ययोरभेदो दृश्यते । यथा—'तस्यारिजातं नृपतेरपश्यदबलं वनम् । ययौ निर्भरसंभोगैरपश्यदवलम्बनम् ।।' तथा नकारणकारयोश्च न भेदः । यथा—'वेगं हे तुरगाणां जयन्नसावेति भङ्गहेतुरगानाम्' इति शिवभद्रस्य । विसर्जनीयभावाभावयोश्च न विशेषः । यथा—'द्विषतां मूलमुच्छेत्तुं राजवंशादजायथाः । द्विषद्भ्यस्त्रस्यसि कथं वृकयूथादजा यथा ।।' अत्र ह्येकत्राजायथा इति विसर्गान्तं क्रियापदम्, अपरत्र यथाशब्दोऽव्ययम् । तथान्त्ययोर्मकारनकारयोश्च न भेदः । यथा—प्रापयासुरथं वीर समीरसमरंहसम् । द्विषतां जहि निःशेषपृतनाः समरं हसन् ।।' अत्र हि समरंहसमिति मान्तम्, हसन्निति नान्तं पदम् । तथा व्यञ्जनात्परस्यैकस्य व्यञ्जनस्य द्वयोर्वा न विशेषः । यथा—शुक्ले शुक्लेशनाशं दिशति' इत्यादौ शुक्ले शुक्ले यमकम् । तस्मिश्चैकत्र शुक्लगुणयुक्ते, अन्यत्र शुचः क्लेशस्य च नाशं दिशतीत्यर्थः । अत्र ह्येकत्र ककाराल्लकार एवैकं व्यञ्जम् । अन्यत्र ककारो लकारश्च द्वयमिति ।

आस्था रखने वाले भगवान् शिव के पास निर्वाण पद प्राप्त करने की इच्छा से आते हो।४।

इस पद्य के उक्त श्लिष्ट पदों के अर्थों तथा दोनों अर्थों के अवयवों को देखने से ज्ञात होगा कि साधौ (स+आधौ), अपराहौ (अपर+अहौ), आस्थितम् विषादं (विष+अदं) आदि पदों के कारण श्लेष नहीं है, अपितु इन पदों के वर्णों को भिन्न रूपों में रखने के कारण श्लेष है । अतः यहाँ वर्ण श्लेष है ।

[वाणः—बाणः । यमक, श्लेष और चित्र में ब और व, ड और ल तथा र और ल में अभेद रहता है—"यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयोरलयोर्न भित् ।" अतः यहाँ वाण का अर्थ बाण है ।]

अथ पदश्लेषः—

यस्मिन्विभक्तियोगः समासयोगश्च जायते विविधः ।
पदभङ्गेषु विविक्तो विज्ञेयोऽसौ पदश्लेषः ॥५॥

यस्मिन्निति । यत्र वाक्ये विभक्तियोगो विविधो नानासमासयोगश्च जायते । केषु । पदभङ्गेषु सत्सु । विविक्तः स्फुटः स पदश्लेषः ।

उदाहरणमिदम्—

सुरतरुतलालसगलन्नयनोदकलालसत्कुचारोहम् ।
समराजिदन्तरुचिरस्मिते नमदसौ शरीरमदः ॥६॥

पदश्लेष

जिस अलंकार में पद भंग करने पर विभक्ति एवं समासों का अनेकविध योग हो उसे स्पष्ट ही पद श्लेष समझना चाहिए ।५।

उदाहरण

श्लिष्ट पदों का अर्थ

१. (क) सुरत-रुत-लालस-गलम्, नयन-उदक-लाल-सत्-कुच-आरोहम् ।
(ख) सुर-तरु-तल-अलस-गलत्-नय-नोद-कला-लसत्-कु-चारः-अहम् ।

अर्थ—(क) निधुवन-भणित-उत्कण्ठित-कण्ठम्, अश्रु-प्रसरण-शोभित-उन्नत-स्तनोपेतम् ।
(ख) देव-वृक्ष-अधोभागेषु, मन्द-भ्रश्यत्-नीतीनां-पातन-विज्ञान-शोभमान-पृथ्वी-वलगनः-अहम् ।

२. (क) सम-राजि-दन्त-रुचिर-स्मिते !
नमत्-असौ-शरीरम्-अदः ।
(ख) समर-आजित्-अन्त-रुचिः-अस्मि, तेन-मत्-असौ-शरि-ईर-मदः ।

अर्थ—(क) अविषम-दन्त-पंक्ति-मनोहर-हास्ययुक्ते !
नमत् = विनम्रम्, असौ = सा (कान्तिः), शरीरम्=वपुः, अदः=इदम् ।
(ख) रणविजयि-विनाश-अभिलाषोऽस्मि ।
तेन = अस्माद् हेतोः, मत् = मम, असौ = खड्गे, शरि = धानुष्क ।
ईर = अभिभवः, मदः = गर्वः ।

३. (क) नव-रोम-राजि-राजित-वलि-वलय-मनोहर-तर-सारं, भा ।
(ख) न-वरो-अमर-अजिर-अजित-बलि-वल-यमन-ऊह-रत-रस-आरम्भाः ।

४. (क) धवलयति रोहि-तानव-मद्ध्य-अनमत्-आहित-स्तनि ! ते ।
(ख) धव-लय-तिरोहित-अनव-मत्-ध्यान-मद-अहित-स्तनिते ।

नवरोमराजिराजितवलिवलयमनोहरतरसारं भाः ।
धवलयति रोहितानवमद्ध्यानमदाहितस्तनि ते ।।७।।
(युग्मम्)

सुरेति । नवरोमेति । कश्चिच्चाटुक्तिप्रियामाह—हे समराजिदन्तरुचिरस्मिते अविषमदन्तपङ्क्तिकान्तहसिते, तवासौ भा एषा दीप्तिरद एतच्छरीरं वपुर्धवलयति शुक्लयति । कीदृशम् । सुरतरुतेषु निधुवनभणितेषु लालसो लम्पटो गलः कण्ठो यस्य तत्तथाभूतम् । तथा प्रियसंनिधानाद्यन्नयनोदकमानन्दलोचनवारि तस्य यो लालः प्रसरणं तेन सञ्शोभनः कुचारोहः स्तनोच्छ्रायो यत्र तत्तथाभूतम् । तथा नमत्स्तनाभोगभारान्न-म्रम् । तथा नवा नूतना या रोमराजी रोमलेखा तया राजितं भूषितं यद्वलिवलयं वल-याकारं वलित्रयं तेन मनोहरतरं रम्यतरं तच्च तत्सारमुत्कृष्टं चेति समासः । रोहत्यु-त्तिष्ठतीति रोहि तानवं कृशत्वं यस्य तद्रोहितानवं यन्मध्यमुदरं तत्रानमन्तौ कठिन-त्वादलम्बमानावाहिताववस्थितौ स्तनौ यस्यास्तस्या आमन्त्रणं हे रोहितानवमध्यान-मदाहितस्तनि । एष एकस्य वाक्यस्यार्थः ।। अपरस्य तु यथा—कश्चित्खड्गप्रहरणो धानुष्कं स्पर्धिनमुद्दिश्य वयस्यानाह—यतोऽहमेवंविशिष्टस्तेन हेतुना मदसावसमत्खड्गे

प्रथम अर्थ

अन्वय—(हे) सम-राजि-दन्त-रुचिर-स्मिते ! रोहि-तानव--मद्ध्य-अनमत्-आ-हितस्तनि !! ते असौ भाः सुरत-रुत-लालस-गलम्, नयन-उदक-लाल-सत्-कुच-आरोहम्, नमत्, नव-रोम-राजि-राजित-वलि-वलय-मनोहरतर-सारं अदः शरीरं धवलयति ।

हे समान दन्तपंक्ति से छिटकती हुई सुन्दर मुस्कान से युक्त तथा कृश उदर पर लटकते हुए कठोर स्तनों वाली सुन्दरि ! यह तुम्हारी मुस्कराहट की चमक सुरत-समय मधुर ध्वनि करनेवाले कण्ठ से युक्त [प्रिय के समीप होने से] आनन्दाश्रुओं से भीग रहे उन्नत स्तनों से मण्डित [विशाल स्तनों के बोझ से] झुकते हुए तथा त्रिवली पर नवल रोमपंक्ति से भूषित तथा अति मनोहर सर्वस्व-रूप तुम्हारे शरीर को धवलित कर रही है ।६-७।

द्वितीय अर्थ

अन्वय—[हे] अमर-अजिर-अजित-वलि-बल-यमन-ऊह-रत-रस-आरम्भाः । [यतः] अहम् सुर-तरु-तल-अलस-गलत्-नय-नोद-कला-लसत्-कु-चारः, [अथ च] समर-आजित्-अन्त-रुचिः-अस्मि, तेन धव-लय-तिरोहित-अनव-मद्-ध्यान-मद-अहित-स्तनिते मत्-असौ शरि-ईर-मदः (वर्तते) ।

कोई खड्गधारी किसी धनुर्धर से स्पर्धा करते हुए अपने मित्रों को कहता है—मैं सुरवृक्षों (कल्पतरु आदि) के नीचे विषयादि में आसक्त नीच जीवों को नीचे

न वरो न श्रेष्ठः योऽसौ शरीरमदः । शरा विद्यन्ते येषां ते शरिणो धानुष्कास्तानीरयति क्षिपत्यभिभवतीति शरीरस्तस्य मदः । जितधनुर्धरोऽहमिति कृत्वा यो दर्प इत्यर्थः । यतः कीदृशोऽहम् । सुरतरुतलेषु देववृक्षाधोभागेष्वलसा मन्दा ये गलन्नया भ्रश्यन्तीतयः । विषयासक्ता इत्यर्थः । तेषा नोदस्ततः पातनं तत्र या कला विज्ञानं तया लसञ्शोभमानः कौ पृथिव्यां चारो वलगनं यस्य स तथाविधोऽहम् । खड्गविद्यया स्वर्गस्थानपि पातयामी-त्यर्थः । तथा समरं रणमासमन्ताज्जयन्त्यभिभवन्तीति समराजितो ये शूरास्तेषामप्यन्ते विनाशे रुचिरभिलाषो यस्य स एवंविधोऽस्मि भवामीति । अधुना वयस्यानामन्त्रयते—अमराजिरेषु देवाङ्गनेष्वजितमपराभूतं यद्बलिबलं बलिदानवसैन्यं तस्य यमनं बन्धनं तत्रोहस्तर्कश्चिन्ता तत्र रतो विष्णुस्तस्येव रसस्तात्पर्यमारम्भश्चानुष्ठानं येषां ते तथा-भूता भवन्त आमन्त्र्यन्ते । कीदृशे मदसौ । धवा वृक्षविशेषास्तेषु लयो दुर्गधिया संश्रय-स्तेन तिरोहितमन्तरितमनवं बहुदिवसभवं यन्मद्ध्यानं मदीयचिन्तनम् । दुर्गस्था वयमतः स किं करिष्यतीति कृत्वा । तेन मच्चिन्तान्तर्धानेन मदो येषां ते च तेऽहिताश्च शत्र-वश्च तेषु स्तनिते तद्दारणाच्छणच्छणायमाने । खड्ग इत्यर्थः । अथवा धवाः पुरुषास्तेषां लयः स्वपौरुषकर्मकौशलम् । अनवम उत्कृष्टो ध्यानमदो नीतिशास्त्रचिन्तादर्पो येषां तेऽनवमध्यानमदा मन्त्रिप्राया उच्यन्ते । धवलयेन कर्मकौशलेन तिरोहिता न्यक्कृता अन-वमध्यानमदा यैस्ते तथा ते च तेऽहिताश्च शत्रवस्तेषु स्तनिते शब्दिते । अन्योऽप्यत्र यदि भङ्गः संभवति सोऽपि तद्विदा विचार्य कर्तव्य एव ॥

अथ लिङ्गश्लेषः—

स्त्रीपुंनपुंसकानां शब्दानां भवति यत्र सारूप्यम् ।
लघुदीर्घत्वसमासैर्लिङ्गश्लेषः स विज्ञेयः ॥८॥

गिराने में दक्ष हूँ तथा पृथ्वी पर घूमने वाला हूँ । अर्थात् मैं पृथ्वी पर रहते हुए भी अपनी खड्ग-विद्या से स्वर्गवासियों को भी नीचे गिराने वाला हूँ । बड़े-बड़े युद्ध-जयी शूरों के विनाश का इच्छुक हूँ । देवों के आङ्गन में अपराजित बलि-सेना के बन्धन में चिन्तामग्न विष्णु के सदृश अभिप्राय वाले तथा कार्य करने मित्रो ! बहुत दिनों तक मेरे पेड़ पर छिपे रहने के कारण निर्भय शत्रुओं पर छपछपाने वाली मेरी तलवार के आगे उस धनुर्धर का गर्व करना ठीक नहीं है ।६-७।

उक्त पद्य में श्लेष का आधार दोनों अर्थों में स्वतन्त्र पद हैं—जैसे सुरत-रुत-लालस [अथवा सुर-तरु-तल-अलस], सम-राजि-दन्त-रुचिर् [अथवा समर-अजित्-अन्तरुचिः] इन पदों को उक्त वर्णश्लेषगत उदाहरण के समान वर्णों में विभक्त नहीं किया जाता । अतः यहाँ पदश्लेष है ।

लिङ्ग श्लेष

जहाँ ह्रस्व तथा दीर्घ वर्णों (कहीं ह्रस्व वर्ण के दीर्घ बन जाने से, कहीं दीर्घ

स्त्रीपुमिति। यत्र स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गानां सारूप्यं भवत्यसौ लिङ्गश्लेषः। कैः कृत्वा। लघुदीर्घत्वसमासैरिति क्वचिद्दीर्घस्य लघुत्वेन। ह्रस्वत्वेनेत्यर्थः। क्वचिद्ध्रस्वस्य दीर्घत्वेन क्वचित्समासेन चेति॥

उदाहरणम्—

देवी मही कुमारी पद्मानां भावनी रसाहारी।
सुखनी राज तिरोऽहितमहिमानं तस्य सद्धारी॥९॥

देवीति। कश्चिद्राजानमाशास्ते—त्वं राज शोभस्व। तथा तिरश्चीनं यथा भवत्येवमहितं शत्रुं तस्य क्षयं नय। 'तसु उपक्षये' इत्यस्य रूपम्। कीदृशस्त्वम्। दीव्यतीति

के ह्रस्व बन जाने से) और कहीं समास के कारण पुंलिग, स्त्रीलिग और नपुंसकलिङ्ग शब्दों के रूपों में समानता हो वहाँ लिङ्गश्लेष रहता है।८।

उदाहरण

श्लिष्ट पदों का अर्थ

देवी—(क) क्रीडारतः (ख) आदरणीया

मही—(क) उत्सववान् (ख) पृथ्वी

कुमारी—(क) कुत्सितानां चौरादीनां मारयिता, (ख) नित्य तरुणी

पद्मानां भावनी—(क) [सेवकेभ्यः] लक्ष्मीप्रदः, (ख) कमलानां जनयित्री।

रसाहारी—(क) पृथ्व्याः आत्मसात्कर्ता, (ख) जलादिरसानां ग्रहणशीला।

सुखनीः—(क) [भृत्यादीनां] सुखदः, (ख) शोभन-आकरोपेता।

राजतिरोऽहितमहिमानं तस्य—(क) राज = शोभस्व। तिरः = कुटिलं (क्रियाविशेषण), अहितम् = शत्रुम्, अहिमानम् = वृत्रसदृश-दर्पयुक्तम्, तस्य = नाशय।

(ख) राजति = शोभते, रोहित-महिमा = आरोपित-माहात्म्या, अनन्तस्य = शेषस्य।

सद्धारी—(क) शिष्टानां पोषयिता, (ख) विद्यमान-वस्तूनां धारिका।

प्रथम अर्थ

अन्वय—(त्वम्) देवी, मही, कुमारी, पद्मानां भावनी, रसाहारी, सुखनीः, सदधारी (असि), (त्वम्) अहिमानम् अहितम् तिरः तस्य राज (च)।

कोई व्यक्ति राजा की प्रशंसा करते हुए कहता है—हे राजन्! तुम क्रीडाप्रिय हो, प्रसन्न रहने वाले हो, चौर आदि का नाश करने वाले हो, भृत्यों को धनादि से सम्पन्न करने वाले हो, शत्रु-देशों को हस्तगत करने वाले हो, सेवकों को सुख देने वाले हो, सज्जनों का पोषण करने वाले हो। वृत्रासुर की तरह अभिमानी शत्रु को बुरी तरह से विनष्ट करके शोभित होओ।९।

देवी क्रीडारतः, मही उत्सववान्, कुत्सितांश्चौरादीन्मारयतीति कुमारी। अथवा कुः पृथ्वी मारः कामस्तौ विद्येते यस्य स कुमारी। तथा पद्मानां श्रियां भावं सत्तां नयति भृत्येष्विति भावनी। सेवकानां लक्ष्मीप्रद इत्यर्थः। रसां भुवमाहरत्यात्मसात्करोतीति रसाहारी। यदि वा रसैर्मधुरादिभिराहरतीति रसाहारी। सुखं नयति भृत्यानिति सुखनीः, सतः शिष्टान्धारयति पोषयतीति सद्धारी, शोभनहारवान्वा। कीदृशम्। अहितमहिमानमहेर्वृत्रस्येव मानोऽहंकारो यस्य तं तथाविधम्। अयमेकस्य वाक्यस्यार्थः॥ अपरस्य तु—मही पृथ्वी राजति शोभते। देवीति पूजापदम्। कीदृशी मही। कुमार्यकृतविवाहा नित्यतरुणी वा। पद्मानां नलिनानां भावन्युत्पादिका। रसाञ्जलादीनाहरति गृह्णातीति। 'कर्मण्यणन्तादी।' सुखनिः शोभनाकरा। तथानन्तस्य शेषस्य रोहित आरोपितो महिमा माहात्म्यं यया। स्वयमात्मधारणे शक्तयाप्यनन्तस्य लोके माहात्म्यख्यापनात्मभरस्तयार्पित इत्यर्थः। सद्विद्यमानं वस्तुजातं धरतीति। 'कर्मण्यणन्तादी।' देवीत्यादौ दीर्घत्वे रसहारीत्यादौ दीर्घत्वे समासे च सारूप्यं दीर्घस्य। ह्रस्वत्वं त्वन्यत्र स्वधिया द्रष्टव्यम्॥

अथ भाषाश्लेषः—

यस्मिन्नुच्चार्यन्ते सुव्यक्तविविक्तभिन्नभाषाणि।
वाक्यानि यावदर्थं भाषाश्लेषः स विज्ञेयः॥१०॥

यस्मिन्निति। यत्र यावदर्थं कवेर्यावन्तोऽर्था विवक्षितास्तावन्ति वाक्यान्युच्चार्यन्ते स भाषाश्लेष इति। कीदृशानि। सुव्यक्तं स्फुटं यथा भवत्येवं विविक्ताः पृथगुपलभ्यमानविवेका भिन्ना द्वित्राद्या भाषा येषु तानि तथाविधानि॥

द्वितीय अर्थ

अन्वय—देवी, कुमारी, पद्मानां भावनी, रसाहारी, सुखनिः, अनन्तस्य रोहितमहिमा, सद्धारी मही राजति।

यह देवीस्वरूपा पृथ्वी शोभित है। यह (पृथ्वी) नित्य तरुणी है, कमलों को उत्पन्न करने वाली है, रसों का आदान करने वाली है। सुन्दर खानों से भरपूर है। शेषनाग को महत्त्व प्रदान करने वाली है, तथा सब वस्तुओं को धारण करती है।९।

उक्त पद्य में 'देवी', 'मही' आदि पदों में दीर्घरूपता तथा 'रसाहारी' आदि में समास और दीर्घरूपता होने से लिङ्ग-श्लेष का चमत्कार है।

भाषाश्लेष

जिसमें विभिन्न भाषाओं के नितान्त स्पष्ट तथा पृथक् मालूम पड़ने वाले एवं कवि के अभिवांछित अर्थों को प्रकट करने वाले दो-तीन वाक्य हों उसे भाषाश्लेष कहते हैं।१०।

तत्र संस्कृतप्राकृतश्लेषोदाहरणम्—

सरसबलं स हि सूरोऽसङ्गामे माणवं धुरसहावम्।
मित्तमसीसरदवरं ससरणमुद्धर इमं दबलम्[1] ॥११॥

सरसबलमिति। कश्चित्कंचिदाह—स सूरो रविरिमं तं माणवं रोगित्वात्कुत्सित-मनुष्यमसीसरत्सारयामास। गतियुक्तं चकारेत्यर्थः। कीदृशम्। सरसं गतिलाभात्प्रत्यग्रं बलं शक्तिर्यस्य तं तथाभूतम्। हि स्फुटम्। क्व सति पूर्वमसीसरदसङ्गामे न विद्यते सङ्गो यत्रासावसङ्गः स चासावामश्च तस्मिन्। असंपर्कयोग्ये रोगे सतीत्यर्थः। पुनः कीदृशं माणवम्। धुरसहावं धुरि प्रथममसहासमर्था अवा रक्षितारो वैद्या यस्य। पूर्वं वैद्यत्यक्तमित्यर्थः। सूरः कीदृशः। मिन्मेद्यति स्निह्यति। कृपणेषु दयापर इत्यर्थः। कीदृशम्। तमवरं सरोगत्वादश्रेष्टम्। तथा दवं लातीति दवलमुपतापयुक्तम्। कीदृशः।

उदाहरण

प्रथम अर्थ (संस्कृत भाषा के अनुसार)

अन्वय—सः मित् ससरण-मुत्-हरः सूरः असङ्ग-आमे धुर-सह-अवं, दव-लं, अवरं इयं तं माणवं सरस-बलं असीसरत्।

कोई किसी से कहता है कि योगियों को प्रसन्नता देने वाले कृपालु सूर्य ने संक्रामक रोग से ग्रसित उस मनुष्य में शक्ति का सञ्चार करके उसे चलने योग्य बना दिया। आरोग्य-लाभ से पहले चिकित्सक लोग उसकी अवस्था से निराश होकर अपनी असमर्थता प्रकट कर चुके थे। इससे वह अत्यन्त सन्तप्त था।११।

द्वितीय अर्थ (प्राकृत भाषा के अनुसार)[1]

अन्वय—सः हि शूरः संग्रामे शर-शबलं, मान-बन्धुर-स्वभावं, असीश्वर-दवरं, सशरणं [किन्तु सम्प्रति] मन्दबलं मित्रम् उद्धरति।

कोई नायिका अपने भर्ता के विषय में सखी से कहती है कि मेरे वीर स्वामी ने युद्ध में उस मित्र की रक्षा की जो विचित्र वर्ण-बाणों को धारण करने वाला है, मनस्वी एवं सुस्वभाव है। खड्ग से युद्ध करने वाले योद्धाओं को सन्ताप देने वाला है तथा शरणागतों का रक्षक है, किन्तु जिस की सेना लड़ते-लड़ते निर्बल हो चुकी थी।११।

उक्त पद्य का प्रथम अर्थ संस्कृत के अनुसार है और दूसरा अर्थ प्राकृत के अनुसार।

---

१. प्राकृतच्छाया—शरशबलं सखि शूरोऽसंग्रामे मानबन्धुरस्वभावम्।
मित्रमसीश्वरदवरं सशरणमुद्धरति मन्दबलम्॥

ससरणमुद्धरः सह सरणेन ज्ञानेन वर्तन्ते ये ते ससरणा योगिनस्तेषां मुदं हर्षं धारयति पुष्णातीति कृत्वेति संस्कृतवाक्यार्थः। प्राकृतस्य तु—काचिद्भर्तारमुद्दिश्य सखीमाह—हे सखि, स शूरोऽस्मद्भर्ता मित्रं सुहृदं संग्रामे रण उद्धरति रक्षति। कीदृशम्। शरैर्बाणैः शबलं कर्बुरम्। तथा मानेन गर्वेण बन्धुरो रम्यः स्वभावो यस्य तं तथाभूतम्। तथासीश्वराणां खड्गयोधिनां दवरमुपतापदम्। तथा सह शरणेन वर्तते यस्तं सशरणं परित्राणार्थिनामार्तिहरम्। यद्येवंविधं तत्किमिति तेनोद्ध्रियत इत्याह—मन्दबलं मन्दमसमर्थं बलं यस्य तं तथाभूतम्। बहुयोधनादक्षमसैन्यमिति॥

इदानीं संस्कृतमागध्युदाहरणम्—

कुलला लिलावलोले शलिलेशे शालशालिलवशूले।
कमलाशवलालिबलेऽमाले दिशमन्तकेऽविशमे[1] ॥१२॥

कुलेति। कश्चिज्जातसंसारभयो वक्ति—एवंविधेऽन्तके मृत्यौ सति ए विष्णो विषये या दिङ्मार्गस्तां दिशमविशं प्रविष्टोऽस्मि। कीदृशेऽन्तके। कुलानि लालयन्ति

उदाहरण

प्रथम अर्थ (संस्कृत के अनुसार)

अन्वय—कुल-लालि-लाव-लोले, शलि-लेशे, शाल-शालि-लव-शूले, कमला-शवलालि-बले, अमाले अन्तके (सति) ए दिशम् अविशम्।

कोई व्यक्ति संसार की विडम्बनाओं से घबराकर कहता है—इस निर्मम यमराज के कठोर शासन से भयभीत होकर मैं तो शरणागतवत्सल भगवान् विष्णु की शरण में चला गया हूँ। यह यमराज सज्जनों के नृशंस वध में पटु है। उद्योगियों को अथवा खड्ग से लड़ने वाले योद्धाओं को नष्ट करता है। बड़े-बड़े प्रासादों में विराजमान लोगों के लिए भी यह शूल-सदृश है। यम की सेना दरिद्रों का भी पीछा नहीं छोड़ती। प्रत्येक प्राणी को इसका सामना करना अनिवार्य है।१२।

द्वितीय अर्थ (मागधी के अनुसार)[1]

अन्वय—विषमे कुररा-आलि-राव-रोले, सारस-आलि-रव-शूरे, कमल-आसवल-अलिवरे, शे सलिले शमन्तके मालेदि।

शरद् ऋतु में कुरर पक्षियों के शब्दों से कोलाहलपूर्ण विमुक्त सारस पक्षियों को मारने में समर्थ, मकरन्द लाने वाले भ्रमरों के कारण श्रेष्ठ वियोगियों के लिए भीषण इस जल को देखकर मुनि भी क्षुब्ध हो उठते हैं, क्योंकि यह जल शान्त तपस्वियों को भी मारने वाला है।१२।

---

१. मागधीच्छाया—कुररालिरावरोलं सलिलं तत्सारसालिरवशूरम्।
कमलासवलालिवरं मारयति शाम्यतो विषमम्॥

पोषयन्ति तच्छीलाः कुललालिनः सत्पुरुषास्तेषां लावे छेदे कर्तव्ये लोलो लम्पटो यस्तस्मिन् । तथा शलन्तीति शलाः सोद्यमास्ते विद्यन्ते यत्र देशे स शली । यद्वा शलं खड्गकोषबन्धोऽस्ति येषां ते शलिनः खड्गयोधास्तांल्लिशत्यल्पीकरोतीति शलीलेशस्तस्मिन् । तथा शालैर्गृहैः शालन्ते श्लाघन्त इत्येवंशीलाः शालशालिनस्तांल्लुनातीति शालशालिलवः स चासौ शूलं च । पीडाकरत्वात् । तथा कमला लक्ष्मीस्तस्याः शवा दरिद्रास्तेष्वपि ललति विलसतीत्येवंशीलं बलं सैन्यं यस्य स तथा तस्मिन् । तथामाले । 'मल धारणे ।' मलनं मालो न विद्यते मालो यस्यासावमालस्तस्मिन् । अनिवार्य इत्यर्थः । एष संस्कृतवाक्यार्थः ॥ मागधस्य तु—शे शलिले तत्सलिलं जलं शमन्तके शाम्यतः शमिनोऽपि मालेदि मारयति । कीदृशं तत् । कुरराः पक्षिविशेषास्तेषामालिः पङ्क्तिस्तदीयै रावैः शब्दै रोलः कलकलो यत्र तत्तथाभूतम् । तथा सारसालिरवेण सारसश्रेणिवाशितेन शूरं तद्विरहिमारणसमर्थम् । तथा कमलानां पद्मानामासवं मकरन्दाख्यं लान्ति ये ते च तेऽलिनश्च भ्रमरास्तैर्वरं श्रेष्ठं यत्तत् । तथा विषमं वियोगिभीषणमेवंविधं शरदि सलिलं विलोक्य मुनयोऽपि क्षुभ्यन्ति । इति मागधवाक्यार्थः ॥

इदानीं संस्कृतपिशाचभाषाश्लेषोदाहरणमाह—

कमनेकतमादानं सुरतनरजतु च्छलं तदासीनम् ।
अप्पतिमानं खमते सोऽगनिकानं नरं जेतुम्[1] ॥१३॥

उदाहरण

प्रथम अर्थ (संस्कृत-भाषा के अनुसार)

अन्वय—(हे) सुरत-नः ! ख-मते । सः अनेकतम-आदानं छलं तत्-आसीनं, अप्पति-मानं, अग-निकानं, कं नरं जेतुम् अजतु ।

कोई व्यक्ति किसी के द्वारा की हुई दूसरे की प्रशंसा को न सहकर कहता है—

अरे मूर्ख ! रति-युद्ध प्रवीण ! (तुम रणभूमि में वीरता दिखाना क्या जानो) वह मनुष्य भला कैसे उसको विजय करने की डींग मारता है (उसे जीतना कठिन है), क्योंकि जादूगर होने के कारण उसके उत्पत्ति के स्थान अनेक हैं। वह वरुण के समान मानी एवं वर्चस्वी है । मन्दराचल के समान उसकी कान्ति है ।१३।

द्वितीय अर्थ (पिशाच-भाषा के अनुसार)

अन्वय—सः रंजयितुं कमने कृतमोदानां सुरन-रजत-उच्छलद्दासीनां गणिकानां अप्पतिमानं न क्षमते ।

---

१. पैशाचीछाया—कामे कृतामोदानां सुवर्णरजतोच्छलद्दासीनाम् ।
अप्रतिमानं क्षमते स गणिकानां न रञ्जयितुम् ॥

कमिति । कस्यचित्केनचित्पौरुषस्तुतिः कृता । ततोऽन्यस्तामसहमान आह—हे सुरतनः निधुवनपुरुष, ते तव पौरुषं न रणे इत्यामन्त्रणपदाभिप्रायः । तथा खमते शून्यबुद्धे, यस्त्वया वर्ण्यते स कं नरं जेतुमजतु गच्छतु । नास्त्येवासौ पुरुषो यं सोऽभिभविष्यतीत्यर्थः । कीदृशं नरम् । अनेकतमान्यादानान्युत्पत्तिस्थानानि यस्य तं तथाभूतम् । तथा छलं तदासीनं तां मायामाश्रितम् । आश्रयणार्थः 'आसिः' सकर्मकः । तथापां पतेरप्पतेर्वरुणस्येव मानो गर्वो यस्य तम् । तथागस्येव मन्दरस्येव निकाना दीप्तिर्यस्य तम् । अथवा न गच्छतीत्यगो निकानो यस्येत्यन्यथास्य वाक्यस्यार्थः । अथवा यदा न सन्त्येवंविधास्तदा सर्वमेव तेन यतो जितमतः स कमिव नरं जेतुमजत्विति स्तुतिरेवात्रार्थः । इति संस्कृतवाक्यार्थः ।। पैशाचस्य तु—केनचिद्वेश्यानामुपकारः कृतः । ताभिस्तु तस्य न कृत इति सोऽत्र वर्ण्यते—स पूजितगणिकः पुरुषो गणिकानां वेश्यानामप्पतिमानमप्रतीपमपूजनं न क्षमते न सहते । किमर्थम् । रञ्जयितुमात्मरञ्जनाय । इदानीं मां ताः पूजयन्त्वित्येवमर्थम् । कीदृशीनां गणिकानाम् । कामविषये कृतामोदानां कृतहर्षाणाम् । तथा सुरन (स्वर्ण) रजताभ्यामुच्छलन्त्यो विलसन्त्यो दास्यो यासाम् । पिशाचभाषायां कगचजतदपयवानां लोपो न क्रियत इत्यादिपूर्वोक्तं लक्षणम् ।।

इदानीं संस्कृतसूरसेनीवाक्योदाहरणमाह—

तोदी सदिगगणमदोऽकलहं स सदा बलं विदन्तरिदम् ।
आर दमेहावसरं सासदमारं गदासारम्[1] ।।१४।।

किसी ने वेश्याओं का उपकार किया, किन्तु उन्होंने उसका सम्मान नहीं किया । इस श्लोक में उस पुरुष का वर्णन है--

गणिकाओं की पूजा (उपकार) करने वाला वह पुरुष उनसे प्रत्युपकार की आशा रखता है और उसके प्राप्त न होने से रुष्ट है। वे वेश्याएँ काम-सम्बन्धी बातों में अत्यन्त आनन्दित होने वाली हैं, उनकी दासियाँ भी सोने-चाँदी में खेलती हैं ।१३।

संस्कृत और शौरसेनी का उदाहरण

प्रथम अर्थ (संस्कृत भाषा के अनुसार)

अन्वय—तोदी, सदिक्, अगण-मदः सः वित् सदा अकलहं, दम-ईहा-अवसरं, सासदं, गदा-सारम्, इदम् आरं बलम् अन्तः आर ।

युद्ध करते हुए मनुष्य का वर्णन है—वह युद्धकला-निपुण, शत्रुपीड़क, व्यूह-रचना से अभिज्ञ, परानपेक्षी तथा अपने भुजबल पर आश्वस्त व्यक्ति शत्रुओं की सेना में

---

१. सूरसेनीछाया--ततो दृश्यते गगनमदः कलहंसशतावलम्बितान्तरितम् ।
आर तमेघावसरं शाश्वतमारं गतासारम् ।।

तोदीति । कश्चिन्नरो रणस्थो वर्ण्यते—स कश्चिच्छूरो वित्पण्डित इदमारमरिसक्तं बलं सैन्यमन्तर्मध्य आर ससार । कीदृशोऽसौ । तुदति परानिति तोदी । तथा देशनं दिगुपदेशो व्यूहरचनादिविषयः सह दिशा वर्तत इति सदिक् । तथा न गणेन सहायवर्गेण मदो यस्यासावगणमदः स्वभुजबलसहायकापेक्ष इत्यर्थः । सदा सर्वकालमेव । कीदृशं बलम् । अकलहं परिभूतत्वान्निर्वैरम् । अत एव दमेहाया उपशमचेष्टाया अवसरः कालो यस्य तत्तथाभूतम् । तथास्यन्ते क्षिप्यन्त इत्यासाः शरास्तान्घ्नन्ति खण्डयन्तीत्यासदा धानुष्काः सह तैर्वर्तत इति सासदम् । तथा गदाभिः सारमुत्कृष्टम् । एष संस्कृतवाक्यार्थः ।। सूरसेन्यास्तु—शरदि नभो वर्ण्यते—तो इति ततः प्रावृषोऽनन्तरं दृश्यतेऽवलोक्यते । गगनं नभः । अद एतत् । कीदृशम् । कलहंसशतैरवलम्बितं चान्तरितं च । तथा आरतो निवृत्तो मेघानां घनानामवसरः कालो यत्र । यदि वा आरता उपरता मेघानामाप एव शरा बाणा यत्र तत्तथाभूतम् । तथा शाश्वतः स्थिरो मारः कामो यत्र । तथा गत आसारो वेगवर्षो यतस्तत्तथाभूतम् ।।

अथ संस्कृतापभ्रंशयोः श्लेषोदाहरणमाह—

[1]धीरागच्छदुमे हतमुदुद्धरवारिसदःसु ।
अभ्रमदप्रसराहरणुरविकिरणा तेजःसु ।।१५।।

घुसता चला गया । वह सेना पराजित होने के कारण निर्वैर थी तथा संधि के लिए अवसर देख रही थी । उस सेना में अन्धे धनुर्धर तथा गदाचालन-पटु योद्धा भी थे ।१४।

द्वितीय अर्थ (सूरसेनी भाषा के अनुसार)

अन्वय—तो कलहंस शतैरलम्बितं अन्तरितं (च) आरतमेघावसरं शाश्वतमारं गत-आसारं अदः गगनं दृश्यते ।

इसमें शरत् का वर्णन है—वर्षा के अनन्तर आकाश में सैकड़ों कलहंस उड़ते दिखायी दे रहे हैं, आकाश उनसे छिप-सा गया है । अब मेघों का समय चला गया है । कामजनित विकार इस ऋतु में शान्त हो गये हैं । अब वृष्टि का वेग भी समाप्त हो चुका है ।१४।

संस्कृत और अपभ्रंश का श्लिष्ट उदाहरण

प्रथम अर्थ (संस्कृत के अनुसार)

अन्वय—उमे ! धीरा [भव] । अभ्र-मद्-अप्प्रसरा, अवि-किरणा, अहः हत-मुत्, अणुः [गङ्गा] उद्-धर-वारि-सदःसु तेजःसु अगच्छत् ।

---

१. अपभ्रंशच्छाया—धीरा गच्छतु मेघतमो दुर्धरवार्षिकदस्यु ।
अभ्रमदप्रसरा हरणं रविकिरणास्ते यस्य ।।

धीरेति । अत्र काचिद्गौरीसखी गङ्गायाः सपत्न्या व्यसनेन गौरीमानन्दयति—यथा हे उमे गौरि, धीरा स्वस्था भवेति क्रिया गम्यते । यतः, अभ्रे गगने माद्यत्युद्धतो भवति यः स तथाविधोऽपां जलानां प्रसरो यस्याः सा अभ्रमदप्प्रसरा गङ्गा अवेरिव गड्डरिकाया इव किरणं विक्षेपणं निर्वासनं यस्याः साविकिरणा । अहर्दिवसमपि । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे–' इति कर्म । अत एव हतमुद्गतहर्षा । तत एव चाणुः कृशा सत्यगच्छदपतत् । क्व तेजःसु । कीदृशेषु । उद्गता धरा पृथ्वी प्रलयापन्निमग्ना सती यस्मात्तदुद्धरं तच्च तद्वारि च समुद्रजलं च तदेव सदो गृहं येषां तानि तथाविधानि तेषु । वडवानलतेजःस्वित्यर्थः । हरनिर्वासनदुःखिता सती गङ्गात्मानं वडवानलेन्धनीचकारेति भावार्थः । एष संस्कृतवाक्यार्थः ।। अथवा काचित्सखी गौर्याः पुरतो हरसमरं वर्णयति—हे उमे, धीर्बुद्धिरागच्छदागता । कथमहतमुदनष्टहर्षं यथा भवति तथोद्गता निवृत्ता हरवारिणो हरनिषेधकाः शत्रवो यत्र कर्मणि तदुद्धरवारि यथा भवति यथास्माकं बुद्धिस्तुष्टिश्चाभूत्तथा हरेणारयो जिता इत्यर्थः । सा च धीः सदःसु सभासु तेजःसु च परतेजोविषयेऽभ्रमत्प्रसृता । तेजस्ततारेत्यर्थः । कीदृशी धीः । सर्वगत्वादपामिव प्रसरो गतिर्यस्याः साप्प्रसरा । अहर्दिवसम् । सदेत्यर्थः । अणुः कुशाग्रीया । तथाविकिरणा निरसितुमशक्या । इति संस्कृतवाक्यार्थः ।। अपभ्रंशस्य तु—वर्षावर्णनम्—हे धीराः, गच्छत्वपसरतु । किम् । तन्मेघकृतं तमो मेघतमः कीदृशम् । दुर्धरा दुर्वारा वार्षिका वर्षासु भवा दस्यवश्चोरा यत्र । यदि वा वार्षिका मेघा एव दस्यवश्चौरास्तेजसो हरणाद्यत्र । तथा यस्य मेघतमसस्ते रविकिरणाः सूर्यकरा हरणं हर्तारः । कीदृशाः । अभ्रमदप्रसरा

एक सखी गौरी को उसकी सपत्नी गङ्गा की विपत्ति का हाल सुनाकर आनन्दित करती है—

हे गौरि ! अब प्रसन्न होओ । क्योंकि आकाश में पहले जिस गङ्गा का वेगपूर्ण जल-प्रवाह प्रसारित होता था अब उस गङ्गा को भेड़ की भाँति घर से निर्वासित कर दिया गया है । इस कारण उसका सारा सुख मिट्टी में मिल गया है । वह क्षीणकाय होकर समुद्र-जल में स्थित वडवानल के मुख में जा गिरी है ।१५।

द्वितीय अर्थ (अपभ्रंश के अनुसार)

अन्वय—[हे] धीराः ! दुर्धर-वार्षिक-दस्यु मेघतमः गच्छतु । अभ्रम-द-प्रसराः रविकिरणः यस्य हरणम् ।

इससें वर्षा-वर्णन है—हे बुद्धिमान्, धीर व्यक्तियो ! अब मेघजनित अन्धकार का नाश हो, जिसमें वर्षाकाल में होने वाले अनेक भयंकर चोर-लुटेरे बसते हैं । पदार्थों का यथार्थ प्रकाशन करने वाली सूर्य की किरणें जिस अन्धकार का नाश करती हैं ।

भ्रमो भ्रान्तिर्न भ्रमो निश्चयस्तं ददातीत्यभ्रमदः प्रसरो येषां ते तथाविधाः । यथावस्थितं वस्तुस्वरूपं ये प्रकाशयन्तीत्यर्थः ।।

अथ भाषाश्लेषस्य प्रकारान्तरमाह—

वाक्ये यत्रैकस्मिन्ननेकभाषानिबन्धनं क्रियते ।
अयमपरो विद्वद्भिर्भाषाश्लेषोऽत्र विज्ञेयः ।।१६।।

वाक्य इति । यत्रैकस्मिन्नेव वाक्येऽनेकभाषा निबध्यन्ते सोऽयमपरः पूर्वस्मादन्यो भाषाश्लेषोऽत्र ज्ञातव्यः । पूर्वत्रानेकार्थोऽनेकाभिर्भाषाभिरुक्तः, इह त्वेक एवार्थो बह्वीभिर्भाषाभिरुच्यत इति तात्पर्यार्थः ।।

उदाहरणम्—

समरे भीमारम्भं विमलासु कलासु सुन्दरं सरसम् ।
सारं सभासु सूरिं तमहं सुरगुरुसमं वन्दे ।।१७।।

समर इति । तमहं सूरिं वन्दे स्तौमि कीदृशम् । समरे रणे भीमारम्भं भीषणोद्योगम् । विमलासु कलासु सुन्दरं निर्मलकलाविषये शोभनम् । सरसं शृङ्गारादिरसोपेतम् । तथा सभासु सदःसु सारमुत्कृष्टम् । अत एव सुरगुरुसमं बृहस्पतितुल्यम् ।

भाषा-श्लेष का एक अन्य प्रकार

जहाँ एक ही वाक्य में [एक अर्थ को प्रतिपादित करने वाली] अनेक भाषाओं का प्रयोग हो वह एक अन्य भाषा-श्लेष है।१६।

पूर्वोक्त भाषा-श्लेष के उदाहरणों में अनेक भाषाओं से अनेक अर्थ व्यक्त थे, किन्तु निम्नोक्त उदाहरणों में अनेक भाषाओं से एक ही अर्थ प्रकट होता है ।

उदाहरण (संस्कृत और प्राकृत के समान शब्दों से बना श्लोक)

अन्वय—अहं समरे भीमारम्भं, विमलासु कलासु सुन्दरं, सरसं, सभासु सारं, सुरगुरुसमं तं सूरिं वन्दे ।

मैं बृहस्पति-तुल्य विद्वान् का अभिवादन करता हूँ जो रणभूमि में प्रचण्ड वीरता से युद्ध करता है । सुन्दर कलाओं में निष्णात तथा शृङ्गारादि रस-वर्णन में पटु है, जो सभाओं का तो मानो प्राण है ।१७।

यह श्लोक संस्कृत और प्राकृत के समान शब्दों से विरचित है । दोनों भाषाओं से एक ही अर्थ व्यक्त होता है ।

अन्य उदाहरण (संस्कृत और मागधी के समान शब्दों से बना श्लोक)

अन्वय—[यतः] दुःशीलाः खलाः काले अशमदशं अशिवम् दिशन्ति । [अतः ते] शबलाः शूलं शलन्तु, वा शं विशन्तु, [वा] वशं (यान्तु), वा विशङ्का [भवन्तु] ।

अयमेकत्रार्थे संस्कृतप्राकृतश्लेषः समसंस्कृतप्राकृतशब्दरचितत्वात् । एवमुत्तरत्रापि समसंस्कृतमागधशब्दरचितत्वादित्यादि द्रष्टव्यम् ॥

समसंस्कृतमागधशब्दोदाहरणमाह—

शूलं शलन्तु शं वा विशन्तु शबला वशं विशङ्का वा ।
अशमदशं दुःशीला दिशन्ति काले खला अशिवम् ॥१८॥

शूलमिति । दुःशीला दुष्टचारित्राः खलाः शलवोऽशिवं पीडादिकं दिशन्ति ददति यतोऽतस्ते शबलाः पातकिनः शूलं वा शलन्त्वधिरोहन्तु । शं वा सुखं वा विशन्त्वधिगच्छन्तु । वशं पराधीनतां वा यान्तु । विशङ्काः स्वच्छन्दा वा भवन्तु तच्चिन्तामपि न कुर्मः । कीदृशमशिवम् । अविद्यमानः शम उपशमो यस्यां सा तथाविधा दशावस्था यत्र तदशमदशम् ॥

संस्कृतपैशाचिकयोः श्लेषोदाहरणमाह—

चम्पककलिकाकोमलकान्तिकपोलाथ दीपिकानङ्गी ।
इच्छति गजपतिगमना चपलायतलोचना लपितुम् ॥१९॥

चम्पकेति । काचिन्नायिका गजेन्द्रसमगमना चञ्चलदीर्घलोचना च । तथा चम्पककलिकावत्कोमलकान्ती रम्यरुची कपोलौ यस्याः सा तथाविधा । तथानङ्गस्येयमानङ्गी दीपिका । तया कामस्य प्रकाशितत्वात् । सा लपितुं वक्तुमिच्छति ॥

दुष्ट लोग इस प्रकार दुःख देते हैं कि मानसिक शान्तिविहीन मरणावस्था का-सा कष्ट होता है। वे पातकी शूली पर चढ़ें या सुख भोगें, पराधीन बनें अथवा स्वच्छन्द विहार करें हम इस बात की चिन्ता नहीं करते ।१८।

उदाहरण (संस्कृत और पैशाची के समान शब्दों से बना श्लोक)

अन्वय—चम्पककलिकाकोमलकान्तिः, अथ आनङ्गी दीपिका, गजपतिगमना, चपलायत लोचना (सा काचित्) लपितुम् इच्छति ।

चम्पा की कली के समान कोमलकान्त कपोलों से युक्त, काम की दीपिका रूप (प्रकाशिका), गजेन्द्र के समान धीर गति वाली तथा चञ्चल एवं दीर्घ नेत्रों वाली यह नायिका कुछ कहना चाहती है ।१९।

उदाहरण (संस्कृत और शौरसेनी (सूरसेनी) से बना श्लोक)

अन्वय—मदिरामद मधुरवाणि ! सुपीवर-परिणाहिपयोधरारम्भे ! तरुणाः ते सामोदं अधरदलं साधु पिबन्तु ।

अथ संस्कृतसूरसेनीश्लेषमाह—

अधरदलं ते तरुणा मदिरामदमधुरवाणि सामोदम् ।
साधु पिबन्तु सुपीवरपरिणाहिपयोधरारम्भे ॥२०॥

अधरेति । मदिरामदेन मधुरा वाणी यस्याः सा संवोध्य भण्यते । ते तवाधरदलमोष्ठपल्लवं तरुणा युवानः साधु यथा भवत्येवं पिबन्तु चुम्बन्तु । कीदृशम् । सामोदं सुगन्धि । किंविशिष्टे । सुष्ठु पीवरो मांसलः परिणाही परिमण्डलः पयोधरारम्भः कुचाभोगो यस्याः सैवमामन्त्र्यते ॥

संस्कृतापभ्रंशश्लेषमाह—

क्रीडन्ति प्रसरन्ति मधु कमलप्रणयि लिहन्ति ।
भ्रमरा मित्र सुविभ्रमा मत्ता भूरि रसन्ति ॥२१॥

क्रीडन्तीति । कश्चित्कंचिदाह—हे मित्र, भ्रमरा मत्ताः सन्तः क्रीडन्ति विचरन्ति । प्रसरन्तीतस्ततो गच्छन्ति । तथा मधु मकरन्दं कमलप्रणयि पद्मसंबद्धं लिहन्त्यास्वादयन्ति । कीदृशाः । सुष्ठु विभ्रमो येषां ते तथाविधाः । तथा भूरि प्रभूतं रसन्ति शब्दायन्ते । अन्योऽपि मत्त एवंविधो भवति ॥

भाषाश्लेषमुपसंहरन्नाह—

एवं सर्वासामपि कुर्वीत कविः परस्परं श्लेषम् ।
अनयैव दिशा भाषास्त्र्यादी रचयेद्यथाशक्ति ॥२२॥

एवमिति । तथा संस्कृतभाषाया अन्याभिर्भाषाभिः सह श्लेषः कृत एवमन्यासामपि परस्परं कर्तव्योऽसौ । तद्यथा—प्राकृतभाषाया मागधिकापैशाचीसूरसेन्यपभ्रंशैः

हे मदिरा के मद से मधुर बोलने वाली तथा अतिस्थूल एवं विशाल स्तनों वाली ! युवक-जन तुम्हारे सुगन्धित अधरों का रुचिपूर्वक पान करें ।२०।

उदाहरण (संस्कृत और अपभ्रंश के समान शब्दों से बना श्लोक)

अन्वय—हे मित्र ! सुविभ्रमाः भ्रमराः मत्ताः (सन्तः) क्रीडन्ति, प्रसरन्ति, कमलप्रणयि मधु लिहन्ति, भूरि रसन्ति ।

हे मित्र ! भौंरे मदमत्त होकर इधर-उधर घूम रहे हैं, कमलों के मधु का स्वाद लेकर अनेक प्रकार से सुन्दर विलास करते हुए सतत शब्द कर रहे हैं ।२१।

इस प्रकार न केवल संस्कृत अपितु अन्य सभी भाषाओं का भी कवि उपर्युक्त विधि से यथाशक्ति (एक वाक्य तथा अनेक वाक्यों में) परस्पर श्लेष करें । इसमें तीन, चार, पाँच अथवा छः तक भाषाएँ संश्लिष्ट की जा सकती हैं ।२२।

सह, मागधिकायाः पैशाच्याः सूरसेन्यपभ्रंशैः पैशाच्याः सूरसेन्यपभ्रंशाभ्याम्, सूरसेन्या अपभ्रंशेन । एते दश भेदाः प्राच्यैः सह द्वियोगे सर्व एव पञ्चदश भेदा भवन्ति। तथानयैव दिशानेनैव न्यायेन त्र्यादीस्तिस्रश्चतस्रः पञ्च षड्वा युगपच्छ्लिष्टा भाषा यथासामर्थ्यमेकवाक्यतया भिन्नवाक्यतया वा रचयेत्। तत्र त्रियोगे विंशतिर्भेदाः। यथा—सं० प्रा० मा० १, सं० प्रा० पै० २, सं० प्रा० सू० ३, सं० प्रा० अ० ४, प्रा० मा० पै० ५, प्रा० मा० सू० ६, प्रा० मा० अ० ७, मा० पै० सू० ८, मा० पै० अ० ९, पै० सू० अ० १०, सं० मा० पै० ११, सं० मा० सू० १२, सं० मा० अ० १३, प्रा० पै० सू० १४, प्रा० पै० अ० १५, प्रा० सू० अ० १६, सं० पै० सू० १७, सं० पै० अ० १८, प्रा० सू० अ० १९, सं० सू० अ० २०। चतुर्योगे तु पञ्चदश। तद्यथा—सं० प्रा० मा० पै० १, सं० प्रा० मा० सू० २, सं० प्रा० मा० अ० ३, प्रा० मा० पै० सू० ४, प्रा० मा० पै० अ० ५, मा० पै० सू० अ० ६, सं० मा० पै० सू० ७, सं० मा० पै० अ० ८, सं० पै० सू० अ० ९, प्रा० पै० सू० अ० १०, सं० प्रा० सू० अ० ११, सं० मा० सू० अ० १२, सं० प्रा० पै० सू० १३, सं० प्रा० पै० अ० १४, प्रा० मा० सू० अ० १५। पञ्चयोगे षट्। तद्यथा—सं० प्रा० मा० पै० सू० १, सं० प्रा० मा० पै० अ० २, सं० मा० पै० सू० अ० ३, सं० प्रा० पै० सू० अ० ४, सं० प्रा० मा० सू० अ० ५, प्रा० मा० पै० सू० अ० ६। षड्योगे त्वेक एव भेदः ॥

तत्र षड्योगादिकप्रदर्शनायैकार्थश्लेषमेकमुदाहरणमाह—

अकलङ्ककुल कलालय बहुलीलालोल विमलबाहुबल।
खलमौलिकील कोमल मङ्गलकमलाललाम लल ॥२३॥

अकलङ्केति। हे एवंविध, त्वं लल क्रीड। कीदृश। अकलङ्ककुल निर्मलान्वय। कलालय कलावास। बहुलीलालोल प्रचुरविलासलम्पट। विमलबाहुबल प्रकटभुजपराक्रम। खलमौलिकील दुर्जनशिरःशङ्को। कोमल कमनीय। मङ्गलकमलाललाम जयलक्ष्मीचिह्न। अत्रैकस्मिन्नर्थे भाषाषट्कस्यापि समानं रूपम् ॥

उदाहरण

अन्वय—हे अकलङ्ककुल ! कलालय ! बहुलीलालोल ! विमलबाहुबल ! खलमौलिकील ! कोमल ! मङ्गलकमलाललाम ! (त्वम्) लल !

हे निर्मल वंशरत्न ! कलाओं के मन्दिर ! अनेकविध विलासों में आसक्त ! भुजबल द्वारा यशोपार्जन करने वाले ! दुष्टों के मस्तक पर कील के सदृश ! सुन्दर ! जयलक्ष्मी के चिह्न ! तुम सदा क्रीडा में रत रहो।२३।

छः भाषाओं के समान शब्दों से बने इस श्लोक से एक ही अर्थ व्यक्त हुआ है।

अथ प्रकृतिश्लेषमाह—

सिद्ध्यति यत्रानन्यैः सारूप्यं प्रत्ययागमोपपदैः ।
प्रकृतीनां विविधानां प्रकृतिश्लेषः स विज्ञेयः ॥२४॥

सिद्ध्यतीति । यत्र प्रत्ययैरागमैरुपपदैश्चानन्यैस्तैरेव प्रकृतीनां तु नानाप्रकाराणां सारूप्यं समानरूपता सिद्ध्यति स प्रकृतिश्लेषः ॥

तत्रोदाहरणमाह—

परहृदयविदसुरहितप्राणनमत्काव्यकृत्सुधारसनुत् ।
सौरमनारं कलयति सदसि महत्कालचित्सारम् ॥२५॥

परेति । देवासुरयुद्धं वर्ण्यते—सौरं सुरसमूहः कर्तृ कलयति कलिं गृह्णाति । युद्ध्यत इत्यर्थः । क्व सन्तः । अस्यन्ते क्षिप्यन्ते यत्र तत्सदस्तत्र सदसि युद्धे । सौरं कीदृशम् । परहृदयानि रिपुवक्षांसि विध्यतीति परहृदयवित् । यथासुरहितानां दानवपक्षपातिनां प्राणनं जीवनं मथ्नातीत्यसुरहितप्राणमत् । तथा काव्यं दानवगुरुं कृन्तति पीडयतीति काव्यकृत् । तथा सुधारसममृतरसं नौति स्तौतीति सुधारसनुत् । तथा देवत्वान्न विद्यते नारं नरसमूहो यत्र तदनारम् । तथा महत्प्रभूतम् तथा काले कृत्य-

---

प्रकृतिश्लेष

जहाँ विविध प्रकृतियों की अनन्य प्रत्यय, आगम और उपपदों के साथ समानरूपता हो उसे प्रकृतिश्लेष कहते हैं ।४२।

उदाहरण

प्रथम अर्थ

अन्वय—परहृदय-वित्, असुर-हित-प्राणन-मत्, काव्यकृत्, सुधा-रस-नुत्, अनारं, महत् कालचित् सौरं सदसि सारं कलयति ।

देवासुर संग्राम का वर्णन है—देवता लोग युद्ध में शत्रु-दानवों के हृदय को बींधते हैं, शत्रुओं के पक्षपातियों के प्राणों का मंथन करते हैं (हरण करते हैं) । दानवों के गुरु शुक्राचार्य को पीड़ित करते हैं तथा अमृत की प्रशंसा करते हैं । कार्य करने के समय उनकी चेतना-शक्ति अत्यन्त प्रबुद्ध रहती है । देवताओं के यहाँ मनुष्यों का वास नहीं होता । इस प्रकार वे अपने शत्रुओं के साथ युद्ध करते हैं ।२५।

द्वितीय अर्थ

अन्वय—महत्, पर-हृदय-वित्, असु-रहित-प्राणन-मत्, काव्यकृत्, सुधार-स-नुत्, अनारं, कालचित् सौरं सदसि सारं कलयति ।

विद्वान् लोग सभा में उत्कृष्ट अथवा उचित वस्तु का विश्लेषण करते हैं । पूज्य-जन का समादर करते हैं । सज्जनों को सताने वाले दुष्टों को सुधारते हैं । कलाओं का

करणसमये चिच्चैतन्यं ज्ञानं यस्य तत्कालचित् तथा सहारेणारिसमूहेन वर्तते यत्तत्सारं यथा भवत्येवं कलयति । एष एकस्य वाक्यस्यार्थः ।। परस्यापि तादृशान्येव पदानि । सौरं सूरिसमूहः सारमुत्कृष्टं वस्तु न्याय्यं वा सदसि सभायां कलयति परिच्छिनत्ति । किं कुर्वत्सौरम् । महत्पूजयत्पूज्यजनम् । तथा परहृदयवित्परचित्तज्ञम् । तथासुरहितानां प्राणवर्जितानां प्राणनेन प्रत्युज्जीवनेन माद्यति हृष्यतीत्यसुरहितप्राणनमद् । तथा काव्यं कविकर्म करोतीति काव्यकृत् । तथा शोभनो धारो मर्यादादिधारणं येषां ते सुधाराः सुजनास्तान्स्यन्ति घ्नन्ति ये ते सुधारसाः खलास्तान्नुदति प्रेरयतीति सुधारसनुत् । तथा न विद्यत आरमरिसमूहो यस्य तदनारम् । तथा कलानां समूहः कालं चिनोत्यर्जयतीति कालचित् । अत्र प्रकृतयो व्यधिविदिप्रभृतयो भिन्नाः । प्रत्ययाः क्विबादय उभयत्रापि त एव । परहृदयादीन्युपपदानि च तान्येव । आगमश्च कालचिदादिपदेऽतोऽन्तागमादिकोऽनन्यः । ननु चैकत्र पक्षेऽतोऽन्तोऽस्ति द्वितीये नास्तीति कथमनन्यः । सत्यम् । नास्यान्योऽस्तीत्यनन्यो द्वितीयपक्षेऽन्यागमाभावादुच्यत इति सुस्थम् ।।

अथ प्रत्ययश्लेषः—

यत्र प्रकृतिप्रत्ययसमुदायानां भवत्यनेकेषाम् ।
सारूप्यं प्रत्ययतः स ज्ञेयः प्रत्ययश्लेषः ।।२६।।

यत्रेति । यत्र प्रकृतिप्रत्ययसमुदायानां बहूनां प्रत्ययात्सकाशात्सारूप्यं समानरूपता भवति स प्रत्ययश्लेषो ज्ञातव्यः ।।

उपार्जन (शिक्षण) करते हैं, तथा सबमें समान चित्त होने से उनके शत्रु नहीं होते ।२५।

यहाँ विदि आदि प्रकृतियों, क्विबादि प्रत्ययों, परहृदय आदि उपपदों, कालचित् आदि आगमों की अनन्यता है।

प्रत्ययश्लेष

जहाँ प्रकृति और प्रत्यय के अनेक समुदायों की प्रत्यय के कारण समानरूपता हो उसे प्रत्ययश्लेष कहते हैं ।२६।

उदाहरण

प्रथम अर्थ

अन्वय—दासेयः तापनम्, आजं, पावनमारं हारं पराप । [अथ च] बहुशः [सः] कारं, चारणं, आहितं साधनं दरम् आज ।

इस दुष्ट चोर ने [पकड़े जाने की अवस्था में] संताप देने वाले तथा [दण्ड-रूप में चोर के फेंक दिये जाने के कारण] दुःखदायी, मृत्युदण्ड-तुल्य इस हार को चुराया है । इसने हार चुराते समय इसके स्वामी का डर नहीं माना । हड़बड़ी में भागते समय हाथ-पैरों के टूटने की भी परवाह नहीं की । [वस्तुतः] यह बहुत से धनियों

उदाहरणम्—

तापनमाजं पावनमारं हारं पराप दासेयः ।
कारं चारणमाहितमाज दरं साधनं बहुशः ॥२७॥

तापनमिति । एष दासेयो दासीपुत्रश्चौरो हारं मुक्ताकलापं ह्रियमाणं वा वस्तु पराप मुषित्वा प्राप्तवान् । कीदृशम् । तापयतीति तापनम् । बन्धादिहेतुत्वात् । तथा अज्यते क्षिप्यतेऽनेनेत्याजयतीति वा आजम् । चौरो हि चारकादौ क्षिप्यते तथा पावयतीति पावनः शुद्धिकृन्मारो मरणं यत्र तत्पावनमारम् । तथा स दासेयो हरणकाले दरं भयमाज चिक्षेप त्यक्तवान् । कीदृशं दरम् । सधनादीश्वरादागतं साधनम् । आहितं हृदये निहितम् । पुनः कीदृशं दरम् । करयोरिदं कारम् । तथा चरणयोः पादयोरिदं चारणम् । करचरणखण्डनादिभयं नाजीगणदित्यर्थः । यतोऽसौ बहून्शयतीति बहुशः । बह्वस्तेन धनाढ्यपहारतस्तनूकृता इत्यर्थः । एष एकोऽर्थः ॥ द्वितीयस्तु—आसेय आरं गतिं परापत्प्राप्तवान् । 'षिञ् बन्धने' । आसेतव्य आसेयो मोक्षमप्राप्तो ज्ञानी भण्यते । ईषत्कर्मबन्धनात् । कीदृशमारम् । तपनस्येमं तापनम् । अजस्येममाजम् । पवनस्येमं पावनम् । हरस्येमं हारम् । सूर्यविष्णुवायुरुद्राणां संबन्धिनीं गतिं लेभ इत्यर्थः । यतोऽसौ कारं क्रियामाजत्त्यक्तवान् । कीदृशं कारम् । चारयति गमयति संसारे प्राणिनमिति चारणम् । पुनः कीदृशम् । अहितानां रागादीनामिदमाहितम् । किं तत् । साध्यतेऽनेनेति साधनम् । रागादीनामुपकरणमित्यर्थः । कथं साधनम् । बहुशोऽनेकशः । अरं शीघ्रम् । अत्र प्रत्ययवशात्प्रकृतिप्रत्ययसमुदायानां सारूप्यम् ॥

अथ विभक्तिवचनश्लेषः—

सारूप्यं यत्र सुपां तिङां तथा सर्वथा मिथो भवति ।
सोऽत्र विभक्तिश्लेषो वचनश्लेषस्तु वचनानाम् ॥२८॥

को लूटकर निर्धन बना चुका है, अतः अभ्यस्त हो गया है ।२६।

द्वितीय अर्थ

अन्वय—आसेयः तापनम्, आजं, पावनं, हारं आरं पराप । चारणं, आहितं, बहुशः साधनं, कारं अरम् आजत् ।

ज्ञानी व्यक्ति ने सूर्य, विष्णु, वायु तथा रुद्र की गति को प्राप्त किया । क्योंकि उसमें जन्म-मरण बन्धनहेतुक सभी क्रियाओं का परित्याग कर दिया था, तथा शीघ्र ही अनेक प्रकार के रागादि विषय एवं उनके साधनों को छोड़ दिया था ।२७।

यहाँ प्रत्यय के कारण प्रत्यय और प्रकृति की एकरूपता स्पष्ट है ।

विभक्तिश्लेष और वचनश्लेष

जहाँ सुबन्त और तिङन्त पदों के रूप सब प्रकार से परस्पर एक-समान हों

सारूप्यमिति । यत्र सारूप्यं समानरूपता सुपां स्यादीनां तिङां त्यादिनां मिथः परस्परं सर्वथा सर्वप्रकारैर्भवति सोऽत्र श्लेषाधिकारे विभक्तिश्लेषो ज्ञेयः । वचनानां त्वेकवचनादीनां मिथः सारूप्ये वचनश्लेष. ।।

तत्र तावद्विभक्तिश्लेषोदाहरणम् —

आयामो दानवतां सरति बले जीवतां न नाकिरताम् ।
नयदानवाँल्ललामः किमभूरसि दारुणः सहसा ।।२६।।

आयाम इति । जीवतां प्राणभृतां दानवतां दानं ददतां सतां संबन्धिनि बले सैन्य आयामो विस्तारः सरति प्रसरति । न नाकिरतां न विक्षिपताम् । कार्पण्येन गलेऽर्थिनं गृह्णतां नेत्यर्थः । कुतः । यतो नयश्च दानं च ते विद्येते यस्यासौ नयदानवान्पुरुषो ललामो भूषणं जगतः । तथा किमः कुत्साया अभूरस्थानं किमभूः । तथा सहसा बलेनासिदारुणः खड्गभीषणश्च ललामः । इत्येकोऽर्थः ।। अपरस्तु—केचित्सुरा बलिनामानमसुरमूचुः—हे बले वैरोचन, दानवतामसुरत्वमायाम आगच्छामः । कथम् । सरति सप्रीतीति कृत्वा । न पुनर्जीवतां वृहस्पतिताम् । किंभूताम् नाकिषु देवेषु रतां सक्तां नाकिरताम् । तस्मान्नय प्रापय दानवानसुरान् । येन तेषां मध्ये ललामो विलसामः । किमसि त्वं दारुणः काष्ठादभूः संजातः सहसा । येनास्माकं वचनं न शृणोषीत्यर्थः । अत्रायाम इत्यादयो य एव स्याद्यन्तास्त एव त्याद्यन्ताः शब्दा इति सारूप्यम् ।

वहाँ विभक्ति श्लेष होता है और जहाँ वचन (एकवचन, द्विवचन अथवा बहुवचनों के रूप परस्पर) एक-समान हों वहाँ वचनश्लेष जानना चाहिए ।२८।

उदाहरण

प्रथम अर्थ

अन्वय—जीवतां, दानवतां बले आयामः सरति, न नाकिरताम् । [यतः] नयदानवान् ललामः । किम् अभूः सहसा असि-दारुणः ।

दान देनेवाले अर्थात् उदार प्राणियों का सैन्यबल विस्तार को प्राप्त होता है, कृपण व्यक्तियों का नहीं । क्योंकि नीतिज्ञ दानी पुरुष ही जगत् का भूषण होता है । उसका चरित्र अनिन्द्य होता है तथा वह बल में खड्ग के समान दारुण होता है ।२६।

द्वितीय अर्थ

अन्वय—हे बले ! स-रति दानवताम् आयामः, न [पुनः] नाकि-रतां जीवताम् । असुरान् नय, ललामः । किं असि (त्वम्) दारुणः अभूः सहसा ।

कुछ देवता बलि से कह रहे हैं—हे बलि ! हम प्रसन्नता से दानवता की ओर आते हैं, देवों के विशेष प्रिय वाचस्पतित्व की ओर नहीं । हमें राक्षसों के पास ले

अथ वचनश्लेषोदाहरणम्—

आर्योऽसि तरोमाल्यः सत्योऽनतकुक्षयः स्तवावाच्यः ।
सन्नाभयो युवतयः सन्मुख्यः सुनयना वन्द्यः ।।३०।।

आर्य इति । कश्चिदुत्साह्यते—असि त्वं वन्द्यो वन्दनीयः, यत आर्यो विशिष्टः । तथा तरो बलं माल्यमलंकरणं यस्यासौ तरोमाल्यः । सत्योऽवितथवाक् । अनतानामप्रणतानां कोर्भूमेः क्षयो नाशहेतुरनतकुक्षयः । स्तवैः स्तुतिभिरवाच्यो वक्तुमशक्यः । तथा सन्नानां क्षीणानामभयो न विद्यते भयं यस्मादिति सन्नाभयः । तथा यूनस्तरुणांस्तयतेऽभियुङ्क्त इति युवतयः । सतां साधूनां मुख्य आद्यः । तथा शोभनो नयोऽस्येति सुनयः स चासौ ना च । सुनीतिपुरुष इत्यर्थः । एष एकवचनेनैकस्य वाक्यस्यार्थः ।। अपरस्य तु—कश्चिद्राजानमाह—तव संबन्धिन्य आर्योऽरिसक्ता युवतयः स्त्रियो वन्द्यो ग्रहानीता एवंविधाः । असिता रोमाली यासां तास्तथाभूताः । तथा सत्यः साध्व्यः । नतकुक्षयः कृशोदर्यः । अवाच्योऽधोमुख्यः तथा सती रम्या नाभिर्यासां ताः सन्नाभयः । तथा सच्छोभनं मुखं यासां ताः सन्मुख्यः । शोभने नयने यासां ताः सुनयनाः । अत्रार्य इत्यादीनि पदानि बहुवचनान्तानीति वचनश्लेषः ।।

चलो, जिससे हम उनके बीच विहार कर सकें । अरे, क्या तुम लकड़ी के बने हो [जिससे हमारी बात नहीं सुनते] ।२९।

उदाहरण

प्रथम अर्थ

अन्वय—[त्वम्] वन्द्यः असि, [यतः] आर्यः, तरो-माल्यः, सत्यः, आनत-कुक्षयः, स्तव-अवाच्यः, सन्न-अभयः, युव-तयः, सत्-मुख्यः, सुनयना च ।

तुम वन्दनीय तथा सच्चरित्र हो । विक्रम ही तुम्हारा भूषण है । तुम सत्यवादी और दुष्टों के विनाशक हो । तुम स्तुति से परे हो । दुर्बलों को तुमसे कोई भय नहीं है, अर्थात् उन्हें अभय दान देने वाले हो । तुम युवकों से युद्ध करने वाले, सज्जनों में अग्रगण्य तथा सुनीतिमान् पुरुष हो ।३०।

द्वितीय अर्थ

अन्वय—असित-रोमाल्यः, सत्यः नतकुक्षयः, अवाच्यः, सन्नाभयः, सन्मुख्यः, सुनयनाः, तव आर्यः युवतयः वन्द्यः ।

हे राजन् ! आपके शत्रुओं की युवती स्त्रियों को बन्दी बना लिया गया है । वे युवतियाँ काली रोमावली से युक्त हैं । साध्वी हैं तथा कृशोदरी हैं । उन्होंने मुख नीचे किया हुआ है, उनकी नाभि, मुख और नेत्र-युगल सुन्दर एवं मनोहर हैं ।३०।

एवं श्लेषलक्षणमभिधाय पूर्वकविलक्ष्यसंग्रहाय लक्षणशेषमाह—

भाषाश्लेषविहीनः स्पृशति प्रायोऽन्यमप्यलंकारम् ।
धत्ते वैचित्र्यमयं सुतरामुपमासमुच्चययोः ।।३१।।

भाषेति । अयं पूर्वोक्तश्लेषो भाषाश्लेषरहितः प्रायो बाहुल्येनान्यमप्यलंकारमर्थविषयं व्यतिरेकादिकं स्पृशति । श्लेषस्याप्यौपम्यादिभिः सह संकरो भवतीत्यर्थः । अपिशब्दो विस्मये । प्रायोग्रहणमसाकल्यप्रतिपादनार्थम् । अन्यमलंकारं स्पृशति परं न सर्वमेवेत्यर्थः । तत्रापि सुतरामतिशयेन वैचित्र्यं रम्यत्वमयं श्लेष उपमासमुच्चययोर्धत्ते धारयति उपमासाहचर्यात्समुच्चयोऽप्यत्रौपम्यभेदो गृह्यते ।

नन्वत्र श्लेषवाक्यद्वये शब्दमात्रं श्लिष्टं भवति, न त्वर्थ इतिसाम्याभावस्ततश्च कथमुपमासमुच्चयाभ्यां स्पर्शो घटत इत्याशङ्क्याह—

स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ किं तु ।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः ।।३२।।

स्फुटेति । स्फुटं सत्यमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ न कदापि स्वरूपं त्यजतः । किंतु शब्दमात्ररूपं सामान्यं साधारणं धर्ममाश्रित्य संभवतः । ताभ्यां योगो घटत

[यहाँ आर्यादि पद बहुवचनान्त होने से वचनश्लेष है ।]

भाषाश्लेष को छोड़कर [अपने शेष सभी प्रकारों से युक्त] यह श्लेष अलंकार प्रायः अन्य (कई, न कि सभी) अलंकारों के साथ भी स्पष्ट (समन्वित अथवा सम्बद्ध, शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो संकरित) रहता है। उपमा और समुच्चय नामक अलंकारों के साथ इसका संकर तो [बहुत ही] रमणीय होता है ।३१।

इस कारिका का उत्तरार्द्ध भामह से प्रभावित जान पड़ता है । उन्होंने श्लेष के तीन रूप बताये हैं—सहोक्ति द्वारा निर्दिष्ट, उपमा द्वारा निर्दिष्ट और हेतु द्वारा निर्दिष्ट (भामहालंकार ३।१७) । यहाँ 'सहोक्ति' से भामह का तात्पर्य प्रख्यात सहोक्ति अलंकार न होकर समुच्चय अलंकार से है जैसा कि उनके निम्नोक्त उदाहरण से स्पष्ट है:

छायावन्तो गतव्यालाः स्वारोहाः फलदायिनः ।
मार्गद्रुमाः महान्तश्च परेषामेव भूतये ।।

भा० अ० १३।१८

इधर रुद्रट ने 'हेतु निर्दिष्ट' नामक भेद की चर्चा न करके प्रथम दो अलंकारों की चर्चा की है ।

यद्यपि उपमा और समुच्चय ये दोनों स्पष्टतः अर्थालंकार हैं, किन्तु ये दोनों अलंकार [प्रकृत और अप्रकृत दोनों पक्षों के लिए] सामान्य अर्थात् एक समान शब्दों को धारण करते हुए भी सम्भव होते हैं ।३२।

इत्यर्थः । अर्थतो न साहश्यं किं तु वाक्यद्वयसाधारणशब्दाश्रयं सादृश्यं विद्यत इति तात्पर्यार्थः ।

उदाहरणमाह—

यदनेकपयोधिभुजस्तवैव सहशोऽस्यहीनसुरतरसः ।

ननु बलिजितः कथं ते सदृशस्तदसौ सुराधिकृतः ।।३३।।

उदाहरण

श्लिष्ट पदों का अर्थ

अनेकपयोधिभुजः (क) अनेकप-योधि-भुजः (अनेकापानां द्विपानां हस्तीनामिति यावत्, योद्धा भुंजः बाहुः यस्य सः ।

(ख) अनेकान्—चतुरः, पयोधीन्—समुद्रान्, भुनक्ति—रक्षति यः तस्य अनेकपयोधिभुक्तस्य ।

अहीनसुरतरसः (क) अहीनः—पूर्णः, सुरत-रसः—निधु-वन-आनन्दो यस्य सः ।

(ख) अहीनां—नागानां, इनः—स्वामी, सुराः—देवाः तेषामिव तरः—बलं यस्य सः ।

बलिजितः (क) बलिनः समर्थान् जयतीति बलिजित् तस्य ।

(ख) बलिना—बलिनामधेयेन दानवेन, जितः—पराभूतः ।

सुराधिकृतः (क) सुराणामाधीन् मनः पीडाः क्रन्ततीति सुराधिकृत् तस्य ।

(ख) सुरैः—देवैः, अधिकृतः—(राज्ये) नियोजितः ।

अन्वय—यत् अनेकप-योधि-भुजः अहीन-सुरत-रसः त्वम् अनेक-पयोधि-भुजः अहि-इन-सुर-तरसः तव एव सदृशः असि । ननु बलि-जितः सुर-आधि-कृतः ते बलि-जितः सर-अधिकृतः असौ [इन्द्रः] तत् कथं सदृशः ।

हाथियों से युद्ध करने में समर्थ भुजाओं वाले तथा सुरत के आनन्द का पूर्ण उपभोग करने वाले तुम अपने सहश आप ही हो । क्योंकि तुम चारों समुद्रों की रक्षा करने वाले हो तथा नागराज वासुकि और देवताओं के समान शक्तिमान् हो । तुम इन्द्र के सहश न होकर अपनी उपमा स्वयं हो, क्योंकि तुम बलवानों को भी जीतने वाले हो तथा देवों की मानसिक चिन्ताओं का अपहरण करने वाले हो, जबकि इन्द्र बलि से पराजित है और देवताओं ने उसे अपना राजा माना हुआ है ।३३।

उपमा और संमुच्चय [से समन्वित श्लेष] का उदाहरण

निम्नोक्त पद्य के प्रथम दल में समुच्चय समन्वित श्लेष है और दूसरे दल में उपमा समन्वित श्लेष ।

यदिति । कश्चिदुच्यते—त्वं तवैव सदृशो नान्यस्येत्यनन्वयानामुपमाविशेषण-द्वारेण साम्यमाह—कीदृशस्त्वम् । अनेकपानां द्विपानां योद्धा भुजो बाहुर्यस्यासावनेक-पयोधिभुजः । तथाहीनः परिपूर्णः सुरतरसो निधुवनरसो यस्यासावहीनसुरतरसः । तव कीदृशस्य । अनेकांश्चतुरः पयोधीन्समुद्रान्भुनक्ति रक्षतीत्यनेकपयोधिभुक्तस्य । तथा-हीनामिनो नागराजः सुरा देवास्तेषामिव तरो बलं यस्यासावहीनसुरतरास्तस्य । अत्र प्रथमानिर्दिष्टमुपमेयं षष्ठीनिर्दिष्टमुपमानमनयोस्तु न वस्तुतः किंचिदपि साम्यमस्ति, किंतु तत्प्रतिच्छायशब्दप्रयोगात्साम्यं प्रतिभासते । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । किमिति । त्वं तवैव सदृशो न त्विन्द्रस्येत्याह—नन्वित्यादि । ते तव कथमसौ सदृश इति व्यति-रेकोऽलंकारः । कीदृशस्य ते । बलिनः समर्थाञ्जयत्यभिभवतीति बलिजित्तस्य बलि-जितः । तथा सुराणामाधीन्मनःपीडाः क्रन्ततीति सुराधिकृत्तस्य सुराधिकृतः । इन्द्रस्तु कीदृशः । बलिनाम्ना दानवेन जितः पराभूतः । तथा सुरैरधिकृतो राज्ये नियोजितः । एवं त्वं सुराणामाधीञ्छिनत्सि, स तु सुरैरधिकृत इति स्फुट एव तवेन्द्रस्य च विशेषः । यत्तच्छब्दौ हेत्वर्थौ । नन्वमर्षे । यस्मात्त्वं तवैव सदृशस्तस्मात्तव कथमिन्द्रः सदृशो भवतीत्यर्थः ।।

उदाहरण

श्लिष्ट पदों का अर्थ

वेसुधामहितसुराजितनीरागमना—

(क) वसु—धनम्, धाम—तेजः, [ताभ्यां] हितं—अनुकूलं, सुरैः—देवैः, अजितं—अपराभूतम्, नीरागं—रागरहितम्, मनः, चित्तं यस्य सः ।

(ख) वसुधायां—पृथिव्याम्, महितम्—पूजिताम्, सुराजितम्—सुष्ठु राजितं—शोभितं, नीरागमनम्—नीरस्य, जलस्य, आगमनम्—संप्राप्ति यासु ताः ।

सुरचितवराहवपुषः—

(क) सुष्ठु रचितं—निर्मितम्, वरं—श्रेष्ठं, आहवं—समरं, पुष्णाति—पुष्टिं नयति इति यः, तस्य ।

(ख) सुरैः—देवैः, चित्तं-व्याप्तम्, वराहवपुः—शूकरशरीरम् यस्य सः ।

प्रथम अर्थ

अन्वय—वसु-धाम-हित-सुर-अजित-नीराग-मनाः भवांश्च वर्षाश्च । सु-रचित-वर-आहव-पुषः तव च हरेः च उपमा घटते ।

उपमासमुच्चयोदाहरणमाह—

वसुधामहितसुराजितनीरागमना भवांश्च वर्षाश्च ।
सुरचितवराहवपुषस्तव च हरेश्चोपमा घटते ।।३४।।

वसुधेति। त्वं वर्षाश्च सदृशौ। त्वं तावत्कीदृशः। वसु धनम्, धाम तेजः, ताभ्यां हितमनुकूलं सुरैर्देवैरजितमपराभूतं नीरागं रागरहितं मनश्चित्तं यस्य स तथोक्तस्त्वम्। वर्षास्तु वसुधायां भुवि महितं पूजितं सुष्ठु राजितं शोभितं नीरागमनं जलागतिर्यासु तास्तथोक्ताः। चशब्दावत्र समुच्चयार्थौ। साधारणविशेषणादौपम्यस्य सद्भावः। शुद्धाया उपमाया उदाहरणमाह—सुरचितेत्यादि। तव विष्णोश्च साम्यं घटते। कीदृशस्य तव सुष्ठु रचितं वरं श्रेष्ठमाहवं समरं पुष्णाति पुष्टिं नयतीति यस्तस्य सुरचितवराहवपुषः। हरेस्तु सुरैर्देवैश्चितं व्याप्तं वराहवपुः सूकरशरीरं यस्य स तथा तस्य। अत्रापि साधारणशब्दयोगात्साम्यम्, न त्वर्थतः ।।

द्वितीय अर्थ

अन्वय—वसुधा-महित-सुराजित-नीर-आगमना भवांश्च वर्षाश्च। सुर-चित-वराह-वपुषः तव च हरेः च उपमा घटते।

समुच्चय समन्वित श्लेष

तुम और वर्षा एक समान हो। [क्योंकि] तुम्हारा मन, धन और तेज से युक्त है, तथा देवों से अपराजित तथा राग-रहित है [और उधर] वर्षा संसार में सत्कार होने तथा सुन्दर लहराते हुए जल के लाने के कारण अभिनन्दनीय होती है।३४।

उपमा-समन्वित श्लेष

तुम में और विष्णु में समानता है। [क्योंकि तुम] सुन्दर रीति से युद्ध-संचालन करते हो [और उधर] विष्णु देवों से व्याप्त वराह रूप को धारण करने वाला है।३४।

श्लेष के उपर्युक्त आठ भेदों के निरूपण के उपरान्त इन चार (३१-३४) कारिकाओं में श्लेष की क्षेत्रसीमा और अधिक बढ़ायी गयी है। ३१-३२ कारिका का उद्देश्य यह है कि उपमा और समुच्चय यद्यपि अर्थालंकार हैं, किन्तु यदि उनका चमत्कार श्लेष पर आधारित है तो वहाँ श्लेष अलंकार ही स्वीकृत करना चाहिए, इनमें से कोई एक अथवा दोनों अलंकार नहीं, क्योंकि इसीका चमत्कार उपमा [अथवा उपमा से सम्बद्ध रूपक-व्यतिरेक आदि अलंकारों] तथा समुच्चय अलंकार के चमत्कार को आच्छादित कर देता है। ३३वीं कारिका में व्यतिरेक के, ३४वीं कारिका के पूर्वार्द्ध में समुच्चय के और इसी के उत्तरार्द्ध में उपमा के चमत्कार को श्लेष का चमत्कार आच्छादित किये है।

इस सम्बन्ध में निम्नोक्त प्रश्न विचारणीय हैं—

(१) क्या श्लेष अलंकार के प्रसंग में अन्य अलंकारों की सत्ता अनिवार्य है ? शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो—क्या श्लेष अलंकार अन्य अलंकारों से विविक्त (रहित)—नितान्त स्वतन्त्र रूप से—नहीं हो सकता ?

(२) इसी प्रश्न से मिलती-जुलती अन्य समस्या यह है कि रुद्रट ने उपमा और समुच्चय को 'शब्द' पर आश्रित भी माना है तो क्या 'शब्दसाम्य' भी उपमा [तथा समुच्चय] का प्रयोजक है। वस्तुतः यही समस्या ही इसी प्रसंग में विवेच्य है।[1]

उद्भट और रुय्यक का मन्तव्य यह है कि श्लेष अलंकार स्वतन्त्र रूप से कभी नहीं रहता। जहाँ इसकी स्थिति होगी वहाँ कोई-न-कोई अलंकार अनिवार्यतः रहेगा, किन्तु इसका चमत्कार अन्य अलंकार के चमत्कार को बाधित कर देता है और वहाँ श्लेष अलंकार स्वीकृत किया जाता है। इस सम्बन्ध में उनका प्रमुख तर्क यह है कि यदि श्लेष के होते हुए अन्य अलंकार माने जाएँगे तो श्लेष अलंकार निर्विषय हो जाएगा, अर्थात् इसके उदाहरण नहीं मिलेंगे। काव्यशास्त्र के [अथवा किसी भी शास्त्र के] इस नियम से वे भलीभाँति परिचित हैं कि 'जो सबसे अन्त्य में प्रतीत हो वही प्रधान, पोष्य एवं उपस्कार्य माना जाता है', किन्तु उनके विचार में श्लेष अलंकार के प्रसंग में यह नियम शिथिल करना पड़ेगा, अन्यथा किसी अन्य अलंकार की स्वीकृति कर लेने पर 'श्लेष' सदा अप्रधान एवं पोषक बना रहने के कारण अलंकार-पद से च्युत हो जाएगा।

इधर मम्मट और विश्वनाथ इस स्थिति को सदा स्वीकार नहीं करते। इनके मत में श्लेष अलंकार कभी अन्य अलंकारों से स्वतन्त्र रहता है और कभी नहीं रहता। जहाँ वह स्वतन्त्र नहीं रहता वहाँ कभी तो इसका चमत्कार अन्य अलंकारों के चमत्कार को बाध देता है और कभी स्वयं बाधित होकर उसका पोषक बन जाता है। इस प्रकार इन आचार्यों के मत में श्लेष अलंकार की स्थिति तीन विकल्पों में सम्भव है—

(१) श्लेष स्वतन्त्र रूप में रहता है।

(२) श्लेष अन्य अलंकारों का बाधक बन जाता है।

(३) श्लेष अन्य अलंकारों का पोषक बन जाता है।

इनमें से प्रथम दो विकल्प ही श्लेष अलंकार से सम्बद्ध हैं।

सर्वप्रथम ऐसे उदाहरण प्रस्तुत हैं जहाँ केवल श्लेष अलंकार का चमत्कार है।

---

१. **विशेष विवरण के लिए देखिए काव्यप्रकाश, नवम उल्लास, साहित्यदर्पण, दशम परि०, काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) पृ० सं० २३१, २३२।**

(१) है पूतनामारण में सुदक्ष, जघन्य काकोदर या विपक्ष।
की किन्तु रक्षा उसकी दयालु, शरण्य ऐसे प्रभु हैं कृपालु॥

[अर्थात् (राम और कृष्ण) ये दोनों प्रभु शरण देने वाले और कृपालु हैं। राम पूतनामा अर्थात् पवित्र नाम वाले हैं और रण में सुदक्ष (निपुण हैं), कृष्ण पूतना के मारण में दक्ष (निपुण) हैं। राम अपने विपक्षी काकोदर (इन्द्र के पुत्र जयन्त) की रक्षा करने वाले हैं, और कृष्ण अपने विपक्षी कालिय सर्प की रक्षा करने वाले हैं।]

इस पद्य में उद्‌भट और रुय्यक के अनुसार वस्तुतः तुल्ययोगिता अलंकार होना चाहिए, क्योंकि इसमें दोनों प्रकृतों—राम और कृष्ण—का एक धर्म से सम्बन्ध बताया गया है। पर श्लेष का चमत्कार तुल्ययोगिता के चमत्कार पर आच्छादित हो गया है। अतः यहाँ श्लेष अलंकार है। किन्तु मम्मट और विश्वनाथ के मत में यहाँ केवल श्लेष का ही चमत्कार है। यहाँ तुल्ययोगिता अलंकार प्राप्त ही नहीं है। एक तो राम और कृष्ण इन दोनों प्रकृत पक्षों का यहाँ एक धर्म से सम्बन्ध स्थिर नहीं किया गया। जैसे राम 'पूतनामा और रण में सुदक्ष हैं, तो कृष्ण पूतना-मारण में सुदक्ष हैं, इत्यादि, और दूसरे, इस पद्य में कवि को उक्त दोनों पक्षों के वाच्यार्थ अभीष्ट हैं, और यही श्लेष का विषय है। अतः यहाँ श्लेष अलंकार पूर्णतः स्वतन्त्रत रूप से है। इसी प्रकार—

(२) येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो।
यश्चोद्‌वृत्तभुजंगहारवलयोगंगां च योऽधारयत्॥
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः।
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः॥

[अलंकारसर्वस्व पृष्ठ १२२, सा० द० दशम परि०]

इस पद्य में भी कवि को दोनों पक्षों [माधव-विष्णु, और उमाधव-उमा का धव (पति) अर्थात् महादेव] के अर्थ अभीष्ट हैं और ये दोनों ही वाच्यार्थ हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ कोई अन्य अलंकार भी नहीं है। अतः यहाँ मम्मट और विश्वनाथ के मत में श्लेष अलंकार है। उद्भट और रुय्यक के मत में भी यहाँ श्लेष अलंकार है, किन्तु वस्तुतः यहाँ तुल्ययोगिता अलंकार प्राप्त था, क्योंकि दो प्रस्तुत विषयों का एक धर्म से सम्बन्ध बताया गया है। जैसे—विष्णुपक्ष में : 'अगं गां च योऽधारयत्', जिसने [कृष्ण रूप से] अगं—गोवर्द्धन पर्वत को, और कूर्मरूप से गां—पृथ्वी को धारण किया था। महादेव-पक्ष में : 'गंगां च यो ऽधारयत्', जिसने गंगा को धारण किया था, किन्तु तुल्ययोगिता का यह चमत्कार श्लेष के चमत्कार द्वारा बाधित हो जाता है। निष्कर्षतः दोनों प्रकार के आचार्य यहाँ श्लेष अलंकार ही स्वीकार करते हैं, किन्तु अपने-अपने ढंग से।

अब दूसरे प्रकार के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत हैं जहाँ किसी अन्य अलंकार के

रहते हुए भी—श्लेष अलंकार का चमत्कार प्रमुखतः स्वीकार किया जाने के कारण उन्हें इसी अलंकार का ही उदाहरण माना जाता है—

नीतानामाकुलीभावं लुब्धैर्भूरिशिलीमुखैः ।
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां तदीक्षणे ॥

अर्थात् इस [सुन्दरी] की आँखें कमलों अर्थात् पद्मों और हरिणियों के सदृश हैं (मृग-भेदेऽपि कमलः इति मेदिनी-कोशः)। एक ओर पद्म लुब्ध (लोभी) बहुत शिलीमुखों (भ्रमरों) से आकुलीभाव (संकुलता) को प्राप्त वन (जल) में बढ़े हुए हैं, तो दूसरी ओर मृग अधिक शिलीमुखों (बाणों वाले लुब्धों) (शिकारियों) द्वारा आकुलीभाव (त्रासभाव) को प्राप्त तथा वन (जंगल) में पड़े हुए हैं।]

उद्भट और रुय्यक के अनुसार इस पद्य में भी यद्यपि तुल्ययोगिता अलंकार प्राप्त है, क्योंकि यहाँ दो अप्रकृतों—पद्म और हरिणी का एक धर्म से सम्बन्ध स्थापित किया गया है[1], किन्तु श्लेष का चमत्कार इस अलंकार के चमत्कार को आच्छादित कर देता है। तुल्ययोगिता का चमत्कार श्लेष के आगे गौण है, वह इस अलंकार के चमत्कार का पोषण करता है। अतः यहाँ श्लेष अलंकार है। ठीक यही स्थिति मम्मट और विश्वनाथ को भी स्वीकृत है। इस प्रकार श्लेष की इस दूसरी स्थिति में ये दोनों प्रकार के आचार्य परस्पर सहमत हैं।

अब तीसरे प्रकार के उदाहरण लीजिए जहाँ श्लेष स्वयं गौण बनकर किसी अन्य अलंकार की पुष्टि करता है। विरोधाभास और परिसंख्या अलंकारों के उदाहरण इसी श्रेणी में आते हैं—

(क) सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च ।

इस कथन में विरोध यह है कि 'बाल (अप्रौढ़) अन्धकार जिसके पास रहता है, ऐसे भास्वान् (सूर्य) की मूर्ति।' इसका परिहार यह है कि 'वह [सुकन्या] बाल (केश) रूप अन्धकार, जिसके पास रहता है ऐसी भास्वत् (चमकदार) मूर्ति वाली है। इस प्रकार यहाँ 'बाल' और 'भास्वत्' शब्दों में श्लेष का चमत्कार विरोधाभास के चमत्कार का पोषक है। अतः यहाँ 'श्लेष' की स्वीकृति न होकर विरोधाभास अलंकार माना जाता है। इसी प्रकार—

(ख) यस्मिंश्च राजनि जितजगति चित्रकर्मसु वर्णसंकराश्चापेषु गुणच्छेदाः × × ×, इत्यादि ।

[अर्थात् जगत् को जीतने वाले उस राजा के राज्य में चित्रकारी में ही वर्णों

---

१. साहित्यदर्पण की विमला टीका में इसे दीपक अलंकार का उदाहरण बताया गया है।

(रंगों) का संकर (सम्मिश्रण) होता था (अन्यथा 'वर्णसंकर' नहीं था), धनुषों में ही गुणों (रस्सियों) का विच्छेद होता था (अन्यथा गुणों का कहीं नाश नहीं होता था)।]

इस कथन में भी श्लेष का चमत्कार परिसंख्या के चमत्कार का पोषक है। अत: यहाँ परिसंख्या अलंकार ही है।

इसी प्रसंग के सन्दर्भ में अब रुद्रट के उक्त कथन (४।३२) को लें कि यद्यपि उपमा और समुच्चय अलंकार स्पष्टत: अर्थालंकार हैं, किन्तु ये दोनों शब्दगत समानता पर [भी] आधारित रहते हैं। इसी कथन को उद्धृत करते हुए मम्मट और उनके अनुकरण पर विश्वनाथ ने यह निष्कर्ष निकाला कि उपमा अलंकार के अन्तर्गत उपमेय और उपमान में गुण अथवा क्रिया का साम्य तो होता ही है, साथ ही उसमें 'शब्द-साम्य' भी रहता है। उदाहरणार्थ—

सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव।

[अर्थात् यह नगर अब चन्द्रबिम्ब के समान हो गया है, [क्योंकि एक ओर] चन्द्रबिम्ब 'सकल-कल'—सकल कलाओं से युक्त है, [तो दूसरी ओर] यह नगर भी 'सकलकल' अर्थात् कलकल (शोर) से युक्त है।]

यह उदाहरण रुद्रट-प्रस्तुत नहीं है, इसे मम्मट और विश्वनाथ ने प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यहाँ उपमा अलंकार मानना चाहिए, श्लेष अलंकार नहीं। यह उपमा 'सकलकल' इस शब्द-साम्य पर आधारित है, किन्तु हमारा विचार है कि यहाँ श्लेष का ही चमत्कार है। निस्सन्देह यहाँ कवि का उद्दिष्ट उपमा की स्थापना है, किन्तु सहृदय श्लेष से ही चमत्कृत होता है, उपमा का चमत्कार उसे गौण प्रतीत होता है, यहाँ तक कि सुरुचिपूर्ण पाठक को ऐसे स्थलों में उपमा हास्यास्पद-सी प्रतीत होती है। वस्तुत: कवि की विवक्षा से बढ़कर सहृदय का भावोद्वेलन ही काव्यगत सौन्दर्य का निर्णायक होता है। अत: उक्त कथन में उपमा के स्थान पर श्लेष अलंकार ही मानना चाहिए। वस्तुत: यहाँ भी वही स्थिति मान्य है, जो 'नीतानामाकुलीभावम्···' उपर्युक्त पद्य में दोनों प्रकार के आचार्यों ने स्वीकार करते हुए तुल्ययोगिता के स्थान पर श्लेष का चमत्कार माना था। अस्तु! हाँ, 'सकलकलम्···' इस कथन में यदि हम चाहें, तो श्लेष को उपमापुष्ट, उपमाश्रित, उपमाजन्य, उपमामूलक, उपमागर्भित आदि में से किसी एक विशेषण के साथ समन्वित कर सकते हैं। जब श्लेषमूलक विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलंकार स्वीकृत किये जाते हैं, तो उपमामूलक श्लेष स्वीकृत करने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ठीक यही स्थिति रहीम के निम्नोक्त दोहे की भी समझनी चाहिए—

ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो करै, बढ़े अन्धेरो होय॥

वस्तुतः मम्मट और विश्वनाथ को उक्त उद्धृत कारिका से पूर्व रुद्रट की इससे पहली कारिका (४।३१) भी उद्धृत करनी चाहिए थी कि 'भाषा-श्लेष को छोड़कर [अपने इतर प्रकारों से युक्त] यह [श्लेष अलंकार] अन्य अलंकारों का भी प्रायः स्पर्श करता है, [और जब वह] उपमा और समुच्चय का [स्पर्श करता है तो अत्यधिक] वैचित्र्य (चमत्कार) को धारण कर लेता है। वस्तुतः रुद्रट यहाँ दण्डी के इस कथन से ही प्रभावित हैं कि श्लेष अलंकार प्रायः सभी वक्रोक्तियों (अर्थात् अलंकारों) की शोभा को बढ़ा देता है—**श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्।** (काव्यादर्श २।२६३)।

इस प्रकार हमने देखा कि रुद्रट के उक्त कथन में मूल प्रसंग श्लेष का है, और इसी के ही अधिक चमत्कार धारण करने की चर्चा उन्हें अभीष्ट है। स्वयं उनका उक्त उदाहरण—**'सुरचितवराहवपुषस्तव च हरेश्चोपमा घटते'** इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि यहाँ उपमामूलक श्लेष है—प्रस्तुत नृप और अप्रस्तुत विष्णु के औपम्य से बढ़कर यहाँ श्लेष का ही चमत्कार सहृदयहृदयहारी है।

इसी प्रसंग से सम्बद्ध एक शंका मम्मट एवं विश्वनाथ ने उपस्थित की है कि यदि 'सकलकलम्······'इत्यादि स्थलों में उपमा के स्थान पर शब्दश्लेष का चमत्कार माना जाए तो **कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्'** इस उदाहरण में पूर्णोपमा के स्थान पर अर्थश्लेष ही मानना चाहिए, क्योंकि 'मनोज्ञ' शब्द द्व्यर्थक न सही, पर कमल की 'मनोज्ञता' और मुख की 'मनोज्ञता' में तो अन्तर है ही, अर्थश्लेष की परिभाषा भी यही है—

शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्। (सा० द० १०।५८)

स्पष्ट है कि 'मनोज्ञ' शब्द का यहाँ 'सौन्दर्य' की ओर संकेत है जो कि कमलगत सौन्दर्य और मुखगत सौन्दर्य दोनों का वाचक है। इन दोनों सौन्दर्यों में निस्सन्देह पार्थक्य एवं अन्तर है। अतः जिस प्रकार 'सकलकलम्······' इस उपर्युक्त उदाहरण में उपमा को गौण समझकर शब्दश्लेष माना जाता है, उसी प्रकार 'कमलमिव मुखं मनोज्ञम्' में भी उपमा को गौण समझकर अर्थश्लेष मानना चाहिए। किन्तु मम्मट का यह तर्क अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी इस दृष्टि से अमान्य है कि यहाँ भी सहृदय का भावोद्वेलन ही निर्णायक आधार है। स्वयं मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार **'कमलमिव मुखं मनोज्ञम्'** में यदि उपमा अलंकार का चमत्कार मान्य है, और निम्नोक्त पद्य—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च॥

में अर्थश्लेष का, (यद्यपि दोनों में साम्य-तत्त्व लगभग एक समान है, तो इसका एक-

अथ श्लेषमुपसंहरन्नाह—

शब्दानुशासनमशेषमवेत्य सम्य-
गालोच्य लक्ष्यमधिगम्य च देशभाषाः ।
यत्नादधीत्य विविधानभिधानकोषा-
ञ्श्लेषं महाकविरिमं निपुणो विदध्यात् ।। ३५ ।।

शब्दानुशासनमिति । इदमिदं च कृत्वा ततो महाकविरिमं श्लेषं कुर्यात् । किं कृत्वा । शब्दानुशासनं व्याकरणं समग्रं सम्यग्ज्ञात्वा । तथा लक्ष्यमुदाहरणं महाकविकृतमालोच्य । तथा सूरसेन्यादिदेशभाषा विदित्वा । तथाभिधानकोषान्नाममाला अधीत्य पठित्वेति एतच्च कृत्वा निपुणः कुशलो महाकविश्च यः स श्लेषं कुर्यादिति ।।

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेत-
श्चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

मात्र कारण सहृदय का भावोद्वेलन ही है । अतः केवल इसी आधार पर 'सकलकलम्'······आदि कथनों में कवि द्वारा साम्यता के उद्दिष्ट रहने पर भी सहृदय का पलड़ा अत्यधिक भारी मानकर शब्दश्लेष स्वीकार करना चाहिए, उपमा नहीं ।

निष्कर्षतः—

१. श्लेष अलंकार का क्षेत्र स्वतन्त्र भी रहता है, तथा अन्य अलंकारों से युक्त भी ।

२. जहाँ श्लेष के साथ अन्य अलंकार रहते हैं वहाँ कभी यह उनसे पुष्ट होता है और कभी उनका पोषक रहता है ।

३. किन्तु उक्त तीनों स्थितियों का निर्णायक आधार सहृदय का भावोद्वेलन है, न कि कवि की विवक्षा ।

श्लेष-विषयक प्रसंग का उपसंहार

व्याकरण-शास्त्र के परिनिष्ठित अध्ययन, महाकवियों के लक्ष्यग्रन्थों (प्रबन्ध-ग्रन्थों) के सम्यक् अनुशीलन, [शूरसेनी आदि] देशीय भाषाओं के ज्ञानोपार्जन एवं अनेक शब्दकोशों के सयत्न परिशीलन के अनन्तर निपुण महाकवि श्लेष-रचना में प्रवृत्त हों । ३५ ।

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्य-हिन्दी-व्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

पञ्चमोऽध्यायः

वक्रोक्त्यनुप्रासयमकश्लेषान्निरूप्य क्रमप्राप्तं चित्रं प्रतिपादयितुमाह—

भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि ।
साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम् ॥ १ ॥

भङ्ग्यन्तरेति । यत्र काव्ये वस्तूनां चक्रदीनां रूपाणि संस्थानानि रच्यन्ते निबध्यन्ते तच्चित्रसादृश्यादाश्चर्याद्वा चित्रं नामालंकारः । काव्ये कथं वस्तुरूपाणि रच्यन्त इति प्रश्ने विशेषणद्वारेण युक्तिमाह—भङ्ग्यन्तरेण चक्रादिविच्छित्तिलक्षणेन प्रकारेण कृतः स सकललोकप्रसिद्धः क्रमो रचनापरिपाटी येषां ते च ते वर्णाश्चाक्षराणि च ते

पंचम अध्याय

इस अध्याय में चित्र नामक शब्दालंकार का निरूपण है। 'चित्र' अलंकार का लक्षण प्रस्तुत करने के उपरान्त रुद्रट ने इसके अनेक रूपों की गणना करते हुए उनमें से अधिकांश का स्वरूप-निर्देश किया है।

रुद्रट से पूर्व चित्र का निरूपण दण्डी के ग्रंथ में उपलब्ध होता है। वहाँ इस अलंकार को गोमूत्रिका, अर्धभ्रम तथा सर्वतोभद्र नामक बन्धचित्रों तथा स्वर, स्थान और वर्णों के नियमों के रूप में दिखाया गया है। (काव्यादर्श ३।७८-९५) इधर जैसा कि हम आगे देखेंगे रुद्रट ने भी इसे इन्हीं रूपों में प्रस्तुत किया है—चक्र, खड्ग आदि बन्धचित्रों के रूप में तथा अनुलोम, प्रतिलोम आदि वर्णविन्यास-जन्य वैचित्र्य के रूप में। आगे चलकर रुद्रट के पश्चात् भोजराज तक आते-आते इससे मिलते-जुलते अन्य तीन अलंकारों की भी गणना हो गयी—वाकोवाक्य, गूढ़ोत्तर और प्रश्नोत्तर। भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के दूसरे परिच्छेद में इन चारों अलंकारों का विस्तृत निरूपण है। इनके भेदोपभेदों की संख्या ६० से भी ऊपर जा पहुँची है। यहाँ 'चित्र' से तात्पर्य बन्ध-चित्रों के अतिरिक्त पद्मबन्ध आदि आकारों (रेखा-चित्रों) से भी है। स्वर, व्यंजन, उच्चारण-स्थान के अतिरिक्त गति की कलाबाज़ियाँ भी इसमें सम्मिलित हैं। इसी प्रकार वाको-वाक्य आदि शेष तीन अलंकारों का परिवार भी कुछ कम बड़ा नहीं है। मम्मट और विश्वनाथ ने यद्यपि केवल 'चित्र' अलंकार का उल्लेख किया है, 'वाकोवाक्य' आदि अन्य तीन अलंकारों का उल्लेख नहीं किया, पर उन्हें ऐसी प्रायः सभी चमत्कृतियों और आश्चर्यकृतियों को 'चित्र' शब्द के ही व्यापक अर्थ में अन्तर्भूत करना अभीष्ट था।

इस प्रकार अब चित्र अलंकार एक ओर बन्धचित्रों का वाचक बन गया और दूसरी ओर प्रश्नोत्तर, गूढोत्तर आदि वर्णबद्ध अथवा शब्द-बद्ध वैचित्र्य का—**वर्णानामथ पद्माद्याकृतिहेतुत्वमुच्यते चित्रम् ।** (एकावली ७।८) इसके दूसरे रूप को तो

निमित्तं कारणं येषां वस्तुरूपाणां तानि तथोक्तानि । तथा सहाङ्केन स्वनामचिह्नेन वर्तन्त इति साङ्कानि । तथा विचित्राणि चान्यानि च सर्वतोभद्रानुलोमप्रतिलोमादीनि । चकारो वस्तुरूपेषु मध्ये सर्वतोभद्रादिसमुच्चयार्थः ॥

सामान्यतश्चित्रलक्षणमभिधाय विशेषेणाभिधातुं तद्भेदानाह—

तच्चक्रखड्गमुसलैर्बाणासनशक्तिशूलहलैः ।
चतुरङ्गपीठविरचितरथतुरगगजादिपदपाठैः ॥ २ ॥
अनुलोमप्रतिलोमैरर्धभ्रममुरजसर्वतोभद्रैः ।
इत्यादिभिरन्यैरपि वस्तुविशेषाकृतिप्रभवैः ॥ ३ ॥

अन्वयव्यतिरेक के आधार पर शब्दालंकार न मानने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता; गोमूत्रिका, पद्मबन्ध आदि कोष्ठक (रेखा-) चित्रों को भी कारणकार्य-सम्बन्ध से उपचार द्वारा शब्दालंकार मान लिया गया। (अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ ३०, सा० द०, १०म परि०, पृष्ठ १०७)।

चित्र अलंकार के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत के प्रत्येक शब्दालंकार-निरूपक आचार्य ने, यहाँ तक कि भोजराज ने भी जिन्होंने अन्य आचार्यों की अपेक्षा इसका कई गुणा अधिक विस्तृत निरूपण किया है, इसे अवहेलना की दृष्टि से देखा है—

दुष्करत्वात्कठोरत्वाद् दुर्बोधत्वाद्विनावधेः ।
दिङ्मात्रं दर्शितं चित्रे शेषमूलं महात्मभिः ॥ स० क० २।१३०

दण्डी ने इसे 'दुष्कर', मम्मट ने 'कष्ट काव्य', विद्याधर और विश्वनाथ ने 'काव्यान्तर्गड्डुभूत' और केशवमिश्र ने तुच्छता-प्रदर्शनार्थ इसे 'कौतुकविशेषकारी' कहा है,[1] और विद्याधर ने इसे रस-पुष्टि में बाधक माना है—

प्रायशो यमके चित्रे रसपुष्टिर्न दृश्यते । (एकावली)

इन कथनों से इन प्रसिद्ध आचार्यों की चित्र के प्रति अवहेलना स्पष्ट है।

चित्र अलंकार उसे कहते हैं जहाँ [चक्र, खड्ग आदि] वस्तुओं के रूप अपने चिह्न के साथ इस प्रकार रचे जाते हैं कि इनमें इनका क्रम (रचनाविन्यास) भङ्ग्यन्तर से—विशेष विच्छित्ति रूप से—वर्णों के द्वारा किया गया हो। [इसके अतिरिक्त चित्र के अन्य भी कई] विचित्र [रूप] रहते हैं [जैसे सर्वतोभद्र, अनुलोम-प्रतिलोम आदि] ।१।

हे कविगण ! वस्तु-विशेष की आकृति के आधार पर चित्रकाव्य के रचना-

---

१. का० द० ३।७८; का० प्र० ९।८५ (वृत्ति); सा० द० १०म परि०, पृष्ठ १०८; अ० शे० पृष्ठ २९।

भेदैर्विभिद्यमानं संख्यातुमनन्तमस्मि नैतदलम् ।
तस्मादेतस्य मया दिङ्मात्रमुदाहृतं कवयः ॥ ४ ॥

तदिति । अनुलोमेति । भेदैरिति । तदेतच्चित्रं यस्मादित्यादिभिरुक्तैरन्यैरनुक्तैरपि । भेदैः कीदृशैः । वस्तुविशेषाकारात्प्रभवन्ति जायन्ते ये तैर्विभिद्यमानं भेदेन व्यवस्थाप्यमानमनन्तमसंख्यातं तत्संख्यातुं संख्यया प्रतिपादयितुं नालं न समर्थोऽस्म्यहम् । तस्मादेतस्य मया दिङ्मात्रमुदाहृतं दर्शितं हे कवयः । इत्यादिभिर्भेदैरित्युक्तं तानेव दर्शयति—तच्चक्रेत्यादि । चक्रादीनि प्रतीतानि न वरम् । वाणासनं धनुः । चतुरङ्गपीठं द्यूतकारिविदितचतुरङ्गफलकस्तत्र रचितै रथतुरगगजादिपदपाठैः । पठ्यतेऽनेनेति पाठः श्लोकः । आदिग्रहणान्नरपदसंग्रहः । क्रमव्युत्क्रमाभ्यां यः सदृशः सोऽनुलोमप्रतिलोमश्लोकः । अर्धभ्रमणादर्धभ्रमः । सर्वतस्तु भ्रमणात्सर्वतोभद्रः । आदिग्रहणात्पद्मगोमूत्रिकादिसंग्रहः ।

किं पुनस्तेषां वस्तुरूपाणां विरचने लक्षणमित्याह—

यन्नाम नाम यत्स्यात्तदाकृतिर्लक्षणं मतं तस्य ।
तल्लक्ष्यमेव दृष्ट्वावधार्यमखिलं तदन्यदपि ॥ ५ ॥

यदिति । चक्रादिकं प्रसिद्धं नाम संज्ञा यस्येति विग्रहः । तद्यन्नाम । द्वितीयस्तु नामशब्दः प्राकाश्ये । तदेवंविधं वस्तु यत्स्यात्तदाकृतिस्तदाकारस्तस्य चित्रस्य लक्षणम-

---

विषयक खड्ग, मुसल, धनुष, शक्ति, शूल, हल रूप में तथा चतुरङ्ग पीठ (सम चतुष्कोण चौकी) पर बने हुए रथ, घोड़े, गज आदि रूपों में कई भेद हैं तथा अनुलोम, प्रतिलोम, अर्धभ्रम, मुरज और सर्वतोभद्र आदि अन्य भी अनेक भेद हैं। इन सब भेदों की गणना करना सम्भव नहीं है। इसलिए मैंने इसके कुछ भेदों के ही उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।२-४।

इस प्रकार रुद्रट के अनुसार चित्र के प्रमुख दो रूप हैं—(१) खड्ग, मुसल आदि आकृतियों को प्रकट करने वाला चित्र, (२) अक्षरों के विभिन्न क्रम-विन्यास के आधार पर अनुलोम, प्रतिलोम आदि विभिन्न विच्छित्तियों को प्रकट करने वाला चित्र।

चक्रबन्ध आदि का लक्षण

जिस आकृति का जो नाम हो, वही आकृति ही उस [नाम] का लक्षण है। महाकवियों के काव्यों में इनके उदाहरण देखकर ही इनका स्वरूप निर्धारण करना चाहिए। जो भेद उनमें न मिले, उनका अपनी बुद्धि से स्वरूप निर्धारण कर लेना चाहिए।५।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस वर्णरचना प्रकार से जो आकृति बन जाए उसे वही नाम देना चाहिए, जैसे चक्रबन्ध चित्र, मुरजबन्ध चित्र आदि।

भिहितम् । यदनुकार्यस्य चक्रादेर्नाम संस्थानं च तदेवानुकरणस्य करणीयमित्यर्थः । तच्च चित्रलक्षणमखिलं समग्रं माघादिमहाकविरचितं लक्ष्यमुदाहरणमेव दृष्ट्वावधार्य ज्ञेयम् । ततो वस्तुरूपादन्यदपि सर्वतोभद्रादिकं लक्ष्यमेव दृष्ट्वावधार्यम् । अथवा ततो लक्ष्योक्ताद्वस्तुरूपादन्यदपि मत्स्यबन्धादिकं स्वधियैवाभ्यूह्यम् । मार्गं दृष्ट्वान्यथापि करणं न दोषायेत्यर्थः । तेन चक्रारनेमिपद्मदलादावनियम उक्तो भवतीति स्थितमेतत् ।।

तत्राष्टभिः श्लोकैर्गर्भीकृतखड्गादिवस्तुरूपान्तरैश्चक्रमाह—

मारारिशक्ररामेभमुखैरासाररंहसा ।
साराब्धस्तवा नित्यं तदर्तिहरणक्षमा ।। ६ ।।
माता नतानां संघट्टः श्रियां बाधितसंभ्रमा ।
मान्याथ सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमादिजा ।। ७ ।।

खड्गबन्धः ।। (युग्मम्)

मारेति । मातेति । उमा गौरी शं सुखं मे मह्यं दिश्याद्देयात् । कीदृशी । आदिजा जगदादिभवा । तथा मारारिः शंभुः, शक्र इन्द्रः, रामो जामदग्न्यो दाशरथिर्वा, इभमुखो गणाधिपस्तैरासाररंहसा वेगवर्षवद्वेगेनादरावेशात्सार उत्कृष्ट आरब्धः प्रकृतः स्तवः स्तुतिर्यस्याः सा । तथा नित्यं सदा तेषां मारारिप्रभृतीनामर्तेः पीडाया हरणेऽपनयने क्षमा समर्था । तथा नतानां मातेव माता । वत्सलत्वात् । तथा संघट्टः समूहः । कासां श्रियामृद्धीनाम् । तथा बाधितो नाशितो भक्तानां संभ्रमो भयं यया सा तथा-

---

अन्वय—(सा) उमा शं मे दिश्यात् (या) आदिजा, माररिशक्र-इभमुखैः आसाररंहसा साराऽऽरब्धस्तवा, नित्यं तदर्तिहरणक्षमा, नतानां माता, श्रियां संघट्टः, बाधितसम्भ्रमा, मान्या, अथ रामाणां सीमा (अस्ति) ।

कठिन शब्दों के अर्थ

मारारिः—मारस्य कामदेवस्य अरिः, महादेवः । इभमुखः—हस्तिमुखः गणेशः । आसाररंहसा—आदरस्याऽऽवेशात् । सारः—उत्कृष्टः । संघट्टः—समूहः । रामा—नारी ।

वह पार्वती जी मुझे सुख-समृद्धि प्रदान करें जो सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुई हैं, जिनका उत्कृष्ट स्तवन महादेव, इन्द्र, गणेश ये सभी अत्यन्त आदरावेश से करते हैं और जो इन सब [महादेव आदि] के दुःखों को दूर करने में समर्थ हैं, जो विनीत व्यक्तियों की माता हैं, लक्ष्मी का केन्द्र-स्थान हैं तथा सब [प्रकार के] भयों को दूर करने वाली हैं, जो समादरणीया हैं तथा नारियों में सर्वोत्तम हैं ।६, ७।
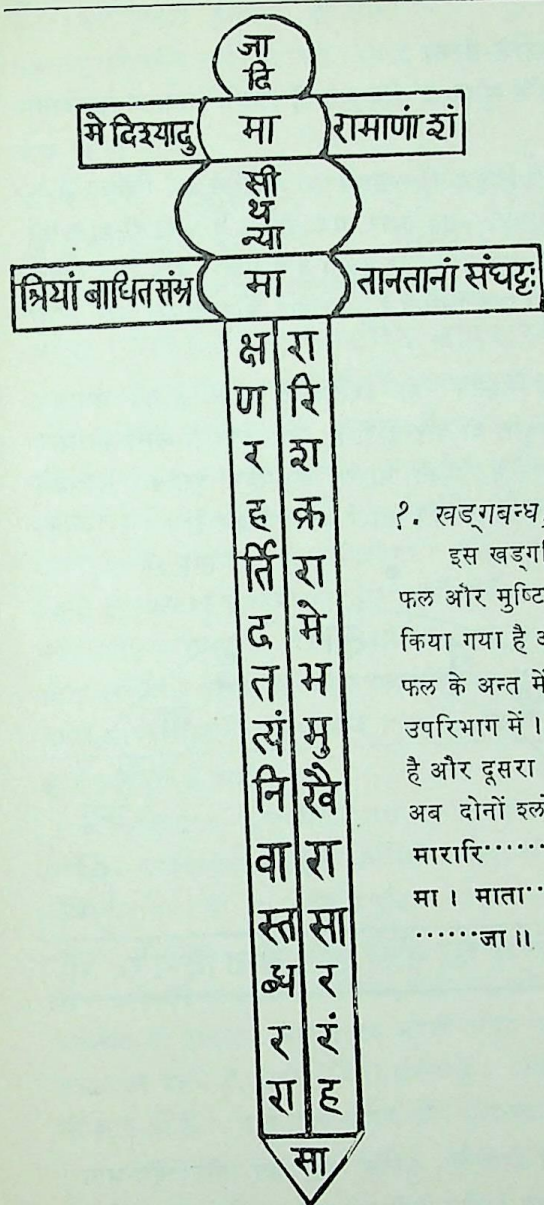
१. खड्गबन्ध, श्लोक-संख्या ६,७

इस खड्गचित्र में खड्ग के दो भाग हैं—फल और मुष्टि। प्रथम श्लोक 'फल' में चित्रित किया गया है और द्वितीय श्लोक मुष्टि में। 'सा' फल के अन्त में चित्रित है और 'दिजा' मुष्टि के उपरिभाग में। एक 'मा' मुष्टि के मध्य में चित्रित है और दूसरा 'मा' मुष्टि और फल के मध्य में। अब दोनों श्लोकों को यथाक्रम पढ़ सकते हैं—**मारारि·········रहंसा। साराब्धस्तवा······मा। माता············संभ्रमा। मान्याथ·········जा॥**

अन्वय—(हे) मातः! (सा त्वं) मां संत्रासात् त्रासीष्ठाः, आरम। (या त्वं) महिषमहाहावा, लसद्भुजा, जातलीला, मायाविनं, रसायातं, अयथासारवाचं, महिषमावधीः। (अथ च त्वं) अभीदा, शरण्या, मुत्, सदैवारुक्प्रदा, धीः, धीरा पवित्रा (असि)।

मा धीः
या व
वि मा
न्नं ष
स्म हि
हा म
ह्मा चं
वा
र
सा
या था
तं य
रु ला
स ली
द्रु त
जा

२. मुसलबन्ध, श्लोक-संख्या ८

इस मुसलचित्र में मुसल के तीन भाग हैं। मध्य भाग, दो पार्श्वभाग और अन्त भाग।

(१) मध्य भाग (तनुभाग)—इसमें 'वा रसा' ये वर्ण चित्रित हैं।

(२) दो पार्श्व-भाग—एक ऊपर, एक नीचे। ये दोनों दो-दो खण्डों में विभक्त हैं—एक बाईं ओर और दूसरा दाईं ओर। बाईं ओर श्लोक का पहला और दूसरा पाद चित्रित हैं, और दाईं ओर तीसरा और चौथा पाद।

(३) अन्त भाग—इसमें 'जा' चित्रित है। श्लोक को यथाक्रम पढ़ने से 'जा' की आवृत्ति दो बार होती है, तथा ऊपर से नीचे की ओर पढ़ते समय मध्य भाग में चित्रित 'वारसा' को पहले इस क्रम से पढ़ते हैं, पुनः नीचे से ऊपर पढ़ते समय 'सा र वा' इस क्रम से।

•

भी दा श र ण्या मु त्स दै वा रु क्त्र दा च
म र रा त मा ष्ठा सी ल्ल सा त्रा सं त्रा वि प रा धीः
मा

३. धनुर्बन्ध, श्लोक-संख्या ९
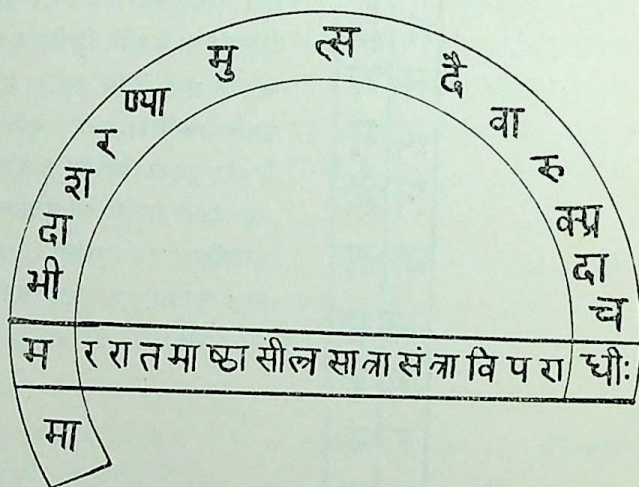
इस धनुश्चित्र में धनुष के दो भाग हैं—कुटिल वंश भाग और गुण-भाग। श्लोक का प्रथमार्द्ध वंश-भाग में चित्रित है और द्वितीयार्द्ध गुण-भाग में। वंश के निम्नतम भाग में 'मा' चित्रित है, वंश के एक सिरे (अधस्तन कोटि प्रान्त) पर 'म' है और दूसरे सिरे पर (शिखा रूप में) 'धीः' है। 'धी' और 'म' की आवृत्ति दो-दो बार की जाती है, और श्लोक के द्वितीयार्द्ध को दाएँ से बाईं ओर पढ़ा जाता है।

भूता। तथा मान्या पूज्या। अथ सीमा मर्यादा रामाणां स्त्रीणाम्। सर्वोत्तमेत्यर्थः। अनेन संदानितकेन खड्ग उत्पद्यते। आद्यः श्लोकः फलरूपोऽपरो मुष्टिरूपः। 'सा' शब्दः फलान्ते तैक्ष्ण्याकारी 'दिजा' इति मुष्टेरुपरि 'मा' शब्दौ तत्र साधारणौ। अस्य न्यासः॥

अथ मुसलधनुषी—

मायाविनं महाहावा रसायातं लसद्भुजा।
जातलीलायथासारवाचं महिषमावधीः ॥८॥मुसलम्॥
मामभीदा शरण्या मुत्सदैवारुक्प्रदा च धीः।
धीरा पवित्रा संत्रासात्त्रासीष्ठा मातरारम ॥९॥धनुः॥ (युग्मम्)

मायाविनमिति। मामिति। हे मातः, सा त्वं संत्रासाद्भयान्मां त्रासीष्ठा रक्ष। आरम व्यापारान्तरान्निवर्तस्व। पश्य मामित्यर्थः। या त्वं महिषं महिषासुरमावधीर्हतवतीति संबन्धः। कीदृशं महिषम्। मायाविनं छद्मपरम्। त्वं तु महाहावा महान्हावश्चेष्टाविशेषो यस्याः सा। रसेन दर्पेणायातं महिषम्। त्वं लसद्भुजा लसन्तौ भुजौ यस्याः। तथा जातलीला संपन्नविलासा। महिषमयथासारवाचमयथासारा मर्यादोल्लङ्घिनी वाग्यस्य। तथा त्वमभियमभयं ददासीत्यभीदा। शरणे साधुः शरण्या। मुत्प्रहृष्टा। सदैव सर्वकालमरुक्प्रदा नीरोगत्वदायिनी। चः समुच्चये। धीर्बुद्धिः। तद्धेतुत्वात्। धीरा निर्भया। पवित्रा पावनी। अत्राद्यश्लोकेन मुसलम्—मध्ये तनु पार्श्वयोः स्थूलमेकत्र प्रान्ते तीक्ष्णम्। तत्र मध्ये 'वारसा' इत्यक्षरत्रयं साधारणमन्ते 'जा' इति।

कठिन शब्दों के अर्थ

महाहावा—प्रचुरचेष्टायुक्ता। रसायातम्—दर्पेण समागतम्, अयथासारवाचम्—मर्यादाहीनवचसम्। अभीदा—अभयप्रदा। मुत्—प्रसन्ना। अरुक्प्रदा—आरोग्यदात्री। धीः—शरीरिणी बुद्धिः। आरम—कार्यान्तरात् निवर्तस्व।

हे माता! शेष कार्य छोड़कर मेरी ओर देखो और मुझे भय से बचाओ। आपने बड़े दर्प से आक्रमण के लिए आये हुए और दुर्वचन बोलते हुए महिषासुर को खेल-खेल में, हावभाव दिखाते हुए अपनी सुन्दर भुजाओं से मार दिया। आप ही मुझे अभय देने वाली हैं, आप ही मेरी शरण्य हैं। प्रसन्नता, आरोग्य और बुद्धि की दात्री भी आप ही हैं। आप परम-पवित्र और धीर-स्वभाव हैं।८ ९।

अन्वय—अङ्ग (हे) सद्रस! सर्वदा सादरं मनसा दास्यं गत्वा तां माननापरुषं लोकदेवीं सन्नम।

कठिन शब्दों के अर्थ

माननापरुषम्—पूजनेन विगतकोपाम्। सद्रस—भक्तिभरेण आर्द्रहृदय! सन्नम—सम्यक् प्रणामं कुरु।
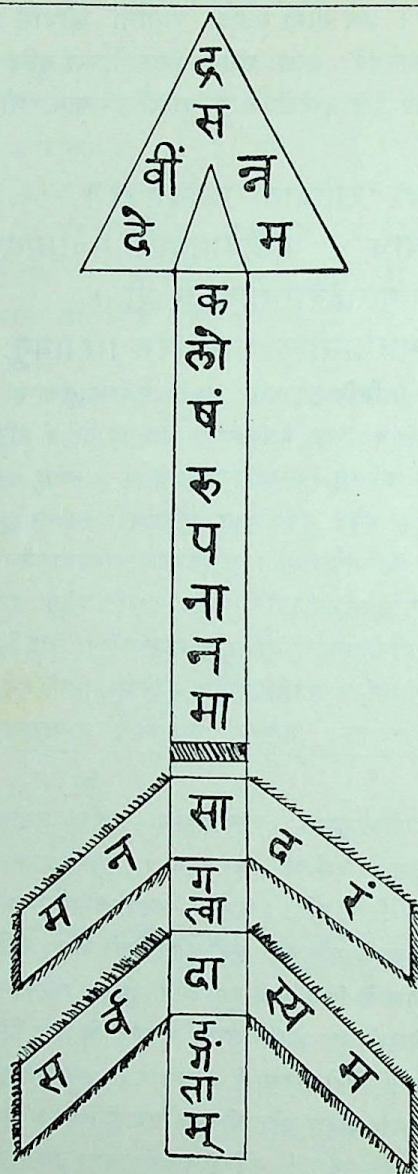
४. शरबन्ध, श्लोक-संख्या १०

इस शर-चित्र में शर के चार भाग हैं—दण्ड, फल, दो वाज (पक्ष), और अटनी (शर का एक सिरा)। यहाँ दण्ड में प्रथम पाद चित्रित है और फल में द्वितीय पाद। दो पक्षों तथा अटनी में तृतीय और चतुर्थ पाद चित्रित हैं। 'सा' और 'दा' की आवृत्ति दो बार होती है।

द्वितीयश्लोकेन धनुः—तत्राद्यमर्धं कुटिलं वंशभागे, द्वितीयं गुणाकारं 'मा' शब्दोऽधस्तनकोटिप्रान्ते, तदुपान्ते च मकारो द्विरावृत्ति, 'धी' शब्दश्च शिखारूपः। न्यासः॥

अथ शरः—

माननापरुषं लोकदेवीं सद्रस सन्नम।

मनसा सादरं गत्वा सर्वदा दास्यमङ्गताम्॥१०॥शरः॥

माननेति। अङ्गेति कोमलामन्त्रणे। हे सद्रस सुभक्तिभरेणार्द्रहृदय, सर्वदा सदा सोदरं सप्रयत्नं मनसा चेतसा तां लोकदेवीं भुवनदेवतां सन्नम सम्यक्प्रणम। दासभावं गत्वाभ्युपेत्य। माननया पूजनयापगता रुट् क्रोधो यस्यास्तां माननापरुषम्। सापराधेऽपि पूजया सप्रसादामित्यर्थः। अत्र प्रथमपादेन दण्डः, द्वितीयेन फलम्, तृतीयचतुर्थाभ्यां वाजात्रटनी च। न्यासः॥

अथ शूलम्—

मा मुषो राजस स्वासूंल्लोककूटेशदेवताम्।

तां शिवावाशितां सिद्ध्याध्यासितां स्तुतां स्तुहि॥११॥शूलम्॥

मा मुष इति। हे राजस रजोगुणयुक्त, स्वासूनात्मप्राणान्मा मुषो मा हार्षीः। तां लोककूटानां जनसमूहानामीशा राजानस्तेषां देवतां स्तुहि नुहि। कीदृशीम्। शिवेन शंभुना वाशितामाहूतां शिवाभिर्वा वाशितां कृतकलकलाम्। सिद्ध्या कार्यसिद्ध्याध्या-

---

हे भक्तिपूरितहृदय वाले सौम्य ! तुम सदा बड़े आदर सहित दासभाव से उस भुवनदेवी को मन से प्रणाम किया करो। पूजा तथा अनुनय से उसके क्रोध को शान्त करो।१०।

अन्वय—(हे) राजस ! स्वासून् मा मुषः। लोककूटेशदेवतां शिवावाशितां सिद्ध्याध्यासितां स्तुतां तां हि स्तुहि।

कठिन शब्दों के अर्थ

मुषः—हर (हृ धातु, लोट्, मध्यम० एकवचन)।

राजस—रजोगुणयुक्त।

स्व-असून्—निजप्राणान्।

लोककूटेशः—जनसमूहस्वामी।

शिवावाशिताम्—शिवेन आहूताम्।

सिद्ध्याध्यासिताम्—कार्येषु सिद्धिप्रदात्रीम्।

हे रजोगुण-युक्त पुरुष ! तुम व्यर्थ में प्राण-त्याग न करके प्रजावत्सल राजाओं की सम्मान्य देवी, लोकवन्दनीया, सिद्धिप्रदात्री पार्वतीजी की स्तुति करो। स्वयं शिव भी उनका स्मरण करते हैं।११।
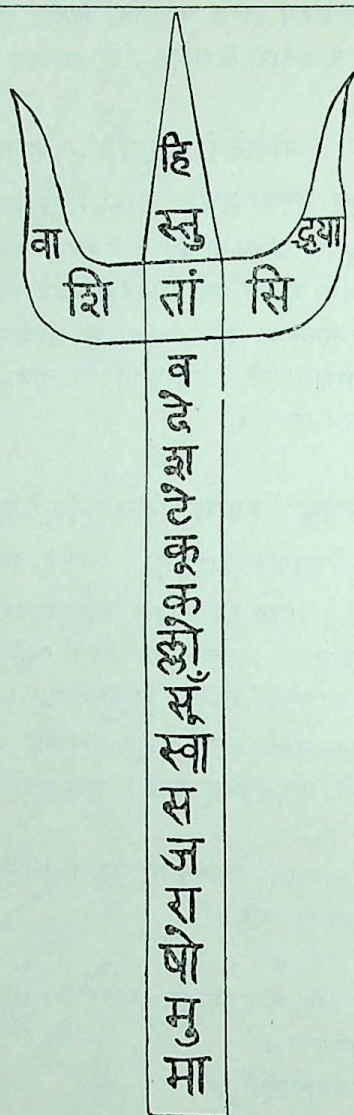
५. शूलबन्ध, श्लोक-संख्या ११

इस शूलचित्र के दो भाग हैं—दण्ड-भाग और त्रिशिखा-भाग। श्लोक का प्रथमार्द्ध दण्ड-भाग में चित्रित है, और द्वितीयार्द्ध त्रिशिखा-भाग में। द्वितीयार्द्ध दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे आवृत्त हुआ है, और प्रथमार्द्ध का अन्तिम शब्द 'तां' भी द्वितीयार्द्ध में आवृत्त हुआ है। इस प्रकार 'तां शि वा सि द्व्या स्तु हि' ये सभी आवृत्त होकर द्वितीयार्द्ध को पूरा कर देते हैं।

सितां समधिष्ठिताम् । स्तुतां जगतेति । त्रिशिखमेतेन शूलमुत्पद्यते । प्रथममर्ध दण्डभागे द्वितीयं त्वावर्तपरावर्तैः शिखासु । तत्र सर्वशिखामूले 'तां' शब्दो वारपञ्चकमुच्चार्यते । शिखायामेकस्यां 'शिवा', द्वितीयायां 'सिद्धचा', मध्यमायां 'स्तुहि' । न्यासः ।।

अथ शक्त्यादीनि—

माहिषाख्ये रणेऽन्या नु सा नु नानेयमत्र हि ।
हिमातङ्कादिवामुं च कं कम्पिनमुपप्लुतम् ।।१२।।शक्तिः।।
मातङ्गानङ्गविधिनामुना पादं तमुद्यतम् ।
तङ्गयित्वा शिरस्यस्य निपात्याहन्ति रंहसा ।।१३।।हलम् ।।
इतीक्षिता सुरैश्चक्रे या यमाममभायया ।
महिषं पातु वो गौरी सायतासिसितायसा ।।१४।। रथपदम्।।
(विशेषकम्)

माहिषेति । मातङ्गेति । इतीति । सा गौरी वो युष्मान्पातु रक्षतु । या सुरैरित्यमीक्षिता सती महिषं यमामं यमगामिनं मृतममायया च्छद्मना चक्रे कृतवती । किंभूता । आयतैर्दीर्घैरसिभिः सितो बद्ध आयोऽर्थागमो यैस्तान्दानवादीन्स्यति हिनस्ति या सा तथोक्ता । क्वेक्षिता । माहिषाख्ये रणे महिषासुरसंबन्धिनि समरे । कथमीक्षिता ।

अन्वय—सा (गौरी) वः पातु । या आयतासिसितायसा, माहिषाख्ये रणे, 'अत्र अन्या नु सा नु' (इति) नाना सुरैरीक्षिता (सती) हिमातङ्कादिव कं कम्पिनं उपप्लुतम् अमुं महिषं यमामं चक्रे । (सा) अमुना मातङ्गानङ्गविधिना तं उद्यतं पादं तङ्गयित्वा अस्य शिरसि रंहसा निपात्य आहन्ति ।

कठिन शब्दों के अर्थ

माहिषाख्ये—महिषासुरसम्बन्धिनि । हिमातङ्कात्—हिमजनितपीडायाः । कं—कुत्सितम् । उपप्लुतम्—मदेनोद्धतम् । मातङ्गानङ्गविधिना—सदर्पत्वात् मातङ्ग-(गज-) विधिना, सलीलत्वात् अनङ्ग-(काम-) विधिना । तङ्गयित्वा—भ्रामयित्वा । यमामम्—यमगामिनं, यमनगरीपथिकम् । आयत-असि-सित-आय-सा—दीर्घखड्गैः अवरुद्ध-अर्थागमानां (दानवानाम्) हन्त्री ।

महिषासुर के साथ संग्राम में प्रवृत्त भगवती गौरी को देखकर संशय होने लगता था कि यह गौरी हैं, अथवा कोई अन्य । उस समय वे अनेक रूपों में दिखायी पड़ती थीं । अपने दीर्घ खड्गों से धन की संप्राप्ति को बाँधने वाले दानवों के विनाश में दक्ष गौरी ने महिषासुर को अनायास ही यमनगर का अतिथि बना दिया ।

नानानेकप्रकारम्। तदेव नानात्वमाह—अन्या नु सा न्विति। नुर्वितर्के। अत्र रण इयं देवी किमन्या स्यादुत सैव। भयानकत्वादनिश्चयः। तथैवंवादिभिः सुरैरीक्षिता यथामुं महिषं कं कुत्सितम्। कम्पिनं कम्पयुक्तम्। कुत इव हिमातङ्कादिव हिमर्तेरिव। तथोपप्लुतं मदोद्धतमाहन्ति मारयति। केनाहन्ति। अमुना प्रत्यक्षदृष्टेन मातङ्गानङ्गविधिना। सदर्पत्वाद्गजविधिना, सलीलत्वादनङ्गविधिना। किं कृत्वा। तं लोकप्रसिद्धं पादमुद्यतमुत्पाटितं तङ्गयित्वा भ्रामयित्वा। तदनन्तरं चास्य महिषस्य शिरसि रंहसा

[देवता लोग इस युद्ध को देखकर इस प्रकार संलाप करने लगे—] देखो यह नीच और उद्धत महिषासुर इस प्रकार काँप रहा है, मानो सर्दी से आक्रान्त हो। भगवती गौरी ने [दर्प के कारण] हाथी की-सी चेष्टा से युक्त तथा [लीला के कारण] कामदेव-सदृश मृदु चेष्टा से युक्त अपने पैर को उठाकर तथा घुमाकर वेग से महिषासुर के सिर पर आघात करके उसे मार डाला, इस प्रकार [संलाप करते हुए] देवों से [विस्मय के साथ] देखी जाती हुई भगवती गौरी आप सब की रक्षा करें।१२-१४।
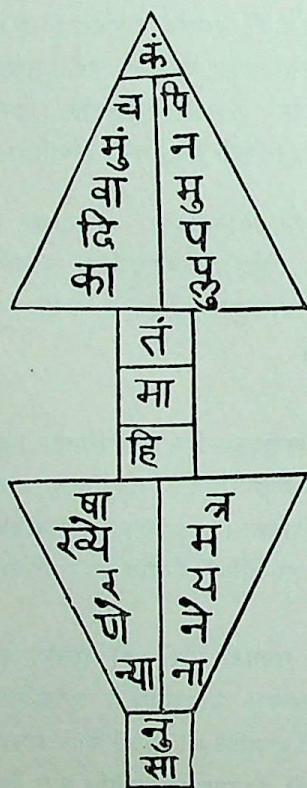
६. *शक्तिबन्ध-श्लोक-संख्या १२*

इस शक्ति-चित्र में शक्ति के तीन भाग हैं—मध्यभाग, उपरिभाग और अधोभाग। उपरिभाग में एक शिखा है और अधोभाग में एक तीक्ष्ण प्रान्त। मध्य भाग में 'तं मा हि' ये तीन अक्षर चित्रित हैं। शिखा-भाग में 'कं' और तीक्ष्ण प्रान्त में 'नुसा' ये अक्षर चित्रित हैं। ऊपर और नीचे के दोनों भाग दो-दो खण्डों में विभक्त हैं। श्लोक को मध्य भाग में चित्रित 'मा' से प्रारम्भ करते हुए नीचे की ओर आते हैं, फिर ऊपर की ओर जाते हैं। इस प्रकार प्रान्त भाग में चित्रित 'नु सा' अक्षर दूसरी वार 'सा नु' के रूप में आवृत्त होते हैं। मध्य भाग में चित्रित अक्षर 'हि मा तं' इस रूप में आवृत्त होते हैं। शिखा-भाग में चित्रित 'कं' अक्षर दो बार आवृत्त होता है। इस प्रकार यह श्लोक पूर्ण रूप से उच्चरित हो जाता है।

वेगेन निपात्य निःक्षिप्य। इत्यादि जल्पद्भिः सुरैरीक्षिता यमामं चक्र इति संबन्धः। देवतास्तुत्या चैतदत्र सूच्यते—यथा प्रायेण चित्रस्य देवतास्तुर्तिविषयो न सरसं काव्यमिति। अत्राद्यश्लोकेन मध्यतन्वी तीक्ष्णप्रान्ता शक्तिरुत्पद्यते। तत्र 'हिमातं' इत्यक्षरत्रयं मध्ये, 'नुसा' अधः, 'कं' उपरि। तत्र 'हि' द्विरावृत्तिः, 'मातंनुकं' एते द्विरावृत्तयः। द्वितीयश्लोकेन हलम्। तत्र हलप्रविष्टेषाशल्यभागे 'तं' शब्दः, 'मा' तस्य पृष्ठे, 'नामु' फलतीक्ष्णाग्रे, 'गानङ्गविधि पादं तमुघ' वर्णाः फलेऽनुलोमविलोमश्रेणिद्वयस्थाः, 'गयित्वा शिरस्यस्यां इतीषयाम्, 'निपात्या' हलोर्ध्वभागे, हकारो हलोर्ध्वभागे कीलिकाशल्यमध्ये, हकारोर्ध्वे 'न्ति', हकाराग्रे 'रं', हकारपृष्ठे 'सा'। माराारिप्रमुखैरेभिरष्टभिः श्लोकैरष्टारं चक्रमुत्पद्यते। अत्र पूर्वार्धान्यष्टाराः अन्त्यार्धानि त्वेका नेमिः। 'मा' शब्दो नाभिः सर्वसाधारणः। अर्धान्त्यश्लोकान्त्याक्षराणि च। अत्र च न चक्रे स्वनामाङ्कभूतोऽयं श्लोकः कविनान्तर्भावितो यथा—
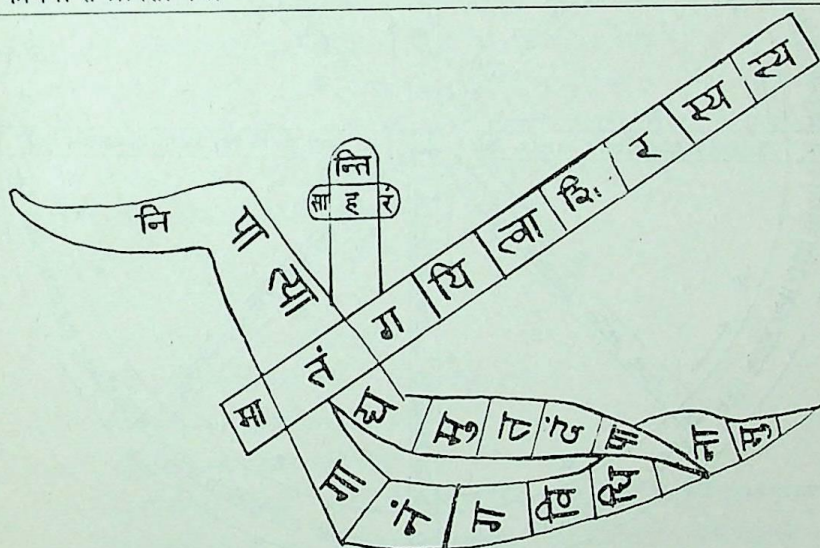
७. हलबन्ध, श्लोक-संख्या १३

इस हलचित्र में हल के ७ भाग हैं—(१) ईषाशल्य भाग, (२) ईषाशल्य भाग का पृष्ठभाग, (३) फल का तीक्ष्णाग्र भाग, (४) फल के दाएँ और बाएँ के दो खण्ड, (५) ईषाभाग, (६) ऊर्ध्वभाग, (७) ऊर्ध्वभाग में कीलिका शल्य—इसके चार खण्ड हैं—(क) मध्य, (ख) ऊर्ध्व, (ग) दाएँ और (घ) बाएँ। इन भागों में क्रमशः ये अक्षर चित्रित हैं— (१) तं, (२) मा, (३) नामु, (४) 'गा नं ग वि धि' तथा 'पा दं त मु घ', (५) ग यि त्वा शि र स्य स्य, (६) निपात्या, (७) ह, न्ति, रं, सा। इस प्रकार 'ना मु' की आवृत्ति 'मु ना' के रूप की जाती है, तथा 'तं' और 'इ' भी दो-दो बार आवृत्त होते हैं।

'शतानन्दापराख्येन भट्टवामुकसूनुना ।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमतां हितम् ॥'

अस्यार्थः—वामुकाख्यभट्टसुतेन शतानन्द इत्यपरनाम्ना रुद्रटेन कविना साधितं निष्पादितमिदं चक्रं काव्यं वा । कीदृशेन । साम गीतविशेषमजति प्राप्नोतीति सामाक्, तेन
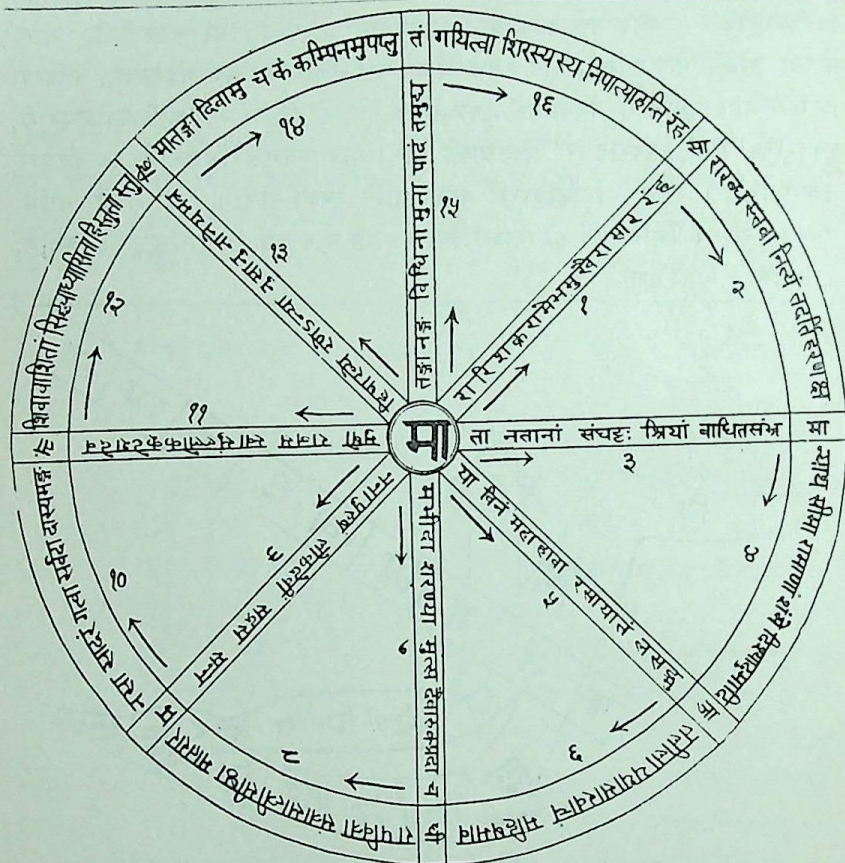
८. *चक्रबन्ध, श्लोक-संख्या ६-१३*

इस चक्र-चित्र में एक नाभि है, जिसमें 'मा' अक्षर चित्रित है । चक्र का भीतरी भाग आठ अरों से युक्त है [इनके नीचे संख्या १, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५ लगी है] चक्र का बाहरी भाग आठ नेमियों से निर्मित है । [इनके बाहर संख्या २, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६ लगी है ।] अर और नेमि के संयोग-स्थल भी संख्या में आठ हैं ।

इस चक्रचित्र में आठ श्लोक (संख्या ६-१३) चित्रित हैं । इन सभी श्लोकों के प्रथमार्द्ध आठों अरों में चित्रित हैं और द्वितीयार्द्ध आठों नेमियों में । सभी प्रथमार्द्धों का प्रारम्भ 'मा' से होता है, अतः ये सभी नाभि में चित्रित 'मा' से सम्बद्ध हैं । सभी प्रथमार्द्धों का अन्तिम अक्षर वही है जो सभी द्वितीयार्द्धों का आदिम अक्षर है, अतः संयोग-स्थलों में चित्रित आठों अक्षर दो-दो बार आवृत्त हुए हैं ।

सामाजा । सामवेदपाठकेनेत्यर्थः तच्च । धीमतां बुद्धिमतां हितमुपकारकम् । न्यासः । तृतीयश्लोकेन रथपदानि पूर्यन्ते । रथपदन्यायेन युक्पादयोरावृत्तिनिवृत्तिभ्यां पाठः ॥

अथ तुरगपदपाठः—

सेना लीलीलीना नाली लीनाना नानालीलीली ।
नालीनालीले नालीना लीलीली नानानानाली ॥१५॥

सेनेति । तत्र—सेना, लीलीलीनः, न, आली, लीनानाः, नानालीलीली, न, आलीनाली, ईले, ना, आलीनाः, लीलीली, नानाना, अनाली, इति पदानि। पदार्थस्त्वयं यथा—कश्चिद्वक्ति—अहं ना पुरुषः सेनाः पृतना ईले स्तौमि। 'ईड स्तुतौ' । वर्तमानायां ए। सेनाः स्तौम्यहमिति संवन्ध । यद्वा परोक्षायां 'इले' इति रूपम् । वहुलत्वादाम्प्रत्ययाभावः । ततः कश्चिन्ना सेना ईले । तुष्टावेत्यर्थः । कीदृशीः सेनाः । लीला विद्यते येषां लीलिनस्तौतीत्येवंशीलो लीलीली स इनः स्वामी यासां ता लीलीलीनाः । ना कीदृशः आलमनर्थोऽसत्यं वा विद्यते यस्य स आली एवंविधो न । तथा लीनानि संवद्धान्यनांसि शकटानि शकटारूढा वा जना यस्य स लीनानाः । तथा नानाप्रकारा आलयः पंक्तयो नानालयस्तासां लीः श्लेषस्तां लान्ति गृह्णन्ति ये ते नानालीलीलाः

अन्वय—नाली, ना, लीनानाः, नानालीलीली, नालीनाली, लीलीली, नानानानाली, लीलीलीनाः, आलीनाः सेनाः ईले ।

कठिन शब्दों के अर्थ

सेनाः—सैन्यानि ।

लीलीलीना—लीलायुक्तपुरुषाणां

स्तुतिकर्ता स्वामिना युक्ताः (द्वि० बहु०) ।

न-आली—न असत्यवक्ता ।

लीनाना—शकटारूढपुरुषोपेतः ।

नाना-आली-ली-ली—अनेकपंक्तिस्थितपुरुषाणां नायकः, व्यूहाश्रितनरनायकः ।

न-आलीन-आली—न आश्रितानामनर्थकरः, सेवकानुकूलः । ईले-स्तौमि ।

ना-पुरुषः । आलीनाः—संबद्धाः (द्वि० बहु०) । लीलीली—सुखदायिन्याः भूमेः अधिपतिभिः नृपैर्युक्तः ।

नाना-ना-अनेकविधपुरुषैरुपेतः ।

अनाली—न मूर्खः, प्राज्ञः ।

मैं उस सेना की स्तुति करता हूँ जिसका स्वामी अनेक लीलाएँ करने वाला है, जो असत्य भाषण नहीं करता, जिसकी सेना में अनेक रथादि हैं, जहाँ पर अनेक पुरुष सेना के व्यूह बनाकर उसके सेनापति हैं । जिस सेना के राजा प्रजावत्सल हैं । जो सेना में अनेक भूमिपतियों से युक्त हैं । जिस सेना में सभी व्यक्ति बुद्धिमान् हैं ।१५।

पुरुषा विद्यन्ते यस्य स नानालीलीली । व्यूहाश्रितनरनायक इत्यर्थः । तथा आलीनानामाश्रितानामाली अनर्थकरः आलीनाली एवंविधो न । सेवकानुकूल इत्यर्थः । कीदृशीः सेनाः । आलीना आश्लिष्टाः । ना कीदृशः । लीलिनी लीलावती सुखितत्वात्प्राणिनामिला भूर्येषां ते लीलीला नृपास्ते यस्य सन्ति स लीलीली । तथा नानाप्रकारो ना मनुष्यो यस्य स नानाना । तथा आली मूर्ख उच्यते आलमस्यास्तीति वा न आली अनाली । प्राज्ञ इत्यर्थः । अत्र तुरगपदपरिज्ञानाय श्लोको यथा—'कशझेनागभटाय तथखेवेञराघवे । षजेयाढेपचेमेठे दोणसछलडेपडे ॥' अमुं श्लोकं 'सेनाली' इत्यादि प्रस्तुतश्लोकोपरिभागे यथाक्रमाक्षरं लिखित्वा ततः एतच्छ्लोकगतमातृकापठितकादिवर्णक्रमानुमिततुरगपदक्रमेण प्रस्तुतः श्लोक उच्चेय इति ।

---

१ से	३० ना	९ ली	२० ली	३ ली	२४ ना	११ ना	२६ ली
१६ ली	१९ ना	२ ना	२९ ना	१० ना	२७ ली	४ ली	२३ ली
३१ न	८ ली	१७ ना	१४ ली	२१ ले	६ ना	२५ ली	१२ ना
१८ ली	१५ ली	३२ ली	७ ना	२८ ना	१३ ना	२२ ना	५ ली

९. *तुरगपदबन्ध, श्लोक-संख्या १५*

इस तुरगपदबन्ध चित्र में निर्दिष्ट १, २, ३, ४ आदि संख्याओं का क्रम तुरग के चारों पदों के धारण के सूचक हैं। ये संख्याएँ निम्नोक्त रूप में निर्धारित की गयी हैं—दाईं ओर दो अंक छोड़कर नीचे का कोष्ठक अगली संख्या का सूचक है। [उदाहरणार्थ—१ के उपरान्त दो अंक (३०, ९) छोड़कर नीचे का कोष्ठक संख्या 'र' है।] फिर दाईं ओर दो अंक छोड़कर ऊपर का कोष्ठक अगली संख्या का सूचक है। [उदाहरणार्थ अंक २ के उपरान्त दाईं ओर के दो अंक (२९, १०) छोड़कर ऊपर का कोष्ठक '३' है।] इसके उपरान्त यथापूर्व ५, ६, ७, ८ संख्याएँ, पुनः ९, १०, ११, १२ संख्याएँ आदि तुरग के चारों पदों की सूचक हैं।

अन्वय—ये नानाधीनावाः, धीराः, नाधीवाः राधीराः [सन्ति], ते किं नानाशं नाकं शं [आशङ्कन्ते]। [ते] ते तेजोऽशं नाशङ्कन्ते।

कठिन शब्दों के अर्थ

नाना आधि-इन-अवाः—विविधमानसिकपीडायुक्ताः स्वामिनः रक्षकाः। धीराः—सत्त्वयुक्ताः। न-अधी-वाः—न दुष्टबुद्धि-आश्रयिणः, निष्कपटमानसाः।

अथ गजपदपाठमाह—

ये नानाधीनावा धोरा नाधीवा राधीरा राजन् ।
किं नानाशं नाकं शं ते नाशंकन्तेऽशं ते तेजः ॥१६॥

य इति । अत्र—ये, नानाधीनावाः, धीराः, न, अधीवाः, राधीराः, राजम् किं, नानाशं, नाकं, शं, ते, न, आशङ्कन्ते, अशं, ते, तेजः, इति पदानि । पदार्थस्त्वेवम्—यथा कश्चिद्राज्ञः कस्यापि सेवकानभिनन्दति—हे राजन्, ये तदीयभृत्या एवंगुणयुक्तास्ते किं नाकस्येदं नाकं स्वर्गसक्तं शं शिवं सुखमाशङ्कन्ते । नञ उत्तरत्र संबन्धः । किंशब्द-काक्वावश्यं तेषां स्वर्गसुखं भवतीत्यर्थः । कीदृशा ये । नानाविधा आधयो यस्य स नानाधिः स चासाविनश्च प्रभुस्तमवन्ति विनाशाद्रक्षन्तीति नानाधीनावाः तथा धीराः

राधीराः—हिंसकानां विनाशकाः । नानाशम्—विविधसुखाभिलाषैः पूर्णम् । नाकं—स्वर्गसम्बन्धि । शं—शिवं, सुखम् । ते—उपर्युक्त गुणविशिष्टाः सेवकाः । अशं—दुःख रूपम् । ते—तव ।

कोई व्यक्ति किसी राजा के सेवकों की प्रशंसा करते हुए कहता है—हे राजन् ! आपके उत्तम गुणों से युक्त ये सेवक अनेकविध आशाओं से पूर्ण स्वर्गसुख भोगने के योग्य हैं; क्योंकि ये विविध मानसिक तापों से पीड़ित राजा की रक्षा करने वाले हैं, सत्त्व गुणयुक्त हैं तथा इनकी बुद्धि निष्कपट एवं पापरहित है । वे हिंसकों को दण्ड देनेवाले हैं तथा आप से अभयदान पाकर सर्वथा आश्वस्त हैं ।१६।

१ ये	२ ना	३ ना	४ धी	५ ना	६ वा	७ धी	८ रा
९ ना	१० धी	११ वा	१२ रा	१३ धी	१४ रा	१५ रा	१६ जन्
१७ किं	१८ ना	१९ ना	२० शं	२१ ना	२२ कं	२३ शं	२४ ते
२५ ना	२६ श	२७ ङ्क	२८ न्ते	२९ ऽशं	३० ते	३१ ते	३२ जः

१०. गजपद-बन्ध, श्लोक-संख्या १६

यह चित्रबन्ध गजपद-क्रम का सूचक है । इसमें प्रत्येक पाद को [यथाक्रम अक्षरों के अनुसार पढ़ने के अरिरिक्त] निम्नोक्त कोष्ठक संख्या के अनुरूप भी यथा-वत् पढ़ सकते हैं :

प्रथम पाद—१, ९, २, १०, ३, ११, ४, १२
द्वितीय पाद—५, १३, ६, १४, ७, १५, ८, १६
तृतीय पाद—१७, २५, १८, २६, १९, २७, २०, २८
चतुर्थ पाद—२१, २९, २२, ३०, २३, ३१, २४, ३२

सम्भवतः यह क्रम गज के चारों पदों के धारण का सूचक है ।

सत्त्वयुक्ताः । तथा दुष्टा धीर्बुद्धिरधीस्तां वान्ति गच्छन्त्याश्रयन्त्यधीवा एवंविधा न । तथा 'राधो हिंसायाम्' । राधिनो हिंसकास्तानीरयन्तीति राधीराः । शं कीदृशम् । नानाविधा आशाः सुखाभिलाषा यत्र तन्नानाशम् । किंच ते तव संबन्धि यत्तेजस्तदशं दुःखरूपमित्येवं नाशङ्कन्ते । प्रभुतेजोऽस्माकं नाशयेति चेतसि नैव कुर्वन्वीत्यर्थः अत्र गजपदन्यायेन श्लोक उत्पद्यते । स च श्लोकगतप्रथमनवमद्वितीयदशमतृतीयैकादश-चतुर्थद्वादशादिक्रमेण उच्चेय इति ।।

अथ प्रतिलोमानुलोमपाठं स्रग्धरावृत्तमाह—

वेदापन्ने स शक्ले रचितनिजरुगुच्छेदयत्नेऽरमेरे
देवासक्तेऽमुदक्षो बलदमनयदस्तोददुर्गासवासे ।
सेवासर्गादुदस्तो दयनमदलवक्षोदमुक्ते सवादे
रेमे रत्नेऽयदच्छे गुरुजनितचिरक्लेशसन्नेऽपदावे ।।१७।।

वेदापन्न इति । स कश्चिद्गुणिप्रियो रत्ने गुणवति जने रेमे ननन्द । 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते' । वेदानापन्नो वेदापन्नस्तत्र । अधीतवेद इत्यर्थः । तथा शक्ले प्रियंवदे । तथा रचितः कृतो निजाया रागद्वेषात्मिकाया रुजो बाधाया उच्छेद उन्मूलने यत्नो येन तस्मिन्रचितनिजरुगुच्छेदयत्ने । तथा न रमन्ते सुजनेषु धर्मे

अन्वय—स अमुदक्षो, बलदमनयदः, सेवासर्गादुदस्तः, वेदापन्ने, शक्ले, रचित-निजरुगुच्छेदयत्ने, अरमेरे, देवासक्ते, तोददुर्गासवासे, दयनमदलवक्षोदमुक्ते, सवादे, अयदच्छे, गुरुजनितचिरक्लेशसन्ने, अपदावे रत्ने रेमे ।

कठिन शब्दों के अर्थ

वेदापन्ने—अधीतवेदे । शक्ले—प्रियंवदे । रुक्—रागद्वेषात्मिका बाधा । अरम-ईरे—अधार्मिकानां, दुर्जनानां विनाशके । अमुत्-अक्षः—जितेन्द्रियः । बल-दम-नयदः—शक्ति-उपशमनीतेरुपदेष्टा । तोददुर्गास-वासे—दुःखदुर्ग भञ्जकानामाश्रयभूते । सेवासर्गात् उदस्तः—सेवावृत्तौ शिथिलोत्साहः, स्वाधीनताप्रियः । दयन-मदलव-क्षोद-मुक्ते—धनदानादिजनितगर्वलेशाद् रहिते । सवादे—वादचातुरीसमुपेते, प्रमाण-शास्त्रज्ञे । रत्ने—श्रेष्ठे नरे । अयदच्छे—अनिर्गत-नैर्मल्ये, पवित्र-मानसे । गुरुजनित-चिर-क्लेश-सन्ने—गुरुजनशुश्रूषा-जनित-श्रान्तिमुक्ते । अपदावे—उपताप-रहिते ।

वह जितेन्द्रिय, शक्ति और सामनीति का उपदेष्टा, स्वाधीनवृत्ति पुरुष, उस गुणी व्यक्ति से प्रेम करता है, वह व्यक्ति वेदवित्, मधुरभाषी, रागद्वेषादि चित्त-वृत्तियों के उन्मूलन में तत्पर, दुर्जनों को सत्प्रेरणा देनेवाला, देवोपासक, बड़े-बड़े शूरों के आश्रयदाता, दानादि के गर्व से सर्वथा शून्य, शास्त्र-प्रमाणज्ञ, शुद्धाचार, गुरुओं के सेवाकार्य में आसक्त और शान्तचित्त है ।१७।

वा ये ते अरमा दुर्जनास्तानीरयति यस्तस्मिन्नरमेरे। तथा देवेश्वासक्तो देवासक्त-स्तस्मिन्देवासक्ते। देवपूजोद्यत इत्यर्थः। स कीदृशः। न मोदन्ते प्रमोदं यान्तीत्यमुन्दि अक्षाणीन्द्रियाणि यस्य सोऽमुदक्षो जितेन्द्रियः। तथा बलदमनयदः शक्त्युपशमनीतिदाता। रत्ने कीदृशे। तोदस्य व्यथाया दुर्गा इव दुर्गाः परानभिभूतास्तानध्यस्यन्ति क्षिपन्तीति तोददुर्गासास्तेषां वासे निलये। शूराणामपि शूरा यमाश्रिता इत्यर्थः। स कीदृशः। सेवायां परप्रणतौ सर्ग उत्साहस्तत उदस्तो निवृत्तः। स्वाधीन इत्यर्थः। रत्ने कीदृशे। दयनं दानं रक्षा वा तेन यो मदलवो गर्वकणिका तेन यः क्षोदः परिकत्थनं तेन मुक्ते रहिते। प्रियं कृत्वाप्यगर्वित इत्यर्थः। यद्वा अदयनेन निर्दयत्वेन मदलवेन गर्वलेशेन क्षोदेन हिंसया च मुक्ते। तथा सह वादेन वर्तते सवादस्तस्मिन्। प्रमाणशास्त्रज्ञ इत्यर्थः। तथा अयन्नगच्छन्नच्छो नैर्मल्यं यस्य तत्रायदच्छे। शुद्धिमतीत्यर्थः तथा। गुरुभिः पूज्यै-र्जनितो यश्चिरं क्लेशः शुश्रूषाश्रमस्तेनैव सन्ने श्रान्ते। न त्वेन्येन। तत्र वा सन्ने सक्ते। तथा अपदान्पदभ्रष्टानवतीत्यपदावः। यदि वापगतो दाव उपतापो यस्य तस्मिन्निति। यथैवायं श्लोकः क्रमेण पठ्यते, एवं व्यतिक्रमेणापीति प्रतिलोमानुलोमः॥

अथार्धभ्रममाह—

सरसायारिवीरालीरसनव्याध्यदेश्वरा।
सा नः पायादरं देवी याव्यायागमदध्यरि ॥१८॥

सरसेति। सा ईश्वरा देवी गौरी नोऽस्मानरं शीघ्रं पायादव्यात्। या अगमद्-गता। कथम्। अध्यरि रिपूनधिकृत्य। कीदृश्यगमत्। अव्याया विगत आयोऽर्थागमो यस्याः सा व्याया, न व्याया अव्याया। सलाभेत्यर्थः। तथा अयनमायः, सरसः सरोष आयो रणे गमनं यस्याः सा सरसाया, सा चासावरिवीराली च शत्रुसुभटपंक्तिस्तस्या रसनेनास्वादनेन हिंसया विशेषेण भक्तानामाधीर्मनोदुःखान्यत्ति नाशयतीति सरसायारि-वीरालीरसनव्याध्यदा। यदि वा सरसाया अरिवीराल्या रसेन भावेन नव्या स्तुत्या। आध्यदा दुःखनाशिका। अर्धभ्रमणादर्धभ्रमोऽयम्। न तु सर्वतोभद्रवत्सर्वत्र भ्राम्यति॥

अन्वय—सा ईश्वरा देवी नः अरं पायात्, या अव्याया, सरसायारिवीराली-रसनव्याध्यदा अध्यरि अगमत्।

कठिन शब्दों के अर्थ

स-रस-आया—[रणे] सरोषअभिगमन युक्ता। अरि-वीर-आली-रसन-वि-आधि-अदा—शत्रुवीराणां हिंसया [भक्तानां] मनोदुःखस्य विशेषेण विनाशिका।

वह देवी गौरी हमारी शीघ्र रक्षा करें। वह वैभव-सम्पन्न हैं तथा रोषपूर्वक युद्ध के लिये आये हुए शत्रु-वीरों के विनाश द्वारा भक्तों के मानसिक संताप को शान्त करने वाली हैं। वह भगवती गौरी शत्रुओं के सम्मुख युद्धार्थ चली गयीं।१८।

अथ मुरजबन्धः—

सरलाबहलारम्भतरलालिबलारवा ।

वारलाबहलामन्दकरला बहलामला ॥१९॥

सरलेति । सर्वभाषाभिरमागधिकाभिः शरद्वर्णने श्लोकोऽयम् । तत्र कीदृशी शरद्वर्तते । सरलो दीर्घ आ समन्ताद्बहलेन प्रभूतेनारम्भेण तरलानां चञ्चलानामलिबलानां भ्रमरसैन्यानामारवः शब्दो यस्यां सा सरलाबहलारम्भतरलालिबलारवा । तथा

	१	२	३	४	१	२	३	४	
१	स	र	सा	या	रि	वी	रा	ली	४
२	र	स	न	व्या	ध्य	द	श्व	रा	३
३	सा	नः	पा	या	द	रं	दे	वी	२
४	या	व्या	या	ग	म	द	ध्य	रि	१

११. अर्द्धभ्रम-बन्ध, श्लोक-संख्या १८

(प्रथम खण्ड) (द्वितीय खण्ड)

यह चित्रबन्ध अर्द्धभ्रम का सूचक है । इस चित्र के दो खण्ड हैं । इन दोनों खण्डों में प्रत्येक पाद के अर्द्धभाग को [यथाक्रम अक्षरों के अनुसार पढ़ने के अतिरिक्त] बाण-चिह्नों एवं कोष्ठक संख्या के अनुरूप भी यथावत् पढ़ सकते हैं । अर्द्धभ्रम और सर्वतोभ्रम में अन्तर जानने के लिए चित्र-संख्या १३ देखिए ।

अन्वय—सरलाबहलारम्भतरलालिबलारवा, वारलावहला, अमन्दकरला, बहलामला ।

कठिन शब्दों के अर्थ

सरल-आबहल-आरम्भ-तरल-अलि-बल-आरवा—समन्तात् प्रचुरसमारम्भेण भ्रमरसैन्यस्य दीर्घगुंजनशब्दैः युक्ता । वारलावहला—हंसीसमूहेन व्याप्ता । अमन्द-करला—सोत्साहैः नृपतिभिः अधिष्ठिता । बहलामला—प्रकर्षेण निर्मला, यद्वा प्रभूत-आमलकीफलैः समृद्धा ।

यह शरद् ऋतु सुदूर तक फैलने वाले भ्रमर-समूह के गुञ्जन से युक्त है । इस ऋतु में हँसिनियों के झुण्ड दिखायी पड़ते हैं । राजा लोग विजय-यात्रा के लिये सोत्साह हैं तथा पृथ्वी, दिशा, आकाश आदि मेघ, धूलि, पंक आदि उपद्रवों से रहित तथा निर्मल हैं ।१९।

वारलाभिर्हंसीभिर्बहला संतता । यदि वा वारेण परिपाट्या लावो लवनं येषां तानि तथाविधानि हलानि हलकृष्टधान्यक्षेत्राणि यस्यां सा तथाविधा । तथा करं लान्ति गृह्णन्ति ये ते करला नृपा: । अमन्दा यात्रायां सोद्यमा: करला यस्यां सा तथाविधा । तथा बहलानि प्रभूतान्यामलान्यामलकीफलानि यस्यां सा तथाविधा । यदि वा बहल-मत्यर्थममला निर्मला बहलामला । अत्र मुरजत्रयमर्धमुरजौ चान्ते भवत: । न्यास: ॥
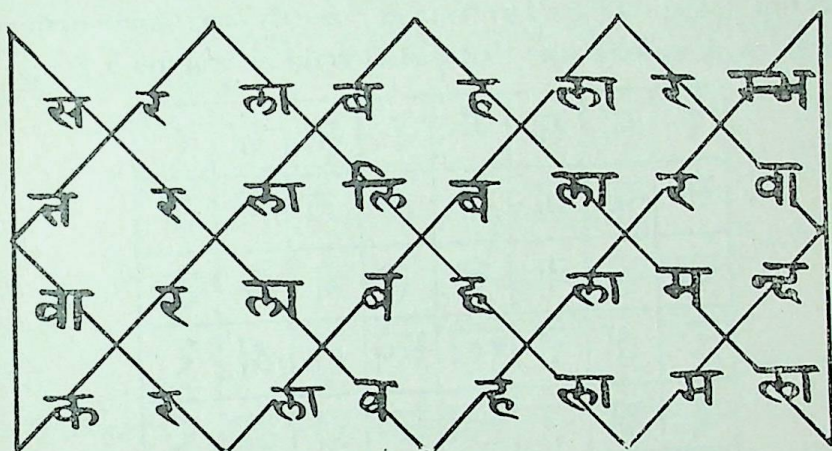
१२ मुरजबन्ध, श्लोक-संख्या १६

मुरज कहते हैं ढोल को । उक्त चित्र में 'सरलाबहला···' आदि श्लोक पूरा-का-पूरा तथा ज्यों-का-त्यों लिख देने से तीन मुरज तो बीच में बन गये हैं और आधा-आधा मुरज दोनों सिरों पर । [किन्तु हमें इस बन्ध में कोई विशेष चमत्कार प्रतीत नहीं होता ।]

अन्वय—[हे] सार ! अतक्षर !! तव रक्षत: [सत:] तु सा रसा साररसा अस्तु । [हे] आयताक्ष । [सा] क्षतायसा, सातावा [अस्तु] । हे अत ! [सा] अतासा [भवतु] ।

कठिन शब्दों के अर्थ

रसा—पृथ्वी । साररसा—उत्कृष्ट-रसोपेता । [हे] सार—[हे] उत्कृष्ट ! [हे] आयताक्ष ! विशाललोचन ! क्षतायसा—अर्थागमलुण्ठकानां चौराणां विनाशनी । सातावा—सुख-रक्षिका, श्रेयस्करी । [हे] अत—[नित्यम्] उद्यमशील ! तव—भवत: । अतासा—अक्षया । रक्षत:—पालयत:, तु, अस्तु—भवतु । [हे] अतक्षर—न तनूकर्त: ! पुष्टिसम्पादक !

अथ सर्वतोभद्रमाह—

रसा साररसा सार सायताक्ष क्षतायसा ।
सातावात तवातासा रक्षतस्त्वस्त्वतक्षर ॥२०॥

कोई व्यक्ति राजा से कहता है—हे भूपशिरोमणे ! प्रजापालक ! आपके संरक्षण में यह पृथ्वी उत्कृष्ट वस्तुओं से सम्पन्न हो । हे विशालनेत्र ! आपके राज्य में सम्पत्ति का नाश करने वाले चोर-लुटेरों का विनाश हो । यह पृथ्वी सबका कल्याण-सम्पादन करती रहे । हे उद्यमशील राजन् ! इस पृथ्वी की सम्पत्ति का कभी नाश न हो ।२०।

र	सा	सा	र	र	सा	सा	र
सा	य	ता	क्ष	क्ष	ता	य	सा
सा	ता	वा	त	त	वा	ता	सा
र	क्ष	त	स्त्व	स्त्व	त	क्ष	र
र	क्ष	त	स्त्व	स्त्व	त	क्ष	र
सा	ता	वा	त	त	वा	ता	सा
सा	य	ता	क्ष	क्ष	ता	य	सा
र	सा	सा	र	र	सा	सा	र

१३. सर्वतोभद्र बन्ध, श्लोक-संख्या २०

सर्वतोभद्र से यहाँ तात्पर्य है सब ओर से ग्राह्य । इस चित्रबन्ध से स्पष्ट है है कि श्लोक का प्रत्येक पाद निम्नोक्त रूप में पढ़ा जा सकता है—

प्रथम पाद —पहली और आठवीं पंक्तियाँ　　दाएँ से बाएँ तथा
द्वितीय पाद—दूसरी और सातवीं पंक्तियाँ　　बाएँ से दाएँ और
तृतीय पाद— तीसरी और छठी पंक्तियाँ　　ऊपर से नीचे तथा
चतुर्थ पाद — चौथी और पाँचवीं पंक्तियाँ　　नीचे से ऊपर

'सर्वतोभद्र' चित्र में जिस प्रकार इतना अधिक 'भ्रमण' किया जा सकता है, 'अर्द्धभ्रम' चित्र में यह आधा ही सम्भव है, जैसा कि ऊपर चित्रसंख्या ११ से स्पष्ट है ।

रसेति । कश्चिद्राजानमाह—हे सार उत्कृष्ट, तव रक्षतः पालयतः सतः सा रसा पृथ्वी साररसा उत्कृष्टरसास्तु भवतु । हे आयताक्ष दीर्घलोचन, तथा सा क्षतायसा चास्तु । क्षतो नाशित आयोऽर्थागमो यैस्ते क्षतायाश्चौरादयस्तान्त्यत्यन्तं नयतीति कृत्वा । तथा सातं सुखमवतीति सातावा । श्रेयस्करीत्यर्थः अस्त्विति सर्वत्र योज्यम् । हे अत । अतति नित्यमेवोद्यमं भजत इत्यर्थः । तथा अतासा अक्षया रसा । भवत्विन्त्यत्रापि योगः । तुर्नियमे । रक्षत एव, न त्ववलिप्तस्य । तथा हे अतक्षर तक्षणं तक्षस्तनूकरणं तं राति ददातीति तक्षरः, तक्षरोऽतक्षरः । पुष्टिद इत्यर्थः । चतुर्दिशं वाच्यत्वात् सर्वतोभद्रोऽयं श्लोकः ।।

आदिग्रहणसंगृहीतं पद्याद्युदाहरणमाह—

या पात्यपायपतितानवतारिताया
यातारिपावपति वाग्भुवनानि माया ।
यामानिना वपतु वो वसु सा स्वगेया
यागे स्वसासुररिपोर्जयपात्यपाया ।।२१।।

येति । सा इना स्वामिनी गौरी वो युष्मभ्यं यामानष्टावपि प्रहरान्नित्यं वसु धनं वपतु जनयतु । या अपायपतितानापद्गतान्प्राणिनः पाति रक्षतीति । किंभूता सती ।

अन्वय—सा इना वो यामान् वसु वपतु, या अवतारिताया, यातारिता अपाय पतितान् पाति । [या] वाक् भुवनानि आवपति । [या] माया, यागे स्वगे या, असुररिपोः स्वसा, जयपा, अत्यपाया [अस्ति] ।

कठिन शब्दों के अर्थ

अपायपतितान्—आपद्गतान् प्राणिनः । अवतारिताया—अर्थागमस्य प्रापिका, संपत्तिप्रदा । यातारिता—विगतशत्रुभावा । आवपति—व्याप्नोति । वाक्—वचनरूपा, वाणीरूपा । माया—दुर्बोधत्वात् मायारूपिणी । यामान्—अष्टौ प्रहरान् । इना—स्वामिनी गौरी । वपतु—जनयतु । स्वगेया—आत्मनैव स्तुत्या, वाग्रूपत्वात् । स्वसा—भगिनी । असुररिपोः—विष्णोः । जयपा—भक्तानां समृद्धिरक्षिका । अत्यपाया—अनर्थविध्वंसकर्त्री ।

वह स्वामिनी गौरी आपको आठों पहर धन-सम्पत्ति से सम्पन्न करती रहें, जो वैभव की प्रदात्री हैं, शत्रुभाव से सर्वथा निर्मुक्त एवं निर्मत्सर हैं, और विपद्ग्रस्त प्राणियों की रक्षा करने वाली हैं । वह देवी गौरी वाग्रूप होकर सारे भुवन में व्याप्त हैं, अज्ञेय होने से माया-रूप हैं । स्वयं वाग्रूप होने से यज्ञ में अपनी स्तुति आप ही हैं । [वह देवी गौरी] भगवान् विष्णु की बहिन हैं । भक्तों के उत्कर्ष अथवा जय की रक्षा करने वाली हैं, तथा विघ्न-विनाशिनी हैं ।२१।

अवतारितः प्रापित आयोऽर्थागमो यया सावतारितायाः। तथा याता निवृत्तारिता शत्रुभावो यस्यां सा यातारिता। निर्मत्सरेत्यर्थः। या तथा वाक् वचनरूपा सती भुवनानि जगन्त्यावपति व्याप्नोति। या च तत्त्वतो ज्ञातुमशक्यत्वान्मायेव माया। या च यागे यज्ञे स्वेनात्मनैव गेया स्तुत्या। वाग्रूपत्वात्तस्याः। तथा या चासुररिपोर्विष्णोः स्वसा भगिनी। या च जयं सर्वोत्कर्षवर्तनं भक्तानां पाति रक्षतीति जयपा। तथातिक्रान्ता
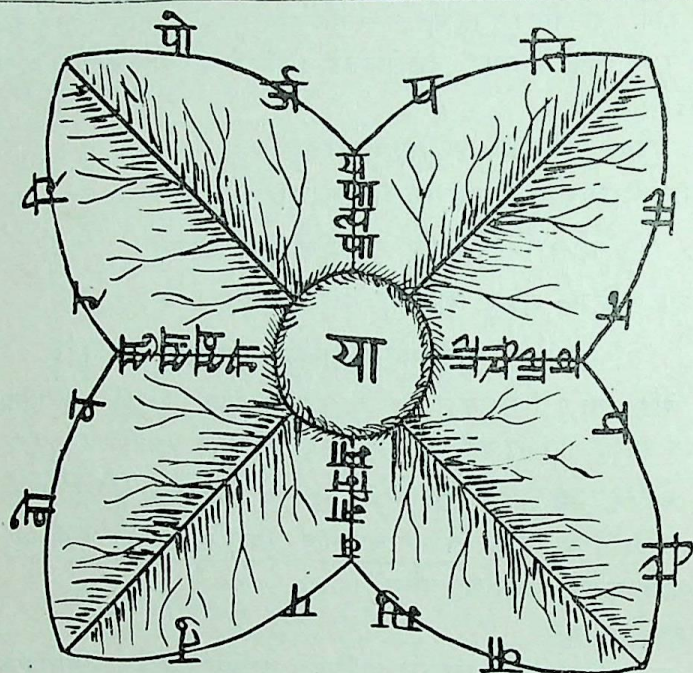
१४. पद्मबन्ध, श्लोक-संख्या २१

इस पद्मचित्र में चार दल हैं। प्रस्तुत श्लोक के प्रत्येक पाद में पहला और अन्तिम वर्ण 'या' है। इसे पद्मचित्र के मध्य में 'कर्णिका' रूप में चित्रित किया गया है। प्रत्येक पाद के अन्तिम चार वर्ण अगले पाद के आरम्भिक चार वर्ण हैं, किन्तु विलोम रूप में। इसी प्रकार चौथे पाद के अन्तिम चार वर्ण भी पहले पाद के आरम्भिक चार वर्ण हैं—विलोम रूप में। इस प्रकार पूरा श्लोक पढ़ने से 'या' (कर्णिका) की आवृत्ति ८ बार हो जाती है, तथा प्रत्येक पाद के अन्तिम चार वर्ण भी विलोम रूप से दो-दो बार आवृत्त हो जाते हैं। प्रतीत ऐसा होता है कि प्रत्येक दल में १२-१२ वर्ण हैं, और इस प्रकार ४८ वर्ण होने चाहिए, किन्तु वस्तुतः हैं ३२ वर्ण। ३३वाँ वर्ण कर्णिका रूप में है। १४ वर्णों वाले इस छन्द के कुल ५६ वर्णों में से ३३ वर्ण इस चित्र में चित्रित हैं, शेष २३ वर्ण आवृत्त रूप में ग्राह्य हैं।

अपाया अनर्था यया सात्यपाया । निरापदेत्यर्थः । इदमष्टदलं पद्ममिति पूर्वे भणन्ति तन्न सम्यग्बुध्यते । चतुर्दलं तु बुध्यते । यथा 'या' शब्दोऽत्र कर्णिका अष्टवारान्परावर्त्यते । दलानि द्वादशाक्षरणि । तत्र पार्श्ववर्तिनश्चत्वारश्चत्वारो वर्णा दलसंधिगतत्वाद्द्विरावर्त्यन्ते ।।

अथानुलोमविलोमविपर्यस्ताक्षरपाठेन श्लोकाच्छ्लोकान्तरोत्पत्तिमाह । तत्राद्यः श्लोकः—

समरणमहितोपा यास्तनामारिपाता
वनरतिसरमाया वानरा मापसारम् ।
अमरततवरालीमानमासाद्य नेदू
रणमहिमतताशा धीरभावेऽसिराते ।।२२।।

समरणेति । सुग्रीवाङ्गदप्रभृतयोऽत्र वानरा वर्ण्यन्ते—वानरा नेदुः । जगदुरित्यर्थः । कीदृशाः । समौ तुल्यौ रणमहौ संग्रामोत्सवौ येषां ते समरणमहा इन्द्रजित्प्रभृतयस्ते विद्यन्ते येषां ते समरणमहिनो रावणादयस्तांस्तुपन्ति हिंसन्ति ये ते समरणमहितोपाः। तथा यान्ति गच्छन्तीति या अभियोगिनः, अस्तः परित्यक्तो नामो नतिर्यैस्तेऽस्तनामा, याश्च तेऽस्तनामाश्च ते च तेऽरयश्च शत्रवश्च तान्पातयन्ति नाशयन्तीति यास्तनामारिपाताः । यदि वा समशब्दः सर्वनामसु । ततः समरणेषु सर्वसमरेषु महितः पूजित उपायो येषां ते च तेऽस्तनामारिपाताश्चेति समासः । तथा वने रतिर्येषां ते वनरतयो मुनय-

---

अन्वय—समरणमहितोयाः, यास्तनामारिपाताः, वनरतिसरमायाः, रणमहिमतताशाः वानराः अमरततवरालीमानम् आसाद्य असिराते धीरभावे मापसारं नेदुः ।

कठिन शब्दों के अर्थ

सम-रण महि-तोपाः—युद्धमुत्सवं च समानं [कलयतां] (रावणादीनां) हिंसकाः (सुग्रीवादयः) । या-अस्तनाम-अरि-पाता—आक्रामकानां, नमस्कारम् अकुर्वतां, शत्रूणां विनाशकाः । वनरतिसरमाया—वनेषु वासमभिरोचमानानां मुन्यादीनां हन्तुमिच्छया उपसर्पतां (राक्षसानां) हिंसकाः । माऽपसारम्—पलायनेच्छां विहाय । अमरततवरालीमानम्—देवैः दत्तं वरसमूहरूपमादरम् । नेदुः—शब्दं कृतवन्तः । रणमहिम-ततआशाः—युद्धमाहात्म्येन व्याप्तदिशाः । असिराते—खड्गेन दत्ते [सति] ।

युद्ध और उत्सव को समान समझनेवाले मेघनाद आदि वीरों से युक्त रावणादि के हन्ता, युद्ध में निर्भय तथा हार न मानने वाले शत्रुओं के विनाशक, वनवासी मुनियों के घातक राक्षसों का नाश करने वाले वानरगण देवों से वरदान पाने का मान अर्जित करके, खड्गहस्त होने के कारण धैर्यभाव में आस्थित तथा युद्ध की बातों से सब दिशाओं को गुञ्जाते हुए विसपष्ट स्वर में बोले ।२२।

स्तान्सरन्ति जिघांसयाभिगच्छन्तीति वनरतिसरा राक्षसादयस्तान्मीनन्तीति कर्मण्यणि वनरतिसरमायाः । कथं नेदुः । मापसारम् । मा प्रतिषेधे ततश्चविद्यामानोऽपसारश्छेदो यत्र कर्मणि तन्मापसारम् । किं कृत्वा नेदुः । अमरैर्देवैस्तता विस्तारिता दत्ता या वराली वरपरम्परा तया मानं पूजां गर्वं वासाद्य प्राप्य । तथा रणमहिम्ना युद्धमाहात्म्येन तता व्याप्ता आशा दिशो यैस्ते तथोक्ताः । कदा नेदुः । धीरभावे धैर्येऽसिना खड्गेन राते दत्ते सति ।।

अस्माच्छ्लोकादेकाक्षरव्यवधानेन द्वयोर्द्वयोश्च विपर्ययपाठेनायं श्लोको निर्याति ।

यथा—

सरमणहिमतोयापास्तमानारितापा
वरनतिरसमावायानमारा परं सा ।
अरमत बत रामा लीनसामाद्यदूने
रमणहितमताधीशारवे भासितेरा ।। २३ ।।

अन्वय—सा रामा आद्यदूने अधीशारवे बत परम् अरमत । [या] सरमण-हिमतोया, अपास्तमानारितापा, वरनतिः, असमा, अवा, अयानमारा, लीनसामा, रमणहितमता, भासितेरा [अस्ति] ।

कठिन शब्दों के अर्थ

सरमणहिमतोया—पतिरूपेण शीतलजलेनयुक्ता ।
अपास्तमान-अरि-तापा—मानरूपशत्रुजनितसंतापं दूरीकृत्य ।
वरनतिः—श्रेष्ठप्रणतियुक्ता, [विगतमानत्वात्] प्रणामपरा ।
असमा—सर्वोत्कृष्टा ।
अवा—स्वस्य पत्युर्वा रक्षिका ।
अयान-मारा—अविगतकन्दर्पा, अपरित्यक्तकामा ।
लीनसामा—संबद्धप्रियवचना, प्रियभाषिणी ।
आद्यदूने—गद्गदप्रधाने, विशेषेण गद्गदिका-गृहीते [वचसि] ।
रमणहितमता—पत्युः मङ्गलाकांक्षिणी, प्रिया च ।
अधीशारवे—पत्युः वचसि ।
भासितेरा—शोभनया वाचा युक्ता, प्रियभाषिणी ।

आश्चर्य की बात है कि वह मानगर्विता भी अपने प्रिय के सन्तप्त एवं गद्गद वचन सुनकर परम प्रसन्न हो गयी है, क्योंकि वह अब सन्तापहारक प्रियरूपी शीतल जल से संयुक्त है। वह अपने मानरूपी शत्रु द्वारा जनित ताप छोड़कर पति से विनीत व्यवहार करने लगी है, इसलिए वह सर्वोत्कृष्ट है तथा अपनी या पति की रक्षा में तत्पर है। उसमें काम-विकार भी अपने पूर्णता पर हैं, प्रियभाषिणी होने के

सरमणेति । काचिन्मानिनी प्रसन्नात्र वर्ण्यते—सा रामा युवतिरधीशारवे दयितवचसि परमतिशयेनारमत प्रीतिं कृतवती । बत विस्मये । चित्रं मानिन्यपि प्रसन्ना यत् । कीदृशी । रमणो दयितः स एव संतापापहारित्वाद्धिमतोयं नीहारजलम्, सह तेन वर्तते या सा सरमणहिमतोया । अत एवापास्तो निरस्तो मानारितापो गर्वशत्रुजनितोपतापो यया सापास्तमानारितापा । तथा वरा श्रेष्ठा नतिर्मानपरित्यागेन प्रणतिर्यस्याः सा वरनतिः । यद्वा वरे भर्तरि नतिर्यस्याः । तथा असमा सर्वोत्कृष्टा । तथा अवति रक्षत्यात्मानं प्रियं वेत्यवा । न विद्यते यानं गमनमस्येत्ययानः स्थिरो मारः कामो यस्याः सायानमारा । तथा लीनं सम्बद्धं साम कोमलवचनं यस्याः सा लीनसामा । प्रियभाषिणीत्यर्थः । कीदृशेऽधीशारवे । आद्यः प्रधानभूतः, दून उपतप्तो गद्गदः, आद्यश्च दूनश्च तत्राद्यदूने । रामा कीदृशी । रमणस्य प्रियस्य हिता च मता च । अनुकूलत्वादिष्टेत्यर्थः । तथा भासिता शोभिता इरा वाणी यस्याः सा भासितेरा । मधुरवागित्यर्थः । अस्माच्छ्लोकात्तथैव पूर्वश्लोको निर्याति । एवमन्येऽपि चित्रप्रकारा महाकाव्येभ्योऽवधार्याः । सर्वेषां स्वरूपदर्शनं कर्तुमशक्यमानन्त्यादिति । एतेषु यमकश्लेषचित्रोदाहरणेषु व्याख्यानान्तराण्यपि महामतिकृतानि दृष्टानि, परमेकैकमेव चावित्येकैकमेव लिखितम् । यत उक्तं सुधीभिः—व्याख्यानमनेकविधं लिङ्गमबोधस्य धूम इव वह्नेः । स्पष्टं मार्गमजानन्स्पृशत्यनेकान्पथो मुह्यन्' इति ।।

अथ य एते मात्राच्युतादयस्ते किमलंकाराः, उत नेत्याशङ्क्याह—

मात्राबिन्दुच्युतके प्रहेलिका कारकक्रियागूढे ।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत्क्रीडामात्रोपयोगमिदम् ।। २४ ।।

मात्रेति । च्युतकशब्दो गूढशब्दश्चोभयत्र संबध्यते । ततश्च मात्राच्युतकबिन्दुच्युतकप्रहेलिकाकारकगूढक्रियागूढानि प्रश्नोत्तरादि । चः समुच्चये । अन्यत्पूर्वालंकारेभ्यो व्यतिरिक्तं तत्क्रीडामात्रोपयोगम् । मात्रग्रहणेनाल्पप्रयोजनतां सूचयति । अल्पप्रयोजनत्वादेवालङ्कारमध्ये न संगृहीतम् । काव्येषु च दर्शनाद्वक्तव्यमिति ।

तल्लक्षणं यथाक्रममाह—

मात्राबिन्दुच्यवनादन्यार्थत्वेन तच्च्युतं नाम ।
स्पष्टप्रच्छन्नार्था प्रहेलिका व्याहृतार्था च ।। २५ ।।

साथ-साथ पति की हितचिन्तका होने से वह पति को प्यारी है । उसकी वाणी अत्यन्त मधुर है ।२३।

मात्राच्युतक, बिन्दुच्युतक, प्रहेलिका, कारकगूढ़, क्रियागूढ़, प्रश्नोत्तर आदि तथा इसी प्रकार के अन्य रूप केवल मात्र मनोविनोद के लिए ही होते हैं । [इसलिए अलंकारों में इनकी गणना नहीं होती] ।२४।

प्रच्छन्नत्वाद्भवतस्तद्गूढे कारकक्रियान्तरयोः ।
प्रश्नानां च बहूनामुत्तरमेकं भवेद्यत्र ।। २६ ।।

प्रश्नोत्तरं तदेतद् व्यस्तसमस्तादिभिर्भवेद् बहुधा ।
भेदैरनेकभाषं..................च भिद्यते ।। २७ ।।

मात्राबिन्दुच्यवनादिति । प्रच्छन्नत्वादिति । प्रश्नोत्तरमिति मात्रायाः स्वरस्य, तथा बिन्दोरनुस्वारस्य च्यवनाद्भ्रंशाद्धेतोरन्यार्थत्वेन भिन्नाभिधेयत्वेन तच्च्युते मात्राबिन्दुच्युते भवतो नाम । प्रहेलिका द्विधा । स्पष्टप्रच्छन्नार्था व्याहृतार्था च । तत्र स्पष्टः पदारूढत्वात्प्रच्छन्नश्च प्रश्नवाक्य एवान्तर्गतत्वेन भ्रमकारित्वादर्थो यस्याः सा तथाविधा । तथासाधारणविशेषणोपादानादेवाधिगतत्वेनाव्याहृतः । साक्षादनुक्तोऽर्थो यस्यां सा तथाभूता द्वितीया । तथा कर्त्रादिकारकाणां गूढत्वादप्रकटत्वात्कारकगूढम् । क्रियापदानां तु प्रच्छन्नत्वात्क्रियागूढम् । तथा प्रश्नोत्तरमेतद्यत्र बहूनां प्रश्नानां वचनस्यातन्त्रत्वादेकस्य द्वयोर्वैकमेवोत्तरं भवेत् । एतच्च प्रश्नोत्तरं व्यस्तसमस्तादिभिः आदिग्रहणाद्गतप्रत्यागतैकालापकप्रतिलोमानुलोमादिभिर्भेदैर्बहुधा भवेत् । तथैकभाषत्वेनानेकभाषत्वेन च भिद्यते ।।

अधुनैतेषामेव यथाक्रममेकैकमुदाहरणं दिक्प्रदर्शनार्थमाह—

नियतमगम्यमदृश्यं भवति किल त्रस्यतो रणोपान्तम् ।
कान्तो नयनानन्दी बालेन्दुः खे न भवति सदा ।। २८ ।।

मात्रा (स्वर) के अंश [हटा देने] से जहाँ अर्थ बदल जाए उसे मात्राच्युतक कहते हैं, और अनुस्वार के हटा देने से जहाँ अर्थ भिन्न हो जाए, उसे बिन्दुच्युतक कहते हैं, प्रहेलिका के दो भेद हैं—१. स्पष्ट-प्रच्छन्नार्था और २. व्याहृतार्था । जिसमें स्पष्ट होते हुए भी [प्रश्न रूप होने से] अर्थ गूढ हो उसे स्पष्ट-प्रच्छन्नार्था कहते हैं । इसमें प्रश्न वाक्य में ही उत्तर छिपा हुआ है । जिसमें अर्थ स्पष्टतया न बतलाया जाए किन्तु उसमें ऐसा असाधारण विशेषण दिया हुआ हो, जिसमें अर्थ स्वयं ध्वनित हो जाए उसे व्याहृतार्था प्रहेलिका कहते हैं । इसमें ध्वनित होने वाले अर्थ का वाचक शब्द नियत नहीं होता, उसका पर्यायवाची शब्द भी लिया जा सकता है ।

जिसमें कर्ता आदि कारक प्रच्छन्न हों उसे कारक गूढ कहते हैं और जिसमें क्रिया गुप्त हो उसे क्रियागूढ कहते हैं ।

जहाँ बहुत से प्रश्नों का एक ही उत्तर हो उसे प्रश्नोत्तर कहते हैं । व्यस्त, समस्त आदि (गतप्रत्यागत, एकालापक, प्रतिलोम, अनुलोम आदि) इसके अनेक भेद हैं । भाषा की दृष्टि से इसके [एकभाषागत,] अनेकभाषागत कई भेद हैं ।२५-२७।

नियतेति । त्रस्यतो बिभ्यतो नरस्य । किलेति सत्ये । रणोपान्तं समरनिकटं नियतं निश्चितमगम्यमप्राप्यमदृश्यमनवलोकनीयं भवति । इत्येकवाक्यार्थः । अत्र मात्रया ककारगतेकाररूपया च्युतयान्य एवार्थो भवति मात्राच्युतके च सर्वत्र मात्रापगमेऽप्य-कारान्तरत्वावस्थितिः । उच्चारणार्थत्वादकारस्य । तत्रान्योऽर्थो यथा—कलत्रस्य दाराणां तो रणोपान्तं तोरणनिकटं राजपथो नियतगम्यमदृश्यं च भवति । कुलवधूत्वादिति । बिन्दुच्युतकमाह—कान्त इत्यादि । कश्चित्कंचिदाह—एष बालेन्दुरपूर्णचन्द्रः खे वियति

भेदों के उदाहरण—

अन्वय—**प्रथम दो पाद**

त्रस्यतः किल रणोपान्तं नियतम् अगम्यम् अदृश्यं भवति ।

मात्रा-च्युति में अन्वय—

कलत्रस्य तोरणोपान्तं नियतम् अगम्यम् अदृश्यं भवति ।

अन्वय—**अन्तिम दो पाद**

कान्तः नयनानन्दी बालेन्दुः खे सदा न भवति ।

बिन्दुच्युति में अन्वय—

बाले ! नयनानन्दी कान्तः सदा दुःखेन भवति ।

कठिन पदों के अर्थ

नियतम्—अवश्यम् ।

रणोपान्तं—समरसमीपेऽवस्थानम् ।

तोरणोपान्तम्—तोरण-निकटम् ।

कान्तः—सुन्दरः, पतिः । बालेन्दुः—अपूर्णचन्द्रः ।

प्रथम दो पाद—

भीरु मनुष्य के लिए युद्ध के समीप रहना अथवा उसे देखना भी कठिन तथा भयकारी होता है।

'किल' शब्द की 'इ' मात्रा हटा देने पर द्वितीय अर्थ—

किसी कुलवधू का नगरद्वार के पास राजपथ पर चलना कठिन होता है। ऐसे स्थान को देखने मात्र से भी उसे डर लगता है।

अन्तिम दो पाद—

नेत्रों को आनन्द देने वाला सुन्दर बाल-चन्द्रमा सदा आकाश में नहीं रहता।

'बालेन्दुः' शब्द में बिन्दु (न्) हटा देने से द्वितीय अर्थ—

हे बाले ! नयनों के लिए आनन्ददायी नायक (पति) कठिनता से मिलता है [इसलिए कभी इसका तिरस्कार न करना] ।२८।

सदा न भवति । कान्तः कमनीयः । अतएव नयनानन्दी नयनानन्दकरः । अत्र बिन्दौ च्युतेऽर्थान्तरं भवति । इदं काचित्सखीमाह—हे बाले मुग्धे, कान्तो वल्लभो नयनानन्दी दु:खेन क्लेशेन भवति सदा । तस्मान्मैनं तिरस्कार्षीरिति शेषः । व्यञ्जनच्युतकाक्षर-च्युतकेत्यादिग्रहणात्संगृहीते तदुदाहरणे अप्यनयैव दिशा द्रष्टव्ये ॥

अथ स्पष्टप्रच्छन्नार्थप्रहेलिकामाह—

कानि निकृत्तानि कथं कदलीवनवासिना स्वयं तेन ।
कथमपि न दृश्यतेऽसावन्वक्षं हरति वसनानि ॥२९॥

कानीति । कदलीवनवासिना रम्भावनगतेन नरेण कानि निकृत्तानि कानि च्छिन्नानि । कथं केन प्रकारेणेति प्रश्ने । स्पष्टोऽपि प्रच्छनोऽर्थः । स चायम्—कानि शिरांसि मस्तकानि निकृत्तानि । कथम् । कदलीव रम्भेव । केन । असिना खड्गेन । कियन्ति । नव नवसंख्यानि । स्वयमात्मना । तेन दशाननेन । कथंशब्दोऽत्र विस्मये । चित्रमिदं यस्स्वयं तृणराजवदात्मनः शिरांसि च्छिन्नानीत्यर्थः । प्रश्नोत्तरात्त्वस्या अयमेव

स्पष्ट-प्रच्छन्नार्थ प्रहेलिका का उदाहरण—

अन्वय—**प्रथम दो पाद**

(प्रश्न) कदलीवनवासिना तेन स्वयं कानि कथं निकृत्तानि ।

(उत्तरम्) कथं तेन स्वयं असिना नव कानि कदलीव निकृत्तानि ।

अन्वय—**अन्तिम दो पाद**

असौ अन्वक्षं वसनानि हरति, कथमपि न दृश्यते ।

कठिन पदों के अर्थ

कानि—कानि वस्तूनि ? शिरांसि (कम्=शिरः) । निकृत्तानि—छिन्नानि ।

कथं—केन प्रकारेण; अहो चित्रम् ।

कदलीव—रम्भेव । अन्वक्षम्—प्रत्यक्षम् ।

प्रथम दो पाद

प्रथम अर्थ—**कदली वन-निवासी उस मनुष्य ने स्वयं किस प्रकार क्या वस्तुएँ काट दीं ।**

दूसरा अर्थ—**[रावण ने] स्वयं ही खड्ग द्वारा अपने नौ सिर कदली वृक्ष की भाँति काट दिये ।**

अन्तिम दो पाद

वह कौन है जो आँखों के सामने ही वस्त्र चुरा लेता है और दिखाई भी नहीं देता । (उत्तर=वायु) २९ ।

विशेषो यत्प्रश्नवाक्येनैवोत्तरदानम्। अथ व्याहृतार्थामाह—कथमपीत्यादि। असौ कश्चिदन्वक्षं प्रत्यक्षमेव वसनानि वस्त्राणि हरति। अथ च कथमपि न दृश्यते नावलोक्यते। अतः कोऽयं स्यात्। अत्रासाधारणविशेषणोपादानाद्वायुरिति गम्यते। नान्यस्य चौरादेरेवंविधा शक्तिरिति। प्रश्नोत्तराच्चास्या वायुर्वातः समीर इत्याद्यनियतशब्दत्वं विशेषः ॥

अथ कारकगूढमाह—

पिबतो वारि तवास्यां सरिति शरावेण पातितौ केन।
वारि शिशिरं रमण्यो रतिखेदादपुरुषस्येव ॥३०॥

पिबत इति। कश्चित्कंचिदाह—तवास्यां सरिति नद्यां शरावेण वर्धमानकेन भाजनविशेषेण जलं पिबतः केन पातितौ। कौ पातिताविति साकाङ्क्षत्वात्कर्मात्र गूढम्। तच्चैवं प्रकटम्—हे एण मृग, तवास्यां सरिति वारि पिबतः केन शरौ बाणौ पातिता-

---

कारकगूढ का उदाहरण—

अन्वय—**प्रथम दो पाद (कर्मगूढ)**

तव अस्यां सरिति शरावेण वारि पिबतः केन पातितौ ?

कर्मस्पष्टता—एण ! तव अस्यां सरिति वारि पिबतः केन शरौ पातितौ।

अन्वय—**अन्तिम दो पाद (क्रियागूढ)**

रमण्यः रतिखेदात् शिशिरं वारि अपुरुषस्येव।

क्रियास्पष्टता—रमण्यः रतिखेदात् उषसि एव शिशिरं वारि अपुः।

कठिन पदों के अर्थ

सरिति—नद्याम्।

शरावेण—वर्धमानकेन, पात्रविशेषेण। शरौ—बाणौ।

एण—हे मृग। शिशिरम्—शीतलम्।

अपुः—पीतवत्यः। उषसि—प्रभाते।

प्रथम दो पाद

इस नदी में शराव (पात्र) से तुम्हारे जल पी रहे होने पर किसने [दोनों को] गिराया। 'किन दोनों को' इस आकांक्षा में उत्तर है कि हे मृग ! तुम्हारे इस नदी में जल पी रहे होने पर किसने दो बाण गिराये हैं।

अन्तिम दो पाद

प्रथम अर्थ—**रमणियों ने रति-श्रम के कारण अपुरुष की भाँति शीतल जल पिया।**

दूसरा अर्थ—**रमणियों ने रतिश्रम के कारण प्रातःकाल ही शीतल जल पिया।३०।**

विति । अथ क्रियागूढम्—वारि शिशिरमित्यादि । वारि जलम्, शिशिरं शीतलम्, रमण्यो नार्यः, रतिखेदान्निधुवनायासादपुरुषस्येव । अत्र क्रिया गुप्ता । सा चेयम्—रमण्यो रतिखेदाद्वारि शिशिरमुषस्येव प्रभात एवापुः पीतवत्यः ॥

अथ प्रश्नोत्तरमाह—

उद्यन्दिवसकरोऽसौ किं कुरुते कथय मे मृगायाशु ।
कथयानिन्द्राय तथा किं करवाणि क्वणितुकामः ॥३१॥
अहिणवकमलदलारुणिण माणु फुरत्तिण केण ।
जाणिज्जई तरुणीअणस्स निद्धा (?) भण अहरेण ॥३२॥

उद्यन्निति । अहिणवेति । कश्चिन्मूर्खत्वेन मृगः सन्कंचन पृच्छति—यथा मह्यं मृगाय त्वं कथय । एष दिवसकरः सूर्य उद्यन्नुदयं प्राप्नुवन्किं कुरुत इत्येकः प्रश्नः । अपरमाह—अनिन्द्रायाशक्राय मह्यं कथय निवेदय । क्वणितुकामः शब्दितुकामः सन्नहं किं करवाणि किं करोमीति द्वितीयः । उत्तरानुरोधेन चात्र मृगायेत्यनिन्द्रायेति च प्रश्नवाक्येऽभिहितम् । वक्तृबहुत्वख्यापनार्थमनेकभाषत्वख्यापनार्थं तृतीयप्रश्नोऽयं प्राकृते च यथा—अहिणवेत्यादि । कश्चित्सुहृदमाह—अभिनवकमलदलारुणेन स्फुरता केन तरुणीजनस्य मानो लक्ष्य इति भण वद । निद्धेत्यामन्त्रणपदम् (?) । अत्र यथाक्रमं यथाभाषं

प्रश्नोत्तर का उदाहरण—

अन्वय—(प्रश्नाः) मृगाय मे आशु कथय, असौ दिवसकरः उद्यन् किं कुरुते ? तथा अनिन्द्राय (मे) कथय, क्वणितुकामः किं करवाणि । अभिनवकमल-दल-अरुणेन स्फुरता केन तरुणीजनस्य मानः जाणिज्जई, निद्धा ! भण । (उत्तराणि–) 'अहरेण' ।

कठिन शब्दों के अर्थ—

अनिन्द्राय—न इन्द्राय । क्वणितुकामः—शब्दितुकामः ।

अहरेण—

१. अहः+एण—दिनम्, हे मृग !

२. अहरे+अण—हे अनिन्द्र (न इन्द्र), शब्दं कुरु ।

३. अहरेण—अधरेण ।

(१) मुझे (मृग को) शीघ्र बताओ कि सूर्य उदय होकर क्या करता है ।

(२) मुझ अनिन्द्र (न इन्द्र) को बताओ कि शब्द करने के लिए इच्छुक मैं क्या करूँ ।

(३) एक व्यक्ति अपने मित्र से पूछता है—नवीन कमलदल के समान अरुण तथा शोभायमान किसने तरुणियों के मान को लक्ष्य बनाया है ।

चोत्तरमाह—अहरेणेति । तत्र—अहर्दिनम् । एण हे मृग । तथा अहरेऽनिन्द्र । अण शब्दं कुरु । तथा प्राकृतोत्तरम्—अहरेणाधरेण । ओष्ठेनेत्यर्थः इत्युत्तरत्रयं युगपदुक्तम् । एतदनेकवक्तृकमनेकभाषं व्यस्तसमस्तं च प्रश्नोतरम् । एकवक्तृकं त्र्यादिभाषं च प्रश्नोत्तरजातमन्यत्र विस्तरादवगन्तव्यम् ॥

अथाध्यायमुपसंहरन्नाह—

इत्थं स्थितस्यास्य दिशं निशम्य शब्दार्थवित्क्षोदितचित्रवृत्तः ।
आलोच्य लक्ष्यं च महाकवीनां चित्रं विचित्रं सुकविर्विदध्यात् ॥ ३ ३॥

इत्थमिति । अस्य चित्रस्येत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण स्थितस्य दिशं मार्गं निशम्य श्रुत्वा तथा महाकवीनां लक्ष्यमुदाहरणं चालोच्य विमृश्य ततः सुकविश्चित्रमलंकारं चित्रं नानाविधं विदध्यात्कुर्यात् । किंविशिष्टः सन् । शब्दार्थौ वेत्ति शब्दार्थवित् । तथा क्षोदितानि पर्यालोचितानि चित्राणि नानाविधानि वृत्तानि तनुमध्यादीनि येन स तथाविधः । यतः किल न सर्वेण वृत्तेन सर्वं चित्रं कर्तुं पार्यते । तथालोच्य वीक्ष्य, लक्ष्यमुदाहरणम्, महाकवीनां सुकवीनाम् । चित्रकरणे किल लक्षणाभावाल्लक्ष्यदर्शनमेव महानुपाय इति कृत्वा ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतः
पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

इन प्रश्नों का उत्तर एक ही शब्द (अहरेण) में यथाक्रम दिया गया है :

(१) अहरेण (अहः+एण) ।
हे मृग ! सूर्य उदित होकर दिन करता है ।

(२) अहरेण (अहरे+अण)
हे अहरे ! (अनिन्द्र) । अण (शब्द करो) ।

(३) अहरेण (अधरेण)
अर्थात् ओष्ठ ने [चुम्बन द्वारा] तरुणियों के मान को लक्ष्य बनाया है ।३१-३२।

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्य हिन्दी-व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

षष्ठोऽध्यायः

शब्दस्यालंकारानभिधायेदानीं तद्दोषानाभिधित्सुराह—

पदवाक्यस्थो दोषो वाक्यविशेषप्रयोगनियमेन ।
यः परिहृतस्ततोऽन्यस्तदतिव्याप्तिश्च संह्रियते ।।१।।

पदवाक्यस्थ इति । पूर्वम् 'अन्यूनाधिक–' (२।८) इत्यादिना ग्रन्थेन काव्योपयोगिनो वाक्यविशेषस्य प्रयोगे नियमेन यः पदस्थो वाक्यस्थश्च दोषः परिहृतः ततो दोषा-

षष्ठ अध्याय

रुद्रट ने (का० अ० २/८ में) वाक्य का लक्षण निर्दिष्ट करते हुए कहा था कि किसी वाक्य में न्यूनपद अथवा अधिक पद नहीं होने चाहिए । अब वह उक्त दो दोषों के अतिरिक्त कतिपय अन्य दोषों की चर्चा करते हैं ।

इस अध्याय में असमर्थ, अप्रतीत, विसन्धि, विपरीतकल्पन, ग्राम्य और देश्य नामक [पदगत दोषों तथा संकीर्ण, गर्भित और गतार्थ नामक वाक्य-दोषों का निरूपण किया गया है, तथा दोष किस स्थिति में दोष नहीं रहते, इस पर भी किञ्चित् प्रकाश डाला गया है।]

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भरत के समय से ही दोष के सम्बन्ध में चर्चा प्रारम्भ हो चली थी । रुद्रट से पूर्व भरत ने १० दोष माने थे, भामह ने २५, दण्डी ने १० और वामन ने २० ।[१] रुद्रट ने २६ दोष गिनाये हैं ।[२] इनके उपरान्त आनन्दवर्द्धन ने रस-विरोधी ६ तत्त्व गिनाये[३] । महिम भट्ट ने दोष के स्थान पर 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग करते हुए इसके दो प्रकार बताये—अन्तरंग (अर्थविषयक) और बहिरंग (शब्दविषयक) । अन्तरंग अनौचित्य से उनका तात्पर्य है—रसों में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का अनुचित विनियोग (प्रयोग) । बहिरंग अनौचित्य के अन्तर्गत उन्होंने पाँच दोषों का निरूपण किया है ।[४] इनके उपरान्त मम्मट ने उक्त सभी आचार्यों से दोष-विषयक सामग्री ग्रहण करते हुए उसे व्यवस्थित रूप प्रदान किया । उन्होंने कुल ७० दोष गिनाये हैं—१६ पदगत, २१ वाक्यगत, २३ अर्थगत और १० रसगत ।[५]

१. (क) नाट्यशास्त्र १।३७, ४७; ४।१; ५।६७, (ख) काव्यादर्श ३।१२६, (ग) काव्यालंकारसूत्र २।१, २ ।
२. देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ २।८; ६।२, ४०; ११।२ ।
३. ध्वन्यालोक ३।१८, १९ ।
४. व्यक्तिविवेक २य विमर्श ।
५. काव्यप्रकाश सप्तम उल्लास । [विशेष विवरण के लिए देखिए काव्यप्रकाश सप्तम उल्लास]

रुद्रट ने 'दोष' का लक्षण कहीं भी स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत नहीं किया। इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों में से भरत ने भी इसका स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत नहीं किया। उनके कथनानुसार गुण दोषों से विपर्यस्त हैं। (नाट्यशास्त्र १७।९५), पर वामन की धारणा भरत से विपरीत है। इनके कथनानुसार दोष का स्वरूप गुण से विपर्यय है: **'गुण-विपर्य्यात्मनो दोषाः'** का० सू० २।१।१'। दण्डी ने भी दोष का स्वरूप गुण के विपरीत भाव पर अवस्थित किया है—"गुण यदि काव्य की सम्पत्ति अर्थात् सौन्दर्य-विधायक तत्त्व है तो दोष उसकी विपत्ति अर्थात् सौन्दर्य-विघातक तत्त्व है—'दोषाः विपत्तये तत्र गुणाःसम्पत्तये यथा।' (का० द०, प्रभाटीका, पृष्ठ ३७४) आगे चलकर आनन्दवर्धन ने दोष का स्वरूप रस के अपकर्ष पर स्वीकृत किया। जो दोष रस का सदा अपकर्ष करता है, उसे उन्होंने नित्य दोष माना और जो दोष रस का सदा अपकर्ष नहीं करता उसे अनित्य दोष माना। (ध्वन्यालोक २।११; ३।१८, १९) इनसे प्रेरणा प्राप्त कर मम्मट ने दोष का लक्षण इस प्रकार स्थिर किया—'मुख्यार्थहतिर्दोषः।' यहाँ 'मुख्य' शब्द रस का पर्याय है और 'हति' शब्द अपकर्ष का। विश्वनाथ ने इस लक्षण को स्पष्ट शब्दों में निरूपित किया—**रसापकर्षकाः दोषाः।**

दोष के सम्बन्ध में एक शंका उपस्थित होती है कि क्या यह सदा अग्राह्य है? इस सम्बन्ध में आचार्यों का एकमत नहीं है। दण्डी के अनुसार काव्य में दोष का लेश-मात्र भी सह्य नहीं है। श्वेत कुष्ठ के एक [छोटे से] चिह्न के कारण सुन्दर शरीर भी अपनी कान्ति खो बैठता है:

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ का० द० १।७

इसी प्रकार केशवमिश्र और वाग्भट भी इसी पक्ष में हैं। केशवमिश्र के शब्दों में—दोष रस का हानिकर होने के कारण सर्वथा त्याज्य है: 'दोषः सर्वात्मना त्याज्यो, रसहानिकरो हि सः।' (अलंकारशेखर ६।४०), और वाग्भट के शब्दों में—दोष विष के समान है:

इति दोषविषनिषेकैरकलंकितमुज्ज्वलं सदा विबुधैः।
कविहृदयसागरोत्थितममृतमिवास्वाद्यते काव्यम्॥

प्रस्तुत ग्रन्थकार रुद्रट भी निरलंकृत काव्य को भी मध्यम काव्य तभी मानने को उद्यत हैं जब वह दोषरहित हो:

यत्पुनरनलंकारं निर्दोषं चेति तन्मध्यमम्। का० अ० ६।४

किन्तु उधर भरत का दृष्टिकोण उदार और क्षमापूर्ण रहा। सदोष नाटक (काव्य) के सम्बन्ध में उनका कथन है कि दोषों के सम्बन्ध में किसी [आलोचक] को अधिक संवेदनशील नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि संसार का कोई भी पदार्थ

गुणहीन अथवा दोषहीन नहीं है :

> **न च किंचित् गुणहीनं दोषैः परिवर्जितं न वा किंचित् ।**
> **तस्मान्नाट्यप्रकृतौः दोषाः नात्यर्थतो ग्राह्याः ।। नाट्यशास्त्र १७।४७**

और आगे चलकर विश्वनाथ भी [चाहे उनका लक्ष्य मम्मट के काव्यलक्षण का जान-बूझकर बुरी तरह से खण्डन करना था] सदोष काव्य को सर्वथा अग्राह्य नहीं मानते। अनार के दो-चार गले-सड़े दानों के कारण सारा अनार फेंक नहीं दिया जाता। उनके कथनानुसार यदि निर्दोषता को काव्य का आवश्यक तत्त्व ठहराया जाएगा तो काव्य या तो अविरलविषय बन जाएगा अथवा निर्विषय। क्योंकि किसी काव्य का सर्वथा निर्दोष होना नितान्त असम्भव है—"किंच एवं काव्यमविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसम्भवात्।" (सा० द० प्रथम परि० पृष्ठ १४) निस्सन्देह कोई भी अनतिवादी उदारचेता व्यक्ति भरत और विश्वनाथ की उक्त धारणाओं से असहमत नहीं होगा, और किसी अज्ञात आचार्य के निम्नोक्त कथन से भी शायद सहमत न होगा कि **अन्यो गुणोऽस्तु वा माऽस्तु, महान् निर्दोषता गुणः**" क्योंकि एक तो निर्दोषता का निर्वाह एक असम्भव-सा कार्य है, और दूसरे शास्त्रीय दृष्टि से किसी रसयुक्त रचना में गुण के अभाव का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

दोष-प्रस्तावना

[काव्योपयोगी] वाक्य-विशेष के प्रयोग के नियम से पदगत और वाक्यगत दोषों के परिहार के सम्बन्ध में पहले कह चुके हैं (देखिए २।८)। इन दोषों के अतिरिक्त अब अन्य [असमर्थ अप्रतीत आदि] दोषों और उनकी अतिव्याप्ति के परिहार के सम्बन्ध में कहा जाता है।१।

'अतिव्याप्ति' से तात्पर्य है वह तत्त्व जो अभीष्ट से अधिक कहा जाए। इस स्थल में 'अतिव्याप्ति' शब्द उस प्रसंग का सूचक प्रतीत होता है जहाँ ये असमर्थ, अप्रतीत आदि दोष 'दोष' नहीं रहते—क्योंकि इस प्रसंग की भी चर्चा इसी अध्याय में की गयी है।

नमिसाधु ने यहाँ एक शंका उपस्थित की है कि पहले (२।८ में) वाक्यगत दोष ही निर्दिष्ट किये हैं पदगत नहीं, अतः इस कारिका में 'पदवाक्यस्थो दोषः' ऐसा कहना ठीक नहीं है। इसका उत्तर उन्होंने यह दिया है कि यही दोष पदगत भी होते हैं।

प्रसंगवशात् इसी आक्षेप के भी ठीक विपरीत एक अन्य आक्षेप भी विचारणीय है कि वाक्यदोषों का अन्तर्भाव पददोषों में ही किया जाना सम्भव है, क्योंकि एक तो पदसमूह का ही नाम वाक्य है : 'पदसमूहो वाक्यम्', और दूसरे, किसी भी वाक्य-दोष द्वारा वाक्य के अनिवार्य तत्त्वों—आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति—में से किसी

दन्योऽसमर्थाप्रतीतादिकः समिति संप्रति ह्रियते परिह्रियते । तथा तस्मान्न्यूनादिकस्या-समर्थादिकस्य च दोषस्य यातिव्याप्तिरतिप्रसक्तिः सा च संह्रियते संकोच्यते । ननु पूर्वत्र वाक्यस्थ एव दोषः परिहृतो न पदस्थस्तत्कथमिहोच्यते पदवाक्यस्थ इति । सत्यम् । अन्यूनाधिकविशेषणविशिष्टैः पदैर्वाक्यस्य नियमितत्वात्पदस्थोऽपि दोषस्तेन परिहृत एवेति । तर्हि पदग्रहणमत्र न कर्तव्यमाशङ्कानिरासार्थम् । यतः कश्चिदाशङ्क्येत यथा वाक्यस्थ एव दोषस्ते परिहृतो न पदस्थ इति । तथा पदग्रहणाभावे ततोऽन्य इति । वक्ष्यमाणदोषोऽपि पदस्योक्तो न स्यादिति । पृथक्करणं तु तस्य दोषस्य महीयस्त्वख्या-पनार्थम् । न्यूनाधिकादिदोषो हि नेत्रोत्पाटतुल्यः । असमर्थादिकस्तु पटलनिभः ॥

अथ तानेवान्यान्दोषानाह—

असमर्थमप्रतीतं विसंधि विपरीतकल्पनं ग्राम्यम् ।
अव्युत्पत्ति च देश्यं पदमिति सम्यग्भवेद् दुष्टम् ॥२॥

असमर्थमिति । इतिशब्दो हेतौ, स च प्रत्येकं संबध्यते । असमर्थमिति हेतोः पदं दुष्टं भवेत् । एवमप्रतीतमित्यादौ बोध्यम् । सम्यक्शब्दो नियमार्थः । अवश्यं दुष्टमित्यर्थः। चशब्दः समुच्चये । अन्यैरनुक्तं व्युत्पत्तिहितं देश्यमसमर्थादिदोषमध्ये समुच्चीयतइत्यर्थः॥

यथोद्देशस्तथा लक्षणमिति पूर्वमसमर्थलक्षणमाह—

पदमिदमसमर्थं स्याद्वाचकमर्थस्य तस्य न च वक्तुम् ।
तं शक्नोति तिरोहिततत्सामर्थ्यं निमित्तेन ॥३॥

को भी हानि नहीं पहुँचती, जिससे शाब्द-ज्ञान में देर होने की सम्भावना हो जाए । इस आपत्ति का समाधान भी 'रस' की ही अनुत्कृष्टता पर आधृत है । साधारण वाक्यों की अपेक्षा काव्यगत सरस वाक्यों की वस्तुगत सामग्री और अर्थप्रतीति में सदा विलक्षणता रहती है । वाक्यदोषों के उदाहरणों में आकांक्षा आदि तीनों तत्त्वों के विद्यमान रहने पर भी वे रसोत्पादन में समर्थ अनुकूलता से शून्य होते हैं :

ननु कथममीषां दोषता, आकांक्षादिज्ञानसत्त्वे शाब्दज्ञानाविलम्बादिति चेन्न । वाक्यान्तरापेक्षया काव्ये सामग्रीवैलक्षण्यात् । अन्यथा प्रतीतिवैलक्षण्याऽनुपपत्तेः । तथा चाऽन्वयबोधानुकूलाकांक्षासत्त्वेऽपिरसोत्पत्त्यनुकूलाकांक्षादिविरहो दोष इति ध्येयम् ।
—अ० शे० पृष्ठ २०

वाक्य-दोषों को पददोष भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इन उदाहरणों में सभी पदों के निर्दोष रहते हुए भी वाक्य सदोष होते हैं ।

पदगत दोषों के नाम

असमर्थ, अप्रतीत, विसन्धि, विपरीत-कल्पन, ग्राम्य और अव्युत्पत्तिपरक देश्य—ये (छह) पदगत दोष हैं ।२।

पदमिति । यत्पदं तस्य निर्दिष्टार्थस्य वाचकम् । अथ च तमेवार्थं वक्तुं न शक्नोति तदसमर्थम् । वाचकं चेत्कथं न शक्नोतीत्याह--निमित्तेन केनचिच्छब्दान्तर-संबन्धादिना तिरोहितं स्थगितं तत्रार्थे सामर्थ्यं वाचकत्वं यस्य तत्तमभिधातुं न शक्नो-तीति । एतेनावाचकत्वदोषादसामर्थ्यं दोषभेद उक्तः ॥

सामान्येनाभिधायैतदेव विशेषेणाह—

धातुविशेषोऽर्थान्तरमुपसर्गविशेषयोगतो गतवान् ।
असमर्थः स स्वार्थे भवति यथा प्रस्थितः स्थास्नौ ॥४॥

धातुविशेष इति । धातुविशेषस्तिष्ठत्यादिरुपसर्गविशेषेण प्रादिना योगतः संबन्धाद्धेतोरर्थान्तरं गतिनिवृत्त्यादिलक्षणादन्यमर्थं गतवान्प्राप्तः सन्स्वार्थेऽसमर्थो भवति । तमर्थं वक्तुं न शक्नोतीत्यर्थः यथा प्रस्थितशब्दः स्थास्नावर्थे । विशेषग्रहणमुभयत्र न सर्वो धातुः सर्वेणोपसर्गेण संबन्धे सत्यर्थान्तरं याति । अपि तु कश्चिदेव केनचिदेवेत्य-स्यार्थस्य सूचनार्थम् । तथाहि प्रेण योगे तिष्ठत्यादिरेवार्थान्तरं याति न तु यातिप्रभृतिः । तथा तिष्ठतिरपि प्रेण योगे न त्ववादिना । आकुलनिधनादीनि कलधौतकार्तस्वरवच्छ-ब्दान्तराण्येव । न नामोपसर्गयोग उदाहृतः ॥

---

१. असमर्थ

जो पद किसी अभीष्ट अर्थ का वाचक होता हुआ भी [किसी दूसरे शब्द के आ पड़ने के कारण] अपनी शक्ति खो जाने से उस अर्थ को कहने में समर्थ न रहे, वहाँ 'असमर्थ' दोष होता है ।३।

असमर्थ का विशेष निरूपण

कोई विशेष धातु किसी विशेष उपसर्ग के योग से अन्य अर्थ को प्राप्त हो जाती है, [किन्तु] उसका अपने ही अर्थ में [प्रयोग] 'असमर्थ' दोष कहाता है । जैसे 'प्रस्थित' शब्द का अर्थ ['चल पड़ा' न होकर] 'ठहरा हुआ' मानना ।४।

धातु और उपसर्ग के साथ 'विशेष' विशेषण जोड़ने का अप्रिप्राय यह है कि कोई धातु किन्हीं उपसर्गों के योग से अन्य अर्थ को प्राप्त नहीं भी होतीं । उदाहरणार्थ स्था धातु के साथ 'प्र' उपसर्ग अन्य अर्थ 'प्रस्थान' को सूचित करता है, किन्तु 'या' धातु के साथ 'प्र' उपसर्ग का योग उसी ही अर्थ 'जाना' (प्रयाति, प्रयाण) का ही सूचक है किसी अन्य अर्थ का नहीं । स्वयं उक्त 'स्था' धातु के साथ 'अव' उपसर्ग का योग ठहरने अर्थ का सूचक है जैसे—'अवतिष्ठते', न कि किसी अन्य अर्थ का । अस्तु, उक्त नियम सापवाद है ।

प्रकारान्तरेणासमर्थमाह—

इदमपरमसामर्थ्यं धातोर्यत्पठ्यते तदर्थोऽसौ ।
न च शक्नोति तमर्थं वक्तुं गमनं यथा हन्ति ॥५॥

इदमिति । इदमन्यदसामर्थ्यं धातोः, यत्तदर्थोऽसौ धातुः पठ्यते न च तं निर्दिष्ट-मर्थं वक्तुं शक्नोति । यथा 'हन् हिंसागत्योः' इति पाठेऽपि । हन्तीत्युक्ते हिनस्तीति प्रतीयते न च गच्छतीति । यमकश्लेषचित्रेषु गत्यर्थोऽपि दृश्यते । अत एवाल्पोऽयं दोषः ॥

पुनः प्रकारान्तरमाह—

शब्दप्रवृत्तिहेतौ सत्यप्यसमर्थमेव रूढिबलात् ।
यौगिकमर्थविशेषं पदं यथा वारिधौ जलभृत् ॥६॥

शब्देति । यौगिकं संबन्धजं क्वचिदर्थविशेषेऽसमर्थमेवावाचकमेव पदम् । तत्र तदर्थस्याभाव इति चेन्न । शब्दप्रवृत्तिहेतौ सत्यपि विद्यमानेऽपि । अपिर्विस्मये । चित्रमिद-मित्यर्थः । यदि शब्दप्रवृत्तिहेतुत्वं कथं तर्ह्यसमर्थत्वमित्याह—रूढिबलात्प्रसिद्धिबलात् । क्वचिदेव किंचिदेव शब्दरूपं वाचकत्वेन रूढमतस्तत्रैव प्रवर्तते नान्यत्र । एवकारोऽवधा-रणे । असमर्थमेव न तु समर्थम् । उदाहरणं यथा वारिधौ जलभृदिति । जलधारण-क्रियालक्षणे प्रवृत्तिनिमित्ते सत्यपि जलभृच्छब्दो वारिधिं समुद्रमभिधातुमसमर्थः । मेघ एव तस्य रूढित्वादिति ॥

असमर्थ दोष का एक अन्य रूप

किसी अर्थ-विशेष के लिए पठित होने वाली भी जो धातु उस अर्थ को बताने में असमर्थ होती है वहाँ [भी] असमर्थ दोष माना जाता है। जैसे 'हन्ति' गमन अर्थ में ।५।

यद्यपि हन् धातु का अर्थ हिंसा और गति दोनों है, किन्तु हिंसा अर्थ में ही इसका प्रयोग किया जाता है अतः 'हन्ति' का 'गच्छति' अर्थ में प्रयोग असमर्थ दोष का सूचक है। 'हन्ति' शब्द के सुनते ही 'हिनस्ति' का बोध होने लगता है। फिर भी गति अर्थ में इस धातु का प्रयोग यमक, श्लेष और चित्र अलंकारों में प्रायः देखा जाता है, और वहाँ यह दोष सह्य भी है।

'असमर्थ' का एक और प्रकार

किसी अर्थ-विशेष के प्रतिपादन के शब्द की योग्यता होने पर रूढि (प्रसिद्धि) के कारण जब यौगिक शब्द अपने अभीष्ट अर्थ को बताने में असमर्थ सिद्ध होता है, वहाँ भी असमर्थ दोष होता है—जैसे 'वारिधि' अर्थ में 'जलभृत्' ।६।

भूयोऽपि भेदान्तरमाह—

निश्चीयते न यस्मिन्वस्तु विशिष्टं पदे समानेन ।

असमर्थं तच्च यथा मेघच्छविमारुरोहाश्वम् ।।७।।

निश्चीयत इति । यस्मिन्पदे तदर्थाभिधायिन्यपि विशिष्टं वस्तु न निश्चीयते तदप्यसमर्थम् । कथं न निश्चीयत इत्याह—समानत्वात् । समानस्तुल्यो मानः परिच्छेदो विवक्षितेऽन्यत्र च वस्तुनि येन पदेन तत्तथा तद्भावस्तत्त्वम् । तस्मादनेकार्थवाचकत्वादित्यर्थः । यथा मेघच्छविमारुरोहाश्वमित्युक्ते मेघानामनेकवर्णानां दर्शनान्न निश्चयः कर्तुं पार्यते । यत्र तु निश्चयस्तत्समानार्थमपि साध्वेव । यथा—

'लक्ष्मीकपोलसंक्रान्तकान्तपत्त्रलतोज्ज्वलाः ।
दोर्द्रुमाः पान्तु वः शौरेर्घनच्छाया महाफलाः ।।'

अत्र हि शौरिः कृष्णवर्ण इति ।

'वारिधि' और 'जलभृत' ये दोनों यौगिक शब्द है और समानार्थवाची (समुद्रवाची) हो सकते हैं, किन्तु रूढि के कारण 'जलभृत्' शब्द 'मेघ' के अर्थ में और 'वारिधि' शब्द 'समुद्र के अर्थ में नियत है ।

असमर्थ का एक और प्रकार

अभीष्ट अर्थ को बतलाने पर भी जिस पद में समानता के कारण विशेष वस्तु का निश्चय न हो सके, वहाँ असमर्थ दोष होता है । जैसे—उस व्यक्ति ने मेघ के समान वर्ण वाले अश्व पर आरोहण किया ।७।

उक्त वाक्य में अश्व का वर्ण मेघ-सदृश कहा गया है, किन्तु मेघ के अनेक वर्ण हैं । अतः अश्व के वर्ण का निश्चय नहीं हो सकता । इसलिए यहाँ असमर्थ दोष है ।

इसी प्रसंग में नमिसाधु द्वारा प्रस्तुत श्लोक "लक्ष्मीकपोल……" का अर्थ है—शौरि (विष्णु) की भुजा-रूपी वृक्ष आप सब की रक्षा करें, जिनके सुन्दर पत्ते और लताएँ लक्ष्मी के कपोलों पर प्रतिबिम्बित होने के कारण उज्ज्वल हैं, तथा जो घनों की छाया के समान हैं तथा फलदायक हैं ।

'शौरि' शब्द का अर्थ है कृष्ण, जोकि कृष्णवर्ण का सूचक है । यहाँ एक निश्चित वर्ण का उल्लेख है, अतः यहाँ असमर्थ दोष नहीं है ।

'असमर्थ' दोष का स्वरूप परवर्ती आचार्यों मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है :

असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्राऽस्य शक्तिः । (का० प्र० ७।१४४)

यथा—

कुञ्जं हन्ति कृशोदरी । (सा० द० सप्तम परि०, पृष्ठ २३५)

इदानीमस्यैवासमर्थदोषस्यातिव्याप्तिं संहर्तुमाह—

यत्पदमभिनयसहितं कुरुतेऽर्थविशेषनिश्चयं सम्यक् ।
नैकमनेकार्थतया तस्य न दुष्येदसामर्थ्यम् ।।८।।

यदिति । यत्पदं विशेषणभूतमनेकार्थतया विवक्षितविशिष्टार्थविशेषनिश्चयं सम्यक्कुरुते । किंभूतं सदभिनयसहितम् । तस्य । सामर्थ्य 'निश्चीयते न यस्मिन्' (६।७) इत्यनेन प्राप्तं दोषाय न भवति ।।

नन्वर्थस्य शब्दो वाचको न त्वभिनयः, तत्कथं तेनार्थविशेषनिश्चयः क्रियत इत्याह—

शब्दानामत्र सदानेकार्थानां प्रयुज्यमानानाम् ।
निश्चीयते हि सोऽर्थः प्रकरणशब्दान्तराभिनयैः ।।९।।

शब्दानामिति । हि यस्मादत्र काव्येऽनेकार्थानां शब्दानां प्रयुज्यमानानां स विवक्षितोऽर्थः प्रकरणेन प्रस्तावेन शब्दान्तरसंनिधानेन वाभिनयेन वा निश्चीयते तत्र प्रकरणे यथा—

'महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्'

इत्यत्र हिमवानेव महीभृदुच्यते । शब्दान्तरेण यथा—

'कोपादेकतलाघातनिपतन्मत्तदन्तिनः ।
हरेर्हरिणयुद्धेषु कियान्व्याक्षेपविस्तरः ।।'

अत्र दन्तिहरिणशब्दसंनिधानात्सिंह एव हरिर्निश्चीयते । अभिनयने त्वर्थविशेषप्रतीतावुदाहरणं सूत्रकार एव दास्यति । यतः प्रकरण-शब्दान्तरे प्रसिद्धत्वादुपमाने । अभिनयस्तु प्रस्तुतत्वादुपमेयः । तथा ताभ्यां विवक्षितार्थनिश्चयस्तथाभिनयेनापीत्यर्थः ।।

अर्थात् असमर्थ दोष उसे कहते हैं जहाँ कोई पद उस अर्थ में प्रयुक्त किया जाए जहाँ उसकी शक्ति (समर्थता) न हो । जैसे 'वह कृशोदरी कुन्ज को जाती है ।' 'हन्' धातु का अर्थ 'हिंसा' और 'गति' दोनों हैं, किन्तु 'हन्ति' रूप [प्रयोगाभाव के कारण] 'गच्छति' अर्थ को बताने में असमर्थ है ।

असमर्थ दोष की अतिव्याप्ति का संहार

यदि किसी अनेकार्थक पद का अभीष्ट अर्थ अभिनय के द्वारा निश्चित होने में समर्थ हो जाए तो वहाँ असमर्थ दोष नहीं होता, [क्योंकि] अनेकार्थक शब्दों के प्रयुक्त होने पर उनका अभीष्ट अर्थ प्रकरण (अर्थात् प्रसंग), शब्दान्तर (अर्थात् अन्य शब्दों की समीपता) और अभिनय (हस्तचालन आदि) द्वारा भी निश्चित किया जाता है ।८,९।

तदेवोदाहरणमाह—

सा सुन्दर तव विरहे सुतनुरियन्मात्रलोचना सपदि ।
एतावतीमवस्थां याता दिवसैरियन्मात्रैः ।।१०।।

सेति । अत्रेयन्मात्रैतावच्छब्दौ महति स्वल्पे च वर्तेते । ततोभिनयेन विशेषप्रतीतिर्यथा—हे सुन्दर, सा सुतनुस्तव विरहे इयन्मात्रलोचना । प्रसृत्यभिनयेन विशाललोचनेति निश्चीयते । तथैतावतीमवस्थां यातेति । अत्रोर्ध्वीकृतकनिष्ठिकाङ्गुल्या कृशत्वं प्रतीयते । दिवसैरियन्मात्रैरित्यत्र पञ्चाङ्गुलिदर्शनेन स्वल्पत्वं चेति ।।

अथाप्रतीतमाह—

युक्त्या वक्ति तमर्थं न च रूढं यत्र यदभिधानतया ।
द्वेधा तदप्रतीतं संशयवदसंशयं च पदम् ।।११।।

युक्त्येति । तदप्रतीतं यद्युक्त्या गुणक्रियायोगेन तं विवक्षितमर्थं वक्ति प्रतिपादयति । अथ च तत्रार्थाभिधानतया वाचकत्वेन न रूढं न प्रसिद्धं तच्चाप्रतीतं द्वेधा । कथं संशयवदसंशयं चेति ।।

नमिसाधु ने इसी प्रसंग में दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

प्रकरण—'पुत्रवान् भी उस महीभृत् (पृथ्वी को धारण करने वाले) की दृष्टि उस सन्तान पर (उसे देखने से) तृप्त न हुई ।' यहाँ प्रकरण से ज्ञात हो जाता है कि 'महीभृत्' का अर्थ कोई राजा विशेष न होकर हिमालय पर्वत है । (कुमारसम्भव १।२७)

शब्दान्तर—'क्रोध में आकर मस्त हाथियों को हथेली के एक ही प्रहार से गिरा देने वाले हरि (सिंह) को मृगों के साथ युद्ध करने में भला कितनी कठिनाई होगी ।' यहाँ 'हरि' शब्द हाथी, हरिण शब्दों के सन्निधान से सिंह का वाचक है ।

उदाहरणार्थ

हे सुन्दर ! उस कोमलाङ्गी के नेत्र तुम्हारे वियोग में (हथेली दिखाते हुए) इतने विशाल हो गये हैं, तथा (पाँच उँगलियाँ दिखाते हुए) इतने दिनों में उसकी अवस्था (कनिष्ठिका उँगली दिखाते हुए) ऐसी हो गयी है ।१०।

इन संकेतों के विना यदि उक्त कथन कहा जाता तो वह अभीष्ट अभिप्राय को प्रकट करने में 'असमर्थ' होता, किन्तु इन संकेतों के द्वारा अब इसमें यह दोष नहीं रहा । 'हथेली दिखाने' से आँखों की विशालता, 'पाँच उँगलियों को दिखाने' से पाँच दिनों—थोड़े से दिनों—का, और 'कनिष्ठिका उँगली दिखाने' से कृशता का बोध होता है ।

२. अप्रतीत

जो पद [गुण और क्रिया के] योग से तो किसी अर्थ-विशेष का प्रतिपादन

तत्र संशयवद्यथा—

साधारणमपरेष्वपि गुणादि कृत्वा निमित्तमेकस्मिन् ।
यत्कृतमभिधानतयार्थे संशयवद्यथा हिमहा ॥१२॥

साधारणमिति । यत्पदं गुणक्रियादिनिमित्तमुद्दिश्यान्येष्वप्यर्थेषु साधारणं सदेकस्मिन्विशिष्टेऽर्थेऽभिधानतया संज्ञात्वेन कृतं न तु विशेषणत्वेन तदनेकार्थतयैकत्र निश्चयानुत्पादनात्संशयवद तीतम् । उदाहरणं यथा—हिमहेति। अत्र हिमहननलक्षणया क्रिययैतत्पदं रवौ वह्नौ च साधारणम् । अभिधानतया चैकत्रापि न रूढम् । अत एकत्र प्रयुज्यमानं संशयं कुर्वीत । अथ किमेतत् 'शब्दप्रवृत्तिहेतौ सत्यपि' (६।६) इत्यनेनासमर्थलक्षणेन न परिहृतम् । नेत्युच्यते । यतो यदेकत्र रूढमन्यत्र तु तदर्थसद्भावेऽपि न प्रयोगार्हं तत्तस्य विषयः । इह तु यत्क्वचिदपि न रूढं युक्त्या च तदर्थवाचकत्वं तदेकत्रार्थेऽनुचितमिति स्फुट एव भेदः । तथा 'निश्चीयते न यस्मिन्' (६।७) इत्यस्याप्ययमविषयः । यतस्तत्र विशेषणपदं संशयकारि निषेध्यम् ॥

अथासंशयमाह—

पदमपरमप्रतीतं यद्यौगिकरूढशब्दपर्यायैः ।
कल्पितमर्थे तस्मिन्यथाश्वयोषिन्मुखार्चिष्मान् ॥१३॥

पदमिति । अपरमिदं पदमप्रतीतं यद्यौगिकानां संबन्धजानामथ च रूढानां संज्ञात्वेन प्रसिद्धानां पर्यायैस्तस्मिन्विवक्षितेऽर्थे कल्पितमभिधानतया प्रयुक्तम् । यथा

करे किन्तु वाचक रूप से प्रसिद्ध न हो, वह (अर्थात् उसका प्रयोग) अप्रतीत [दोष कहाता है ।] इस दोष के दो भेद हैं—संशयवत् और असंशयवत् ।११।

मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार इस दोष का स्वरूप इससे किञ्चिद् भिन्न है—**अप्रतीतत्वमेकदेशमात्रप्रसिद्धत्वम् ।**

उदाहरणार्थ

'योगेन दलिताशयः ।' 'आशय' शब्द का वासना अर्थ में प्रयोग योगशास्त्र में ही होता है । अतः अर्थ-प्रसंगों में इसका प्रयोग 'अप्रतीत' दोष का सूचक है ।

(क) संशयवद् अप्रतीत

जो पद गुण [क्रिया] आदि को लक्ष्य में रखते हुए अन्य [अर्थों] में सामान्य होता हुआ भी अर्थ-विशेष में अभिधानता (वाचकता) के लिए प्रयुक्त किया जाए, वहाँ संशयवद् [अप्रतीत दोष] होता है, उदाहरणार्थ 'हिमहा' ।१२।

'हिमहा' का अर्थ है हिम हनन (नाश) करने वाला अर्थात् सूर्य अथवा अग्नि । यह शब्द यद्यपि इन दोनों अर्थों में रूढ नहीं है, परन्तु इसे प्रयुक्त कर लिया जाए तो यह संशय बना रहेगा कि यह शब्द सूर्य का वाचक है अथवा अग्नि का ।

वडवामुखानलशब्दे वाच्येऽश्वयोषिन्मुखार्चिष्मानिति शब्दः । स ह्यश्विमुखसादृश्यादौ-र्वाग्नौ यौगिको रूढिशब्दश्च । तत्र वडवापर्यायोऽश्वयोषिदिति, अनलस्यार्चिष्मानिति । मुखशब्दः स्वरूपेण प्रयुक्तः । केचित्त्वश्वयोषिद्वदनवह्निरिति पठन्ति । एवंविधं पदं विवक्षितमर्थं निर्विकल्पमेव प्रत्यापयति । केवलं न तथा रूढमिति दुष्टम् । यथा माघस्य—**'तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास'** । अल्पश्चायं दोषः, महाकविभिरपि प्रयुक्तत्वात् । अथ किमेतावसमर्थप्रतीतदोषाववाचकत्वेन परिहृतौ । नेत्युच्यते । यतो यत्किंचिदपि तमर्थं नाभिधत्ते तदवाचकम् । इह तु पदमर्थाभिधायक-मेव । केवलं पदान्तरसंनिधानादसामर्थ्यमरूढ्या चाप्रतीतत्वमागतमिति ॥

(ख) असंशय अप्रतीत

जो पद यौगिक अथवा रूढ़ शब्दों के पर्यायों द्वारा उस [अभीष्ट] अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो उसे असंशय अप्रतीत कहते हैं । जैसे—'अश्वयोषिन्मुखार्चिष्मान्' पद ।१३।

'अश्वयोषित्' का अर्थ है अश्व की योषित् (पत्नी) अर्थात् अश्वा = वडवा । अर्चिष्मान् का अर्थ अनल । अतः सम्पूर्ण पद का अर्थ हुआ—वडवामुखानल । किन्तु वडवा और अनल के पर्याय पदों के प्रयुक्त होने पर भी यह पद अभीष्ट अर्थ को नहीं बताता । अतः यहाँ अप्रतीत दोष है ।

नमिसाधु ने माघ के उपर्युक्त पद्यांश 'तुरंग कान्ता···' के सम्बन्ध में कहा है कि यहाँ यह असंशय नामक दोष अल्प है, क्योंकि ऐसे प्रयोग महाकवियों द्वारा प्रयुक्त होते रहे हैं—तुरंगकान्ता = अश्वा = वडवा के मुख से निकली हुई हव्य-वाह (हवि को खाने वाली अर्थात् अग्नि) की ज्वाला के समान । पद्यांश का अर्थ है—[वह द्वारिकापुरी] पानी को चीरकर इस प्रकार अवस्थित थी, जैसे वडवा (अश्वा) के मुख से आग की लपटें ऊपर को उठी हुई हों ।

किन्तु मम्मट ने ऐसे स्थलों में क्लिष्टता नामक दोष स्वीकार किया है । यथा—

'अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिरुद्गमभासिभिः सदृशम्' अर्थात् अत्रेर्मुनिविशेषस्य लोचनात् सम्भूतं यज्ज्योतिश्चन्द्रस्तस्योद्गमेनोदयेन भासिभिर्भासनशीलैः कुमुदैः सदृशम् । अत्रिमुनि के नेत्रों से उत्पन्न ज्योति अर्थात् चन्द्रमा, उसके उदय से चमकने वाले अर्थात् कुमुदों के सदृश ।

मम्मट ने अप्रतीत दोष वहाँ स्वीकार किया है जहाँ केवल किसी एक शास्त्र में प्रयुक्त अर्थ वाले शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में अन्यत्र भी कर दिया जाए—**अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम्** । यथा—

अथ विसंधिपदमाह—

यस्यादिपदेन समं संधिर्न भवेद्भवेद्विरुद्धो वा ।
तदिति विसंधि स इत्थं मन्थरया भरत आहूतः ॥१४॥

यस्येति । यस्य द्वितीयपदस्यादिपदेन सार्धं संधिः संधानं न भवेद्भवन्नपि विरुद्धार्थत्वाद्विरुद्धो वा भवेत्तत्पदं विसंधि । विरुद्धार्थो विशब्दः । ननूभयाश्रयत्वात्संधेः किमिति द्वितीयपदमेव विसंधि भण्यते, न त्वाद्यम् । सत्यम् । यतो द्वितीयपदे सत्येव विसंधित्वमायाति । ततस्तस्य तदुक्तम् । उभयत्रोदाहरणमाह—स इत्यादि । स भरतो मन्थरया कुब्जयेत्थमाहूत आकारितः । स इत्थमिति, भरत आहूत इति चासंध्युदाहरणम् । मन्थरया भरत इति तु विरुद्धसंधिनिदर्शनम् । संहितापाठे सति पदभङ्गवशान्मन्थरे याभे मैथुने रत इति प्रतीपोऽर्थो गम्यते ॥

सम्यग्ज्ञानमहाज्योतिर्दलिताशयताजुषः । विधीयमानमप्येतन्न भवेत्कर्म बन्धनम् ॥

यहाँ आशय शब्द का अर्थ वासना है, किन्तु यह अर्थ केवल योगशास्त्र में ही प्रचलित है । इस प्रसंग में इस शब्द का प्रयोग अप्रतीत दोष का वाचक है । (का० प्र० ७/१५५) ।

३. विसन्धि

जिस [द्वितीय] पद की आदि पद के साथ सन्धि न हो अथवा होने पर भी विरुद्धार्थ वाली हो या विरुद्ध हो जाए, उस पद को विसन्धि कहते हैं ।

जैसे 'स इत्थं मन्थरया आहूतः, अर्थात् इस प्रकार मन्थरा से बुलाया हुआ वह भरत ।१४।

नमिसाधु इस उदाहरण का समन्वय करते हुए कहा है **'स इत्थम् ।'** **'भरत आहूतः'** ये दोनों असन्धि के उदाहरण हैं, तथा, **'मन्थरया भरत'** यह विरुद्ध सन्धि का उदाहरण है । क्योंकि इस कथन को इस प्रकार का सन्धिपाठ—'मन्थर-याभ-रत' मान लेने पर यदि इसके पदों का भंग किया जाए तो 'मन्थरे याभे (मैथुने) रतः' अर्थात् 'मन्द मैथुन-कार्य में रत'—इस प्रकार का विपरीत अर्थ प्रतीत होता है ।

किन्तु हमारे विचार में न तो पाठक का ध्यान ऐसे विलष्ट पदभङ्ग की ओर जाता है और न ही इस प्रकार के पदभङ्गों से किसी प्रकार की काव्य-चमत्कृति ही उपलब्ध होती है ।

जहाँ तक विसन्धि के उक्त उदाहरणों का प्रश्न है, 'स इत्थम्' और 'भरत आहूतः' में भी वस्तुतः सन्धि-नियम ही लागू होते हैं । 'तद्' शब्द के प्रथमा विभक्ति के एकवचन के रूप 'सः' के विसर्ग का लोप 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' से नित्य रूप से होता है, और 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र के अनुसार 'स इत्थम्' में पुनः सन्धि नहीं हो सकती । इसी प्रकार 'भरत आहूतः' में भी 'भरतः' के विसर्ग-लोप हो

नन्वेवं विसंधिपदे दूषिते सति सर्वमेव पूर्वकविलक्ष्यं दूषितं स्यादित्याशङ्क्य विशेषमाह—

तत्रासत्संधि पदं कृतमसकृदयुक्तितो भवेद् दुष्टम् ।
दूरं तु वर्जनीयं विरुद्धसंधि प्रयत्नेन ॥१५॥

तत्रेति । तत्र द्वयोर्मध्याद्यदसंधि तदसकृत्कृतं पुनःपुनः प्रयुक्तमयुक्तितः पूर्वोत्तरपदासंश्लेषाद्दुष्टं भवति । यथा—

'कान्ते इन्दुशिरोरत्ने आदधाने उदंशुनी ।
पातां वः शंभुशर्वाण्याविती दुःखाकुलाद्भवात् ॥' इत्यादि । विरुद्धसंधि पुनःपदं दूरमतिशयेन प्रयत्नतो वर्जनीयमेव ॥

अथ विपरीतकल्पनमाह—

पूर्वार्थप्रतिपन्थी यस्यार्थः स्पष्ट एव संभवति ।
विपरीतकल्पनं तद्भवति पदमकार्यमित्रमिव ॥ १६ ॥

पूर्वार्थेति । यस्य पदस्य पूर्वार्थप्रतिपन्थी विवक्षितार्थविरोधी स्पष्ट एवाव्याख्यात एवार्थः संभवति तद्विपरीतार्थप्रतिभासनाद्विपरीतकल्पनम् । निदर्शनमाह—अकार्यमित्रमिवेति । अत्र ह्यकार्यमकृत्रिमं मित्रमकारणबन्धुरित्ययमर्थो विवक्षितोऽप्यकार्ये पापे

जाने के उपरान्त 'पूर्वत्रासिद्धम्' उक्त सूत्र से पुनः सन्धि नहीं हो सकती ।

इन दोनों—असन्धि और विरुद्ध सन्धि में से 'असन्धि' का अनेक बार प्रयोग दोषपूर्ण होता है, क्योंकि इसमें पूर्व और उत्तर पदों का असंश्लेश [-सा प्रतीत होता] रहता है । विरुद्ध-सन्धि को तो प्रयत्नपूर्वक दूर ही रखना चाहिये ।१५।

उदाहरणार्थ—'कान्ते इन्दुशिरोरत्ने आदधाने उदशुनी' में कहीं सन्धि नहीं की गयी, अतः यह स्थल असंश्लिष्ट होने के कारण संस्कृत भाषा की प्रकृति के विपरीत प्रतीत होता है ।

स्पष्टतः नमिसाधु द्वारा उदाहृत उक्त पद्य 'कान्ते इन्दुशिरोरत्ने···' में निम्नोक्त तीन स्थलों पर सन्धि नहीं की गयी—कान्ते इन्दुशिरोरत्ने आदधाने उदंशनी । अनेक बार असन्धि सदोष है । प्रस्तुत पद्य का अर्थ है—ऊपर को उठती हुई प्रभा से युक्त चन्द्रमा-रूपी सुन्दर रत्न को सिर पर धारण करने वाले भगवान् शिव एवं देवी पार्वती इस दुःखसंकुल संसार-बन्धन से आपकी रक्षा करें ।

४. विपरीतकल्पन

जिस पद का अर्थ अभीष्ट अर्थ से स्पष्टतः विरुद्ध हो उसे विपरीतकल्पन

मित्त्रमिति विरोध्यर्थो झगित्येव प्रतिभाति । ननु विरुद्धसंधित्वेन किं न परिहृतमेतत् । न परिहृतम् । तत्र हि पदद्वयसंधिविषयं पूर्वार्थविरोधित्वम्, इह तु संध्यभावेऽपीति ॥

अथ ग्राम्यमाह—

यदनुचितं यत्र पदं तत्तत्रैवोपजायते ग्राम्यम् ।
तद्वक्तृवस्तुविषयं विभिद्यमानं द्विधा भवति ॥ १७ ॥

यदिति । यत्पदं यत्र विषयेऽनुचितमयोग्यं तत्तत्रैव ग्राम्यमुपजायते । एतदुक्तं भवति, न स्वाभाविकं पुरुषस्येव शब्दस्य ग्राम्यत्वम्, अपि तु विषयभेदेन । तच्च ग्राम्यं वक्तृवस्तुविषयत्वेन भिद्यमानं सद्द्विधा द्विभेदं भवति । अत्र यद्वस्तुनि वक्तुमुचितं वक्तरि त्वनुचितं तद्वक्तृविषयं ग्राम्यम् । विपरीतं तु वस्तुविषयमिति ॥

तत्र वक्तृग्राम्यमाह—

वक्ता त्रिधा प्रकृत्या नियतं स्यादधममध्यमोत्तमया ।
तत्र च कश्चित्किंचिन्नैवार्हति पदमुदाहर्तुम् ॥ १८ ॥

वक्तेति । वक्ताधममध्यमोत्तमया प्रकृत्या स्वभावेन त्रिधा त्रिप्रकारो भवति । तत्राधमा हीनजातयो दासचेटादयः, मध्यमाः प्रतीहारपुरोहितसार्थवाहादयः, उत्तमा

दोष कहते हैं जैसे—'अकार्यमित्त्र' पद का अभीष्ट अर्थ तो है 'अकारण बन्धु' (सच्चा मित्र), किन्तु अर्थ निकलता है अकार्यों—पाप-कर्मों—में मित्र—सहायक ।१६।

मम्मट ने 'विपरीतकल्पन' दोष को 'विरुद्धमतिकृत' नाम दिया है, उनका उदाहरण भी यही है—

अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे । का० प्र० ७।१६५

५. *ग्राम्य—*

जो पद जिस विषय में अनुचित हो, वह वहीं ग्राम्य दोष से दुष्ट हो जाता है । इसके दो भेद हैं—वक्तृग्राम्य और वस्तुग्राम्य ।१७।

नमिसाधु के कथनानुसार जो पद वस्तु (वर्ण्य-विषय) में तो उचित हो, किन्तु वक्ता में उचित न हो उसे वक्तृ-ग्राम्य कहते हैं और जो वक्ता में उचित हो, वस्तु में अनुचित हो उसे वस्तुग्राम्य कहते हैं ।

वक्तृग्राम्य—

वक्ता के अधम, मध्यम और उत्तम प्रकृति से तीन भेद हैं । इन तीनों में से कोई भी स्वेच्छा से कोई पद नहीं बोल सकता ।१८।

नमिसाधु के अनुसार अधम वक्ता हीन जाति वाले दास, चेट आदि होते हैं, मध्यम वक्ता प्रतिहार, पुरोहित, सार्थवाह आदि, और उत्तम वक्ता मुनि, भूपति आदि ।

मुनिनृपतिप्रभृतयः । अथ बालयुववृद्धलक्षणादिकापि प्रकृतिः किं नोच्यते ! तत्रापि हि परस्परं व्यवहाराद्यनौचित्यमस्त्येव । सत्यम् । अर्थविषयमेव तद्ग्राम्यत्वम् । तच्च तत्रैव परिहरिष्यते 'ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम्' इत्यनेन । तत्र तेष्वधमम-ध्यमोत्तमेषु वक्तृषु मध्ये कश्चिद्वक्ता किंचित्पदमुदाहर्तुं वक्तुं नैवार्हति न योग्यो भवति ।।

तत्र दिङ्मात्रप्रदर्शनायाह

तत्रभवन्भगवन्निति नार्हत्यधमो गरीयसो वक्तुम् ।
भट्टारकेति च पुनर्नैवैतानुत्तमप्रकृतिः ।। १९ ।।

तत्रभवन्निति । गरीयस उत्तमान्सुरमुनिप्रभृतींस्तत्रभवन्भगवन्शब्दवाच्या-नप्यधमो वक्तैवमादिभिः शब्दैर्वक्तुं नार्हति न योग्यो भवति । वक्तृविषयं पदमिदमनु-चितम् । तथैतान्गरीयसो भट्टारकशब्दयोग्यानप्यन्य उत्तमस्वभावो राजादिर्वक्तुं नार्हति । इतिशब्दौ स्वरूपनिर्देशार्थौ । चशब्दोऽनुक्तस्वामिप्रभृतिशब्दसमुच्चयार्थः । भट्टारकेति स्वामिन्नित्यादि वेत्यर्थः ।।

इदानीं वस्तुविषयं ग्राम्यमाह—

तत्रभवन्भगवन्निति नैवार्हत्युत्तमोऽपि राजानम् ।
वक्तुं नापि कथंचिन्मुनिमपि परमेश्वरेशेति ।। २० ।।

तत्रभवन्निति । उत्तमो मुनिमन्त्रिप्रभृतिस्तत्रभवदादिपूजापदानि वक्तुं योग्योऽपि राजानमेभिः पूजापदैर्वक्तुं नार्हति । वस्तुविषयमेतदनौचित्यम् । राजा हि परमेश्वरादिभिः शब्दैर्वाच्यो न तु तत्रभवदादिभिरिति । तथा स एवोत्तमो राजा मुनिं तपोधनं परमे-श्वरेशेत्यादिभिरामन्त्रणपदैः कदाचिदपि वक्तुं नार्हति नियतविषया हि शब्दास्तेऽन्यत्र

सामान्य नियम यह है कि—

अधम [प्रकृति वाला] वक्ता [देव, मुनि आदि] उत्तम वक्ताओं को [भी] 'तत्रभवन्', 'भगवन्' आदि सम्बोधन पदों से आमन्त्रित नहीं कर सकता । इसी प्रकार ['भट्टारक' पद से सम्बोधन-योग्य होने पर भी] इन उत्तम वक्ताओं को [राजा आदि] उत्तम प्रकृति वाला [वक्ता] 'भट्टारक' पद से सम्बोधित नहीं कर सकता ।१९।

वस्तुविषय ग्राम्य

उत्तम वक्ता (मुनि, मन्त्री) आदि 'तत्रभवन्', 'भगवन्' आदि सम्मानसूचक पदों के प्रयोग में अधिकारी होने पर भी राजा को इन पदों से सम्बोधित नहीं कर सकता । [इसी प्रकार] उत्तम-प्रकृति [राजा] भी मुनि को 'परमेश्वर', 'ईश' आदि पदों से आमन्त्रित नहीं कर सकता ।२०।

इस सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिए भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र १९।१-३७ द्रष्टव्य है ।

केलिं विना प्रयुज्यमाना अनौचित्यज्ञतां गमयेयुरिति ग्राम्यत्वं तेषाम् । आस्तां तावदधम उत्तमोऽपि नार्हतीत्यपिशब्दार्थः । दिङ्मात्रप्रदर्शनं चैतत् । विस्तरस्तु भरतादवगन्तव्यः ॥

भूयोऽपि ग्राम्यविशेषमाह—

पदमिदमनुचितमपरं सभ्यासभ्यार्थवाचि सभ्येऽर्थे ।

तद्धि प्रयुज्यमानं निदधाति मनस्यसभ्यमपि ॥ २१ ॥

पदमिति । इदमपरं पदमनुचितं ग्राम्यं यत्सभ्यासभ्यार्थवाचकं सत्सभ्येऽर्थे प्रयुज्यमानम् । सभायां पर्षदि वक्तुं योग्यः सभ्यस्ततोऽन्योऽसभ्योऽर्थः । कुतोऽनुचितम् । हिर्यस्मादर्थे । यतस्तत्प्रयुज्यमानं सन्मनसि चेतस्यसभ्यमप्यर्थं निदधाति स्फुरयति । नन्वेवंविधस्य पदस्योभयार्थवाचकत्वादसभ्योऽपि प्रयोगो न स्यात्ततश्चास्य प्रयोगोच्छेद एवागतः । नैतत् । अदुष्टो ह्यर्थो दुष्टेन दूष्यते न तु दुष्टः साधुनेति ॥

निदर्शनमाह—

वारयति सखी तस्या यथा यथा तां तथा तथा सापि ।

रोदितितरां वराकी वाष्पभरक्लिन्नगण्डमुखी ॥२२॥

वारयतीति । तस्या नायिकायाः सखी यथा यथा तां वारयति तथा तथा सा वराकी रोदितितराम् । कीदृशी । वाष्पभरेण क्लिन्नगण्डमार्द्रकपोलं मुखं यस्याः सा तथाविधा । अत्र क्लिन्नगण्डशब्दावार्द्रकपोले सभ्येऽर्थे प्रयुक्तावपि पूययुक्तपिटकत्वलक्षण-मसभ्यमप्यर्थं स्फुरयतः । यतोऽसभ्यद्वययोगाच्चात्र विशेषणविशेष्यभावे सति दुष्ट-तरार्थत्वम् ॥

'ग्राम्य' दोष के विषय में कुछ और ज्ञातव्य—

जहाँ सभ्य और असभ्य—दोनों अर्थों के वाचक शब्द का सभ्य अर्थ में प्रयोग किया जाए वहाँ भी अग्राम्य दोष होता है, क्योंकि ऐसा प्रयोग मन में असभ्य अर्थ की भी प्रतीति कराता है ।२१।

उदाहरणार्थ—

सखी उसे ज्यों-ज्यों रोकती है, त्यों-त्यों उस बेचारी का चेहरा लगातार रोने के कारण क्लिन्न अर्थात् आर्द्र बना रहता है । २२ ।

यहाँ 'क्लिन्नगण्ड' शब्द 'आर्द्र कपोल' इस सभ्य अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी 'पूययुक्तपिटकत्वलक्षणम्' (पीव से भरे फोड़े रूप) असभ्य अर्थ की प्रतीति भी करता है ।

ग्राम्यत्व दोष का स्वरूप मम्मट के अनुसार इस प्रकार है—**ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम् ।** जो प्रयोग केवल सामान्य भाषा में होते हों उनका साहित्य में प्रयोग 'ग्राम्यत्व' कहाता है । उदाहरणार्थ—**'कटिस्ते हरते मनः'**—तुम्हारी कटि मेरे मन को आकृष्ट करती है' इस वाक्य में 'कटि' शब्द ।

अथैतदतिव्याप्तिपरिहारार्थमाह—

अर्थविशेषवशाद्वा सभ्येऽपि तथा क्वचिद्विभक्तेर्वा ।
अनुचितभावं मुञ्चति तथाविधं तत्पदं सदपि ॥२३॥

अर्थेति । ग्राम्यं यत्पदं तत्तथाविधं ग्राम्यं सदपि क्वचित्सभ्येऽर्थे उचितभावं ग्राम्यत्वं मुञ्चति । कुतोऽर्थविशेषवशाद्वा, विभक्तेर्वा । वाशब्दौ विकल्पार्थौ । विशिष्ट-सभ्यार्थप्रयोगाद्वा विभक्तिविशेषाद्वेत्यर्थः । अपिर्विस्मये संभावने वा । तथाशब्दः समुच्चयार्थः । पदमेतद्दोषाभावमध्ये समुच्चीयते । क्वचिच्छब्दो विरलत्वप्रतिपादनार्थः । क्वचिदेवार्थविशेषे न सर्वत्रेत्यर्थः ॥

निदर्शनमाह—

कथमिव वैरिगजानां मदसलिलक्लिन्नगण्डभित्तीनाम् ।
दुर्वारापि घटासौ विशांपते दारिता भवता ॥२४॥

कथमिति । निगदसिद्धम् । अत्रार्थविशेषो गजो वीररसश्च । कथं तर्हि नायिकायां बाहुल्येन दृश्यते । यथा—**'धृतबिसवलये निधाय पाणा मुखमधिरूषितपाण्डुगण्डलेखम् । नृपसुतमपरा स्मराभितापादमधुमदालसलोचनं निदध्यौ ॥'** कामिनी-

---

ग्राम्य दोष की अतिव्यप्ति का परिहार—

सभ्य अर्थ में प्रयुक्त ग्राम्य-पद भी कहीं-कहीं अर्थ-विशेष के कारण, अथवा विभक्ति के कारण ग्राम्यत्व छोड़ देता है ।२३।

उदाहरणार्थ—

हे राजन् ! आपने मदजल से क्लिन्न (आर्द्र) गण्डस्थल वाले शत्रु के हाथियों की भयंकर घटा को किस प्रकार विदीर्ण किया ।२४।

[विशांपते=विट्-प्रजा, उनका स्वामी, (सम्बोधन) हे राजन् !]

यहाँ वीररस के प्रसंग में 'क्लिन्न गण्ड' शब्द ग्राम्यत्व का सूचक नहीं है ।

इसी प्रकार नमिसाधु-प्रस्तुत उक्त श्लोक, 'धृतबिसवलये······' में भी 'गण्ड' शब्द ग्राम्यदोष का सूचक नहीं है । किन्तु यह दोषाभाव यदि इस कारण माना जाए कि 'पाण्डुगण्ड···' में पाण्डु शब्द के प्रयोग से अनुप्रास-जन्य सौन्दर्य आ गया है तो यह उचित नहीं है, क्योंकि 'दैत्यस्त्रीगण्डलेखानाम्···' में भी 'गण्ड' शब्द 'पाण्डु' शब्द के प्रयुक्त न होने पर भी ग्राम्य दोष का सूचक नहीं है । वस्तुतः 'वारयति सखी तस्या···' में 'क्लिन्न' शब्द के साथ प्रयुक्त होने के कारण 'गण्ड' शब्द ग्राम्य दोष का सूचक बन गया है । यह प्रयोग सर्वत्र सदोष नहीं होता । निष्कर्षतः इस दोष की कसौटी है सहृदय की रुचि में व्याघात उत्पन्न होना । धृतबिसवलये···' श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

लक्षणोऽर्थविशेषोऽत्रापीति चेत्तर्हि 'वारयति सखी तस्याः' (६।२२) इति दुष्टत्वे कथमुदाहरणम्। पाण्डुशब्दसंनिधानादत्रानुप्रासत्वेन रम्यत्वाददोष इति नोत्तरम्। विनापि पाण्डुशब्दप्रयोगं दर्शनात्। 'दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः' इत्यादिषु। तस्मात्पूर्वकविलक्ष्याणां बाहूनां दुष्टत्वमायाति। अत्रोच्यते—क्लिन्नशब्दसंनिधानादेव गण्डशब्दस्यासभ्यत्वं स्फुरति न त्वन्यदा। इत्येतदेव दर्शयितुमुदाहरणे तथैव प्रयुक्तवानिति। विशांपते इत्यत्र षष्ठीबहुवचनवशान्न विट्शब्देन विष्ठालक्षणोऽसभ्यार्थो मनसि निधीयते॥

भूयोऽपि ग्राम्यविशेषानाह—

मञ्जीरादिषु रणितप्रायान्पक्षिषु च कूजितप्रभृतीन्।
मणितप्रायान्सुरते मेघादिषु गर्जितप्रायान्॥२५॥
दृष्ट्वा प्रयुज्यमानानेवंप्रायांस्तथा प्रयुञ्जीत।
अन्यत्रैतेऽनुचिताः शब्दार्थत्वे समानेऽपि॥२६॥ (युग्मम्)

मञ्जीरादिष्विति। दृष्ट्वेति। वाच्येऽर्थे तुल्येऽप्येतेष्वेतान्धातून्पूर्वकविभिः प्रयुज्यमानान्दृष्ट्वा तेष्वेव निबध्नीयात्। नान्यत्र। यतस्तल्लक्ष्यमेवान्यत्र व्यवस्थाकारि मञ्जीरं नूपुरम्। आदिग्रहणाद्रशनाघण्टाभ्रमरादिसंग्रहः। रणितप्रायानिति प्रायग्रहणं सदृशार्थवृत्तिक्वणिशिञ्जिगुञ्जत्याद्यर्थम्। प्रभृतिग्रहणं वाशत्याद्यर्थम्। सुरतग्रहणं व्यापारान्तरनिवृत्त्यर्थम्। मेघादिष्वित्यत्रादिग्रहणं सिंहगजाद्यर्थम्। प्रायग्रहणं ध्वनत्याद्यर्थम्। एवं प्रायानिति ये शास्त्रेषु सामान्येन पठ्यन्ते। अथ च विशेष एव दृश्यन्ते। यथा—हेषतिरश्वेषु। भणतिः पुरुषेषु। कणतिः पीडितेषु। वातिर्वायौ। न त्वन्यत्र। नहि दृश्यते पुरुषो वातीति। एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः। अन्यत्रैतेऽनुचिताः।

एक अन्य रमणी काम-संताप के कारण पीतवर्ण कपोल से युक्त मुख को बिसकंकण से भूषित हाथ पर रखकर बिना मधुपान के ही मदपूर्ण एवं निर्निमेष नेत्रों से राजपुत्र को देखने लगी।

ग्राम्य के विषय में एक अन्य ज्ञातव्य विषय—

नूपुर [रशना, घण्टा, भ्रमर] आदि शब्द के लिए रणित [क्वणित, शिञ्जित, गुञ्जित] आदि पद, पक्षियों के शब्द के लिए कूजित आदि पद, सुरत में मणित प्रभृति पद, मेघ [सिंह, गज] आदि के शब्द के लिए गर्जित आदि पदों का प्रयोग करना चाहिए।२५।

प्रयोगों की साधुता के लिए महाकवियों द्वारा काव्यों में प्रयुक्त पदों को प्रमाण मानना चाहिए। इन सभी शब्दों के समानार्थक शब्द प्रयुक्त करना भी उचित नहीं होता।२६।

मेघादिषु रणत्यादय इत्यर्थः। अपिशब्दो विस्मये। चित्रमिदं यच्छब्दार्थे समानेऽपि ग्राम्यत्वमेषां वस्तुविषयेणैव। ग्राम्यत्वेनास्मिन्दोषे परिहृते पुनर्वचनं प्रपञ्चार्थम् ॥

अथ देश्यमाह—

प्रकृतिप्रत्ययमूला व्युत्पत्तिर्नास्ति यस्य देश्यस्य।
तन्मडहादि कथंचन रूढिरिति न संस्कृते रचयेत् ॥२७॥

प्रकृतीति। विशिष्टदेशे भवं देश्यम्। महाराष्ट्रादिदेशप्रसिद्धम्। देशीयं पदं संस्कृते न रचयेत्। यस्य पदस्य प्रकृतिप्रत्ययमूला व्युत्पत्तिर्न विद्यते तच्च मडहादि। तत्र मडहडहहोरणघुंघुलमकंदोट्टएलहुक्कसयरुयअलंबकुसुमालवाणवालादिकं यथाक्रमं सूक्ष्मश्रेष्ठ-वस्त्रपटमण्डपपद्महरिद्राञ्जलिसुवर्णकारकुक्कुटचौरशक्रादिवाचकं कथंचिदपि नैव रचयेदित्यर्थः। ननु देश्यप्राकृतभेदत्वात्कथं संस्कृते प्रयोगप्रसङ्ग इत्याह—रूढिरिति। रूढिभ्रान्त्या न बध्नीयात्। कश्चिद्व्यात्मदेशप्रसिद्धार्थं शब्दं सर्वत्रायं वाचक इति मन्यमानः प्रयुञ्जीत। 'व्युत्पत्तिर्यस्य नास्ति' इति वचनात्तु सव्युत्पत्तिकं देश्यं कदाचित्प्रयुञ्जीतेत्युक्तं भवति। यथा दूर्वायां छिन्नोद्भवाशब्दः। ताले भूमिपिशाचः। शिवे महानटः। वृक्षे परशुरुजः। समुद्रनवनीतं चन्द्रामृतयोः। जले मेघक्षीरशब्दः। एवमन्येऽपि ॥

अथ दोषानुपसंहर्तुमाह—

इत्थं पददोषाणां दिङ्मात्रमुदाहृतं हि सर्वेषाम्।
तस्मादनयैव दिशा ततोऽन्यदभ्यूह्यमभियुक्तैः ॥२८॥

इत्थमिति। इत्थमनेन पूर्वोक्तप्रकारेण पददोषाणां सर्वेषां दिगेव दिङ्मात्रं हिर्यस्मादुदाहृतं निर्दशितं तस्मादनयैव दिशान्यदपि दोषजातं स्वयमूहनीयम् ॥

---

६. *देश्य—*

देश विशेष में रूढ उन 'मडह' आदि पदों का, जिनकी प्रकृति और प्रत्यय-मूलक व्युत्पत्ति नहीं है, संस्कृत भाषा में प्रयोग न किया जाए।२७।

किन्तु नमिसाधु के अनुसार जिन शब्दों की प्रकृति-प्रत्यय-मूलक व्युत्पत्ति विद्यमान है, ऐसे देशीय शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है। जैसे दूर्वा, ताल, शिव और वृक्ष शब्दों के अर्थ में क्रमशः छिन्नोद्भवा, भूमिपिशाच, महानट, परशुरुज आदि शब्द।

इस प्रकार सभी पदगत दोषों के सामान्य अवलोकनार्थ उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। इसी रीति से विद्वान् लोग स्वयं अन्य दोषों को भी जान लें।२८।

पूर्वमुक्तमधिकपदं वाक्यं न प्रयोक्तव्यमथ च दृश्यते क्वचिदसकृत्प्रयोगस्तदतिव्याप्तिसंहारमाह—

वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमनास्तथा स्तुवन्निन्दन् ।
यत्पदमसकृद् ब्रूयात्तत्पुनरुक्तं न दोषाय ॥२९॥

वक्तेति । वक्ता प्रतिपादको हर्षभयादिभिराक्षिप्तचित्तः सन्यत्पदमेकस्मिन्नेवार्थे पुनः पुनर्वक्ति तत्पुनरुक्तत्वं दोषाय न भवति । अपि त्वलंकारायेत्यर्थः । आदिग्रहणाद्विस्मयशोकादिसंग्रहः । तथाशब्दः समुच्चये ॥

निदर्शनमाह—

वद वद जितः स शत्रुर्न हतो जल्पंश्च तव तवास्मीति ।
चित्रं चित्रमरोदीद्धा हेति परा हते पुत्रे ॥३०॥
जय जय वैरिविदारण कुरु कुरु पादं शिरःसु शत्रूणाम् ।
धिग्धिक्तमरिं यस्त्वामप्रणमन्स्वं विनाशयति ॥३१॥

वदेति । जयेति । अत्र वद वदेति । हर्षे । तव तवास्मीति भये । चित्रं चित्रमिति विस्मये । हा हेति शोके । जय जयेति स्तुतौ । कुरु कुर्विति त्वरायाम् । धिग्धिगिति निन्दायाम् । अन्यन्निगदसिद्धम् ॥

अधिकपदता दोष की अतिव्याप्ति

वक्ता हर्ष, भय आदि से विह्वलचित्त होकर स्तुति अथवा निन्दा करते हुए, एक ही अर्थ में किसी एक पद की बार-बार पुनरुक्ति करता है किन्तु यह दोष न होकर अलंकार ही है।२९।

उदाहरणार्थ

कहो, कहो ! जीत लिया उस शत्रु को ? अरे क्या, 'मैं तेरी शरण में हूँ, मैं तेरी शरण में हूँ', यह कहने पर शत्रु को मारा नहीं ? इस प्रकार पुत्र के मारे जाने पर हाय-हाय करता हुआ तथा आश्चर्य में पड़ा हुआ वह रोने लगा। हे शत्रुहन्ता ! तुम्हारी जय हो, जय हो ! तुम शत्रुओं के मस्तक पर पैर रखो, पैर रखो (अर्थात् उन्हें अपने अधीन करो)। उस शत्रु को धिक्कार है, जो तुम्हारी अधीनता स्वीकार न करके अपना विनाश चाहता है।३०, ३१।

इस पद में 'कहो, कहो', 'मैं तेरी शरण में हूँ', 'मैं तेरी शरण में हूँ,' 'हाय हाय,' 'जय हो, जय हो', 'पैर रखो, पैर रखो', आदि पद 'पुनरुक्त' दोष से दूषित नहीं हैं।

भूयोऽप्याह—

यत्पदमर्थेऽन्यस्मिंस्तत्पर्यायोऽथवा प्रयुज्येत ।
वीप्सायां च पुनस्तन्न दुष्टमेवं प्रसिद्धं च ॥३२॥

यदिति । यत्पदमन्यमर्थमभिधातुं द्विः प्रयुज्यते तत् । तथा तस्य प्रयुक्तपदस्य पर्यायो वाचको यः प्रयुज्येत । तथा वीप्साप्रतिपादनार्थं वा यत्पुनः पदं प्रयुज्येत तत्पदं न पुनरुक्तदोषदुष्टं भवति । एवं प्रसिद्धं च । इत्येवं वीप्सातुल्यरूपेण प्रकारेण यत्क-विलक्ष्येषु प्रसिद्धं तदपि पुनरुक्तं न दोषाय । यथा कलकलरणकादिकम् । तथैव लोके प्रसिद्धत्वादिति । ननु तुल्यपदस्य तत्पर्यायपदस्य वान्यार्थत्वेन वीप्सावाचकस्य वीप्साप्रतिपादकत्वेन तदर्थत्वादेव पुनरुक्तिर्न दुष्टा तत्किमनेनेति सत्यम् । किं तु कश्चिदतिमन्दमतिः पुनः प्रयोगं दृष्ट्वा दुष्टत्वमाशङ्केतेति ॥

क्रमेण निदर्शनमाह—

गजरक्तरक्तकेसरभारः सिंहोऽत्र तनुशरीरोऽपि ।
दिशि दिशि करिकुलभङ्गं वारंवारं खरैः कुरुते ॥३३॥

इसी प्रसंग में और भी ज्ञातव्य—

पुनरुक्त दोष वहाँ भी नहीं माना जाता—(१) जहाँ कोई पद [अपने] अन्य अर्थ में प्रयुक्त हो, (२) जहाँ किसी प्रयुक्त पद के पर्यायवाची पद का प्रयोग किया जाए, अथवा जहाँ वीप्सा के कारण अथवा [कविजनों अथवा लोक में] प्रसिद्धि के कारण किसी पद की पुनरुक्ति की जाए ।३२।

उदाहरण

हाथियों के रक्त से अपनी ग्रीवा के बालों को रक्त-वर्ण बनाने वाला सिंह आकार में छोटा होने पर भी बार-बार अपने नखों से सर्वत्र हाथियों को विदीर्ण करता रहता है ।३३।

(१) इस पद्य में प्रयुक्त प्रथम रक्त शब्द तो 'लहू' के अर्थ का वाचक है और द्वितीय रक्त शब्द 'लाल रंग' अर्थ का, अतः यहाँ पुनरुक्त दोष नहीं है ।

(२) तनु और शरीर शब्द पर्यायवाची हैं, परन्तु यहाँ तनु का अर्थ 'छोटा' है, अतः यहाँ पुनरुक्त दोष नहीं है ।

(३) 'दिशि दिशि' में वीप्सा (बलद्योतन) के कारण यह दोष नहीं है।

(४) 'वारं वारं' लोक-प्रसिद्ध प्रयोग है, अतः इसमें भी यह दोष नहीं है ।

लोक-प्रसिद्धि का एक अन्य उदाहरण—'मानिनीजनविलोचन···' नसिसाधु ने भी प्रस्तुत किया है, जिसका अर्थ है—

मानिनी स्त्रियों के नेत्रों की सुन्दरता का पान करता हुआ तथा उनके शीतल

गजेति । प्रथमेऽत्र पादे रक्तशब्दावन्यार्थौ । एका रुधिरवाचकोऽपरस्तु रञ्जन-क्रियाभिधायी । तनुशरीर इत्यत्र तनुशब्दस्तानवाभिधायी तत्पर्यायः शरीरशब्दः काय-वाचकः । दिशि दिशीति वीप्सायाम् । सर्वस्यां दिशीत्यर्थः । वारंवारमिति लोकप्रसि-द्धम् । अन्यदपि लोकप्रसिद्धं दृश्यते । यथा—

'मानिनीजनविलोचनपातानुष्णबाष्पकलुषान्प्रतिगृह्णन् ।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीत भीत इव शीतमयूखः ॥'

तथा—

'ता किंपि किंपि ता कह वीअब्बो निमीलियच्छीहिम् ।
कडुओसहं व पिज्जइ अहरो घेरस्य तरुणीहिम् ॥'

उद्भटस्तु सर्वत्रात्र पुनरुक्ताभासालंकारत्वमाचष्टे ॥

अश्रु-बिन्दुओं को ग्रहण करता हुआ चन्द्रमा मानो भयभीत-सा होकर धीरे-धीरे आकाश में उदित हुआ ।

यहाँ 'मन्दं मन्दम्' और 'भीत भीतः' शब्दों में पुनरुक्ति दोष नहीं है ।

नमिसाधु ने इसी प्रसंग के अन्त में संकेत किया है कि उद्भट ऐसे सभी स्थलों में पुनरुक्तवदाभास अलंकार मानते हैं । उद्भट के उपलब्ध ग्रन्थ 'काव्यालंकारसार-संग्रह' में इस अलंकार का लक्षण है—

पुनरुक्तवदाभासमभिन्नवस्त्विवोद्भासिभिन्नरूपपदम् ।

अर्थात् जहाँ भिन्न रूपों वाले पद भी अभिन्न वस्तु (एक ही पदार्थ) के द्योतक-से प्रतीत हों वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है । प्रतिहारेन्दुराज (अथवा स्वयं उद्भट) ने उदाहरणार्थ निम्न पद्य प्रस्तुत किया है—

तदाप्रभृति निःसङ्गी नागकुञ्जरकृत्तिभृत् ।
शितिकण्ठः कालगलत्सतीशोकानलव्यथः ॥

तब से (सती के वियोग से लेकर) नाग-कुञ्जर (श्रेष्ठ गज) के चर्म को धारण करने वाले नीलकण्ठ शिव निःसंगी (विषयों से पराङ्मुख) हैं, और काल द्वारा विनष्ट सती की विरहाग्नि से संतप्त हैं ।

यहाँ 'नाग' और 'कुञ्जर' शब्द हस्तिवाची प्रतीत होते हैं और 'शितिकण्ठ' और 'कालगल' शब्द महादेव-वाची । अतः यहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार है ।

नमिसाधु ने 'मानिनीजन…', तथा इसीके अनुरूप 'ता किंपि किंपि ता…' और 'गजरक्तरक्तकेसरभारः…' जैसे पद्यों के सम्बन्ध में कहा है कि उद्भट को ऐसे स्थलों में 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार का चमत्कार मानना अभीष्ट है, किन्तु इस प्रकार की स्पष्ट धारणा का उल्लेख न तो उद्भट-प्रस्तुत उक्त लक्षण में मिलता है, और न ही उनके (अथवा प्रतिहारेन्दुराज के) उदाहरण में उक्त तीनों पद्यों की अनुरूपता

प्रकारान्तरमाह—

यच्च प्रतिपत्ता वा न प्रतिपद्येत वस्तु सकृदुक्तम् ।
तत्र पदं वाक्यं वा पुनरुक्तं नैव दोषाय ।।३४।।

यदिति । यद्वस्तु सकृदेकवारमुक्तं सत्प्रतिपत्ता । वाशब्दोऽवधारणे । प्रतिपत्तैव न प्रतिपद्येत तत्र वस्तुनि वाच्ये पदं वाक्यं वा नैव दोषाय । चः समुच्चये । तच्च पदं निर्दोषपदमध्ये समुच्चीयत इत्यर्थः ।।

उदाहरणमाह—

किं चिन्तयसि सखे त्वं वच्मि त्वामस्मि पश्य पश्येदम् ।
ननु किं न पश्यसीदृक्पश्य सखे सुन्दरं स्त्रैणम् ।।३५।।

किमिति । कश्चिन्मित्रमाह—हे सखे, इदमीदृक्सुन्दरं रम्यं स्त्रैणं स्त्रीसमूहं पश्येति । तेन त्वन्यगतचित्तत्वान्न श्रुतमतः स पुनराह—किं चिन्तयसीत्यादि । अत्र पश्य पश्येति पदपौनरुक्त्यं नन्वित्यादि तु वाक्यपौनरुक्त्यम् । ननुरभिमुखीकरणे ।।

भूयोऽप्याह—

अन्याभिधेयमपि सत्प्रयुज्यते यत्पदं प्रशंसार्थम् ।
तस्य न दोषाय स्यादाधिक्यं पौनरुक्त्यं वा ।।३६।।

अन्येति । प्रशंसालक्षणादर्थादन्यदभिधेयं वाच्यं यस्य पदस्य तदित्थंभूतमपि सत्प्रशंसार्थं प्रयुज्यते यतस्तस्याधिक्यं पौनरुक्त्यं वा दोषाय न भवति । अन्याभिधेयस्य

के संकेत मिलते हैं । सम्भवतः इस प्रकार की धारणा उद्भट ने अपने अन्य ग्रन्थ 'भामह-विवरण' में प्रस्तुत की होगी, जो अद्यावधि अप्राप्य है ।

इसी प्रकार जहाँ एक बार कहे जाने पर श्रोता वाच्यार्थ को न समझ सके वहाँ [भी] पद अथवा वाक्य की पुनरुक्ति दोषावह नहीं होती ।३४।

उदाहरणार्थ

हे मित्र ! तुम क्या सोच रहे हो ? मैं तुम्हें कह रहा हूँ । इधर देखो, इधर ! अरे तुम क्यों नहीं देखते हो ? हे मित्र ! इन ऐसी सुन्दरी स्त्रियों को देखो ।३५।

इसके अतिरिक्त

अन्य अर्थ का वाचक होने पर भी जो पद प्रकृत पद के साथ प्रशंसा के लिए प्रयुक्त किया जाता है, उसकी अधिकता अथवा पुनरुक्ति सदोष नहीं होती ।३६।

जैसे—'मुनिशार्दूल' यहाँ 'शार्दूल' पद मुनि की प्रशंसा के लिए प्रयुक्त हुआ है, अतः इसमें कोई दोष नहीं । इसी प्रकार केशपाश, नृपपुंगव, गोनाग, अश्व-कुंजर, कदम्बवृक्ष, मलयाचल आदि उदाहरण जानने चाहिए ।

हि प्रस्तुतार्थानुपयोगिनः प्रयोगे सत्याधिक्यं स्यात् । पदान्तरेणैवोक्ततदर्थस्य तु पौनरुक्त्यं स्यात् । ननु यद्यन्याभिधेयं कथं प्रशंसार्थं प्रयोगः, प्रयोगश्चेन्नान्याभिधेयमिति । सत्यम् । अन्याभिधेयस्यापि प्रशंसार्थगमकतास्तीति । यथा मुनिशार्दूलः, कर्णतालः, केशपाशः, नृपपुंगवः, गोनागः, अश्वकुञ्जरः । तथा चूतवृक्षः, मलयाचलः, इत्यादिषु शार्दूलादि-शब्दानां व्याघ्रादिवाचित्वेनान्याभिधेयत्वेऽपि, वृक्षादीनां तु पदान्तरोक्तार्थत्वेऽपि प्रशंसार्थगमकत्वेन न दुष्टतेति ॥

निदर्शनमाह—

नासीरोद्धतधूलीधवलितसकलारिकेशहस्तस्य ।
अविलङ्घ्योऽयं महिमा तव मेरुमहीधरस्येव ॥३७॥

नासीरेति । नासीरं सैन्यं तदुत्खातधूल्या धवलिताः सकलारीणां केशहस्ताः केशकलापा येन तस्य तवाविलङ्घनीयो महिमा । कस्येव । मेरुमहीधरस्येव मेरुपर्वतस्य यथा । अत्र हस्तशब्दस्य पाणिवाचकस्यान्यार्थस्यापि नाधिक्यम् । महीधरशब्दस्य च मेरुपदान्तरेण गतार्थस्य न पौनरुक्त्यम् । प्रशंसार्थत्वादिति ॥

परस्परं संबद्धपदं वाक्यं प्रयुञ्जीतेति यदभ्यधायि तदतिव्याप्तिं संजिहीर्षुराह—

यस्मिन्ननेकमर्थं स्वयमेवालोचयेत्तदर्थानि ।
जल्पन्पदानि तेषामसंगतिर्नैव दोषाय ॥३८॥

उदाहरण

तुम्हारी सेना के चलने से उठी हुई धुलि ने शत्रुओं के केशों को धवल बना दिया है । सचमुच तुम्हारी महिमा भी मेरु पर्वत के समान अलङ्घ्य है, अर्थात् वर्णनातीत है ।३७।

नासीर—सेना, केशहस्त—केशकलाप ।

नमिसाधु ने 'केशहस्त' के सम्बन्ध में कहा है कि 'हस्त' शब्द 'हाथ' का वाचक होता हुआ भी यहाँ कलाप का सूचक है, अतः यहाँ पुनरुक्ति नहीं है । किन्तु हमारे विचार में यहाँ पुनरुक्ति का विषय प्राप्त ही नहीं है । हाँ, उनके कथनानुसार 'मेरुमहीधर' में पुनरुक्ति अवश्य प्राप्त थी, क्योंकि 'मेरु' कहने से मेरु 'पर्वत' का बोध स्वतः हो जाता है, किन्तु यहाँ महीधर शब्द का प्रयोग प्रशंसा अर्थात् गौरव का सूचक होने के कारण पुनरुक्ति दोषयुक्त नहीं है ।

पीछे (६।१) कह आये हैं कि वाक्य का प्रयोग विशेष नियमों के अधीन करना चाहिए—'वाक्यविशेष-प्रयोगनियमेन', अर्थात् वाक्य असंगत नहीं होने चाहिए, **किन्तु कभी यह असंगति भी दोष नहीं होती—**

जिस वाक्य में वक्ता अनेकार्थ वाचक पदों को बोलते हुए स्वयं उनके अनेक

यस्मिन्निति । यस्मिन्वाक्ये वक्तानेकार्थवाचकानि पदानि जल्पन्स्वयमेवानेकमर्थमालोचयति तेषां तद्वाक्यपदानामसंगतिर्नैव दोषाय । विवक्षावशेन हि शब्दाः प्रयुज्यन्ते । वक्ता चेत्स्वयं विलक्षणमनेकमर्थं वक्तुकामोऽन्योन्यमसंबद्धानि पदानि ब्रूते तत्किमसांगत्यम् । असंबद्धत्वाच्च दोषाशङ्का चेति स्वयंग्रहणात्परेण यत्र प्रतिपाद्यस्तत्रासंगतिर्दुष्टैव । यथा—

आषाढी कार्तिकी माघी वचा हिंगु हरीतकी ।
पश्यतैतन्महच्चित्रमायुर्मर्माणि कृन्तति ।।

उदाहरणमाह—

कुसुमभरः सुतरूणामहो नु मलयानिलस्य सेव्यत्वम् ।
सुमनोहरः प्रदेशो रूपमहो सुन्दरं तस्याः ।।३९।।

कुसुमभर इति । एतत्कश्चित्कामी मलयोद्याने तरुणीं दृष्ट्वा स्वयमेव पर्यालोचयति । तन्निगदसिद्धम् ।।

इदानीं वाक्यदोषमाह—

वाक्यं भवति तु दुष्टं संकीर्णं गर्भितं गतार्थं च ।
यत्पुनरनलंकारं निर्दोषं चेति तन्मध्यम् ।।४०।।

अर्थों को आलोचित करता है, उन पदों की असंगति दोषपूर्ण नहीं होती क्योंकि इसमें वक्ता स्वयं ही अनेक अर्थ बतलाने की इच्छा से परस्पर असंबद्ध पदों का कथन करता है।३८।

उदाहरणार्थ

अहा ! ये सुन्दर पेड़ किस प्रकार फूलों से लदे हुए हैं। यह शीतल मलयानिल कितना रुचिकर जान पड़ता है। कितना सुन्दर है यह प्रदेश, और उस सुन्दरी के रूप का तो कहना ही क्या।३९।

वस्तुतः हमें यहाँ कोई असंगति प्रतीत नहीं होती । यह तभी होती जब एक ही विषय को प्रकारान्तर से बार-बार कहा जाता, किन्तु उक्त पद्य में प्रत्येक वाक्य विभिन्न विषयों का सूचक है ।

वाक्यदोष

संकीर्ण गर्भित और गतार्थ—इन तीन रूपों से वाक्य दोषपूर्ण होता है। जिसमें न तो अलंकार हों और न दोष ऐसा वाक्य 'मध्यम वाक्य' कहलाता है।४०।

अर्थात् संकीर्ण, गर्भित और गतार्थ ये तीन वाक्य-दोष हैं ।

जिस वाक्य में कोई दोष न हो और कोई अलंकार भी न हो वह मध्यम वाक्य कहाता है ।

वाक्यमिति । तुः पुनरर्थे । वाक्यं पुनः संकीर्णगर्भितगतार्थरूपं दुष्टं भवति । ननु वाक्यस्य पदात्मकत्वात्पदद्वारेणैव तद्दोष उक्त इति किं पुनरुच्यते । सत्यम् । किं तु सन्ति तादृशानि वाक्यानि येषु पददोषाभावेऽपि वाक्यस्य दुष्टता भवति । यथा—

गौरीक्षणं भूधरजाहिनाथः पत्त्रं तृतीयं दयितोपनीतम् ।

यस्याम्बरं द्वादशलोचनाख्यः काष्ठासुतः पातु सदाशिवो वः ॥

कुसुमभर इत्यादौ वाक्यार्थानामसंगतिरिह तु वाक्यानामिति विशेषः । ननूपादेयत्वादलंकारनिर्देश एव न्याय्यः, ततोऽन्यत्सर्वमनुपादेयमिति सेत्स्यति, किं संकीर्णादिलक्षणोक्तिप्रयासेनेत्यत आह—यत्पुनरित्यादि । यदलंकारशून्यं निर्दोषं च तन्मध्यमवाक्यम् । एतदुक्तं भवति—यदि हेयोपादेयपक्षद्वयमेव स्यात्तदालंकारनिर्देश एव । यावता तृतीयं मध्यममपि वाक्यं विद्यत एवेति सर्वमेव वक्तव्यम् ॥

अथ संकीर्णलक्षणमाह—

वाक्येन यस्य साकं वाक्यस्य पदानि सन्ति मिश्राणि ।

तत्संकीर्णं गमयेदनर्थमर्थं न वा गमयेत् ॥४१॥

वाक्येनेति । यस्य वाक्यस्य वाक्यान्तरेण सह मिश्राणि पदानि भवन्ति तत्संकीर्णं नाम । किमित्येतावता तस्य दुष्टत्वमत आह—गमयेदनर्थम् । यतः करणाद्विवक्षितमर्थं वा न गमयेत्ततस्तद्दुष्टमित्यर्थः ॥

उदाहरणमाह—

किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणं गृहाणैनम् ।

ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरूपम् ॥४२॥

किमिति । काचित्सखी मानिनीं वक्ति—किमिति । कस्मात्पादगतं हृदयनाथं प्रियं बहुगुणं न पश्यसि । ननु मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्च त्यज । एनं च प्रियं कण्ठे

संकीर्ण

जिस वाक्य के पद अन्य पदों के साथ मिश्रित हो जाएँ उसे संकीर्ण दोष कहते हैं, [इसके दो परिणाम होते हैं] इससे [अर्थ के स्थान पर] अनर्थ की प्रतीति होती है, अथवा अर्थ की प्रतीति होती ही नहीं ।४१।

उदाहरण

अरी क्या तू अपने पैरों पर पड़े हुए, गुणशाली हृदयेश को नहीं देखती । अब तू मन की तामसिक वृत्ति-रूप कोप का परित्याग करके प्राणनाथ को गले लगा ।४२।

इस पद्य का निम्न अर्थ भी हो सकता है—पैरों पर पड़े हुए कोप को तू क्यों नहीं देखती । इस कोप को गुणरूप में ग्रहण कर तथा हृदय से तमोरूप हृदयनाथ वल्लभ को छोड़ । अतः यहाँ संकीर्ण दोष है ।

गृहाण । इत्येवंविधो वाक्योऽत्र विवक्षितः । पदानां तु मिश्रत्वाद्दुष्टोऽर्थो गम्यते । यथा—पादपतितं कोपं कस्मान्न पश्यसि । एनं च कोपं बहुगुणं गृहाण । मनसो हृदयाच्च तमोरूपं हृदयनाथं वल्लभं मुञ्च त्यजेति ॥

गर्भितमाह—

यस्य प्रविशेदन्तर्वाक्यं वाक्यस्य संगतार्थतया ।
तद्गर्भितमिति गमयेन्निजमर्थं कष्टकल्पनया ॥४३॥

यस्येति । यस्य वाक्यस्यान्यद्वाक्यं समृद्धार्थत्वेनान्तर्मध्ये प्रविशेत्तद्गर्भितं नाम । का तस्य दुष्टतेत्याह—गमयेन्निजमर्थमभिधेयं कष्टकल्पनया क्लेशेनेति ॥

निदर्शनमाह—

योग्यो यस्ते पुत्रः सोऽयं दशवदन लक्ष्मणेन मया ।
रक्षैनं मृत्युमुखं प्रसह्य लघु नीयते विवशः ॥४४॥

योग्य इति । अङ्गदमुखेन लक्ष्मणो रावणमाह—हे दशवदन, योग्यो यस्ते तव पुत्रः सोऽयं मया लक्ष्मणेन प्रसह्य हठान्मृत्युमुखं विवशः परवशः संल्लघु शीघ्रं नीयते

संकीर्ण के स्वरूप-निर्देश में मम्मट ने रुद्रट का ही अनुकरण किया है । उनके कथनानुसार "जहाँ एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य में प्रवेश कर गये हों, उसे 'संकीर्ण' कहते हैं—**यत्र वाक्यान्तरस्य पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविशन्ति । का० प्र० ७।२३९**

इस दोष का उदाहरण भी उन्होंने उक्त रुद्रट-प्रस्तुत ही दिया है । विश्वनाथ ने मम्मट के अनुकरण पर निम्नोक्त उदाहरण का निर्माण कर दिया है—

चन्द्रं मुञ्च कुरंगाक्षि पश्य मानं नभोऽङ्गने । सा० द० ७म परि० ।

गर्भित

जहाँ एक वाक्य [दूसरे वाक्य के साथ] घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण दूसरे वाक्य के मध्य मिल जाए और अपने अर्थ का कठिन कल्पना से बोध कराए उसे गर्भित कहते हैं ।४३।

उदाहरण

हे रावण ! जो तुम्हारा पुत्र मुझ लक्ष्मण के हाथों से बलपूर्वक मृत्यु के मुख में ले जाया जा रहा है, उसकी रक्षा कर लो ।४४।

यह वाक्य लक्ष्मण अङ्गद द्वारा रावण के प्रति कहलाता है । इस पद्य में 'रक्षैनम्' पद को, जो मध्यगत है, पृथक् निकाल देने पर ही वास्तविक अर्थ समझ में आता है । यदि इसे निकालकर पृथक् न किया जाए तो मूल अर्थ को समझना कठिन हो जाता है ।

तस्माद्रक्षणम् । अत्र रक्षणमिति गर्भवाक्यं यावन्मध्यान्नोद्धृत्य पृथक्कृतं तावन्मूलवाक्यं कष्टकल्पनयार्थं गमयति ।।

गतार्थमाह—

यस्यार्थः सामर्थ्यादन्यार्थैरेव गम्यते वाक्यैः ।
तदिति प्रबन्धविषयं गतार्थमेतत्ततो विद्यात् ।।४५।।

यस्येति । यस्य वाक्यस्यार्थोऽभिधेयं प्रयोजनं वान्याभिधेयैर्वाक्यैर्गम्यते । एवकारो भिन्नक्रमे । गम्यत एवेत्येवं द्रष्टव्यम् । कथं गम्यते सामर्थ्यात् । अन्यार्थानामपि तदर्थाभिधानशक्तियुक्तत्वादित्यर्थः । तदित्येवंप्रकारं वाक्यं गतार्थम् । अथ कथमत्र नोदाहृतमित्याह—तदेतत्प्रबन्धविषयं विपुलग्रन्थगोचरमतस्ततः प्रबन्धादेव विद्याज्जानीयात् । नान्यथाख्यातुं शक्यत इति । प्रबन्धे दृश्यते यथा किरातार्जुनीयकाव्ये हिमाचलवर्णने—

मणिमयूखचयांशुकभासुराः सुरवधूपरिभुक्तलतागृहाः ।
दधतमुच्चशिलान्तरगोपुराः पुर इवोदितपुष्पवना भुवः ।।

संकीर्ण का मम्मट-सम्मत स्वरूप भी रुद्रट से प्रभावित जान पड़ता है—

गर्भितं यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति ।

उदाहरणार्थ—

परोपकारनिरतैर्दुर्जनैः सह संगति ।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ।। का० प्र० ७।२४०

यहाँ तृतीय पाद के अन्य वाक्यों के बीच में आ जाने से 'संकीर्ण' दोष है ।

गतार्थ

दूसरे वाक्यों में आए शब्दों के बल पर जिस वाक्य का अभिप्राय स्वयं ही प्रकट हो जाए उसे गतार्थ कहते हैं । यह प्रबन्ध काव्य का विषय है । अतः इसे यहाँ उदाहृत नहीं किया जा रहा, इसे वहीं से जान लेना चाहिए ।४५।

नमिसाधु ने उदाहरण-स्वरूप किरातार्जुनीय के 'मणिमयूख.........' पद्य को उद्धृत किया है—हिमालय पर्वत का भूभाग पुर के समान है । यहाँ की भूमियाँ मणियों के किरणजाल-रूपी दुपट्टे से जाज्वल्यमान हैं, यहाँ के लतागृहों में अप्सराएँ निवास करती हैं, यहाँ की ऊँची-ऊँची शिलाएँ गोपुर के समान हैं, तथा यहाँ पर पुष्पों के वन उदित हैं ।

इस वर्णन से यह अर्थ ज्ञात होता है कि मणियों, सुन्दर नारियों और उद्यानों से समन्वित यह पर्वत नगर के समान सेव्य है किन्तु यह अर्थ स्पष्टतः कहा हुआ नहीं है, अवगमित है, अतः रुद्रट के मत में यहाँ 'गतार्थ' नामक दोष है । किन्तु हमारे विचार में यदि ऐसे स्थलों को सदोष माना जाएगा तो काव्य 'वार्ता' के सामान्य धरातल पर

इत्यनेन श्लोकेन मणयोऽप्सरस उद्यानानि च सन्त्यतः सेव्योऽयं पर्वत इति प्रतिपाद्यते । एतच्चान्यास्वार्थैर्वाक्यान्तरैरेव कथितम् । तद्यथा—

रहितरत्नचयान्न शिलोच्चयानपलताभवना न दरीभुवः ।
विपुलिनाम्बुरुहा न सरिद्वधूरकुसुमान्दधतं न महीरुहः ।
दिव्यस्त्रीणां सचरणलाक्षारागा रागायाते निपतितपुष्पापीडाः ।
पीडाभाजः कुसुमचिताः साशंसं शंसन्त्यस्मिन्सुरतविशेषं शय्याः ।।

अत्र यदेतन्मध्यमं वाक्यमुक्तमेतत्कविना किं कर्तव्यमुत नेत्याह—

पुष्टार्थालंकारं मध्यममपि सादरं रचयेत् ।
गामभ्याजेति यथा यत्किंचिदतोऽन्यथा तद्धि ।।४६।।

उतर आएगा, और ध्वनि-काव्य के प्रायः सभी उदाहरण 'गतार्थ' दोष से दूषित हो जाएँगे। सम्भवतः यही कारण है कि मम्मट ने इसी प्रसंग के उक्त दोनों दोषों—संकीर्ण और गर्भित को स्वीकार करते हुए भी अपने ग्रन्थ में इसे स्थान नहीं दिया।

इसी प्रकार नमिसाधु-प्रस्तुत 'रहितरत्नचयान्न...' श्लोक से भी यही गतार्थ होता है कि यह पर्वत सेवनीय है। इस श्लोक का अर्थ है—

वहाँ पर पर्वत रत्नविहीन न थे, गुफ़ा की निकटवर्ती भूमि लता-भवनों से रहित न थी, सरिता-रूपी वधू अपने रेतीले किनारों पर कमलों से शून्य नहीं थी और वृक्ष पुष्पों से विरहित नहीं थे।

यही स्थिति 'दिव्यस्त्रीणां...' श्लोक की भी है। इससे गतार्थ होता है कि यह पर्वत प्रेमी-जनों के लिए तो विशेषतः सेवनीय है, क्योंकि इस पर्वत पर पददलित पुष्पों की शय्या देवाङ्गनाओं के सुरतकर्म की सूचना देती है, क्योंकि उन पर उनके चरणों की महावर के चिह्न हैं और प्रेमावेश में चलने पर धारण किए हुए फूलों के गुच्छे वहाँ बिखरे पड़े हैं।

'मध्यम' वाक्य की उपादेयता—

पुष्टार्थ (सुन्दर अर्थ) से विभूषित मध्यम वाक्य की भी रचना आदर-सहित करनी चाहिए। इससे विपरीत [अपुष्टार्थ वाक्य ऐसा आदर का पात्र] नहीं होता। जैसे गामभ्याज—इस पद में न तो कोई शब्दार्थगत दोष है और न ही कोई अलंकार है। यह पुष्टार्थ भी नहीं है। अतः न इसका आदर है और न अनादर। [हाँ, कथा की संधि और संहार के लिये यह उपयोगी है।] ।४६।

'देवदत्त ! गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' नमिसाधु द्वारा प्रस्तुत इस कथन का अर्थ है—हे देवदत्त ! अपने डण्डे से इस शुक्लवर्ण वाली गाय को हाँक ले जाओ। यह एक 'मध्यम' वाक्य है निरलंकार एवं निर्दोष वाक्य होने के कारण ऐसे वाक्य निस्सन्देह

पुष्टेति। मध्यममपि वाक्यं सादरं रचयेत्। किमविशेषेण नेत्याह—पुष्टो हृदयावर्जकोऽर्थ एवालंकारो यस्य तत्तथाभूतम्। एतदुक्तं भवति—यद्यपि वक्रोक्त्यादयोऽलंकारा न सन्ति तथापि तद्विवक्षितोऽर्थः सरस उत्कृष्टो वा विधेयः। यथा—

भ्रूभेदो गुणितश्चिरं नयनयोरभ्यस्तमामीलनं
रोद्धुं शिक्षितमादरेण हसितं मौनेऽभियोगः कृतः।
धैर्यं कर्तुमपि स्थिरीकृतमिदं चेतः कथंचिन्मया
बद्धो मानपरिग्रहे परिकरः सिद्धिस्तु दैवे स्थिता॥

अपिशब्दो मध्यवाक्यस्यादुष्टवाक्यमध्ये समुच्चयार्थः। अन्यालंकारविरहात्तत्र कस्यचिदनादरः स्यादिति सादरग्रहणम्। अथ किमित्यपुष्टार्थं मध्यं नाद्रियत इत्याह—यत्किंचिदित्यादि। हि यस्मादतः पुष्टार्थालंकाराद्यदन्यथान्यादृशमपुष्टार्थं तद्यत्किंचित्। नात्यादरणीयमित्यर्थः। किमिव। यथा—गामभ्याजेति। 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इत्यत्र न शब्दार्थदोषो नापि कश्चिदलंकारो न चैतत्पुष्टार्थमतोऽत्र नादरो नाप्यनादरः। विषयस्त्वस्य कथासंधिसंहारौ। यथा—'श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीम्' इत्यादि। यथा च—'इति व्याहृत्य विबुधान्विश्वयोनिस्तिरोदधे' इत्यादि॥

अथ सर्वेषामेव शब्ददोषाणां विषयविशेषे साधुत्वं दर्शयितुमाह—

अनुकरणभावमविकलमसमर्थादि स्वरूपतो गच्छन्।
न भवति दुष्टमतादृग्विपरीतक्लिष्टवर्णं च॥४७॥

काव्य नहीं है, किन्तु यदि कोई माध्यम वाक्य पुष्टार्थ-संयुक्त हो तो वह निस्सन्देह उपादेय है!

इसी प्रसंग में नमिसाधु द्वारा 'भ्रूभेदोगुणितश्चिरम्...' पद्य विचारणीय है—

मैंने कटाक्षपात पर नियन्त्रण किया है। नेत्रों को बहुत देर तक बन्द रखने का अभ्यास किया है, अपने को रोकना सीखा है, आदरपूर्वक हँसने की शिक्षा ली है, मौन का अभ्यास भी किया है, धैर्य को धारण करने के लिए चित्त को भी किसी तरह स्थिर किया है, इस प्रकार [मैंने] मान धारण की पूरी तैयारी कर ली है किन्तु इसमें सफलता-असफलता दैवाधीन है।

प्रस्तुत पद्य में नमिसाधु के अनुसार यद्यपि स्पष्टतः कोई शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार नहीं है, तो भी यह पुष्टार्थ संयुक्त होने के कारण उपादेय है, किन्तु हमारे विचार में इस प्रकार के पद्यों को मध्यम कोटि का वाक्य स्वीकार करना वांछनीय नहीं है। इसमें विरहिणी नायिका के 'मान' की तैयारी काव्यचमत्कारपूर्ण है।

सभी प्रकार के दोषों का साधुत्व

यदि [कोई पद अथवा वाक्य] पूर्णतया अनुकरण किया जा रहा हो तो चाहे वह

अनुकरणेति । असमर्थादिदोषैर्दुष्टमपि पदं वाक्यं वाविकलं परिपूर्णं स्वरूपतोऽनुक्रियमाणं दोषाय न भवति । अर्थभेदेन शब्दान्तरत्वादिति भावः । अनुचिकीर्षया प्रयुक्तमथ च प्रतिपादनायासमर्थं तदविकलग्रहणेन दुष्टमिति दर्श्यते । तथा तादृशा भिन्नस्वरूपत्वादसदृशा विपरीता दुष्टक्रमाः क्लिष्टा लुप्ता वर्णा यस्य तत्तथाविधम् । तदपि पदं न दोषाय । यथा विकटनितम्बायाः पतिमनुकुर्वाणा सखी प्राह—

'काले माषं सस्ये मासं वदति शकासं यश्च सकाशम् ।
उष्ट्रे लुम्पति रं वा षं वा तस्मै दत्ता विकटनितम्बा ॥'
इत्यादि ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतः
षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ।

असमर्थ आदि दोषों से युक्त हो, यदि उसके वर्णों का क्रम असदृश हो, अथवा विपरीत हो, अथवा वर्ण क्लिष्ट अथवा लुप्त हों, तो भी वहाँ कोई दोष नहीं होता ।४७।

विश्वनाथ का इस सम्बन्ध में सिद्धान्तकथन इस प्रकार है—

अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषता । सा० द० ७।३१

नमिसाधु ने इसी प्रसंग में अत्यन्त रोचक उदाहरण प्रस्तुत किया है—

कोई सखी 'विकटनितम्बा' के पति का अनुसरण करती हुई कहती है कि उस (वज्र मूर्ख) को विकटनितम्बा ब्याह दी गयी है जो कालवाचक 'मास' को तो 'माष' कहता है, और उड़दवाचक माष को 'मास', 'सकाश' को 'शकास' कह देता है । उष्ट्र के उच्चारण में कभी र् का लोप कर देता है, तो कभी ष् का । अर्थात् कभी 'उष्ट' कहता और कभी 'उट्र' ।

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्यहिन्दी-व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ।

सप्तमोऽध्यायः

शब्दार्थौ काव्यमित्युक्तम् । तत्र शब्दलक्षणप्रभेदालंकारदोषा अभिहिताः । इदानीमर्थस्य तान्विवक्षुराह—

अर्थः पुनरभिधावान्प्रवर्तते यस्य वाचकः शब्दः ।
तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः ॥१॥

अर्थ इति । पुनःशब्दो लक्षणविभागार्थः । वर्णसमुदायात्मकः शब्दः । अभिहितोऽर्थः पुनः । स यस्य वाचकोऽभिधायकः शब्दः प्रवर्तते । इत्यनेन त्वर्थस्य शब्दवाच्यत्वाभि-

---

सप्तम अध्याय

'शब्दार्थौ काव्यम्' इस काव्य-लक्षण के अन्तर्गत 'शब्द' पर प्रकाश डालने के उपरान्त अब रुद्रट 'अर्थ' पर प्रकाश डालते हैं ।

इस अध्याय में अर्थ का लक्षण और वाचक शब्द के चार भेदों—द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति के निरूपण के उपरान्त अर्थालंकारों के चार वर्गों—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष का उल्लेख किया गया है, तथा वास्तव-गत २२ अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं ।

अर्थ का लक्षण और वाचक शब्द के भेद

अर्थ अभिधावान् होता है । इसका वाचक (कोई-न-कोई) शब्द होता है । इस वाचक शब्द के चार भेद हैं—द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति ।१।

शब्दशक्तियाँ तीन स्वीकार की गयी हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना । इन्हीं के आधार पर शब्द के तीन रूप स्वीकार किये जाते हैं—वाचक, लक्ष्यक और व्यञ्जक । ये तीनों शब्द के रूप हैं, इसके प्रकार अथवा भेद नहीं हैं, क्योंकि एक ही शब्द अपनी शक्ति के अनुसार—कभी केवल वाचक कहाता है, कभी वाचक और लक्ष्यक दोनों और कभी वाचक, लक्ष्यक और व्यञ्जक तीनों ।

रुद्रट के इस प्रसंग में केवल वाचक की चर्चा है । अतः यहाँ हमारा विवेच्य केवल वाचक शब्द है । इसके स्वरूप एवं विभिन्न भेदों की चर्चा प्रस्तुत है :

वाचक शब्द का सम्बन्ध अभिधा शक्ति के साथ है । अभिधा शक्ति वाच्य अर्थ का निर्देश करती है । इस शक्ति के द्वारा वाच्य अर्थ को बताने वाला शब्द वाचक कहलाता है । मम्मट के कथनानुसार जो साक्षात् संकेतित अर्थ को बताता है, उसे वाचक शब्द कहते हैं—

धानेन शब्दार्थयोर्भिन्नत्वं वाच्यवाचकभावश्च दर्शितो भवति। श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो हि शब्दः। तदन्येन्द्रियग्राह्यस्त्वर्थः। शब्दे चोच्चारिते सत्यर्थः प्रतीयत इति। तथा शब्दार्थौ काव्यमित्युक्तम्, अतश्चक्षुर्निकोचनमूर्धकम्पाङ्गुलिदर्शनादिप्रतिपादितार्थस्य काव्यत्व-निवृत्त्यर्थं प्रवर्तते यस्य वाचकः शब्द इत्युक्तम्। वाचकस्यापि वाच्यसिद्ध्यर्थं विशेषण-माह—अभिधा प्रतीतिः सा विद्यते यस्य स तथा। ध्वनौ हि प्रतीयमानार्थसंभव इति। प्रतीतिश्च यस्य यो विद्यमानस्तेन यः सन्सोऽर्थः। यस्तु न विद्यते तत्र प्रतीत्यभावान्ना-सावर्थ इत्युक्तं भवति। लक्षणमभिधाय प्रभेदानाह—तस्येत्यादि। इति परिसमाप्त्यर्थः। तस्यार्थस्यैतावत एव द्रव्यगुणक्रियाजातिलक्षणाश्चत्वारः प्रभेदाः॥

साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। का० प्र० २।६

वाचक शब्द के सम्बन्ध में मम्मट-प्रस्तुत शास्त्रीय चर्चा पर आधारित निम्नोक्त तथ्य उल्लेखनीय हैं। इनसे विषय के स्पष्टीकरण में सहायता मिलेगी—

(क) प्रत्येक उच्चरित नाद तब तक 'शब्द' (वाचक शब्द) कहाने का अधिकारी नहीं बनता, जब तक वह किसी 'संकेत' का ग्रहण नहीं करता, परिणामतः इस नाद अर्थात् ध्वनि-मात्र से किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती। उदाहरणार्थ—'गृह' शब्द हमारे लिए सार्थक होता हुआ भी भारतीय भाषाओं से अनभिज्ञ किसी विदेशी व्यक्ति के लिए शब्द-विशेष न होकर 'नाद' मात्र है।

(ख) हाँ, जब वह नाद किसी संकेत का ग्रहण करता है तब वह किसी अर्थ-विशेष का प्रतिपादन करता है, और तभी वह नाद 'शब्द' कहलाने का अधिकारी बनता है।

(ग) जिस शब्द से व्यवधान के बिना जिस अर्थ का संकेत-ग्रहण होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहाता है—

इहाऽगृहीतसंकेतस्य शब्दस्याऽर्थप्रतीतेरभावात् संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयति इति यस्य यत्राऽव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचकः।

—का० प्र० २।७ वृत्ति

निष्कर्षतः वाचक वह शब्द कहलाता है जिसके द्वारा किसी अर्थ-विशेष का संकेत-ग्रहण सदा और एक-समान हो सके। यहाँ 'श्लिष्ट' शब्दों के सम्बन्ध में शंका की जा सकती है कि वे एक-समान अर्थ के वाचक सदा नहीं होते, वे विभिन्न अर्थों के वाचक होते हैं। किन्तु यह शंका ही निर्मूल है। **'एकः शब्दः एकार्थवाचकः', 'एकः शब्दः सकृद् एकमेवार्थं गमयते'** इस नियम के अनुसार श्लिष्ट शब्द भी प्रसंगानुसार एक समय में केवल एक ही शब्द के वाचक होते हैं—एक साथ दो-दो, तीन-तीन आदि अर्थों के वाचक नहीं होते। अस्तु!

तेषां च यथोद्देशं लक्षणं वाच्यमिति कृत्वा द्रव्यस्य तावदाह—

जातिक्रियागुणानां पृथगाधारोऽत्र मूर्तिमद् द्रव्यम् ।
दिक्कालाकाशादि तु नीरूपमविक्रियं भवति ।।२।।

जातीति । अत्रैतेषु मध्ये द्रव्यं मूर्तिमदिन्द्रियग्राह्यमुच्यते । गुणस्य द्रव्यत्व-निवृत्त्यर्थमाह—पृथक्प्रत्येकं जातिगुणक्रियाणामाधार आश्रयः । जात्यादयो हि न कदाचिदपि द्रव्यं विना भवन्तीति पृथग्ग्रहणं तु केवलानामपि जात्यादीनामाधारत्वे द्रव्यत्व-

---

रुद्रट ने वाचक शब्द के उक्त चार भेद गिनाये हैं । इन्हीं का उल्लेख कर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी [वाचक] शब्द के चार भेद गिनाये थे—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा : **चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः** (महाभाष्य द्वितीय आह्निक, 'ऋलृक' सूत्र-प्रसंग) । वाचक के चार भेदों का उल्लेख रुद्रट के अतिरिक्त मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी किया है । मम्मट ने तो यही भेद स्वीकार किये हैं, किन्तु रुद्रट और विश्वनाथ ने 'यदृच्छा' के स्थान पर 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग किया है ।

द्रव्य

द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति में द्रव्य मूर्तिमान् है । जाति, गुण और क्रिया प्रत्येक का पृथक्-पृथक् आधार है । दिशा, काल, आकाश आदि [भी द्रव्य हैं, यद्यपि ये] नीरूप अर्थात् अमूर्त हैं और इसी कारण वे अविकारी हैं ।२।

द्रव्य मूर्त पदार्थ को कहते हैं, अर्थात् ये द्रव्य इन्द्रिय-ग्राह्य होते हैं । हमारी इन्द्रियाँ इन द्रव्यों को छू, देख, सुन और सूँघ सकती हैं । इसके विपरीत जाति, गुण और क्रिया ये सभी मूर्त नहीं होते, तथा इनका आधार कोई-न-कोई द्रव्य होता है । प्रत्येक द्रव्य में इनमें से प्रथम दो अथवा तीनों विद्यमान रहते हैं, किन्तु यह सदा आवश्यक नहीं कि किसी द्रव्य में ये तीनों ही विद्यमान हों । उदाहरणार्थ—पाषाण में पाषाणत्व जाति और श्वेत, रक्त अथवा श्याम वर्ण गुण तो विद्यमान है, पर उसमें कोई क्रिया विद्यमान नहीं है, वह सदा निश्चल रहता है । किन्तु फिर भी इसे द्रव्य ही कहेंगे । इन सभी मूर्तिमान् द्रव्यों में विकार अर्थात् परिवर्तन हो सकता है ।

केवल मूर्त पदार्थ ही द्रव्य कहलाते हैं—वस्तुतः यह परिभाषा अव्याप्त है । कुछ ऐसे पदार्थ भी हैं जो द्रव्य तो हैं पर वे मूर्त नहीं होते, जैसे दिशा, काल, आकाश आत्मा, मन आदि । इसके अतिरिक्त इनके आकार-प्रकार में किसी तरह का विकार अर्थात् परिवर्तन भी नहीं होता ।

अतः द्रव्य की परिभाषा वही होनी चाहिए जो आज हम 'संज्ञा' की करते हैं कि जिससे किसी व्यक्ति, जाति अथवा भाव का बोध हो ।

प्रतिपत्त्यर्थम् । अन्यथा हि समुदितानामेव य आधारस्तदेव द्रव्यं स्यात् । ततश्च निष्क्रियत्वात्पाषाणादीनां द्रव्यत्वं न स्यात् । मूर्तिमदिति वचनाद्दिगादीनां द्रव्यत्वं न स्यात् । अथ चेष्यतेऽत आह—दिक्कालेत्यादि । तुः पूर्वस्माद्विशेषे । मूर्तं द्रव्यमुच्यते । दिक्कालाकाशात्ममनांसि पुनर्नीरूपाण्यपि द्रव्यमित्यर्थः । तत्र नीरूपत्वादविक्रियं भवति । मूर्तिमत्पुनः सविकारमेव ॥

अथ द्रव्यभेदानाह—

नित्यानित्यचराचरसचेतनाचेतनैर्बहुभिः ।
भेदैर्विभिन्नमेतद् द्विधा द्विधा भूरिशो भवति ॥३॥

अगली कारिका में द्रव्य के भेद बताये गये हैं, जिनसे इस कथन की पुष्टि होती है।

द्रव्य के भेद—

नित्य और अनित्य, चर और अचर, चेतन और अचेतन, स्थलज और जलज आदि दो-दो भेदों से द्रव्य के अनन्त भेद हो जाते हैं।३।

नित्य—परमात्मा, आत्मा और प्रकृति अथवा परमात्मा और आत्मा। अनित्य—मानवकृत सभी पदार्थ गृह, घट, पट आदि। चर और चेतन—चलने-फिरने वाले प्राणी। अचर और अचेतन—जड़ पदार्थ। [किन्तु वृक्षों को अचर—चेतन मानना चाहिए क्योंकि ये चेतन होते हुए भी 'अचर' हैं।]

'आदि' शब्द से नमिसाधु ने निम्न प्रकार के शब्द-युगल भी गिनाये हैं—

(१) सवचन और अवचन [सम्भवतः 'सवचन' से तात्पर्य है उच्चरित पदार्थ और इसके विपरीत 'अवचन' से तात्पर्य है केवल विचारापन्न पदार्थ जिन्हें अभी उच्चरित रूप नहीं मिला।]

(२) व्यक्त और अव्यक्त। इनसे तात्पर्य है कथित और अकथित अथवा दृश्यमान और अदृश्यमान पदार्थ। यदि सवचन और अवचन से कथित और अकथित अर्थ अभीष्ट है तो व्यक्त और अव्यक्त से केवल दृश्यमान और अदृश्यमान अर्थ ग्रहण करना चाहिए। व्यक्त, जैसे—सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, ग्रह आदि (दृश्यमान पदार्थ), अव्यक्त, जैसे—वायु (अदृश्यमान)।

(३) स्थूल और सूक्ष्म, जैसे—क्रमशः पार्थिव पदार्थ और परमाणु।

(४) नक्तंचर और दिवाचर, जैसे क्रमशः निशाचर (राक्षस-विशेष) और सामान्य प्राणी।

(५) स्थलज और जलज, जैसे क्रमशः मानव, पशु, पक्षी और मकर, मत्स्य आदि।

नित्येति । एतद्द्रव्यं नित्यानित्यादिभिर्भेदैर्बहुभिर्द्विधा द्विधा विभिन्नं सद् भूरिशोऽनेकशो भवति । आदिग्रहणात्सवचनावचनव्यक्ताव्यक्तस्थूलसूक्ष्मनक्तंचरदिवाचरस्थलजजलजप्रभृतयो भेदा गृह्यन्ते । बहुग्रहणमानन्त्यप्रतिपादनार्थम् । न च वाच्यं चराचरयोः सचेतनाचेतनयोश्च न विशेष इति । वृक्षादयो ह्यचरा अपि सचेतनाः ।।

द्रव्य के ही प्रसंग में 'यदृच्छा' की चर्चा करना भी अपेक्षित है । इस शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—यद् ऋच्छ्यते—गम्यते (अवगम्यते इति यावत्) इति यदृच्छा, अर्थात् जो स्वतः प्रचलित हो जाए उसे 'यदृच्छा' कहते हैं । महाभाष्यकार ने इसके उदाहरण-स्वरूप 'लृतक, ऋफिड, ऋफिड्ड, लृफिड, लृफिड्ड' शब्दों को, तथा मम्मट ने उन्हीं के अनुकरण में 'डित्थ' शब्द को प्रस्तुत किया है । ये सभी निरर्थक होते हुए भी विभिन्न व्यक्तियों के ऐसे नामों का संकेत करते हैं जो स्वतः चल पड़े हों । इधर विश्वनाथ इसी प्रसंग में एक पग और आगे बढ़े हैं । उन्होंने 'यदृच्छा' के स्थान पर 'द्रव्य' को ही स्वीकार करते हुए 'डित्थ, डवित्थ' आदि निरर्थक संज्ञाओं के अतिरिक्त 'हरिहर' आदि सार्थक संज्ञाओं को भी 'द्रव्य' के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है—

द्रव्यशब्दाः एकव्यक्तिवाचिनो हरिहर-डित्थ-डवित्थादयः ।

—सा० द० २।४ वृत्ति

इस प्रकार रुद्रट के अनुसार 'द्रव्य' शब्द से अभिप्राय है—एकव्यक्तिवाची अभिधानों को छोड़कर शेष सभी मूर्त एवं अमूर्त पदार्थ, और विश्वनाथ के अनुसार इसका अभिप्राय है—एकव्यक्तिवाची अभिधान चाहे वे निरर्थक हों अथवा सार्थक । किन्तु हमारे विचार में द्रव्य के अन्तर्गत रुद्रट और विश्वनाथ-सम्मत सभी पदार्थ अन्तर्भूत करने चाहिए—मूर्त और अमूर्त दोनों, और मूर्त द्रव्यों के अन्तर्गत न केवल जातिवाचक गृहीत होने चाहिए, अपितु व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ भी, तथा व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के अन्तर्गत निरर्थक और सार्थक दोनों प्रकार के अभिधानों का ग्रहण करना चाहिए । उदाहरणार्थ—(१) गौ, बालक, पर्वत आदि मूर्त पदार्थ; (२) डित्थ, हरिहर, हिमालय आदि मूर्त पदार्थ तथा (३) आकाश, वायु, आत्मा, मन आदि अमूर्त पदार्थ, ये सभी द्रव्य हैं । इनमें से प्रथम वर्ग के शब्द जातिवाचक हैं, द्वितीय वर्ग के व्यक्तिवाचक हैं, तथा तृतीय वर्ग के शब्दों को भी व्यक्तिवाचक मानना चाहिए, क्योंकि गौ, बालक आदि के समान ये किसी एक जाति का बोध नहीं कराते, अपितु एक ही पदार्थ का बोध कराते हैं। आकाश अंशी रूप में तो एक है ही, वायु, आत्मा और मन को भी अंशी के रूप में एक ही मानना चाहिए ।

उपर्युक्त शब्दों के अतिरिक्त अब भी कुछ ऐसे शब्द बच रहते हैं जो वक्ष्यमाण गुण, क्रिया और जाति के अन्तर्गत नहीं आते, जैसे—बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य, लावण्य,

अथ गुणाः—

द्रव्यादपृथग्भूतो भवति गुणः सततमिन्द्रियग्राह्यः ।
सहजाहार्यावस्थिकभावविशेषादयं त्रेधा ॥४॥

द्रव्यादिति । द्रव्यादपृथग्भूतो द्रव्यसमवायी गुणो भवति । जातिक्रिययोर्द्रव्यस्थत्वाद् गुणत्वं स्यादित्याह—सततमिन्द्रियग्राह्यः सर्वदैव प्रत्यक्षगम्यः । नानुमेय इत्यर्थः । जातिक्रिये तु न प्रत्यक्षगम्ये । गुणं च केचिदुत्पाद्यसहजत्वेन द्विधेति ब्रुवते तन्निरासार्थमाह—सहजेत्यादि । तत्र सहजो गुणो यथा—क्षत्रिये शौर्यम् । काके कार्ष्ण्यम् । आहार्यो यथा—शास्त्राभ्यासात्पाण्डित्यम् । पटे रागः । आवस्थिको यथा—फलानां लौहित्यम् । केशानां शौक्ल्यम् ॥

माधुर्य आदि । द्रव्य तो उक्त रूप में मूर्त और अमूर्त पदार्थों का पर्याय मान लेने की स्थिति में इन शब्दों को द्रव्य के अन्तर्गत मानना समुचित नहीं है । ये किसी-न-किसी भाव के नाम का बोध कराते हैं । अतः इनके लिए या तो एक अलग पाँचवाँ शब्द-प्रकार 'भाव' नाम से मानना पड़ेगा या द्रव्य को 'संज्ञा' का पर्याय मानते हुए द्रव्य की परिभाषा वही करनी होगी जो आधुनिक हिन्दी-व्याकरण ग्रन्थों में 'संज्ञा' की स्वीकार की जाती है—'जिससे किसी व्यक्ति, जाति अथवा भाव का बोध हो,' और इसी के यही तीन भेद—व्यक्ति, जाति और भाव मानने चाहिएँ । अधिक समुचित यह रहेगा कि द्रव्य अथवा यदृच्छा के स्थान पर 'संज्ञा' नामक शब्द-प्रकार ही स्वीकार कर लिया जाए ।

गुण

गुण द्रव्य से कभी पृथक् नहीं हो सकता तथा यह सारा इन्द्रियग्राह्य होता है । सहज, आहार्य तथा आवस्थिक भाव से इसके तीन भेद होते हैं ।४।

गुण द्रव्य पर अनिवार्यतः आधारित रहता है । इसका द्रव्य के साथ नित्य सम्बन्ध रहता है । प्रत्येक द्रव्य किसी-न-किसी गुण से अवश्य सम्पन्न होगा । गुण इन्द्रिय-ग्राह्य है । वह अनुमान का विषय नहीं है । इसके तीन भेद हैं—सहज, आहार्य तथा आवस्थिक । सहज गुण से तात्पर्य है नित्य धर्म । उदाहरणार्थ—अग्नि में उष्णता, कौए में कृष्णता आदि । आहार्य गुण कहते हैं उपलब्ध गुण को, जैसे शास्त्र के अभ्यास से पाण्डित्य अथवा वस्त्र में रंग आदि । जो गुण अवस्थानुसार परिवर्तित हो जाते हैं, उन्हें आवस्थिक गुण कहते हैं, जैसे फलों का लाल रंग, केशों की शुक्लता आदि ।

अथ क्रिया—

नित्यं क्रियानुमेया द्रव्यविकारेण भवति धात्वर्थः ।
कारकसाध्या द्वेधा सकर्मिकाकर्मिका चेति ॥५॥

नित्यमिति । धात्वर्थः क्रिया भवति । 'क्रियाभावो धातुः' इति वचनात् । सा तु न प्रत्यक्षा । किं तु द्रव्यस्य तण्डुलादेर्विकारेण वैक्लेदादिनानुमेया । गमनादिका तु देशान्तरप्राप्त्यादिनेति । सा च कारकैः कर्तृकर्मादिभिः साध्या निष्पाद्या यदुक्तम्—

सर्वकारकनिर्वर्त्या कर्तृकर्मद्वयाश्रया ।
आख्यातशब्दनिर्देश्या धात्वर्थः केवलं क्रिया ॥

क्रिया

क्रिया का अनुमान द्रव्य के विकार से होता है। यह धात्वर्थ होती है। कारकों [कर्ता, कर्म आदि] द्वारा यह निष्पन्न होती है। सकर्मिका क्रिया और अकर्मिका क्रिया ये दो इसके भेद हैं।५।

क्रिया का अनुमान द्रव्य के विकार से होता है। द्रव्य के विकार से तात्पर्य है पदार्थ की कोई चेष्टा। वही चेष्टा उसी नाम की क्रिया कहाती है। क्रिया सदा 'धात्वर्थ' होती है, अर्थात् प्रत्येक क्रिया अपनी धातु के ही मूल अर्थ से सम्बद्ध रहती है। उदाहरणार्थ—पचति, गच्छति, स्वपिति, जागर्ति आदि रूप क्रमशः पच्, गम्, स्वप् और जागृ धातुओं के अर्थों से सम्बद्ध हैं।

नमिसाधु ने क्रिया का [अन्योक्त] लक्षण 'सर्वकारकनिर्वर्त्या···' रूप में प्रस्तुत किया है, जिसका तात्पर्य है कि क्रिया धात्वर्थ होती है, अर्थात् धातु का प्रयोग (पठति, अपठत्, पिपठिषति आदि) क्रिया कहाता है। वह आख्यात शब्द से निर्दिष्ट होती है, वह कारकों से निष्पाद्य होती है तथा कर्ता और कर्म के अधीन रहती है, अर्थात् क्रिया मुख्य रूप से कर्तृवाच्य अथवा कर्मवाच्य से सम्बद्ध होती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मम्मट और विश्वनाथ ने क्रिया से तात्पर्य 'पचति, गच्छति' आदि न लेकर 'पाक, गमन' आदि लिया है। यहाँ 'पाक' आदि शब्द समग्र क्रियाकलाप के सूचक हैं: **पूर्वापरीभूताऽवयवः क्रियारूपः** (का० प्र० २य उ०), अर्थात् प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पाक-सम्बन्धी सभी प्रक्रिया। उदाहरणार्थ, भोजन-विषयक कच्ची सामग्री से पूरित पात्र को आग पर चढ़ाने से लेकर उसे नीचे उतारने तक का नाम पाक है: **अधिश्रयणाऽधःश्रयणपर्यन्तः क्रियाकलापः पाक-शब्देनोच्यते** (महाभाष्य)। इनसे पूर्व यास्क ने इसी अर्थ के लिए 'आख्यात' शब्द का प्रयोग किया था—

सापि सकर्मिकाकर्मिकात्वभेदेन द्वेधा । आद्या ग्रामं गच्छतीत्यादिका । द्वितीया आस्ते शेते इत्यादिका । नियतानियतकर्मिकात्वसमुच्चयार्थश्चशब्दः । तत्राद्या कटं करोतीति द्वितीया वहति भारम्, वहति नदी ॥

पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाऽऽचष्टे व्रजति, पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम् ।

—निरुक्त १।१।११

यद्यपि यास्क को 'आख्यात' शब्द से क्रिया के अतिरिक्त गौण रूप से द्रव्य (यदृच्छा शब्द) भी अभीष्ट है, किन्तु क्रिया की प्रधानता रहने के कारण वे आख्यात को ही भावप्रधान मानते हैं । 'भाव' शब्द यहाँ क्रिया का पर्यायवाची है :

(क) **भावप्रधानमाख्यातम् ।**

(ख) **तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः ।** (निरुक्त १।१।६,१०)

अर्थात्, (क) **आख्यायते प्रधानभावेन क्रिया (भावः), गौणत्वेन द्रव्यं च यत्र तद् आख्यातम् ।**

(ख) **वाक्ये ह्याख्यातं प्रधानं तदर्थत्वात्, गुणीभूतं नाम तदर्थस्य भावनिष्पत्तौ अङ्गभूतत्वात् ।** (निरुक्त १।१।१०, दुर्गाचार्य व्याख्या)

मम्मट के अनुसार ये दोनों रूप—'पचति' और 'पाक'—क्रिया हैं । यास्क के अनुरूप मम्मट भी क्रिया और भाव को परस्पर पर्यायवाची शब्द मानते हैं । उनका यह मन्तव्य वैयाकरणों द्वारा भी अनुमोदित है—**धात्वर्थो हि क्रिया ज्ञेयो भाव इत्यभिधीयते** । (वाक्यपदीय) अस्तु ! ये दोनों रूप क्रिया अथवा भाव कहाते हैं ।

मम्मट ने भाव के दो प्रकार गिनाये हैं—सिद्धावस्थापन्नभाव और साध्यावस्थापन्न भाव । पच् धातु से निर्मित 'पाक' शब्द को उन्होंने सिद्धावस्थापन्न भाव कहा है, और 'पचति' को साध्यावस्थापन्न भाव । इधर साध्य को उन्होंने गुण अर्थात् विशेषण का पर्याय माना है । मम्मट के अनुसार 'पचति' को इस आधार पर साध्य (गुण) मानना चाहिए कि 'पचति' शब्द स्वयं एक विशेषण है, क्योंकि इसमें प्रयुक्त 'ति' प्रत्यय पच् धातु का विशेषण है । 'पचति' का अर्थ है एककर्तृक वर्तमानकालिक पाक । इस प्रकार मम्मट आदि के विचार में 'पाक' और 'पचति' आदि दोनों प्रकार के रूप क्रिया (भाव) हैं—एक सिद्ध है और दूसरा साध्य ।

किन्तु इस सम्बन्ध में हमारा विचार है कि यद्यपि 'पाक, गमन' आदि शब्दों में क्रिया का—या यों कहिए भाव का—अंश निहित है, तो भी विषय के स्पष्टीकरण के लिए इसे क्रिया नहीं कहना चाहिए । इन्हें आधुनिक हिन्दी-व्याकरणों के अनुरूप 'भाव', और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो भाववाचक संज्ञा, कहना चाहिए, तथा 'पचति, गच्छति' आदि रूपों को ही क्रिया नाम से अभिहित करना चाहिए ।

शेष रहा 'आख्यात' का प्रश्न । जैसा कि ऊपर लिख आये हैं 'आख्यात' से

अथ जातिः—

भिन्नक्रियागुणेष्वपि बहुषु द्रव्येषु चित्रगात्रेषु ।
एकाकारा बुद्धिर्भवति यतः सा भवेज्जातिः ॥६॥

यास्क के अनुसार दोनों रूप ग्रहण किये जाते हैं—प्रधान रूप से क्रिया, और गौण रूप से द्रव्य (अर्थात् कर्ता) । इसका कारण यह है कि 'पचति' कहने से अर्थावबोध तो होता ही है, साथ ही क्रिया की प्रधानता और द्रव्य (कर्त्ता) की गौणता भी लक्षित होती है, किन्तु इसके विपरीत 'रामः' अथवा 'असौ' आदि द्रव्यवाचक (संज्ञा अथवा सर्वनामवाचक) शब्दों के कहने से अर्थावबोध तक नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें क्रिया समाविष्ट नहीं है । इस प्रकार इन दो उदाहरणों के आधार पर कह सकते हैं कि अकेले द्रव्यवाचक शब्दों में अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं होती, जबकि अकेले क्रिया-वाचक शब्दों में यह क्षमता होती है । इसी आधार पर यह फलित माना जाता है कि 'पचति, गच्छति' आदि शब्दों में क्रिया की प्रधानता माननी चाहिए, और द्रव्य की गौणता । ठीक इसी प्रकार 'पाक, गमन' आदि शब्दों को भी आख्यात कह सकते हैं, क्योंकि इनसे क्रिया की प्रतीति तो होती है, साथ ही 'पकाने वाला, जाने वाला' आदि कर्त्ताओं की ओर भी अनायास ध्यान चला जाता है । अस्तु !

निष्कर्षतः यास्क के अनुसार यद्यपि आख्यात से तात्पर्य है—प्रधान रूप से क्रिया (अथवा भाव) और गौण रूप से द्रव्य, जैसे पचति और पाक । किन्तु फिर भी विषय के सुगम अवबोध के लिए 'पचति' को क्रिया कहना चाहिए, और 'पाक' को भाववाचक संज्ञा । यास्क, मम्मट आदि के अनुसार क्रिया और भाव शब्द पर्यायवाची हैं, किन्तु आज इनका प्रचलित अर्थ भिन्न-भिन्न है ।

जाति

भिन्न क्रिया और गुण वाले [होने के कारण] अनेक प्रकार के शरीर वाले भी बहुत से द्रव्यों में जिस तत्त्व के कारण समान बुद्धि पैदा होती है उसे जाति कहते हैं ।६।

कई बालकों अथवा गौओं अथवा पर्वतों में गुण और अथवा क्रिया के कारण यद्यपि विभिन्नता रहती है, तो भी इनमें एक तत्त्व (तथ्य) समान है, वह है इनकी बालकत्व जाति, गोत्व जाति अथवा पर्वतत्व जाति, जिसके कारण ये इन्हीं नामों से पुकारे जाते हैं । इसी तथ्य को मम्मट ने दूसरे प्रकार से कहा है—'गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्द वस्तुतः होते तो एक हैं, किन्तु आश्रय-भेद से इनमें भेद प्रतीत होता है । उदाहरणार्थ, एक ही मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण, तेल आदि में भिन्न-भिन्न रूप से दिखाई देता है :

भिन्नेति । बहुषु द्रव्येषु यतो यद्वशादेकाकारा समाना बुद्धिर्भवति सा जातिर्भवेदिति । कदाचित्समानगुणक्रियायोगात्सा बुद्धिर्भवेदित्याह—भिन्नेत्यादि । भिन्नौ विलक्षणौ क्रियागुणौ येषु तेष्वपि । कदाचिदत्यन्तमवयवसादृश्याद्वा सा स्यादित्याह—चित्रगात्रेष्विति । चित्रं नानारूपं काणकृशकुब्जादिकं गात्रं येषां तेषु । सा च जातिस्त्रिष्वपि द्रव्यक्रियागुणेषु समवेतेति त्र्याश्रया ॥

गुणक्रियायदृच्छाशब्दानां वस्तुतः एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते । यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात् । (का० प्र० २।१० वृत्ति) और यही तथ्य भर्तृहरि ने अपनी विशिष्ट शैली में निम्न शब्दों में प्रकट किया है—किसी पशु को जो स्वरूप से गौ है यह नहीं कह सकते कि 'वह गौ है,' और न यह कह सकते हैं कि 'वह गौ नहीं है ।' फिर भी यदि उसे 'गौ कहते हैं' तो उसमें [संकेतित] गोत्व जाति के ही सम्बन्ध से—

न हि गौः स्वरूपेण गौः नाप्यगौः । गोत्वाऽभिसम्बन्धात्तु गौः । (वाक्यपदीय)

'जाति' के प्रसंग में एक अन्य चर्चा भी विचारणीय है । मम्मट और विश्वनाथ ने कुछ विद्वानों का मन्तव्य उल्लिखित करते हुए कहा है कि वे विद्वान् संकेतित (वाचक) शब्द के उक्त चार भेद—गुण, क्रिया, द्रव्य और जाति—न मानकर केवल एक भेद स्वीकार करते हैं 'जाति'—**संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा** (का० प्र० १।१०) । इस सम्बन्ध में उनका तर्क यह है कि जाति तो 'जाति' है ही, गुण, क्रिया और द्रव्य इन तीनों में भी 'जाति' की ही सत्ता विद्यमान है । उदाहरणार्थ —

१. हिम, दुग्ध, शंख आदि का शुक्ल वर्ण (अर्थात् गुण) मूलतः भिन्न-भिन्न है, तो भी ये शुक्ल कहाते हैं, क्योंकि इन सब में 'शुक्लत्व' जाति विद्यमान है ।

२. इसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि या पाक (अर्थात् क्रिया) यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है तो भी 'पाकत्व' जाति के ही कारण ये सभी भिन्न विधियाँ 'पाक' कहलाती हैं ।

३. अब शब्द के तीसरे भेद द्रव्य को लीजिए । इस प्रसंग में तीन तथ्य अवेक्षणीय हैं :

(क) यदि किसी एक बालक, एक वृद्ध और एक तोते द्वारा उच्चरित किसी व्यक्ति का 'डित्थ' नाम इनके उच्चारणों में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है,

(ख) यदि स्वयं डित्थ नामक कोई व्यक्ति क्षण-क्षण में परिवर्तित होते रहने पर भी 'डित्थ' नाम से ही पुकारा जाता है, और

(ग) यदि 'डित्थ' नाम के अनेक व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी इसी एक नाम से पुकारे जाते हैं[1]—

---

१. इस तथ्य को मम्मट ने प्रस्तुत नहीं किया ।

—तो इसका एकमात्र कारण 'डित्थत्व' जाति ही है। इसी प्रकार स्वयं जातिवाचक बालक, गौ आदि शब्दों की भी यही स्थिति है। अनेक बालक अथवा गौएँ परस्पर भिन्न होते हुए भी यदि बालक, गौ आदि ही कहाते हैं तो इसका कारण भी बालकत्व और गोत्व आदि जाति ही है। अतः संसार-भर के सभी संकेतित शब्द केवल 'जाति' नाम से ही पुकारे जाने चाहिएँ; द्रव्य, गुण और क्रिया नाम से नहीं।

निस्सन्देह इन तर्कों में सूक्ष्मता है, और इन्हीं पर आधारित उक्त मान्यता नितान्त अस्वीकार भी नहीं की जा सकती, किन्तु फिर भी यह मान्यता व्यावहारिक न होने के कारण मनस्तोषक नहीं है, क्योंकि यदि सभी प्रकार के शब्दों को 'जाति' नाम से पुकारा जाएगा तो फिर वाचक शब्दों का वर्गीकरण करने से क्या लाभ ? तब तो वाचक (संकेतित) शब्द और जाति को पर्यायवाची ही मान लेना चाहिए। किन्तु व्यवहार एवं सुविधा दोनों दृष्टियों से संसार भर के वाचक शब्दों का वर्गीकरण करना अत्यन्त अनिवार्य है, विशेषतः तभी जबकि भारतीय प्रज्ञा इस दिशा में अत्यन्त जागरूक एवं दक्ष है, और इस जागरूकता तथा दक्षता का प्रमाण यह है कि भारतीय आचार्यों ने प्रायः सभी शास्त्रीय प्रसंगों को अनेक भेदों-उपभेदों, रूपों-उपरूपों में वर्गीकृत एवं विभाजित किया है।

उक्त रूप में जाति-सम्बन्धी शास्त्रीय चर्चा प्रस्तुत करने के उपरान्त एक शंका उत्पन्न होती है कि शब्द-विभाजन-प्रसंग में इस शास्त्रीय 'जाति' की आवश्यकता है भी। यदि 'जाति' से तात्पर्य 'बालकत्व, गोत्व' आदि है तब तो उसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपने इसी पारिभाषिक अर्थ के सूचक ये शब्द व्यावहारिक भाषा में प्रयुक्त नहीं होते, और इसी प्रकार की शास्त्रीय चर्चाओं में जब ये 'बालकत्व, गोत्व' आदि शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं तो वस्तुतः ये 'बालक, गो' आदि द्रव्यों के भाव हैं—भाव से यहाँ तात्पर्य वही है जो उपर्युक्त 'भाववाचक' संज्ञा के 'भाव' शब्द का है, अर्थात् 'एब्स्ट्रैक्ट'। और यदि 'जाति' से तात्पर्य 'बालक, गो' आदि शब्दों से ही है, तो फिर इनका अन्तर्भाव द्रव्य (अथवा संज्ञा) में किया जाना चाहिए। हमारा विचार है कि जाति नामक शब्द-प्रकार स्वतन्त्र रूप से स्वीकार न किया जाकर इसे द्रव्य (संज्ञा) का ही एक भेद मान लेना चाहिए, क्योंकि पतञ्जलि, मम्मट आदि की 'जाति' वस्तुतः द्रव्य की—'जातिवाचक संज्ञाओं'—की निर्णायक आधार ही है, स्वयं कोई स्वतन्त्र शब्द-प्रकार नहीं है। अस्तु !

इस प्रकार वाचक शब्द के शेष तीन प्रकार स्वीकार कर लेने के उपरान्त 'अव्यय' शब्द बच रहते हैं। हमारा विचार है कि वाचक शब्द के जितने वर्ग (और उनके भेद-उपभेद) बन सकें उनमें इसे विभक्त कर देना चाहिए। इस दृष्टि से आधु-

अथासामेव द्रव्यगुणक्रियाजातीनामन्यथात्वनियममाह—

सर्वः स्वं स्वं रूपं धत्तेऽर्थो देशकालनियमं च ।
तं च न खलु बध्नीयान्निष्कारणमन्यथातिरसात् ॥७॥

सर्व इति । सर्वोऽर्थो द्रव्यगुणक्रियाजातिलक्षणः स्वं स्वमात्मीयं स्वभावं देशकालनियमं च धत्ते । नियते क्वापि देशे काले च नियताकारश्चार्थो भवतीत्यर्थः । ततः किमित्याह—तं चेत्यादि । चशब्दो हेतौ । खल्ववधारणे । ततः कारणात्तमर्थमन्यथा नैव बध्नीयादित्यर्थः । तत्र ये नित्या भावास्तेषां वर्तमानेन निर्देशो न्याय्यः । अतीतानां तु भूतेन । अनागतानां भविष्यत्कालेन । एवं चराचरसचेतनाचेतनादिषु द्रष्टव्यम् । देशकालनियमश्च यथा—हिमवति हिमस्य सदा सद्भावोऽन्यत्र तु शीतकाले । एवमन्यदपि । निष्कारणग्रहणं कारणसद्भावेऽन्यथात्वस्यादुष्टत्वख्यापनार्थम् । यथा शुकसारिकादीनां व्यक्तवचनत्वे मनुष्यप्रयत्नः कारणमिति । कुतः पुनर्निष्कारणस्यान्यथाभिधान-

---

निक हिन्दी-व्याकरणों के वाचक शब्द के निम्नोक्त छः भेद अत्यन्त उपादेय हैं—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रियाविशेषण और अव्यय । हाँ, यदि चाहें तो संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण को यास्क के अनुसार पहले केवल 'नाम' भी कह सकते हैं—

सत्त्वप्रधानानि नामानि । (निरुक्त १।१।६)

[लिंगसंख्ययोरत्र सद्भावः इति सत्त्वम् । प्रकृतिः, प्रत्ययः, विभक्तिरिति त्रेधा विभज्जमानम् एतावदेवैतन्नाम ।]—दुर्गाचार्य व्याख्या

अर्थात्, लिंग और संख्या तथा विभक्ति ये तीनों एकत्र संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण से सम्बद्ध रहते हैं, क्रिया से नहीं ।

वाचक शब्दों का यथावत् प्रयोग

यह सब अर्थ अपने-अपने रूप को तथा देशकाल के नियम को धारण करता है । इसका निष्कारण प्रयोग नहीं करना चाहिए । इनका अन्यथा (कारण-विहीन, अनर्गल, निरर्थक) प्रयोग अतिरस के कारण होता है ।७।

यहाँ 'सब अर्थ' से तात्पर्य है अर्थ के चारों-के-चारों रूप द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति । इस कारिका का अभिप्राय यह है कि इन चारों रूपों का प्रयोग अपने-अपने रूप के अनुसार तथा देश, काल के अनुसार करना चाहिए । जैसे—जो नित्य प्रसंग हैं उनका निर्देश वर्तमान काल में करना चाहिए । (यथा पृथ्वी वर्तुलाकार है, आदि) और जो अनित्य हैं तो अतीत से सम्बन्ध होने पर उनका निर्देश भूतकाल से करना चाहिए और भविष्य से सम्बन्ध होने पर भविष्यत्काल से । इसी प्रकार देश-काल विषयक नियम भी जानने चाहिएँ । जैसे हिमालय पर सदा हिम की विद्यमानता होती है, शेष स्थानों पर केवल शीतकाल में ही । अतः इस नियम को ध्यान में रखकर ही

प्रसङ्ग इत्याह—अतिरसादिति । अतिरसहृतहृदयानां हि प्रायशो मर्यादोल्लङ्घनमपि भवति । एतदुक्तम्—

गणयन्ति नापशब्दं न वृत्तभङ्गं क्षयं न वार्थस्य ।
रसिकत्वेनाकुलिता वेश्यापतयः कुकवयश्च ॥

यद्यन्यथात्वं निवार्यते तर्हि कथं दिगाकाशादिष्वमूर्तेषु मूर्तधर्माः कविभिर्वर्ण्यन्ते । यथा—निर्मला दिशः । निर्मलं नभ इति ।

तथा विचेतनेषु सचेतनधर्मा इत्याह—

सुकविपरम्परया चिरमविगीततयान्यथा निबद्धं यत् ।
वस्तु तदन्यादृशमपि बध्नीयात्तत्प्रसिद्धयैव ॥८॥

सुकवीति । पूर्वसुकवीनां परम्परया समूहेन चिरं बहुपूर्वकालेऽविगीततयाविगानेन निर्दोषतयेति यावत् यद्वस्त्वन्यथा निबद्धं तदन्यादृशमपि तत्प्रसिद्ध्येव बध्नीयात् । न त्वात्मबलेन । महाकविप्रसिद्धिरेवात्र प्रमाणमित्यर्थः ॥

रचना करनी चाहिए । यदि कहीं कथा-प्रसंग से इन नियमों का भंग करना पड़ जाए तो वहाँ कारण उपस्थित कर देना चाहिए, जैसे—शुकसारिका आदि द्वारा मानव-वाणी का प्रयोग कराना हो तो इसका कारण मानव-प्रयत्न को देना चाहिए अथवा यह बताना चाहिए कि यह पूर्वजन्म में मानव था ।

'अतिरसात्' शब्द की व्याख्या में नमिसाधु ने 'गणयन्ति नापशब्दम्...' यह कथन उद्धृत किया है कि तथा कुकवि (अप्रवीण कवि) और वेश्यासक्तजन न अपशब्द (सदोष प्रयोग, पक्षे—गालियों) की चिन्ता करते हैं, न छन्दोभङ्ग (पक्षे—नियमभंग) की, और न अर्थक्षय (पक्षे—धनहानि) की, क्योंकि वे रसिकता से आकुल होते हैं ।

नमिसाधु का तात्पर्य यह है कि इन व्यक्तियों द्वारा अतिरसिकता के कारण बोलते समय अर्थहीनता की भी चिन्ता नहीं की जाती, किन्तु इस प्रकार के प्रयोग लोक और काव्य दोनों में स्वाभाविक, अतएव ग्राह्य ही समझने चाहिएँ । वस्तुतः प्रसंगानुसार ऐसे प्रयोग करना समुचित ही माना जाता है, और 'अतिरसता' (अतिरसिकता) भी निस्सन्देह प्रसंग ही है । हाँ, प्रसंग-विहीन ऐसे प्रयोग निस्सन्देह दोषसूचक हैं ।

परम्परापुष्ट विपरीत-वर्णन भी मान्य

यदि किसी विषय-वस्तु का विपरीत-वर्णन इस आधार पर किया गया हो कि सुकवियों ने इसे चिरपरम्परा से अविगीत (निर्दोष) माना हुआ है तो वह इस प्रकार का [विपरीत] वर्णन भी प्रसिद्धि के कारण सुबद्ध कर लेना चाहिए ।८।

उदाहरणार्थ, कविजन दिशा, आकाश आदि अमूर्त पदार्थों का वर्णन भी मूर्त पदार्थों के अनुरूप करते चले आये हैं । जैसे—निर्मल दिशाएँ, निर्मल आकाश आदि ।

सप्रभेदमर्थमभिधाय सांप्रतं तदलंकारानाह—

अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः ॥९॥

अर्थस्येति। उक्तलक्षणस्यार्थस्य वास्तवादयश्चत्वारोऽलंकारा भवन्ति। चतुर्भिः प्रकारैरसौ भूष्यत इत्यर्थः। नन्वन्येऽपि रूपकादयोऽलंकाराः सन्ति तत्किमिति चत्वार एवोक्ता इत्याह—एषामेवेत्यादि। तुर्हेतौ। एषामेव सामान्यभूतानां चतुर्णां ते भेदा यतस्ततो मूलभेदत्वेन नोक्ता इत्यर्थः॥

ऐसे प्रसंग 'कविसमय-ख्याति' कहाते हैं : **निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषतां नैव गच्छति।** ख्यात अर्थात् कवियों द्वारा स्वीकृत अर्थ में निर्हेतुता दोष स्वीकार नहीं किया जाता। [विशेष विवरण के लिए देखिए साहित्यदर्पण ७।२२-२५]

अलंकारों का वर्गीकरण

वास्तव, औपम्य (उपमा), अतिशय और श्लेष—ये चारों अर्थ के अलंकार हैं। अलंकारों के शेष भेद इन्हीं मूलभूत चार अलंकारों के विभिन्न प्रकार हैं।९।

रुद्रट ने उपर्युक्त कारिका में अलंकारों को चार वर्गों में विभक्त किया है—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। इनका यह वर्गीकरण अपने प्रकार का नवीन एवं मौलिक प्रयास है। इनसे पूर्व यह प्रयास भामह, दण्डी और उद्भट ने भी किया था, किन्तु उनका वर्गीकरण अत्यन्त सामान्य कोटि का था।

सामान्यतः अलंकार को वाणी का उच्छ्वास कहा जाता है। वाणी का यह उच्छ्वास विविध प्रकार का होने से अलंकारों की संख्या का निश्चय और उसका समुचित वर्गीकरण करना प्रायः असम्भव ही है। दण्डी का यह कथन—**ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।** (का० द० २/१) अलंकार की व्यापकता का द्योतक है। इसी प्रकार आनन्दवर्द्धन भी इसी ओर संकेत करते हैं—

यश्चायमुपमाश्लेषादिरलंकारमार्गः प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्यादुपनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिर्वर्धते पुनः शतशाखताम्। (ध्वन्यालोक ४।७ वृत्ति)

अर्थात् यह जो उपमा तथा श्लेष आदि का प्रसिद्ध अलंकार-मार्ग है, वह कथन की विचित्र-योजना से स्वयं सैकड़ों असीम शाखाओं में विस्तृत होता है।

किन्तु फिर भी अनेक आचार्यों ने शास्त्रीय निर्वाह के लिये अलंकारों के वर्गीकरण का प्रयास किया है। रुद्रट से पूर्व भामह ने वाणी के समग्र व्यापार को दो वर्गों में विभक्त किया है—वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति। उन्होंने 'वक्रोक्ति' को काव्य-चमत्कार को बीज माना और स्वभावोक्ति को 'वार्ता' मात्र कहा। दण्डी ने समस्त वाङ्मय को भामह-सम्मत उक्त दोनों वर्गों में विभक्त करते हुए भी स्वभावोक्ति के प्रति

अपना समादर प्रकट किया और उसे एक अलंकार स्वीकार करते हुए अलंकारों में प्रथम स्थान दिया ।

इनके उपरान्त बहुत आगे चलकर आचार्य भोजराज ने वाङ्मय को तीन वर्गों में विभक्त किया—वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति (स०क०भ०) । स्पष्ट है कि यह वर्गीकरण अलंकारों का न होकर समस्त वाङ्मय का है । अलंकारों को सर्व-प्रथम वर्गीकृत करने का प्रयास उद्‌भट के 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में मिलता है । उन्होंने इस ग्रन्थ को निम्नोक्त छः वर्गों में विभक्त किया है—

प्रथम वर्ग—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा । (८ अलंकार)

द्वितीय वर्ग—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति । (६ अलंकार)

तृतीय वर्ग—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति । (३ अलंकार)

चतुर्थ वर्ग—प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट । (७ अलंकार)

पञ्चम वर्ग—अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति । (११ अलंकार)

षष्ठ वर्ग—सन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग, दृष्टान्त । (६ अलंकार)

इन में चतुर्थ वर्ग को छोड़कर शेष वर्गों के अलंकारों में कोई आधार-साम्य लक्षित नहीं होता, जिसके बल पर उन्हें पृथक् वर्गों में रखने का कारण बताया जा सके । चतुर्थ वर्ग में भी प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वी और समाहित के अतिरिक्त उदात्त और पर्यायोक्ति अलंकारों को विषय-साम्य के आधार पर एक साथ रखा जाना युक्ति-संगत प्रतीत होता है । पर इसी वर्ग में ही श्लेष अलंकार को स्थान देने का कारण समझ में नहीं आता । इस प्रकार उद्‌भट के इस वर्गीकरण का महत्त्व केवल ऐति-हासिक ही है । परवर्ती आचार्यों ने न तो इसे अपनाया है और न इसका आधार ग्रहण किया है ।

अलंकारों को सर्वप्रम यथासम्भव व्यवस्थित रूप में वर्गीकृत करने का श्रेय आचार्य रुद्रट् को ही है । उनकी अलंकार-संख्या उस समय तक के सभी आचार्यों से अधिक है । उन्होंने सर्वप्रथम अलंकारों के मूलतत्त्वों पर विचार करते हुए स्व-निरूपित अर्थालंकारों को उक्त चार वर्गों में विभक्त किया है । वस्तुस्वरूप-कथन को 'वास्तव' कहते हैं । सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य आदि अलंकार वस्तुगत हैं । उपमेय और उपमान की समानता का नाम 'औपम्य' है । उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलं-

कार इसके अन्तर्गत हैं। अर्थ और धर्म के नियमों के विपर्यय को 'अतिशय' कहते हैं। पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना आदि अतिशयगत अलंकार कहाते हैं। अनेकार्थता का नाम 'श्लेष' है। अविशेष, विरोध, अधिक आदि श्लिष्ट अलंकार हैं।

रुद्रट ने कुछ अलंकारों को दो-दो वर्गों में भी रखा है। जैसे उत्तर और समुच्चय अलंकार वास्तवगत भी हैं और औपम्यगत भी; विरोध और अधिक अतिशयगत भी हैं और श्लेषगत भी; उत्प्रेक्षा औपम्यगत भी है और अतिशयगत भी। विषम वास्तवगत भी है और अतिशयगत भी।

रुद्रट् के पश्चात् रुय्यक ने अलंकारों का वर्गीकरण किया। 'एकावली' के कर्ता विद्याधर ने रुय्यक का प्रायः अनुकरण किया। एकावली की तरल टीका के कर्ता मल्लिनाथ ने रुय्यक और विद्याधर के वर्गीकरण का विशेष रूप से स्पष्टीकरण करते हुए पाठकों के लिए उसे सुबोध रूप दे दिया। मल्लिनाथ के अनुसार उक्त आचार्यद्वय का वर्गीकरण इस प्रकार है—

१. सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग—

(क) भेदाभेदप्रधान—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण।

(ख) अभेदप्रधान—(अ) आरोपमूला—रूपक, परिणाम, सन्देह आदि।
(आ) अध्यवसायमूला—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति।

२. औपम्यगर्भ अलंकार वर्ग—

(क) पदार्थगत—तुल्ययोगिता और दीपक।

(ख) वाक्यार्थगत—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना।

(ग) भेदप्रधान—व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति।

(घ) विशेषणविच्छित्ति—समासोक्ति, परिकर।

(ङ) विशेष्यविच्छित्ति—परिकरांकुर।

(च) विशेषण-विशेष्यविच्छित्ति—श्लेष।

(छ) समासोक्ति से विपरीत होने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा को; अर्थान्तरन्यास में अप्रस्तुतप्रशंसा के समान सामान्य-विशेष की चर्चा होने के कारण अर्थान्तरन्यास को; और गम्यप्रस्ताव के कारण पर्यायोक्त, व्याजस्तुति और आक्षेप को भी औपम्यगर्भ अलंकारवर्ग में स्थान दिया गया है।

३. विरोधगर्भ अलंकारवर्ग—विरोध, विभावना, विशेषोक्ति आदि।

४. शृंखलाकार अलंकारवर्ग—कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार।

५. न्यायमूलक अलंकारवर्ग—

(क) तर्कन्यायमूलक—काव्यलिंग, अनुमान।

यथोद्देशस्तथा लक्षणमिति वास्तवलक्षणमाह—

वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत् ।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयमश्लेषम् ॥१०॥

वास्तवमिति । यद्वस्तुस्वरूपकथनं क्रियते तद्वास्तवमिति ज्ञेयम् । वस्तुन इदं वास्तवमिति कृत्वा । इतिशब्दोऽर्थनिर्देशे । वास्तवशब्दवाच्यः सोऽर्थ इत्यर्थः । पुष्टार्थ-ग्रहणमपुष्टार्थनिवृत्त्यर्थम् । तेन—

(ख) वाक्यन्यायमूलक—यथासंख्य, पर्याय आदि ।

(ग) लोकन्यायमूलक—प्रत्यनीक, प्रतीप आदि ।

६. गूढार्थप्रतीतिमूलक अलंकारवर्ग—सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति[1] ।

विद्याधर के पश्चात् विद्यानाथ ने रुद्रट, रुय्यक और विद्याधर से सहायता लते हुए अर्थालंकारों को प्रमुख चार प्रकारों में विभक्त किया है, और फिर इन प्रकारों के कुल मिलाकर निम्नलिखित ९ भेद गिनाये हैं ।[2]

प्रमुख प्रकार—(१) प्रतीयमान वस्तुगत, (२) प्रतीयमानौपम्य, (३) प्रतीय-मान रसभावादि, (४) अस्फुट प्रतीयमान ।

अवान्तर विभाग—(१) साधर्म्यमूल (भेदप्रधान, अभेदप्रधान, भेदाभेद-प्रधान); (२) अध्यवसायमूल; (३) विरोधमूल; (४) वाक्यन्यायमूल; (५) लोक-व्यवहारमूल; (६) तर्कन्यायमूल; (७) शृंखलावैचित्र्यमूल; (८) अपह्नवमूल; (९) विशेषणवैचित्र्यमूल ।

[द्रष्टव्य—एकावली अष्टम उन्मेष (सम्पूर्ण) तरल टीका सहित ।]

संस्कृत-काव्यशास्त्र में विभिन्न आचार्यों द्वारा उपर्युक्त वर्गीकरण किसी सीमा तक तर्कपूर्ण होते हुए भी एकान्तरूप से स्वीकार्य नहीं हो सकते । फिर भी व्याव-हारिक दृष्टि से अलंकार-अध्येता के लिये ये वर्गीकरण उपादेय अवश्य हैं ।

वास्तव

जहाँ वस्तु के स्वरूप का कथन हो किन्तु वह पुष्टार्थ हो, अविपरीत हो, तथा उपमा, अतिशय और श्लेष से भिन्न हो ।१०।

'पुष्टार्थ' से तात्पर्य है—सुन्दर । उदाहरणार्थ यह बैल की सन्तान बलीवर्द मुख से घास खाता है, शिश्न से मूत्र विसर्जित करता है, और अपान से गोबर । यह

---

१. इन अलंकारों के अतिरिक्त एकावली ग्रन्थ में निम्नलिखित अलंकारों का निरू-पण तो है, पर इन्हें किसी वर्ग में सम्मिलित नहीं किया गया—स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, संकर, संसृष्टि ।

२. प्र० रु० भू० पृष्ठ ३३७-३३८ ।

गोरपत्यं बलीवर्दस्तृणान्यत्ति मुखेन सः ।
मूत्रं मुञ्चति शिश्नेन अपानेन तु गोमयम् ।।

अस्य वास्तवत्वं न भवति । अविपरीतग्रहणं विवक्षितविपरीतार्थस्य वास्तवत्वनिवृत्त्यर्थम् । यथा—

दन्तान्निर्दलयद्रसां च जडयत्तालु द्विधा स्फोटयन्
नाड्यः संघटयद् गलद्गलबिलादान्त्राणि संकोचयत् ।
इत्थं निर्मलकर्करीस्थमसहप्रालेयवाताहतं
नाधन्याः प्रचुरं पिबन्त्यनुदिनं प्रोन्मुक्तधारं पयः ।।

अत्र हि पयसः शीतलत्वमाह्लादकत्वं च विवक्षितम् । तद्वैपरीत्यं च प्रतीयते । निरुपमादिग्रहणं त्वनुवादमात्रम् । न तूपमातिशयश्लेषाणां वास्तवत्वनिवृत्तये । पृथगुपादानादेव तेषामन्यत्वसिद्धेः ।।

अथ वास्तवप्रभेदानाह—

तस्य सहोक्तिसमुच्चयजातियथासंख्यभावपर्यायाः ।
विषमानुमानदीपकपरिकरपरिवृत्तिपरिसंख्याः ।।११।।
हेतुः कारणमाला व्यतिरेकोऽन्योन्यमुत्तरं सारम् ।
सूक्ष्मं लेशोऽवसरो मीलितमेकावली भेदाः ।।१२।।
(युग्मम्)

वस्तु का स्वरूप-कथन तो है किन्तु पुष्ट (सुन्दर) रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया ।

अविपरीत से तात्पर्य है विवक्षित अर्थ का प्रतिपादक । उदाहरणार्थ—

वे जन अधन्य नहीं है, अर्थात् धन्य हैं जो इस उन्मुक्त धारा वाले जल को प्रतिदिन पीते हैं जो कि दाँतों को तोड़ता हुआ, जिह्वा को जड़ बनाता हुआ, तालु के दो टुकड़े करता हुआ, नाड़ियों को परस्पर मिलाता हुआ, आँतों को संकुचित करता हुआ, स्वच्छ सुराही में स्थित और तुषारयुक्त वायु से शीतल है ।

यहाँ कवि को अभीष्ट तो है जल की शीतलता की आह्लादकता का वर्णन करना, परन्तु प्रतीत होता है उससे विपरीत अर्थ—अत्यधिक शीतलता के कारण कष्टप्रदता ।

वास्तव के २३ भेद

सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषय, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली ।११-१२।

तस्य वास्तवस्य वक्ष्यमाणलक्षणाः सहोक्त्यादयस्त्रयोविंशतिरिमे भेदा भवन्ति ।।

साम्प्रतमेषां परिपाट्या लक्षणमाह । तत्र सहोक्तिः—

भवति यथारूपोऽर्थः कुर्वन्नेवापरं तथाभूतम् ।
उक्तिस्तस्य समाना तेन समं या सहोक्तिः सा ।। १३ ।।

भवतीति । योऽर्थः कर्तृभूतः प्रधानं यथारूपो यादृगात्मा यद्गुणयुक्तो भवति । कथं भवति—अपरमन्यमर्थं कर्मलक्षणमप्रधानं तथाभूतम् । तथाशब्दः प्रकारे । तथाप्रकारमात्मगुणसदृशं कुर्वन्नेवेति । एवकारोऽन्यकालनिवृत्त्यर्थः । कुर्वन्नेव भवति । न तु भूत्वा करोति, कृत्वा भवतीत्यर्थः अतस्तस्य कुर्वतोऽर्थस्य तेन कार्येणार्थेन समं समाना तुल्या योक्तिः सा सह सार्धमुक्तिः सहोक्तिः । हेतुहेतुमद्भावोऽत्र सहार्थः । एकवचनमिहातन्त्रम् । तेन बहूनामप्यर्थानां सहोक्तिर्भवतीति ।।

निदर्शनमाह—

कष्टं सखे क्व यामः सकलजगन्मन्मथेन सह तस्याः ।
प्रतिदिनमुपैति वृद्धिं कुचकलशनितम्बभित्तिभरः ।। १४ ।।

कष्टमिति । कश्चिद्विरही मित्रमिदमाह—हे सखे, कष्टं क्व व्रजामः । यतस्तस्यास्तरुण्याः स्तनकलशभरो नितम्बभित्तिभरश्चानुदिनं सकलस्य जगतो यो मन्मथस्तेन सह वृद्धिमुपैति । तां प्रति कामो वर्धत इत्यर्थः । अत्र प्रधानभूतः कुचकलशनितम्बभित्तिभरो वृद्धिगुणयुक्तोऽपरमर्थं मन्मथाख्यं वृद्धियुक्तं करोतीति । ततस्तस्य तथा कुर्वतः सहोक्तिरिति लक्षणयोजना ।।

---

१. सहोक्ति

जो अर्थ जिस गुण से युक्त हो, वह यदि दूसरे अर्थ को भी उसी गुण से युक्त कर दे, तो [इस प्रकार] उस [अर्थ] के उस [दूसरे अर्थ] के साथ समान (तुल्य) कथन को सहोक्ति कहते हैं ।१३।

इस लक्षण का स्पष्टीकरण करते हुए नमिसाधु ने कहा है कि पहला अर्थ कर्तृ-भूत अर्थात् प्रधान होना चाहिए और दूसरा अर्थ कर्मभूत अर्थात् अप्रधान ।

उदाहरण

कोई विरही अपने मित्र से कहता है—हे मित्र ! कहो ! हम कहाँ जाएँ, क्योंकि उस [कामिनी] का स्तनकलशद्वय और अतिशय भारी नितम्ब-भाग जगद्-व्यापी काम के साथ-ही-साथ बढ़ रहा है ।१४।

दोनों पदार्थों का एक साथ बढ़ना सहोक्ति अलंकार का सूचक है ।

अस्या एव प्रकारान्तरमाह—

योवा येन क्रियते तथैव भवता च तेन तस्यापि ।
अभिधानं यत्क्रियते समानमन्या सहोक्तिः सा ।। १५ ।।

य इति। योऽर्थः कर्मभूतो येन कर्तृभूतेन क्रियते तस्य कर्मभूतस्य तेन कर्तृभूतेनार्थेन। कीदृशेन। तथैव तादृशधर्मयुक्तेन भवता। सहाभिधानं यत्क्रियते सान्या सहोक्तिः। वाशब्दः प्रकारार्थः। प्रकारान्तरेण सहोक्तिरित्यर्थः ।।

उदाहरणमाह—

भवदपराधैः सार्धं संतापो वर्धतेतरां तस्याः ।
क्षयमेति सा वराकी स्नेहेन समं त्वदीयेन ।। १६ ।।

भवदिति। कस्याश्चिन्मानिन्याः सखी नायकमन्यचित्तमिदमाह—तस्यास्त्वत्कान्तायाः संतापस्त्वदीयापराधैः सहातीव वर्धते। अत एव सा वराकी त्वदीयेन स्नेहेन सार्धं क्षयं गच्छति। अत्र संतापस्य वराकीक्षयस्य च शब्देन प्राधान्यम्। अपराधस्नेहयोस्तु तत्कारणयोरप्राधान्यम्। अत एव तृतीया। तत्त्वतस्तु भवदपराधा वर्धन्ते तस्याः संतापेन सह। भवत्स्नेहश्च क्षीयते तया सहेति। यदा त्वेवमुच्यते तदा पूर्वेव सहोक्तिरिति। पूर्वस्यां कर्तुः प्राधान्यं क्रियमाणस्य गुणभावः। इह तु क्रियमाणस्य प्राधान्यं कुर्वतस्त्वप्राधान्यमिति भेदः ।।

सहोक्ति का अन्य प्रकार—

जिस [अप्रधान] अर्थ का जिस [प्रधान] अर्थ के साथ उसी [गुण अथवा धर्म] से युक्त करके सहकथन होता है, वहाँ [भी] सहोक्ति अलंकार होता है।१५।

इसका तात्पर्य यह है कि एक पदार्थ के गुण अथवा धर्म को दूसरे पदार्थ के साथ [उससे सम्बद्ध गुण अथवा धर्म के अनुरूप] सम्बन्ध जोड़ने को भी सहोक्ति अलंकार कहते हैं।

उदाहरण—

किसी मानिनी नायिका की सखी अन्य स्त्री में आसक्त उसके पति को कहती है—

आपके अपराधों के साथ ही उसका सन्ताप भी बढ़ता जा रहा है और तुम्हारे स्नेह के साथ-ही-साथ वह बेचारी भी क्षीण होती जा रही है।१६।

प्रकारान्तरमाह—

अन्योन्यं निरपेक्षौ यावर्थावेककालमेकविधौ ।
भवतस्तत्कथनं यत्सापि सहोक्तिः किलेत्यपरे ।। १७ ।।

अन्योन्यमिति । यावर्थौ पूर्वोक्तसहार्थाभावात्परस्परं निरपेक्षावेकविधौ समानधर्मयुक्तौ तुल्यकालं भवतस्तयोर्यत्सहकथनं सापि किल सहोक्तिरित्यपरे केचित् । किलशब्दोऽत्रारुचौ । अरुचिश्चोक्तसहार्थाभावादिति ।।

निदर्शनमाह—

कुमुददलैः सह संप्रति विघटन्ते चक्रवाकमिथुनानि ।
सह कमलैर्ललनानां मानः संकोचमायाति ।। १८ ।।

कुमुददलैरिति । प्रदोषवर्णनमेतत्सुगममेव । अत्र न कुमुददलैश्चक्रवाकाणां तैर्वा तेषां विघटना क्रियते । अपि तु कालेन । तथा न कमलैर्मानस्य मानेन वा तेषां संकोचो जन्यते । अपि तु रात्र्या, शशिना वा । औपम्यं न विवक्षितम् ।।

अथ समुच्चयमाह—

यत्रैकत्रानेकं वस्तु परं स्यात्सुखावहाद्येव ।
ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधान्यः सदसतोर्योगः ।। १९ ।।

यत्रेति । यत्र समुच्चये एकत्राधारेऽनेकं वस्तु द्रव्यगुणक्रियाजातिलक्षणं परमुत्कृष्टं

सहोक्ति का एक अन्य प्रकार—

एक-दूसरे से निरपेक्ष (असम्बद्ध) होते हुए भी जो दो [प्रधान और अप्रधान] अर्थ एक काल और एक विधि से कहे जाएँ उसे [भी] कई [आचार्य] सहोक्ति अलंकार मानते हैं ।१७।

जैसे—

कुमुद पत्रों के विघटन (खिलने) के साथ-साथ चकवों के जोड़ों का भी विघटन (वियोग) हो रहा है और कमलों के संकोच के साथ कामिनियों का मान भी संकुचित हो रहा है ।१८।

२. समुच्चय

जहाँ [एक ही आधार पर] अनेक सुखदायक आदि वस्तुओं का एक साथ कथन किया जाए वहाँ समुच्चय अलंकार होता है । सत् (पदार्थों) और असत् पदार्थों के योग से इसके तीन भेद होते हैं ।१९।

नमिसाधु ने 'आदि' शब्द से तात्पर्य लिया है दुःखदायक । उनके अनुसार इस अलंकार के तीन भेद इस प्रकार हैं—

शोभनत्वेन वा स्यात्स समुच्चयः। तथा सुखावहाद्येवेति। सुखमावहत्युत्पादयतीति सुखावहम्। आदिग्रहणाद् दुःखावहादिपरिग्रहः। एवशब्दः समुच्चये। सुखावहादि च यत्रानेकं द्रव्यादि स्यात्सोऽपि समुच्चय इत्यर्थः। तथा त्रेधान्यः सदसतोर्योगः त्रेधा त्रिविधः, अन्यः प्रकारान्तरेण समुच्चयः। कीदृशः। सदसतोर्योग इति। सतोः सुन्दरयोर्योग इत्येकः। असतोरसुन्दरयोर्योग इति द्वितीयः। सदसतोः सुन्दरासुन्दरयोर्योगस्तृतीयः। अत्र च सदसतां योग इति बहुवचनेन निर्देशे न्याय्ये द्विवचननिर्देशो द्वयोरेव सतोरसतोः सदसतोर्वा समुच्चयो नान्यथा इति ख्यापनार्थः॥

एतदुदाहरणानि क्रमेणाह—

दुर्गं त्रिकूटं परिखा पयोनिधिः प्रभुर्दशास्यः सुभटाश्च राक्षसाः।
नरोऽभियोक्ता सचिवैः प्लवंगमैः किमत्र वो हास्यपदे महद्भयम्॥२०॥

दुर्गमिति। निगदसिद्धमेव। अत्रैकं वस्त्वत्र शब्दवाच्यम्। अनेकं तु त्रिकूटदुर्गादिकम्। शोभनत्वेनोत्कृष्टं यथा—

उमा वधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम्।

इत्यादि अशोभनत्वेन यथा—

क्लीबो विरूपो मूर्खश्च मर्महा मत्सरान्वितः।
चित्रं तथापि न धनी दुर्भगः खलु मानवः॥ इति

---

(१) दो सत् (सुन्दर) पदार्थों का एक साथ वर्णन।

(२) दो असत् (असुन्दर) पदार्थों का एक साथ वर्णन।

(३) सत् और असत् पदार्थों का एक साथ वर्णन।

उदाहरण—

त्रिकूट पर्वत तुम्हारा दुर्ग है, सागर परिखा (खाई) है, महापराक्रमी रावण स्वामी है, और विकराल राक्षस वीर योद्धा हैं। (इन सबका) प्रतिद्वन्द्वी है एक मनुष्य (राम), जिसके सहायक हैं वानर। ऐसी हँसी की बात पर तुम्हें क्या डर है? अर्थात् उस व्यक्ति से डरने की कोई बात नहीं है।२०।

यहाँ एक आधार (राम) को लक्ष्य में रखकर अनेक पदार्थों (रावण के उपकरणों) का वर्णन करने से समुच्चय अलंकार है।

नमिसाधु ने इस प्रसंग में दो अन्य उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

(१) "उमा वधूर्भवान्......" अर्थात् उमा (पार्वती) वधू है, आप दाता हैं और हम [उसके विवाह के लिए] प्रार्थना करने वाले हैं। (कु० स० ६।४)

यहाँ सभी शोभन पदार्थों का समुच्चय है।

(२) "क्लीबो विरूपो मूर्खश्च......" अर्थात् यह बेचारा व्यक्ति नपुंसक,

गुणाद्युत्कर्षोदाहरणानि स्वयमूह्यानि ॥

सुखावहाद्युदाहरणान्याह—

सुखमिदमेतावदिह स्फारस्फुरदिन्दुमण्डला रजनी ।
सौधतलं काव्यकथा सुहृदः स्निग्धा विदग्धाश्च ॥२१॥

सुखमिति । एष सुखावहद्रव्यसमुच्चय आधारोऽत्रेहशब्दवाच्यः । वस्तूनि सित रजनीप्रभृतीनि ॥

तरलत्वममालिन्यं पक्ष्मलतामायतिं सुमाधुर्यम् ।
आधास्यन्नस्त्रत्वं मदनस्तव नयनयोः कुरुते ॥२२॥

तरलत्वमिति । कामस्त्वदीयनयनयोरस्त्रत्वं करिष्यंस्तरलत्वादीनि कुरुत इति तात्पर्यार्थः । एष गुणसमुच्चयः । तरलत्वादिगुणानां सुखावहानां नयनाधारे समुच्चितत्वादिति ॥

प्रस्फुरयन्नधरोष्ठं गात्रं रोमाञ्चयन्गिरः स्खलयन् ।
मण्डयति रहसि तरुणीः कुसुमशरस्तरलयन्नयने ॥२३॥

प्रस्फुरयन्निति । एष क्रियासमुच्चयः । तरुणीष्वाधारेषु स्फुरणादिक्रियाणां समुच्चितत्वादिति । द्रव्यादीनां तूद्देशो वस्तुग्रहणेन कृतः । जातिसमुच्चयस्तु न संभवति । नह्येकत्रानेका जातिर्विद्यते । दुःखावह इत्याद्युदाहरणानि तु—

कुरूप, मूर्ख, मर्मघाती और ईर्ष्यालु होने के साथ-साथ निर्धन भी है ।

यहाँ सभी अशोभन पदार्थों का समुच्चय है ।

सुखदायक वस्तुओं का एक साथ कथन—

पूर्ण चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से धवलित निशा, प्रासाद तल में निवास, काव्य की सरस कथाएँ और स्निग्ध एवं चतुर मित्रों की गोष्ठी—ये सब संसार में सुखद वस्तुएँ हैं ।२१।

कामदेव तुम्हारे नेत्रों को अस्त्र बनाने की इच्छा से उनमें चञ्चलता, निर्मलता, पलकों रूपी लता, विशालता तथा मधुरता का आधान करता है ।२२।

उक्त दोनों पद्यों में सुखावह पदार्थों का समुच्चय है ।

अनेक क्रियाओं का समुच्चय—

कामदेव एकान्त में युवतियों के अधरों को फड़फड़ाकर, शरीर को रोमांचित करके, शब्दों को अटपटा बनाकर और नेत्रों को चञ्चल करते हुए उन्हें विभूषित करता है ।२३।

राज्यभ्रंशो वने वासो दूरे माता पिता मृतः ।
एकैकमपि तद्दुःखं यदब्धिमपि शोषयेत् ।।

इत्यादीनि द्रष्टव्यानि ।।

अथ सतोर्योगः—

सामोदे मधु कुसुमे जननयनानन्दने सुधा चन्द्रे ।
क्वचिदपि रूपवति गुणा जगति सुनीतं विधातुरिदम् ।।२४।।

सामोद इति । स्रष्टुरिदं सुनीतं सुकृतं भद्रकं यत्सामोदकुसुमादिषु मध्वादीनां सतां योगः कृत इत्यर्थः ।।

अथासतोर्योगः—

आलिङ्गिताः करीरैः शम्यस्तप्तोषपांसुनिचयेन ।
मरुतोऽतिखरा ग्रीष्मे किमतोऽन्यदभद्रमस्तु मरौ ।।२५।।

आलिङ्गिता इति । ग्रीष्मकाले मरुदेशे यत्करीरैः शमीवृक्षा मिश्रीभूताः । तथा तप्तानामूषपांसूनां चयैर्मिश्राः प्रचण्डा वायवः । किमतोऽन्यदपरमभद्रमशिवम् । इत्यसतोर्योगः ।।

रुद्रट ने समुच्चय अलंकार के प्रसंग में 'सुखावह आदि' शब्द का प्रयोग किया है । 'आदि' शब्द से नमिसाधु ने 'दुःखावह' अर्थ लिया है । अब वे दुःखावह पदार्थों के समुच्चय का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

"राज्यभ्रंशो वने वासो······" अर्थात् राज्य से भ्रष्ट होना, वनों में निवास करना, माता का दूर [अयोध्या में] होना तथा पिता की मृत्यु—इन सबमें से एक दुःख भी समुद्र को सुखा देने की शक्ति रखता है ।

सुन्दर पदार्थों का एक साथ कथन—

विधि ने संसार में यह अच्छा ही किया है कि सुरभित पुष्प में मधु, लोगों के नेत्रों को आह्लादित करने वाले चन्द्र में अमृत और किसी-किसी रूपवान् में गुण भर दिये हैं ।२४।

असुन्दर पदार्थों का एक साथ कथन—

ग्रीष्म काल में इस मरुस्थल में शमीवृक्ष करील के कांटों से घिरे हुए हैं और तपी हुई बालू को उड़ाती हुई प्रचण्ड लू चल रही है, इससे बढ़कर और क्या अनर्थ हो सकता है ?२५।

अथ सदसतोर्योगः—

कमलवनेषु तुषारो रूपविलासादिशालिनीषु जरा ।
रमणीष्वपि दुश्चरितं धातुर्लक्ष्मीश्च नीचेषु ।।२६।।

कमलेति । सुगममेव योजनम् ।।

प्रकारान्तरमाह—

व्यधिकरणे वा यस्मिन्गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन् ।
उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात्तदन्योऽसौ ।।२७।।

व्यधिकरण इति । वाशब्द एवशब्दार्थे भिन्नक्रमः । ततश्च यस्मिन्समुच्चये गुणक्रिये भिन्नाधिकरणे एकस्मिन्देशे समकालमुपजायेते असौ समुच्चयस्तदन्यः । ततः पूर्वसमुच्चयादपर इत्यर्थः । गुणक्रिये एव व्यधिकरणे इत्यवधारणं तु गुणक्रियाधिकरण-योर्वस्तुनोर्देशाधिकरणमेकमेवेति कृत्वा ।।

निदर्शनमाह—

विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभवदाशु विमलं च ।
प्रखलमुखानि नराधिप मलिनानि च तानि जातानि ।।२८।।

विदलितेति । अत्र नैर्मल्यगुणस्य बलमाधारो मालिन्यस्य तु खलमुखानीति । चशब्दावेककालत्वसूचनार्थौ । एवं गुणसमुच्चयः ।।

सुन्दर और असुन्दर पदार्थों का एक साथ कथन—

कमलवनों में हिमपात, रूप और विलासयुक्त रमणियों में वृद्धावस्था और नीच जनों को लक्ष्मी की प्राप्ति--यह सब धाता (विधाता) की ही नीचता [का परिणाम] है ।२६।

समुच्चय का एक अन्य प्रकार—

जिसमें भिन्न स्थानों में स्थित गुण और क्रिया एक देश में एक ही समय आवें उसे समुच्चय अलंकार कहते हैं ।२७।

गुण-समुच्चय का उदाहरण—

हे राजन् ! इधर तुम्हारी सेना रिपुकुल का विध्वंस करके विजय की प्रसन्नता से विमल आकार धारण कर रही हैं, उधर तुम्हारे शत्रुओं के मुख मलिन पड़ गये हैं ।२८।

'विमल' होना और 'मलिन' पड़ना—यहाँ इन दोनों गुणों का समुच्चय है ।

क्रियासमुच्चयस्तु यथा—

दैवादहमत्र तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च ।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥२९॥

दैवादिति । अत्र वियोगक्रिया वियोगिनि स्थिता, समुपागमनक्रिया तु वर्षाकाले ॥

अथ जातिः—

संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति ।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः ॥ ३० ॥

संस्थानेति । यस्य पदार्थस्य यत्संस्थानादि यादृशं भवति तस्य यदनन्यथा तेनैव प्रकारेण कथनं सा जातिरिति योगः । यच्छब्दस्तु सर्वनामत्वात्सामान्येन सर्वसंग्रहार्थः । विशेषरूपतया हि तत्संस्थानादि कथयितुमानन्त्यान्न शक्यते । अनुक्तं तर्हि कथं कविना ज्ञातव्यमित्याह—लोके चिरप्रसिद्धमिति । यद्यपि पुराणादिषु किंचिदुक्तं तथापि लोकरूढिवशात्सम्यक्तदवगम इति । तत्र संस्थानं स्वाभाविकं रूपम् । यथा—

एतत्पूतनचक्रमक्रमकृतग्रासार्धमुक्तैर्वृका-
नुत्पुष्णत्परितो नृमांसविघसैराघर्घरं क्रन्दतः ।
खर्जूरद्रुमदघ्नजङ्घमसितत्वग्बद्धविष्वक्तत-
स्नायुग्रन्थि घनास्थिपञ्जरजरत्कङ्कालमालोक्यते ॥ इत्यादि ।

अवस्थास्थानं स्थानकादि । यथा—

स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम् ।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥

इत्यादि । क्रियाव्यापारो यथा—

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां दददपि गिरमन्तर्बुद्ध्यते नो मनुष्यः ॥

इत्यादि । आदिग्रहणाद्विभववेषादिकं च द्रष्टव्यम् । यथा—

क्रिया-समुच्चय का उदाहरण—

इधर भाग्यहीन मैं उस चञ्चल और विशाल नेत्रों वाली प्रिया से वियुक्त हुआ उधर निरन्तर उमड़ती हुई घटाओं से युक्त वर्षाकाल आ पहुँचा ।२९।

३. जाति

जिस पदार्थ का जो संस्थान, अवस्थान एवं क्रिया आदि जिसके सदृश होता है,

वल्लीवल्कपिनद्धधूसरशिराः स्कन्धे दधद् दण्डकं
ग्रीवालम्बितमृन्मणिः परिकुथत्कौपीनवासाः कृशः।
एकः कोऽपि पटच्चरं चरणयोर्बद्ध्वाध्वगः श्रान्तवा-
नायातः क्रमुकत्वचा विरचितां भिक्षापुटीमुद्वहन्॥

इत्यादि। अथ वास्तवस्य जातेश्च को विशेषः, यो वृक्षस्य धवस्य च। वास्तवं हि वस्तुस्वरूपकथनम्, तच्च सर्वेष्वपि तद्भेदेषु सहोक्त्यादिषु स्थितम्। जातिस्त्वनुभवं जनयति। यत्र परस्थं स्वरूपं वर्ण्यमानमेवानुभवमिवैतीति स्थितम्।

अथैतद्विशेषप्रतिपादनार्थमाह—

शिशुमुग्धयुवतिकातरतिर्यक्संभ्रान्तहीनपात्राणाम्।
सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या॥३१॥

शिश्विति। सा जातिः शिशुप्रभृतीनां याः कालोचिता अवस्थोचिताश्च चेष्टाः क्रियास्तास्वतिशयतो रम्या भवति॥

तत्र शिशूनां यथा—

धूलीधूसरतनवो राज्यस्थितिरचनकल्पितैकनृपाः।
कृतमुखवाद्यविकाराः क्रीडन्ति सुनिर्भरं डिम्भाः॥३२॥

उसे उसी रूप में कहना 'जाति' नाम से लोक में चिरकाल से प्रसिद्ध है। तथा यह जाति शिशु, मुग्धा युवतियों, कातर [व्यक्तियों], तिर्यक् [योनि के प्राणियों] तथा सम्भ्रान्त (मद-विलसित) एवं हीन पात्रों की कालोचित तथा अवस्थोचित चेष्टाओं में विशेषतः रमणीय होती है।३०-३१।

नमिसाधु ने इस प्रसंग में संस्थान (स्वाभाविक रूप) अवस्थान (स्थान), क्रियाव्यापार आदि ('आदि' से उन्होंने 'विभववेषादि' अर्थ ग्रहण किया है।) के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। यहाँ केवल 'संस्थान' का उदाहरण अनूदित किया जा रहा है—

'एतत्पूतनचक्रमक्रमकृतग्रास......' अर्थात् अतिशय तृष्णा से लिये गये कौर से ज़मीन पर आधा गिरे हुए नरमांस के खाने से अवशिष्ट भागों से चारों ओर कुछ 'घर्घर' शब्द के साथ चिल्लाते हुए भेड़ियों को पुष्ट करता हुआ, खजूर के पेड़ जैसी लम्बी जाँघवाला, काले चमड़े से बाँधी गयी और चारों तरफ व्याप्त नसों के सन्धिभागों में निविड अस्थिपंजर वाले जीर्ण कंकालों से युक्त यह पिशाच आदियों का समूह देखा जा रहा है।

(क) बच्चों की चेष्टा, जैसे—

धूलिधूसरित शरीर वाले बच्चे अनेक प्रकार से मुँह बनाते हुए और [सीटी के समान] बाजा-सा बजाते हुए मग्न होकर खेल रहे हैं। [इसी खेल में उन्होंने] एक

धूलीति । एषा शिशूनामवस्थोचिता चेष्टा । कालोचिता तु स्वयं द्रष्टव्या ।।

मुग्धयुवतीनां यथा—

हरति सुचिरं गाढाश्लेषे यदङ्गकमाकुला
स्थगयति तथा यत्पाणिभ्यां मुखं परिचुम्बने ।
यदतिबहुशः पृष्टा किंचिद्ब्रवीत्यपरिस्फुटं
रमयतितरां तेनैवासौ मनोऽभिनवा वधूः ।।३३।।

हरतीति । एषा मुग्धयुवतीनामवस्थोचिता चेष्टा । मुग्धग्रहणं मुग्धयुवतीनामेव जातिसौन्दर्यं न प्रौढानां चेष्टास्विति ज्ञापनार्थमिति । कातराद्युदाहरणानि ग्रन्थान्तराद् द्रष्टव्यानि ।

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपा-
मन्तः कञ्चुकि कञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।
त्रस्यद्भिः सहसा निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ।।

राज्य की स्थिति की रचना करते हुए एक [बालक] को राजा बना दिया है ।३२।

(ख) मुग्ध युवतियों की चेष्टा, जैसे—

गाढ आलिङ्गन के समय यह व्याकुल होकर अपने अङ्ग (शरीर) को हटा लेने की चेष्टा करती है । चुम्बन के समय दोनों हाथों से मुख ढक लेती है, और बहुत बार पूछने पर कुछ अस्पष्ट वचन बोलती है—इन्हीं बातों से ही नव-विवाहिता पत्नी मन को और भी प्रमुदित करती है ।३३।

नमिसाधु ने इसी प्रसंग में कतिपय अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं । प्रथम पद्य में कातर व्यक्तियों की चेष्टा का वर्णन है—

"नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणना······"

मनुष्यों में गणना न होने से हिजड़े लज्जा छोड़कर भाग गये । भयत्रस्त यह बौना कंचुकी के अंगरखे के भीतर घुस गया । भयातुर किरातों ने अपने नाम के अनुरूप ही आचरण किया । अपने देख लिये जाने के भय से कुबड़े झुके होने के कारण धीरे-धीरे जा रहे हैं ।

निम्नोक्त पद्य में एक घोड़े का वर्णन है—

"उत्खाय दर्पचलितेन······"

अपनी दर्दभरी चाले से रस्सी के साथ ही कील को भी उखाड़कर तथा [पकड़ने के लिए] यत्न करते हुए व्यक्तियों से न पकड़े जाने वाले घोड़े ने एक [दूसरे] भागते हुए घोड़े के पीछे भागते हुए शीघ्र ही सेना को व्याकुल कर दिया ।

एषा कातरचेष्टा । तिरश्चां यथा—

उत्खाय दर्पचलितेन सहैव रज्ज्वा कीलं प्रयत्नपरमानवदुर्ग्रहेण ।

आकुल्यकारि कटकस्तुरगेण तूर्णमश्वेति विद्रुतमनुद्रवतान्यश्श्वम् ॥

अतर्कितोपनतभयसुखदुःखकुतूहलादिहृतचित्तानां संभ्रान्तानां यथा—

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव ।

उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥

इत्यादि । हीनपात्राणां यथा—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोफभूयांसि मांसा-

न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।

आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्कात्

अङ्कास्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥

एवमन्यदपि द्रष्टव्यमिति ॥

अथ यथासंख्यमाह—

निर्दिश्यन्ते यस्मिन्नर्था विविधा यथैव परिपाट्या ।

पुनरपि तत्प्रतिबद्धास्तयैव तत्स्याद्यथासंख्यम् ॥३४॥

निर्दिश्यन्त इति । यत्र विविधा नानारूपा अर्था यथैव परिपाट्या येनैव क्रमेण

इस पद्य में एक सम्भ्रान्त विलासिनी का वर्णन है—

"प्रसाधिकालम्बितम्......"

किसी रमणी ने प्रसाधन करने वाली सेविका द्वारा गृहीत एवं गीली महावर-वाले चरण को उससे खींचकर और अपनी विलासपूर्ण गति छोड़कर खिड़की तक सारे मार्ग को महावर के चिह्नों से अंकित कर दिया ।

इस पद्य में एक हीन पात्र (दरिद्र पिशाच) का वर्णन है—

"उत्कृत्योत्कृत्य......"

व्याकुल, इधर-उधर देखता हुआ, और दाँतों को दिखाता हुआ यह दरिद्र पिशाच पहले शव के चमड़े को काट-काटकर तदनन्तर बहुत शोथ से युक्त उत्कट दुर्गन्ध वाले, कन्धे, कटिस्थ मांसपिण्ड, पीठ आदि विशाल अवयवों में सुलभ मांसों को खाकर अपनी गोद में पड़े हुए शव के सिर की हड्डी में विद्यमान और ऊँचे-नीचे स्थानों में चिपके हुए माँस को भी धैर्यपूर्वक खा रहा है ।

४. यथासंख्य

जिस अलंकार में विविध अर्थ (वस्तुएँ) जिस क्रम से निर्दिष्ट किये गये हों, उसी क्रम से फिर [उन्हीं पूर्व निर्दिष्ट अर्थों के] अनुयायी पदार्थों का विशेषण-विशेष्य

पूर्वं निर्दिश्यन्ते पुनरपि तयैव परिपाट्या तत्प्रतिबद्धास्तेषु पूर्वनिर्दिष्टेषु विशेष्यस्य विशेषणभावेन प्रतिबद्धास्तदनुयायिनो निर्दिश्यन्ते तद्यथासंख्यं स्यात् । अर्था इति बहुवचनस्यातन्त्रत्वाद् द्वयोरपि यथासंख्यं भवति । ययैव परिपाट्येति परिपाटी कवेः क्रमविवक्षा गृह्यते ॥

अथैतस्यैव विशेषार्थमाह—

तद्द्विगुणं त्रिगुणं वा बहुषूद्दिष्टेषु जायते रम्यम् ।
यत्तेषु तथैव ततो द्वयोस्तु बहुशोऽपि बध्नीयात् ॥३५॥

तदिति । तद्यथासंख्यं बहुषूद्दिष्टेषु प्रधानार्थेषु यद्यस्माद् द्विगुणं वा रम्यं जायते, तस्माद्धेतोस्तेषूद्दिष्टेषु तथैव द्विस्त्रिर्वा बध्नीयात् नान्यथा । द्वयोः पुनरुद्दिष्टयोर्बहुशोऽपि बध्नीयात् । सुखावहत्वादिति ॥

तत्र त्रिगुणोदाहरणमाह—

कज्जलहिमकनकरुचः सुपर्णवृषहंसवाहनाः शं वः ।
जलनिधिगिरिपद्मस्था हरिहरचतुराननाः ददतु ॥३६॥

कज्जलेति । अत्र हरिहरब्रह्माणस्त्रयः उद्देशिनः । त्रिविशेषणयोगाच्च त्रैगुण्यम् ॥

द्वयोर्बहुगुणोदाहरणमाह—

दुग्धोदधिशैलस्थो सुपर्णवृषवाहनौ घनेन्दुरुची ।
मधुमकरध्वजमथनौ पातां वः शार्ङ्गशूलधरौ ॥३७॥

भाव से कथन यथासंख्य अलंकार कहाता है ।३४।

वह यथासंख्य बहुत-से प्रधान अर्थों में दो-दो अथवा तीन-तीन [क्रमबद्ध] विशेषणों से बहुत रमणीय हो जाता है, अतः उनमें उसे दो-दो अथवा तीन-तीन विशेषणों से अलंकृत करना चाहिए । जहाँ प्रधान अर्थ दो हों, वहाँ बहुत से विशेषणों से भी उसे विशेषित करना चाहिए ।३५।

तीनों गुणों का उदाहरण—

[क्रमशः] कज्जल, हिम और कनक के समान कान्ति वाले [क्रमशः] गरुड़, बैल और हंस की सवारी करने वाले, तथा [क्रमशः] समुद्र, [कैलाश] पर्वत और पद्म में निवास करने वाले [क्रमशः] विष्णु, महादेव और ब्रह्मा आपके लिए कल्याणकारी हों ।३६।

दो गुणों का उदाहरण—

क्षीरसागर में निवास करने वाले गरुड़वाहन, मेघ के समान कान्ति वाले, मधुदर्शन, शार्ङ्ग-धनुषधारी भगवान विष्णु तथा कैलाशधामवासी, वृषभवाहन, चन्द्रो-

दुग्धेति। अत्र मधुमथनमकरध्वजमथनौ द्वावुद्देशिनौ, चत्वारि तद्विशेषणानीति।।

अथ भावः—

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ।।३८।।

यस्येति। यस्य विकारवतो येनाप्रतिबद्धेनानैकान्तिकेन हेतुना विकारः कार्यं प्रभवन्नुत्पाद्यमानस्तस्य विकारवतः संबन्धिनमभिप्रायं प्रतिपत्तुर्गमयति, तथा स एव विकारस्तयोर्विकारहेतुविकारयोः प्रतिबन्धं च कार्यकारणभावं गमयति, असावेवंरूपो भावनामाऽलंकारो भण्यते। भवत्यस्मादभिप्रायनिश्चय इति कृत्वा। ननु विरुद्धमिदम्। अप्रतिबद्धश्चेत्कथं हेतुरथ हेतुः कथमप्रतिबद्धो नाम। अपि च योऽप्रतिबद्धेन हेतुना जन्यते स कुतस्तत्प्रतिबन्धं गमयति, विद्यते चेत्प्रतिबन्धो न तर्ह्यप्रतिबद्धो हेतुरिति। सत्यमेतत्। किं तु महाकविलक्ष्यमेवंविधं दृश्यतेऽनुभूयते च। न च दृष्टे किंचिदनुपपन्नं नाम।।

निदर्शनमाह—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ।।३९।।

ग्रामेति। कस्याश्चित्तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरं ग्रामतरुणं पश्यन्त्या मुखमालिन्यमभवदित्यर्थः। वञ्जुलो वृक्षविशेषः। अत्र विकारो मुखमालिन्यं तस्य हेतुर्वञ्जुलमञ्जरीदर्शनं तच्चाप्रतिबद्धम्। सर्वदा तद्दर्शने तदभावादिति। तच्च मालिन्यं

ज्ज्वल कान्ति वाले, कामसंहारक, त्रिशूलधारी शिव तुम्हारी रक्षा करें।३७।

[इस पद्य का अर्थ करते समय—पूर्वोक्त पद्य के असमान—विशेषण क्रमानुसार विष्णु और शिव के साथ संयुक्त कर दिये गये हैं। सुविज्ञ पाठक यहाँ भी यथासंख्य अलंकार समझ गये होंगे।]

५. भाव

जिस [विकारयुक्त] का विकार (कार्य, चेष्टादि) उत्पन्न होकर जिस अनैकान्तिक हेतु से उस [विकारयुक्त] के अभिप्राय और प्रतिबन्ध का कारण जिज्ञासु पर प्रकट कर देता है, उसे भाव कहते हैं।३८।

उदाहरण—

अशोक वृक्ष की मंजरी को हाथ में लिए हुए ग्रामयुवक को देखकर युवती के मुख की कान्ति मलिन हो रही है, अर्थात् उसका मुख उदास हो रहा है।३९।

संकेतस्थान पर युवती किसी कारणवश स्वयं न पहुँच सकी, किन्तु जब उसने ग्रामयुवक (नायक) को अशोक वृक्ष की मंजरी को हाथ में लिये देखा तो समझ गयी कि वह वहाँ से हो आया है तो उसकी मुख-कान्ति फीकी पड़ गयी। रुद्रट ने

तरुण्या भावं प्रतिपत्तुः प्रकाशयति । नूनमनया तस्य तरुणस्य वञ्जुलगहने संकेतोऽकारि, कर्मान्तरव्यासङ्गाच्च न तत्र संप्राप्ता, तं च मञ्जर्या गतप्रत्यागतं विज्ञाय सुखाद्वञ्चितास्मीति खिन्ना संपन्ना । मुखमालिन्यं चास्य मञ्जरीसनाथकरतवस्य प्रतिबन्धं गमयति । अन्यथा कथं तद्दर्शनेन तदुत्पद्यते ॥

प्रकारान्तरमाह—

अभिधेयमभिदधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम् ।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भावः ॥४०॥

अभिधेयमिति । यद्वाक्यं कर्तृ, तदेव पदारूढमेवाभिधेयं वाच्यमभिधानं प्रतिपादयत्तसदर्थान्तरं वक्रभिप्रायरूपं गमयति सोऽपरोऽन्यो भावभेदः । कीदृशमर्थान्तरम् । तेन पदारूढेनार्थेनासदृशा विलक्षणा गुणदोषा विधिप्रतिषेधादयो यस्य तत्तथोक्तम् । एतेन चान्योक्तिसमासोक्तयोर्भावत्वं निषिद्धम् । तत्र हीतिवृत्तसादृश्यं वर्तते । औपम्यभेदात्तयोरिति ॥

निदर्शनमाह—

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह-
मस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम् ।
किं याचसे तदिह वासमियं वराकी
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ ॥४१॥

यहाँ भाव अलंकार माना है, क्योंकि मलिन-मुख छाया से उसके प्रतिज्ञा-अनिर्वाह की तथा विप्रलम्भ की प्रतीति होती है ।

मम्मट ने ऐसे पद्यों को गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है ।

यहाँ व्यंग्यार्थ यह है कि युवती संकेतस्थल पर नहीं पहुँच सकी, किन्तु इसकी अपेक्षा वाच्यार्थ का चमत्कार कहीं अधिक है—उसकी मलिन मुखकान्ति द्वारा उसका विप्रलम्भ सूचित होता है ।

भाव का अन्य प्रकार—

जो वाक्य वाच्यार्थ को बताकर उस [वाच्यार्थ] से भिन्न गुण-दोष (विधि-निषेध आदि) से युक्त वक्ता के अभिप्राय का बोध कराता है, उसे [द्वितीय] भाव कहते हैं ।४०।

उदाहरण—

अरे मूर्ख पथिक ! क्या तुम यहाँ निवास करने के लिए प्रार्थना करते हो ?

एकाकिनीति । तरुणपथिकस्य वासं याचमानस्य काचित्साभिलाषा योषिदिदं प्रकटप्रतिषेधार्थं वाक्यमाह । एतेन चोक्तपदार्थेन विलक्षणो वासानुमतिविधिलक्षणो भावोऽवगम्यते ।।

अथ पर्यायः—

वस्तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृशं तस्य ।
यदजनकमजन्यं वा तत्कथनं यत्स पर्यायः ।।४२।।

वस्त्विति । यद्वस्तु विवक्षितस्य मनोगतस्य वस्तुतः प्रतिपादनसमर्थं तस्य कथनं यत्स पर्यायोऽलंकारः । समासोक्त्यन्योक्त्योः पर्यायत्वनिवृत्त्यर्थमाह—असदृशं तस्य । तस्य वाच्यस्य वस्तुनोऽसदृशमतुल्यम् । भावसूक्ष्मयोः पर्यायोक्तनिवृत्त्यर्थमाह—अजनकमजन्यं वेति । अयमर्थः—प्रथमभावे विकारलक्षणेन कार्येण विकारवतोऽभिप्रायो यथा गम्यते तथा स्वजनकेन सह प्रतिबन्धश्चेति गमकस्य जन्यतास्ति । द्वितीयभावसूक्ष्मयोस्तु वस्त्वन्तरप्रतीतिजननाज्जनकतेति तेषां व्यवच्छेदकमिदं विशेषणद्वयम् । इह तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादकं वस्तु न तथाभूतम् । वाच्यवाचकभावशून्यमित्यर्थः । द्वितीयभावे हि वक्तुरभिप्रायरूपमर्थान्तरं वाक्येन गम्यते । सूक्ष्मे तु युक्तिमदर्थोऽपि शब्दोऽर्थान्तरमुपपत्तिमद् गमयति। इह तु स एवार्थः पर्यायेणोच्यते । न त्वभिप्रायरूपार्थान्तरप्रतीतिरिति ।।

उदाहरणमाह—

राजञ्जहासि निद्रां रिपुबन्दीनिबिडनिगडशब्देन ।
तेनैव यदन्तरितः स कलकलो बन्दिवृन्दस्य ।।४३।।

[पर तुम यहाँ कैसे रहोगे क्योंकि] मैं अबला तरुणी इस घर में अकेली रहती हूँ । मेरे पतिदेव विदेश गये हुए हैं और यह बेचारी मेरी सास बहरी तथा अन्धी है ।४१।

यद्यपि वाच्यार्थ रूप में ग्रामयुवती ने पथिक को उसके घर में निवास करने के लिए प्रकटतः निषेध किया है, किन्तु वस्तुतः वह उसे विधिरूप में आमन्त्रित कर रही है । अतः यहाँ द्वितीय भाव अलंकार है ।

इस प्रकार के पद्यों में मम्मट ने ध्वनि का चमत्कार स्वीकार किया है ।

६. पर्याय

जहाँ जो अर्थ विवक्षित अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ हो यदि उससे ऐसे अर्थ का कथन हो जाए जो न तो उसके समान हो और न उसका उत्पादक अथवा उससे उत्पन्न हो, वहाँ पर्याय अलंकार माना जाता है ।४२।

उदाहरण—

हे राजन् ! कैदी शत्रुओं के [हाथ-पैरों में पड़ी] शृङ्खलाओं के शब्द से आप

राजन्निति । राज्ञश्चाटुवचनमिदम् । अत्र बन्दीनिगडरवेण निद्रामोक्षकथनं यद्वस्तु तस्य तावन्मात्रमेव न तात्पर्यमपि तु त्वया रिपूञ्जित्वा तन्नार्यो हृता इति निखिलरिपुविजयः पर्यायेण प्रतिपाद्यते ॥

प्रकारान्तरमाह—

यत्रैकमनेकस्मिन्ननेकमेकत्र वा क्रमेण स्यात् ।
वस्तु सुखादिप्रकृति क्रियेत वान्यः स पर्यायः ॥४४॥

यत्रेति । अनेकस्मिन्नाधारे क्रमेणैकं वस्तु यत्र स्वयमेव स्यात्स पर्यायः । अथवैकस्मिन्नाधारेऽनेकं यत्र स्यात्सोऽपि पर्यायः । कीदृशमेकमनेकं वा वस्त्वित्याह— सुखादिप्रकृति । सुखदुःखादिस्वरूपमित्यर्थः । स्यादिति कर्तृनिर्देशात्कर्मण्यप्राप्तं पर्यायत्वमाह— क्रियेत वेति । तदेवं चतुर्विधः पर्यायः ॥

उदाहरणमाह—

कमलेषु विकासोऽभूदुदयति भानावुपेत्य कुमुदेभ्यः ।
नभसोऽपससार तमो बभूव तस्मिन्नथालोकः ॥४५॥

कमलेष्विति । अत्रैको विकासोऽनेकस्मिन्वस्तुनि कुमुदकमलाख्ये क्रमेण भवति । तथैकस्मिन्नभसि तमः प्रकाशश्च । अनेकवस्तु सुखरूपम् । एते कर्तर्युदाहरणे ॥

निद्रात्याग करते हैं और इसी शब्द से चारण लोगों द्वारा किया हुआ कलकल (प्रभात-वेला का स्तुतिगान) भी दब गया है ।४३।

स्तुतिपाठक चारण के इस कथन से ज्ञात होता है कि इस विजयी राजा ने बहुत अधिक युद्ध-बन्दी बना रखे हैं। यहाँ रुद्रट ने 'पर्याय' अलंकार का चमत्कार माना है, क्योंकि स्तुतिपाठक का यह कथन न तो इस आशय का जनक है और न उक्त कथन में और इस आशय में परस्पर कोई सदृशता है ।

पर्याय का प्रकारान्तर—

जहाँ अनेक आधारों में एक, अथवा एक आधार में अनेक सुखदुःखादिरूप वस्तु क्रम से हों, उसे [द्वितीय] पर्याय अलंकार कहते हैं ।४४।

उदाहरण—

सूर्य के उदय होने पर कुमुदों का विकास कमलों पर आ गया । आकाश से अन्धकार क्षीण हो गया और वहाँ प्रकाश छा गया ।४५।

यहाँ 'एक' विकास को कुमुद और कमल से सम्बद्ध किया गया है, तथा 'एक' आकाश को अन्धकार तथा प्रकाश से । अतः द्वितीय पर्याय अलंकार है ।

कर्मण्याह—

आच्छिद्य रिपोर्लक्ष्मीः कृता त्वया देव भृत्यभवनेषु ।
दत्तं भयं द्विषद्भ्यः पुनरभयं याचमानेभ्यः ॥४६॥

आच्छिद्येति । अत्रैका लक्ष्मीरनेकत्र रिपुषु भृत्येषु च कृता । तथैकस्मिन्द्विषल्लक्षणे वस्तुनि भयाभये च दुःखसुखरूपे क्रमेण दत्ते । पूर्वत्र पर्यायशब्दस्य शब्दान्तरेण कथनमर्थः । इह तु परिपाटी ॥

अथ विषममाह—

विषम इति प्रथितोऽसौ वक्ता विघटयति कमपि संबन्धम् ।
यत्रार्थयोरसन्तं परमतमाशङ्क्य तत्सत्त्वे ॥४७॥

विषम इति । असावलंकारो विषम इति प्रथितो विषमनामा प्रसिद्धो यत्रार्थयोः संबन्धं घटनां वक्ता प्रतिपादको विघटयति । कीदृशं संबन्धम् । असन्तमविद्यमानम् । ननु यद्यसन्संबन्धस्तर्हि स्वयं विघटित एव किमस्य विघटनीयमित्याह—तस्य सत्त्वे सद्भावे परमतं पराभिप्रायमाशङ्क्य । परमतेन सन्तं कृत्वेत्यर्थः ॥

उदाहरणमाह—

यो यस्य नैव विषयो न स तं कुर्यादहो बलात्कारः ।
सततं खलेषु भवतां क्व खलाः क्व च सज्जनस्तुतयः ॥४८॥

उदाहरण—

हे राजन् ! आपने शत्रु से लक्ष्मी छीनकर उसे अनुजीवियों के घरों में प्रतिष्ठित कर दिया । शत्रुओं को भय प्रदान किया, और [उनमें से] क्षमा माँगने वालों को अभयदान दे दिया ।४६।

७. *विषम*

विषम अलंकार वहाँ होता है जहाँ वक्ता दो अर्थों (वस्तुओं) में अविद्यमान [भी] सम्बन्ध की कल्पना किसी दूसरे के मत से करके [पुनः उसे] तोड़ देता है ।४७।

उदाहरण—

एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति से कहा कि अमुक दुर्जन ने उस सज्जन की स्तुति की है । दूसरे व्यक्ति ने पहले व्यक्ति को उत्तर दिया कि—

जो जिसके अधिकार की वस्तु नहीं, उसे वह नहीं करनी चाहिए । आपका तो दुष्टों के प्रति बड़ा बलात्कार (पक्षपात) है । भला कहाँ दुष्ट व्यक्ति और कहाँ सज्जनों की स्तुति ? ४८।

य इति। केनचित्कस्यचिदग्रे उक्तममुना खलेनासौ सज्जनः स्तुति इति। स त्वसहमानस्तमाह—अहो भवतां खलेषु दुर्जनविषये बलात्कारः पक्षपातः। यतस्तदनुकूलं ब्रूथ। कस्मात्ते तत्स्तुतिं न कुर्वन्तीत्याह—यस्य खलस्य यो न विषयः सज्जनस्तवादिः स तं नैव कुर्यात्। किमिति खलानां शिष्टस्तवादिर्न विषय इत्याह—क्व खलाः क्व च सज्जनस्तुतय इति। अत्र खलस्तुत्योरसन्नेव संबन्धः परमते सत्त्वाशङ्कया विघटितः। इदं चात्रोदाहरणम्—निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः। इत्यादि॥

प्रकारान्तरमाह—

अभिधीयते सतो वा संबन्धस्यार्थयोरनौचित्यम्।
यत्र स विषमोऽन्योऽयं यत्रासंभाव्यभावो वा॥४९॥

अभिधीयत इति। यत्रार्थयोर्विद्यमानस्य सम्बन्धस्य केवलमनौचित्यमुच्यते सोऽन्योऽयं विषमाख्योऽलंकारः। अथवा यत्रासंभाव्यस्य भावः सत्ताभिधीयते सोऽपि विषमः। अनुचितार्थोऽत्र विषमशब्दः॥

उदाहरणमाह—

रूपं क्व मधुरमेतत्क्व चेदमस्याः सुदारुणं व्यसनम्।
इति चिन्तयन्ति पथिकास्तव वैरिवधूं वने दृष्ट्वा॥५०॥

इसका आशय यह है कि दुर्जन सज्जनों की स्तुति कर ही नहीं सकते, उनके लिए यह अनधिकार-चेष्टा है। यहाँ दो व्यक्तियों के अविद्यमान सम्बन्ध की कल्पना की गयी है।

इसी प्रकार नमिसाधु-प्रस्तुत 'निसर्गदुर्बोध······' में भी विषम अलंकार है—

कहाँ तो राजाओं का स्वभाव से ही दुर्बोध चरित और कहाँ अज्ञान-पीड़ित [हम-जैसे] जीव!

विषम का प्रकारान्तर—

जहाँ दो अर्थों में विद्यमान सम्बन्ध का अनौचित्य प्रकट किया जाता है, अथवा असम्भव वस्तु की सत्ता बतलायी जाती है, वहाँ द्वितीय विषम अलंकार होता है।४९।

उदाहरण—

आपके शत्रु की वधू को वन में निराश्रय देखकर पथिक उसकी दशा पर करुणार्द्र होकर इस प्रकार कहते हैं—कहाँ तो इसकी अद्भुत रूपच्छटा और कहाँ इस पर यह दारुण विपत्ति।५०।

विषम के भेद—

विषम अलंकार के चार भेद हैं—जहाँ कर्ता किसी कार्यवश (१) थोड़ा-सा

रूपमिति । अत्र रूपव्यसनयोरर्थयोरेकत्र रिपुस्त्रियां विद्यमानयोरनौचित्यम् । यत्र हि रूपं न तत्र व्यसनम् । यदाह—'अलभ्यशोकाभिभवेयमाकृतिः' इति । अथवा-संभाव्यस्य रूपस्यातिव्यसनस्य च भावोऽत्र कथ्यत इति साधारणमेकमुदाहरणम् ॥

भूयोऽपि भेदान्तराण्याह—

तदिति चतुर्धा विषमं यत्राण्वपि नैव गुर्वपि च कार्यात् ।
कार्यं कुर्यात्कर्ता हीनोऽपि ततोऽधिकोऽपि न वा ॥५१॥

तदिति । तद्विषममिति वक्ष्यमाणेन प्रकारेण चतुर्धा चतुष्प्रकारम् । कथमित्याह—यत्र कुतश्चित्कार्याद्धेतोरण्वपि स्वल्पमपि कार्यं कर्ता नैव कुर्यादित्येकः प्रकारः । गुर्वपि कुर्यादिति द्वितीयः । अत्र च हीनाधिकत्वं कर्ता नापेक्षते । तथा हीनोऽशक्तोऽपि कर्ता तत्कार्यं कुर्यादिति तृतीयः । तथाधिकोऽपि न वा नैव कुर्यादिति चतुर्थः । अत्र कार्ययोरणुत्वगुरुत्वापेक्षा न कर्तव्या । कार्यादिति च सर्वेषु योज्यम् । अन्यत्र वैषम्यनिरासार्थम् । अपिशब्दा विस्मयार्थाः । चशब्दः समुच्चये पूर्वापेक्षः । अत्रानौचित्यमशक्यकर्तृत्वं च विषमशब्दार्थः । विषममिति नपुंसकनिर्देशो विषमालंकारयुक्तकाव्यापेक्षयेति ॥

एतदुदाहरणानि चत्वार्यार्याद्वयेनाह—

त्वद्भृत्यावयवानपि सोढुं समरे क्षमा न ते क्षुद्राः ।
असिधारापथपतितं त्वं तु निहन्या महेन्द्रमपि ॥५२॥

भी कार्य नहीं करता, (२) बहुत-सा कार्य करता है, (३) हीन होता हुआ भी कार्य कर देता है, तथा (४) समर्थ होता हुआ भी कार्य नहीं करता ।५१।

इन चारों भेदों को नमिसाधु ने निम्न प्रकार से दिखाया है—

प्रथम प्रकार—किसी कारण से कर्ता छोटा (सुकर) भी काम न करे;

द्वितीय प्रकार—किसी कारण से कर्ता बड़ा काम भी करे;

तृतीय प्रकार—किसी कारण से अशक्त होने पर भी कर्ता काम करे;

चतुर्थ प्रकार—किसी कारण से सशक्त होने पर भी कर्ता काम न करे ।

उदाहरण—

[हे राजन् ! तुम्हारे] वे नीच शत्रु युद्ध में तुम्हारे साधारण सैनिकों को भी नहीं सह सकते ।

आप तो खड्ग चलाते समय सामने आये हुए देवराज इन्द्र को भी मार सकते हैं ।

आप बस दूर ठहरे रहिए, आपके साधारण सैनिक ही शत्रुओं को मार देंगे ।

त्वं तावदास्स्व दूरे भृत्यावयवोऽपि ते निहन्त्यहितान् ।
का गणना तैः समरे सोढुं शक्रोऽपि न सहस्त्वाम् ।।५३।।

त्वदिति । त्वमिति । अत्राणुत्वख्यापनार्थोऽवयवशब्दः । ततोऽण्वपि भृत्यावयवसहनलक्षणं कार्यं रिपवः कर्तुमशक्ताः । नृपभयाशङ्कनात्कार्याद्धेतोः । तथा गुर्वपि शक्रहननं कार्यात्सत्त्वान्नृपेण क्रियते । तथा हीनोऽपि भृत्यावयवो रिपुवधं कार्यं तेजस्विनृपसंपर्कात्कीर्त्याशिया वा करोति । तथाधिकोऽपि शक्रः कर्ता राजसहनलक्षणं तद्भयात् कार्यान्न करोति ।।

भूयोऽप्याह—

यत्र क्रियाविपत्तेर्न भवेदेव क्रियाफलं तावत् ।
कर्तुरनर्थश्च भवेत्तदपरमभिधीयते विषमम् ।।५४।।

यत्रेति । यत्र क्रियाविपत्तेः कर्मनाशाद्धेतोर्न केवलं तावत्कर्तुः क्रियाफलं न भवेद्यावतानर्थश्च भवेत्तदपरमन्यद्विषमभिधीयते । दारुणार्थश्चात्र विषमशब्दः । यथा—'विषममिदं वनम्' इति ।।

निदर्शनमाह—

उत्कण्ठा परितापो रणरणकं जागरस्तनोस्तनुता ।
फलमिदमहो मयाप्तं सुखाय मृगलोचनां दृष्ट्वा ।।५५।।

उत्कण्ठेति । अत्र सुखाय मृगलोचनां स्त्रियं दृष्ट्वा न केवलं सुखं न प्राप्तं यावदनर्थ उत्कण्ठादिकः प्राप्तः । क्रियाविपत्तिरत्र दर्शनच्छेदः ।

समर-भूमि में तुम्हारे शत्रुओं की तुम्हारे सामने ठहरने की क्या शक्ति है ? [यहाँ तक कि] इन्द्र भी आपके सामने नहीं ठहर सकता ।५२-५३।

उपर्युक्त चार वाक्य क्रमशः चारों भेदों के उदाहरण हैं ।

विषम का प्रकारान्तर—

जहाँ कार्य के नाश हो जाने के कारण कर्ता को न केवल क्रिया का फल ही न मिले अपितु अनर्थ भी हो जाए, उसे विषम कहते हैं ।५४।

उदाहरण—

उस मृगनयनी को देखा तो था सुख के लिए, किन्तु मुझे जो फल मिला वह है—उत्कण्ठा, सन्ताप, भय, अनिद्रा और शरीर की दुर्बलता ।५५।

अथानुमानमाह—

वस्तु परोक्षं यस्मिन्साध्यमुपन्यस्य साधकं तस्य ।
पुनरन्यदुपन्यस्येद्विपरीतं चैतदनुमानम् ।। ५६ ।।

वस्त्विति । साध्यं परोक्षं वस्तु यत्र प्रथममुपन्यस्य पुनस्तस्य साधकं हेतुं कविरुपन्यस्येत्तदनुमानमलंकारः । तथापि विपरीतं चेति पूर्वं साधकोपन्यासः पश्चात्साध्यनिर्देशो यत्र तच्चानुमानम् । वास्तवलक्षणेनैवापुष्टार्थस्य परिहृतत्वादग्निरत्र धूमादित्यलंकारत्वं न भवति । साधकमिति जातावेकवचनम् । तेन द्वयोर्बहुषु च साधकेषु भवति । यथा—

स्पष्टाक्षरमिदं यत्नान्मधुरं स्त्रीस्वभावतः ।
अल्पाङ्गत्वादनिर्ह्रादि मन्ये वदति सारिका ।।

साधकग्रहणादेव वस्तुनः साध्यत्वे लब्धे साध्यग्रहणमवस्तुत्वेन सिद्धस्याभावस्यापि वस्तुत्वप्रतिपत्त्यर्थम् । यत्साध्यं तद्भावरूपमभावरूपं वा भवत्विति क्त्वाप्रत्ययेनैव पुनःशब्दार्थे लब्धे साध्यसाधकयोश्च विलक्षणत्वादन्यत्वे सिद्धे पुनरन्यपदग्रहणं बहूनां साधकानामुपन्यासे सत्यनुमानोज्ज्वलत्वख्यापनार्थम् । साधकमुपन्यस्येत्पुनश्चान्यदुपन्यस्येदिति शब्दशक्त्यैव वा भूयस्ताप्रतीतिः ।।

उदाहरणमाह—

सावज्ञमागमिष्यन्नूनं पतितोऽसि पादयोस्तस्याः ।
कथमन्यथा ललाटे यावकरसतिलकपङ्क्तिरियम् ।। ५७ ।।

---

८. अनुमान

जहाँ कवि पहले परोक्ष साध्य वस्तु (कार्य) को बताकर फिर उसका साधक (कारण) बतलाए, अथवा इसके विपरीत करे (अर्थात्, पहले कारण का प्रतिपादन करके पश्चात् परोक्ष साध्यवस्तु का निर्देश करे), वहाँ अनुमान अलंकार होता है ।५६।

उदाहरणार्थ नमिसाधु-प्रस्तुत उक्त पद्य में साधकों (कारणों) के निर्देश द्वारा साध्य (कार्य) का अनुमान होना बताया गया है—

मेरा विचार है कि यह मैना बोल रही है, क्योंकि शिक्षा आदि अभ्यास के कारण अक्षर स्पष्ट हैं, स्त्री होने से आवाज़ मधुर है और शरीर छोटा होने से वह [आवाज़] सूक्ष्म अथवा कोमल है ।

उदाहरण—

तुम कुछ खिन्न-से दिखायी पड़ते हो, अवश्य ही कान्ता के चरणों पर सिर रखकर आये हो, अन्यथा तुम्हारे माथे पर यह मेंहदी का तिलक कैसे लगा ? ।५७।

यहाँ कार्य पहले बताया गया है और उसका कारण बाद में ।

सावज्ञमिति। अत्र पादपतनं साध्यमुपन्यस्य ललाटगतयावकरसतिलकपङ्क्तिः साधकमुपन्यस्तम् ॥

तथा—

वचनमुपचारगर्भं दूरादुद्गमनमासनं सकलम् ।
इदमद्य मयि तथा ते यथासि नूनं प्रिये कुपिता ॥ ५८ ॥

वचनमिति। अत्र वचनादीनि पूर्वं साधकान्युपन्यस्तानि पश्चात्कुपितत्वं साध्यमिति वैपरीत्यम् ॥

अथ भेदान्तराण्याह—

यत्र बलीयः कारणमालोक्याभूतमेव भूतमिति ।
भावीति वा तथान्यत्कथ्येत तदन्यदनुमानम् ॥ ५९ ॥

यत्रेति। यत्रालंकारे बलवत्तरकारणदर्शनेनान्यदिति कार्यमभूतमेवानुत्पन्नमेव भूतत्वेन भावित्वेन वा कथ्येत तत्तथेति पूर्ववद्यथापूर्वं साध्यमुपन्यस्य साधकोपन्यासः साधकं चोपन्यस्य साध्योपन्यास इत्येवं चतुर्धा तदन्यत्पूर्वोक्तादपरमनुमानम् ॥

उदाहरणान्याह—

अविरलविलोलजलदः कुटजार्जुननीपसुरभिवनवातः ।
अयमायातः कालो हन्त मृताः पथिकगेहिन्यः ॥६०॥

अविरलेति। अत्रादौ बलवतः कालस्य साधकस्योपन्यासः पश्चात्साध्यस्य मरणस्य भाविनोऽपि मृता इति भूतत्वेन निर्देशः ॥

हे प्रिये ! आज तुम्हारा कुशल प्रश्न पूछना, दूर से अगवानी के लिए आना, आसन देना, आदि, यह सब इस प्रकार लगता है, जैसे तुम कुपित हो रही हो ।५८।

यहाँ पहले कारण बताये गये हैं, फिर उनका कार्य निर्दिष्ट किया गया है ।

अनुमान का अन्य प्रकार—

जहाँ कारण के प्रबल होने से अभूत (अनुत्पन्न), भूत (उत्पन्न) अथवा भावि (उत्पन्न होने वाले) रूप से कार्य का वर्णन हो, वहाँ अनुमान अलंकार होता है ।५९।

इसमें भी [उपर्युक्त ७।५८ रूप में] पहले साध्य, फिर साधक; अथवा पहले साधक, फिर साध्य निर्दिष्ट करने का क्रम रहता है ।

उदाहरण—

यह घनघोर एवं उमड़ती हुई घटाओं को लिये हुए तथा कुटज, अर्जुन और कदम्ब की सुगन्धि से युक्त पवन वाला वर्षाकाल आ पहुँचा है । हा ! प्रोषित-भर्तृकाओं (वियोगिनी स्त्रियों) की क्या दशा होगी ।६०।

तथा—

दिष्ट्या न मृतोऽस्मि सखे नूनमिदानीं प्रिया प्रसन्ना मे ।
ननु भगवानयमुदितस्त्रिभुवनमानन्दयन्निन्दुः ॥६१॥

दिष्ट्येति । अत्र प्रियाप्रसादस्य साध्यस्य भाविनो भूतत्वेनादावुपन्यासः पश्चाच्चन्द्रोदयस्य बलवतः साधनस्येति भूतोदाहरणम् ॥

भाविन्याह—

यास्यन्ति यथा तूर्णं विकसितकमलोज्ज्वलादमी सरसः ।
हंसा यथैवमेतां मलिनयति घनावली ककुभम् ॥६२॥

यास्यन्तीति । अत्र हंसगमनस्य साध्यस्यादौ भावित्वेन निर्देशः पश्चात्साधनस्य बलवतो घनावलीलक्षणस्येति ॥

तथा—

वहति यथा मलयमरुद्यथा च हरितीभवन्ति विपिनानि ।
प्रियसखि तथेह न चिरादेष्यति तव वल्लभो नूनम् ॥६३॥

वहतीति । अथ पूर्वं बलवतो मलयवातादिकस्य साधकस्य निर्देशः । पश्चाद्वल्लभागमनस्य साध्यस्य भावित्वेनेति ॥

यहाँ बलवान् काल-रूप कारण का निर्देश पहले किया है और मरणरूप अभूत कार्य का निर्देश बाद में ।

हे मित्र ! सौभाग्य से मैं अभी जीवित हूँ । मेरी प्रिया भी अब अवश्य प्रसन्न है, और भगवान् चन्द्रदेव तीनों लोकों को आनन्दित करते हुए उदय हो गये हैं ।६१।

चन्द्रोदय-रूप प्रबल कारण के उपरान्त उक्त दो कार्य हुए हैं । अतः चन्द्रोदय भूत कारण है, जिसका निर्देश बाद में हुआ है और कार्यों का पहले हुआ है ।

ये हंस विकसित कमलों से उज्ज्वल इस तालाब से शीघ्र चले जाएँगे, क्योंकि मेघमाला इस दिशा को मलिन बना रही है ।६२।

यहाँ भावी कार्य पहले निर्दिष्ट हुआ है और उसका प्रबल कारण बाद में ।

हे प्रिय सखि ! दक्षिण दिशा की सुगन्धित पवन चलने लगी है और वन-उपवन हरे होने लगे हैं—इसलिये तुम्हारे प्रिय शीघ्र आने वाले हैं ।६३।

यहाँ प्रबल कारण का निर्देश पहले हुआ है और भावी कार्य का निर्देश बाद में ।

अथ दीपकम्—

यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति ।
तद्वत्कारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा ॥ ६४ ॥

यत्रेति । यत्रानेकेषां वाक्यार्थानामेकं क्रियापदं भवति तद्वत्कर्त्रादिकारकपदं वा तदित्यमुना प्रकारेण दीपकं द्वेधा । क्रियादीपकं कारकदीपकं चेत्यर्थः ॥

अथास्यान्वर्थभेदान्दर्शयितुमाह—

आदौ मध्येऽन्ते वा वाक्ये तत्संस्थितं च दीपयति ।
वाक्यार्थानिति भूयस्त्रिधैतदेवं भवेत्षोढा ॥६५॥

आदाविति । तदिति द्विविधं दीपकं पद्यादिलक्षणवाक्यस्यादौ मध्येऽन्ते वावस्थितं वाक्यार्थान्दीपयति प्रकाशयतीत्यन्वर्थवलादादिदीपकं मध्यदीपकमन्तदीपकं चेति त्रिविधम् । एवं चैतत्षोढा षड्विधं भवेदिति ॥

तदुदाहरणानि यथाक्रममाह—

कान्ता ददाति मदनं मदनः संतापमसममनुपशमम् ।
संतापो मरणमहो तथापि शरणं नृणां सैव ॥६६॥

---

८. *दीपक*

जहाँ अनेक वाक्यार्थों का एक ही क्रियापद अथवा कारकपद होता है, वहाँ दीपक अलंकार होता है। [इस प्रकार] इसके दो भेद होते हैं--क्रियादीपक और कारकदीपक ।६४।

यह द्विविध दीपक (क्रियादीपक और कारकदीपक) वाक्य के आदि, मध्य अथवा अन्त में आकर वाक्यार्थों को प्रकाशित करता है। इस प्रकार दीपक के छः भेद हैं ।६५।

क्रियादीपक के तीन भेद—आदिगत, मध्यगत और अन्तगत ।

कारकदीपक के तीन भेद—आदिगत, मध्यगत और अन्तगत ।

इस प्रकार कुल छः भेद हुए ।

आदि क्रियादीपक का उदाहरण—

कान्ता काम को देने वाली है, अर्थात् कामोद्दीपक है, कामदेव विषम और असाध्य सन्ताप देने वाला है। सन्ताप से मृत्यु होती है, फिर भी मनुष्य कान्ता की शरण में आते हैं ।६६।

कान्तेति । इदमादिक्रियादीपकम् ॥

तारुण्यमाशु मदनं मदनः कुरुते विलासविस्तारम् ।
स च रमणीषु प्रभवञ्जनहृदयावर्जनं बलवत् ॥६७॥

तारुण्यमिति । इदं मध्यक्रियादीपकम् ॥

नवयौवनमङ्गेषु प्रियसङ्गमनोरथो हि हृदयेषु ।
अथ चेष्टासु विकारः प्रभवति रम्यः कुमारीणाम् ॥६८॥

नवेति । इदमन्तक्रियादीपकम् ॥

निद्रापहरति जागरमुपशमयति मदनदहनसंतापम् ।
जनयति कान्तासंगमसुखं च कोऽन्यस्ततो बन्धुः ॥६९॥

निद्रेति । इदमादिकर्तृदीपकम् ॥

स्रंसयति गात्रमखिलं ग्लपयति चेतो निकाममनुरागः ।
जनमसुलभं प्रति सखे प्राणानपि मंक्षु मुष्णाति ॥७०॥

स्रंसयतीति । इदं मध्यकर्तृदीपकम् ॥

दूरादुत्कण्ठन्ते दयितानां संनिधौ तु लज्जन्ते ।
त्रस्यन्ति वेपमानाः शयने नवपरिणया वध्वः ॥७१॥

मध्य क्रियादीपक का उदाहरण—

युवावस्था तुरन्त ही काम को उत्पन्न करती है, काम अनेक प्रकार के विलासों को जन्म देता है। वह [हाव, भाव आदि विलास] रमणियों में उत्पन्न होकर लोगों के हृदयों को बलात् आकृष्ट कर लेते हैं।६७।

अन्त क्रियादीपक का उदाहरण—

कुमारियों के शरीर में नव-यौवन, हृदय में प्रिय से मिलने का मनोरथ और चेष्टाओं में ललित विकार जन्म लेता है।६८।

आदि कर्तृदीपक का उदाहरण—

निद्रा जागरण का हरण करती है, कामाग्नि के सन्ताप को दूर करती है और कान्ता के साथ समागम का सुख अनुभव कराती है। नींद से बढ़कर बन्धु और कौन होगा।६९।

मध्य कर्तृदीपक का उदाहरण—

अनुराग समस्त शरीर को शिथिल और चित्त को अत्यन्त खिन्न कर रहा है। हे मित्र ! प्रिया के दुर्लभ होने से यह अनुराग शीघ्र प्राणों को हरने वाला है।७०।

दूरादिति । इदमन्तकर्तृदीपकम् ।। एवं कर्मादिषु कारकेषूदाहरणानि द्रष्टव्यानि । अस्य च दीपकस्य प्रायोऽलंकारान्तरैः समावेश इष्यते । तथा ह्याद्ययोरुदाहरणयोः कारणमालायाः सद्भावः । तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु वास्तवसमुच्चयस्य । षष्ठे जातेः ।।

अथ परिकरः—

साभिप्रायैः सम्यग्विशेषणैर्वस्तु यद्विशिष्येत ।

द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विधः परिकरः स इति ।।७२।।

सेति । यद्द्रव्यगुणक्रियाजातिलक्षणं चतुर्विधं वस्तु साभिप्रायैर्विशेषणैः सम्यग्विशिष्येत स इत्यमुना प्रकारेण चतुष्प्रकारः परिकरालंकारो भवति । साभिप्रायग्रहणं वस्तुस्वरूपमात्राभिधानकल्पितानां विशेषणानां निरासार्थम् । यथा—

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।

इत्यत्र भूर्जत्वचां कुञ्जरबिन्दुशोणा इति विशेषणं वस्तुस्वरूपमात्राख्यापकमिति । सम्यग्ग्रहणं तु कविविवक्षिताभिप्रायाप्रत्यायकविशेषणानां निवृत्त्यर्थम् । तस्य भवन्ति द्रव्यमित्याद्यर्थचातुर्विध्याभिधानादेव तत्त्वावगमे सति द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विध इति यत्कृतं तत्कैश्चित्क्रियाया अवस्तुत्वमुक्तं त्रिविधश्च परिकरोऽभ्यधायि तन्मतनिरासार्थमिति ।।

अन्त कर्तृदीपक का उदाहरण—

नव विवाहित स्त्रियाँ पति के दूर होने पर उत्कण्ठित और समीप होने पर लज्जित होती हैं । पति के साथ शयन करने में काँपती और भयाकुल होती हैं ।७१।

इसी प्रकार कर्म आदि अन्य कारकों के भी उदाहरण सम्भव हैं । नमिसाधु के अनुसार कारक-दीपक का अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव हो सकता है । जैसे—प्रथम दो उदाहरणों का कारणमाला में, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम का वास्तवगत समुच्चय में तथा छठे का जाति में ।

१०. परिकर

[विशेष] अभिप्राय से युक्त विशेषणों से जिसे विशेषित किया जाए, उसे परिकर कहते हैं । द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति—ये इसके चार भेद हैं ।७२।

'विशेषण साभिप्राय होने चाहिए' इसका तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु के स्वरूप-मात्र के निर्देश के लिए विशेषण प्रस्तुत नहीं कर देने चाहिए, जैसे कि नमिसाधु-प्रस्तुत निम्नोक्त कथन में—

जिस [हिमालय पर्वत] पर [गैरिक आदि] धातुओं के रस से भोजपत्रों पर अक्षर लिखे गये हैं, वे [भोजपत्र] हाथियों के [शरीर पर वयोवृद्धि के साथ-साथ स्वतःअंकित पद्मक नामक] बिन्दुओं के समान रक्तवर्ण हैं ।

तदुदाहरणानि यथाक्रममाह—

उचितपरिणामरम्यं स्वादु सुगन्धि स्वयं करे पतितम् ।
फलमुत्सृज्य तदानीं ताम्यसि मुग्धे मुधेदानीम् ।।७३।।

उचितेति । काचित्सखीमाह—हे मुग्धे स्वल्पप्रज्ञे, एवंविधं फलं तदानीमुत्सृज्येदानीं मुधैव वृथैव ताम्यसि खिद्यस इत्यर्थः । अत्र फलवस्तुनो विशेषणानि साभिप्रायाणि । अयं चाभिप्रायः—योग्यपरिपाकसुन्दरता सुस्वादुरसता सौगन्ध्यं स्वयं हस्तपतनं चैकैकमपरित्यागकारणम् । त्वया त्वेतत्सकलगुणयुतं फलं त्यजन्त्या स्वयं जानन्त्यैव महाननुतापोऽङ्गीकृत एव । तत्किमिदानीं खेदेनेति । अथवात्रेदमुदाहरणम्—

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयभवनादीपनो योऽभिमानी
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः ।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथय न तु रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ।।

इदं द्रव्योदाहरणम् ।।

कार्येषु विघ्नतेच्छं विहितमहीयोपराधसंवरणम् ।
अस्माकमधन्यानामार्जवमपि दुर्लभं जातम् ।।७४।।

कार्येष्विति । मानिनी नायकमिदमाह । अत्रार्जवं गुणस्तद्विशेषणान्यन्यानि साभिप्रायाणि । तथाह्यार्जवे सति मुग्धतया यदेव कार्येषु सुरतेषु युष्मदादिरिच्छति तदेव क्रियते । तथा महीयसां गुरूणामपराधानां संवरणमाच्छादनं भवति । तच्चार्जवमस्मा-

---

द्रव्य परिकर का उदाहरण—

कोई सखी अपनी सखी से कहती है—हे मुग्धे ! उस समय तो तुमने सुन्दर, पके हुए, स्वादु, सुगन्धित और अनायास-प्राप्त फल को फेंक दिया था, अब क्यों व्यर्थ ही दुःखी होती है ।७३।

द्रव्यगत परिकर का एक अन्य उदाहरण नमिसाधु ने भी प्रस्तुत किया है—

जुए में छल करने वाला, लाक्षागृह को जलाने वाला, अभिमानी, द्रौपदी के केशों और वस्त्रों को खींचने में निपुण, पांडवों को दास बनाने वाला, दुःशासन आदि का शासक, सौ भाइयों में बड़ा तथा अङ्गदेशाधीश कर्ण का मित्र वह दुर्योधन कहाँ है ? बताओ ! हम दोनों यों ही उसे मिलने आये हैं, क्रुद्ध होकर नहीं ।

गुण परिकर का उदाहरण—

एक मानिनी नायक से कहती है—अपनी इच्छा तथा अनिच्छा का अनादर करके सुरत आदि में प्रवृत्त कराने वाली, बड़े-बड़े अपराधों पर परदा डालने वाली यह सरलता भी मुझ जैसी हतभागिनी के लिए दुर्लभ हो रही है ।७४।

कमधन्यानां दुष्प्रापं जातम् । अयमभिप्रायः—नाहमृज्वी येनैतानार्जवगुणान्मयि संभाव्य मां प्रसादयसीति ॥

क्रियापरिकरस्तु—

सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसंकटक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम् ॥७५॥

सततमिति । अत्र जीवतीति क्रिया । तद्विशेषणान्यनिर्वृतमानसमित्यादीनि । तेषामभिप्रायो राज्यगर्हादिकः । एवंविधं राज्ञो जीवनं गर्हितमित्यर्थः ॥

अथ जातिपरिकरमाह—

अत्यन्तमसहनानामुरुशक्तीनामनिघ्नवृत्तीनाम् ।
एकं सकले जगति स्पृहणीयं जन्म केसरिणाम् ॥७६॥

अत्यन्तमिति । अत्र केसरिणामिति सिंहजातिः । तद्विशेषणान्यसहनानामित्यादीनि ।

अभिप्रायस्तु तैः सिंहानां महत्त्वप्रतिपादनमेव । कथमन्यथा तज्जन्मनि स्पृहा भवेत् । अथवात्रैवमुदाहरणम्—

अभिप्राय यह है कि मुझे इतनी सरल मत समझना कि मैं तुम्हारे झाँसे में आ जाऊँगी ।

क्रिया-परिकर का उदाहरण—

दिग्विजय की इच्छा करने वाले इस राजा का मन निरन्तर अशान्त रहता है। हज़ारों संकटों एवं दुविधाओं के कारण इस बेचारे को नींद भी नहीं आती। शत्रु के भय से यह किसी पर विश्वास नहीं करता और इस प्रकार यह जीवन के दिन काट रहा है। अर्थात् ऐसे राजा का जीवन निन्दनीय है।७५।

जाति परिकर—

सारे संसार में केवल सिंहों का ही जन्म प्रशंसनीय है, क्योंकि वे असहनशील होते हैं, अर्थात् किसी का सामना सहन नहीं कर सकते। वे महाशक्तिशाली तथा स्वाधीन-प्रकृति होते हैं।७६।

नमिसाधु-प्रस्तुत जातिगत परिकर का एक अन्य उदाहरण—

कृश शरीर, काना, लंगड़ा, कटे हुए कान वाला, बिना पूंछ का, भूख से दुर्बल, बूढ़ा, तृषा से पीड़ित कण्ठयुक्त, दुर्गन्धपूर्ण रिसते हुए घावों तथा कीड़ों से भरा हुआ, बहुत सोने वाला कुत्ता भी कुतिया का अनुसरण करता है, कामदेव उसे भी काम-विह्वल बनाता है ।

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलः
क्षुधाक्षामो वृद्धः पिठरककपालार्दितगलः ।
व्रणैः पूतिक्लिन्नैः कृमिकुलचितः स्वापबहुलः
शुनीमन्वेति श्वा तमपि सदयत्येव मदनः ॥

अथ परिवृत्तिः—

युगपद्दानादाने अन्योन्यं वस्तुनोः क्रियेते यत् ।
क्वचिदुपचर्येते वा प्रसिद्धितः सेति परिवृत्तिः ॥ ७७ ॥

युगपदिति । यदन्योन्यं परस्परं वस्तुनोर्युगपत्समकालं दानादाने त्यागग्रहणे क्रियेते सेत्यमुना प्रकारेण परिवृत्तिर्नामालंकारो भवति । अथवा क्वचिदसती दानादाने यदुपचर्येते सा परिवृत्तिः । कथमसत उपचार इत्याह—प्रसिद्धितः । प्रसिद्धया हि न किंचिदपि विरुध्यते । अन्यथा गगनादीनामपि मूर्तधर्मवर्णनमयुक्तं स्यादिति भावः ॥

उदाहरणे द्वाभ्यामार्याधीभ्यामाह—

दत्त्वा दर्शनमेते मत्प्राणा वरतनु त्वया क्रीताः ।
किं त्वपहरसि मनो यद्ददासि रणरणकमेतदसत् ॥ ७८ ॥

दत्त्वेति । कश्चिद्व्यसनी वक्ति । इदमत्र दर्शनसमकालमेव प्राणक्रयस्तथा चित्तहरणसमकालमेव हृदयोत्कलिकादानमुपचरितम् ॥

अथ परिसंख्या—

पृष्टमपृष्टं वा सद्गुणादि यत्कथ्यते क्वचित्तुल्यम् ।
अन्यत्र तु तदभावः प्रतीयते सेति परिसंख्या ॥ ७९ ॥

---

११. परिवृत्ति

जहाँ परस्पर दो वस्तुओं का एक ही समय त्याग और ग्रहण किया जाय, वहाँ परिवृत्ति अलंकार होता है । कहीं-कहीं [त्याग और ग्रहण न होने पर भी] प्रसिद्धि के कारण [भी] ऐसा कर दिया जाता है । वहाँ भी परिवृत्ति अलंकार होता है ।७७।

उदाहरण—

एक कामी नायिका से कह रहा है—हे सुन्दरि ! तुमने दर्शन देने के साथ ही मेरे प्राण ख़रीद लिये हैं, किन्तु अब वह विरह की उत्कण्ठा देकर तुम मेरे चित्त का अपहरण कर रही हो, यह उचित नहीं है ।७८।

१२. परिसंख्या

जहाँ गुण, क्रिया, जाति रूप वस्तु कहीं तो तुल्य (साधारण रूप से) विद्यमान, अर्थात् अन्य स्थानों पर भी विद्यमान, कही जाती है, और कहीं पर उसका

पृष्टमिति । यद्गुणादि गुणक्रियाजातिलक्षणं वस्तु क्वचिन्नियतैकवस्तुन्याधारे विद्यमानं कथ्यते । कीदृशम् । सत्तुल्यं साधारणम् । अन्यत्रापि विद्यमानं सदित्यर्थः यद्येवं कस्मात्क्वचित्कथ्यत इत्याह—अन्यत्र वस्त्वन्तरे तस्याभावः प्रतीयते । कथने कृते सति तच्च क्वचित्पृष्टं कथ्यते क्वचिदपृष्टमिति द्विधा । पृष्टग्रहणं वाक्ये प्रश्नस्योपादानार्थम् । सेत्यमुना प्रकारेण परिसंख्या भण्यते ॥

उदाहरणानि यथा—

किं सुखमपारतन्त्र्यं किं धनमविनाशि निर्मला विद्या ।
किं कार्यं संतोषो विप्रस्य महेच्छता राज्ञाम् ॥८०॥

किमिति । अत्र सुखो गुणं धनं त्वविनाशित्वगुणयुक्तं पृष्टम् । तथा किं कार्यमित्यत्र द्विजनृपकर्तृका क्रिया पृष्टा । तेषां चान्यत्र सत्त्वेऽप्यपारतन्त्र्ये विद्यायां संतोषे महेच्छतायां च सद्भावः कथितः । अन्यत्र तदभाव एव प्रतीयते । अपारतन्त्र्यमेव सुखमित्याद्यवधारणप्रतीतेरिति । जातौ तु के ब्राह्मणा येषां सत्यमित्यादि द्रष्टव्यम् ॥

अपृष्टोदाहरणमाह—

कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥ ८१ ॥

कौटिल्यमिति । इदं कौटिल्यादिषु गुणेषूदाहरणम् । द्रव्यक्रियाजातिषु तु स्वयं द्रष्टव्यानि । लक्षणयोजना च कर्तव्येति ॥

अथ हेतुः—

हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद्भवेद्यत्र ।
सोऽलंकारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः ॥ ८२ ॥

अभाव होता है, उसे परिसंख्या कहते हैं। पृष्ट (प्रश्नात्मक) तथा अपृष्ट ये इसके दो भेद हैं।७६।

पृष्ट परिसंख्या का उदाहरण—

सुख क्या है ? स्वाधीनता सुख है। अक्षय धन कौन-सा है ? निर्मल विद्या। क्या करना चाहिये ? ब्राह्मण को सन्तोष और राजाओं को महत्त्वाकांक्षा।८०।

अपृष्ट परिसंख्या का उदाहरण—

तुम्हारे केशपाश में कुटिलता, हाथ, पैर और होंठों पर लाली, स्तनयुगल में कठिनता और आँखों में चंचलता निवास करती है।८१।

१२. हेतु

जहाँ कार्य के साथ कारण का अभेद से कथन हो वहाँ यह अन्य अलंकारों से विलक्षण हेतु नामक अलंकार होता है।८२।

हेत्विति । हेतुमता कार्येण सह हेतोः कारणस्य यत्राभिधानमभेदकृदभेदेन भवेत्स हेतुर्नामालंकारः । अन्येभ्योऽलंकारेभ्यः पृथग्भूतो विलक्षणः । अत्र वालंकारग्रहणमन्येभ्यः पृथग्भूत इति च परमतनिरासार्थम् । तथा हि नाम हेतुसूक्ष्मलेशानामलंकारत्वं नेष्टम् । एषां चालंकारत्वं विद्यते । वाक्यार्थालंकरणान्न चान्यत्रान्तर्भावः शक्यते कर्तुमिति ॥

उदाहरणमाह—

अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः ।
रम्योऽयमेति संप्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥८३॥

अविरलेति । अविरलानां कमलानां विकासहेतुत्वाद्वसन्तकाल एव तथोच्यते । एवं सकलालिमदश्चेत्यादावपि द्रष्टव्यम् । न त्वविरलानां कमलानां विकासो यत्रेत्यादि बहुव्रीहिः कर्तव्यः । तदा त्वभेदो न स्यात् । उदाहरणदिगियम् । इदं तूदाहरणं यथा—

आयुर्घृतं नदी पुण्यं भयं चौरः सुखं प्रिया ।
वैरं द्यूतं गुरुर्ज्ञानं श्रेयो ब्राह्मणपूजनम् ॥

अथ कारणमाला—

कारणमाला सेयं यत्र यथापूर्वमेति कारणताम् ।
अर्थानां पूर्वार्थाद्भवतीदं सर्वमेवेति ॥८४॥

कारणेति । सेयं कविप्रसिद्धा कारणमाला यस्यामर्थानां मध्याद्यथापूर्वं यो यः पूर्वः स स उत्तरेषामर्थानां कारणभावं याति । कथं याति पूर्वस्मादर्थादिदमुत्तरोत्तरार्थजातं सर्वमेव भवतीत्यमुना प्रकारेणेति ॥

उदाहरण—

यह सुन्दर समय (वसन्त) अब आ गया है, जो कमलवनों का विकास है, भौंरों की मस्ती तथा कोयलों का आनन्द है और लोगों के मन की उत्कण्ठा का आकार है ।८३।

नमिसाधु-प्रस्तुत निम्नोक्त कथन में भी हेतु अलंकार है—

घृत आयु है, नदीस्नान पुण्य है, चोर भय है, प्रिया सुख है, जुआ वैर है, गुरु ज्ञान है, और ब्राह्मण पूज्य कल्याण है ।

इस अलंकार से सम्बद्ध विशेष विवरण के लिए देखिए ७।१०३ व्याख्या-भाग ।

१४. कारणमाला

जहाँ अर्थों के बीच पूर्ववर्ती अर्थ परवर्ती अर्थ का कारण बन जाता है और यह [पद्धति] सकल रूप से होती है, अर्थात् आगे भी निभती जाती है, वहाँ कारणमाला अलंकार माना जाता है ।८४।

उदाहरणमाह—

विनयेन भवति गुणवान्गुणवति लोकोऽनुरज्यते सकलः।
अभिगम्यतेऽनुरक्तः ससहायो युज्यते लक्ष्म्या ॥८५॥

विनयेनेति । अत्र पूर्वः पूर्वो विनयादिरुत्तरोत्तरस्य गुणवत्त्वादेर्निमित्तम् ॥

अथ व्यतिरेकः—

यो गुण उपमेये स्यात्तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने ।
व्यस्तसमस्तन्यस्तौ तौ व्यतिरेकं त्रिधा कुरुतः ॥८६॥

य इति । उपमेये यो गुणः स्यादुपमाने च तस्य गुणस्य प्रतिपन्थी विरुद्धो यो दोषस्तौ गुणदोषौ व्यतिरेकमलङ्कारं त्रिधा त्रिविधं कुरुतः । कथमित्याह—व्यस्तसमस्तन्यस्ताविति । तत्र गुण एवोपमेये न्यस्यते न तूपमाने दोष इत्येकः प्रकारः । तथोपमाने दोषो न्यस्यते, न तूपमेये गुण इति द्वितीयः । एवं व्यस्तभेदौ द्वौ । तथोपमेये गुणोऽपि न्यस्यते, उपमाने च दोषोऽपीति समस्तन्यासे एक एव प्रकार इति त्रैविध्यम् । गुणश्चात्र हृदयावर्जकार्थविशेषो गृह्यते, न तु द्रव्यगुणक्रियाजातिषु प्रसिद्धः । दोषोऽपि

उदाहरण—

मनुष्य विनय से गुणवान् बनता है, गुणी मनुष्य पर लोगों का अनुराग बढ़ता हैं, अनुराग बढ़ने पर सहायक तथा अनुचर मिलते हैं, सहायक मिलने पर मनुष्य लक्ष्मी का कृपापात्र बनता है ।८५।

१५. व्यतिरेक

जो गुण उपमेय में हो यदि उस [गुण] का विरोधी दोष उपमान में [वर्णित हो, तो वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है।] ये दोनों—गुण और दोष—व्यस्त-न्यस्त और समस्त-न्यस्त के रूप में व्यतिरेक अलंकार को तीन भागों में विभक्त करते हैं ।८६।

ये तीन भेद इस प्रकार हैं—

१. जब उपमेय में तो गुण हो किन्तु उपमान में दोष न हो ।

२. उपमान में दोष हो किन्तु उपमेय में गुण न हो ।

ये दोनों व्यस्त व्यतिरेक के भेद हैं ।

३. समस्त-न्यास का एक ही भेद है—उपमेय में गुण हो और उपमान में दोष हो ।

यहाँ गुण से तात्पर्य है—हृदय को चमत्कृत करने वाला अर्थ-विशेष । दोष इससे विपरीत माना जाता है ।

चोक्तगुणविपक्ष एव। न चात्रौपम्यालङ्कारभेदत्वमाशङ्कनीयम्। सादृश्याभावात्। उपमानोपमेयपदोपादानं तु व्यतिरेकसिद्धयर्थम्। नह्यन्यथा संघटते गुणिनः सदोषेण सहौपम्यविघटनं व्यतिरेक इति कृत्वा ॥

तदुदाहरणान्याह—

सकलङ्केन जडेन च साम्यं दोषाकरेण कीदृक्ते।
अभुजंगः समनयनः कथमुपमेयो हरेणासि ॥८७॥

सकलङ्केनेति। सकलङ्केत्यार्यार्धम्। अत्रोपमाने दोषन्यास उपमेये गुणवत्ता प्रतीयते। अभुजंग इत्याद्युत्तरार्धम्। अत्रोपमाने सदोषत्वं गम्यते ॥

तरलं लोचनयुगलं कुवलयमचलं किमेतयोः साम्यम्।
विमलं मलिनेन मुखं शशिना कथमेतदुपमेयम् ॥८८॥

तरलमिति। अत्रोपमेये गुण उपमाने दोषश्च न्यस्त इति समस्तो भेदः ॥

भेदान्तरमाह—

यो गुण उपमाने वा तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमेये।
भवतो यत्र समस्तौ स व्यतिरेकोऽयमन्यस्तु ॥८९॥

व्यस्त व्यतिरेक (उपमान में दोष) का उदाहरण—

कलङ्कयुक्त, जड़ एवं दोषों के आकर (दोषाकर) चन्द्र के साथ तुम्हारी क्या तुलना? और साँपों से रहित तथा दो आँखों वाले होने से तुम्हारी उपमा भुजंगवेष्टित त्रिनयनधारी शिव से कैसे दी जा सकती है।८७।

इसी प्रसंग में नमिसाधु-प्रस्तुत एक उदाहरण—

जिस प्रकार रसिकता में मग्न वेश्यासक्त लोग अपशब्द (गालियों), चरित्रनाश और धन-हानि की परवाह नहीं करते, उसी प्रकार कुकवि (अप्रवीण कवि) भी शब्दों के दुष्ट-प्रयोग, छन्दोभंग तथा अभीष्टार्थ प्रतिपादन की परवाह नहीं करते।

समस्त व्यतिरेक (उपमेय में गुण तथा उपमान में दोष) का उदाहरण—

तुम्हारे नेत्रयुगल चञ्चल हैं और कमल स्थिर है—इन दोनों की परस्पर क्या समता? और तुम्हारे निर्मल मुख की मलिन चन्द्र से क्या उपमा दी जा सकती है?।८८।

व्यतिरेक का अन्य प्रकार—

जब उपमान में गुण और उपमेय में गुण का विरोधी दोष हो तो वहाँ भी व्यतिरेक अलंकार होता है, किन्तु ये दोनों समस्त रूप में [वर्णित] होने चाहिए।८९।

यहाँ 'समस्त' से तात्पर्य यह है कि उपमानगत गुण और उपमेयगत तद्विरोधी

य इति । सोऽयं व्यतिरेकोऽन्यः पूर्वविलक्षणः, यत्रोपमाने गुणस्य न्यास उपमेये च दोषस्य तौ समस्तौ न्यसनीयौ । व्यस्तयोरपि केचिदिच्छन्ति । यथा—

अभ्यर्णवर्ति दाह्यं वस्तु तदानीं विदह्याग्निः ।
शाम्यति यस्तेन कथं समो ननु स्यात्प्रियाविरहः ।।

तथा—

स्वदन्नेव तदात्वेऽपि बाधितोऽपि न शाम्यति ।
यः स दासेरकः क्षुद्रक्ष्वेडतुल्यः किमुच्यते ।।

तदेतद्युक्तम् । पूर्वेणैव सिद्धत्वात् । सर्वोऽप्यात्मीयधर्मोत्कर्षो गुणः । स चात्रोपमेये विद्यत इति ।।

उदाहरणमाह—

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयो विवर्धते सत्यम् ।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिर्वर्ति यातं तु ।।९०।।

क्षीण इति । अत्र शश्युपमानं क्षीणोऽपि वृद्धिगुणयुक्तो निर्दिष्टः । यौवनं तूपमेयं क्षयदोषयुक्तमिति ।।

दोष एक ही कार्य से सम्बद्ध हों । पर नमिसाधु ने इनके व्यस्त होने पर भी इस अलंकार की स्थिति स्वीकृत की है । यथा—

(१) 'अभ्यर्णवर्ति दाह्यं वस्तु···' अर्थात् समीप में स्थित जलने योग्य वस्तुओं को जलाकर जो अग्नि शान्त हो जाती है, प्रिया का वियोग भला उस [अग्नि] के समान कैसे हो सकता है ?

यहाँ उपमान (अग्नि) में अन्ततः शान्त हो जाने का जो गुण वर्णित है उपमेय में उस गुण का विरोधी दोष—शान्ति की प्राप्ति न होना—वर्णित है । ये दोनों कार्य समस्त न होकर व्यस्त हैं ।

उदाहरण

चन्द्रमा तो क्षीण होकर भी फिर वृद्धि को प्राप्त कर लेता है, किन्तु गया हुआ यौवन फिर वापस नहीं आता । इसलिए हे सुन्दरि ! [अब] प्रसन्न हो [कर मान जाओ] ।९०।

क्षीण चन्द्रमा (उपमान) की वृद्धिशीलता एक गुण है, किन्तु क्षीण-यौवन (उपमेय) में इस गुण का विरोधी दोष—एक बार चले जाने पर उसका पुनरावर्तन न होना, क्षीण होते चले जाना—विद्यमान है । ये दोनों कार्य एक ही तत्त्व से सम्बद्ध हैं, अतः समस्त हैं । इसी कारण यहाँ व्यतिरेक अलंकार है ।

अथान्योन्यमाह—

यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया ।
संजायेत स्फारिततत्त्वविशेषस्तदन्योन्यम् ॥६१॥

यत्रेति । यत्राभिधेययोः पदार्थयोः परस्परमन्योन्यं क्रियया हेतुभूतयैको निर्विलक्षणः कारकभावः कर्त्रादिकारकत्वं संजायेत । कीदृशः । स्फारितः परिपोषितस्तत्त्वविशेषो विशिष्टधर्मो येन सः तथाभूतः । तदन्योन्यमलङ्कारः । परस्परग्रहणं—

सिंहः प्रसेनमवधीत्सिंहो जाम्बवता हतः ।

इत्यन्योन्यनिवृत्त्यर्थम् । एकग्रहणं तु—

कृष्णद्वैपायनं पार्थः सिषेवे शिष्यवत्ततः ।
असावध्यापयत्तं तु विद्यां योगसमन्विताम् ॥

इत्येतन्निवृत्त्यर्थम् ॥

उदाहरणमाह—

रूपं यौवनलक्ष्म्या यौवनमपि रूपसंपदस्तस्याः ।
अन्योन्यमलंकरणं विभाति शरदिन्दुसुन्दर्याः ॥६२॥

रूपमिति । अत्र रूपयौवनयोरलङ्करणक्रिययैकः कारकभावः कर्तृत्वलक्षणः ।

---

१६. अन्योन्य

जहाँ दो पदार्थों में परस्पर क्रिया के द्वारा विशिष्टता (विशेष अर्थ) को परिपुष्ट करनेवाला एक कारक भाव (कारकत्व) हो, उसे अन्योन्य कहते हैं ।६१।

नमिसाधु ने इसी प्रसंग में दो प्रत्युदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

(१) 'सिंहः प्रसेनम्···' अर्थात् सिंह ने प्रसेन को मारा और जाम्बवान् ने सिंह को ।

अन्योन्य के उक्त लक्षण में 'परस्परम्' शब्द का प्रयोग किया गया है । 'सिंहः प्रसेनम्···' में प्रसेन और सिंह की परस्पर एक-दूसरे द्वारा मृत्यु न होने के कारण अन्योन्य अलंकार नहीं है ।

(२) 'कृष्णद्वैपायनं पार्थः······' अर्थात् तब शिष्य के समान अर्जुन ने कृष्ण द्वैपायन व्यास की सेवा की । भगवान् व्यास ने उसे योगविषयक विद्या सिखायी ।

यहाँ भी अन्योन्य अलंकार नहीं है, क्योंकि सेवा करना और विद्या सिखाना ये दोनों क्रियाएँ एक न होकर परस्पर भिन्न हैं ।

उदाहरण—

शरत्कालीन चन्द्रमा के समान उस सुन्दरी का रूप यौवन को अलंकृत कर रहा है और यौवन रूप को ।६२।

तेन च रूपस्य दीर्घनयनत्वादिको विशेषः स्फारितः । यौवनस्यापि वपुर्विभागश्चतुरस्र-शोभादिकत्वविशेषः स्फारितः ।।

अथोत्तरम्—

उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम् ।
क्रियते तदुत्तरं स्यात्प्रश्नादप्युत्तरं यत्र ।।९३।।

उत्तरेति । उत्तरवचनानि श्रुत्वा यत्र पूर्ववचनानि निश्चीयन्ते तदुत्तरम् । तथा प्रश्नाच्चोत्तरं यत्र स्यात्तदप्युत्तरम् । इति द्विधेदम् । अस्य चाद्योत्तरभेदस्यानुमानस्य चायं विशेषो यत्तत्र सामान्येन हेतुहेतुमद्भावः साध्यते । अत्र तु न हेतुहेतुमद्भावो वाक्ये निबध्यते । किं तु श्रोता श्रुत्वोत्तरवचनानि तदनुसारेण पूर्ववचनानि निश्चिनोतीति ।।

उदाहरणम्—

भण मानमन्यथा मे भ्रुकुटिं मौनं विधातुमहमसहा ।
शक्नोमि तस्य पुरतः सखि न खलु पराङ्मुखीभवितुम् ।।९४।।

भणेति । अत्रास्मान्नायिकोक्तादुत्तरात्सखीवचनान्युच्चीयन्ते । नूनमस्याः सखीभिरुक्तं यथा सापराधस्य प्रियस्य भ्रुकुटिमौनपराङ्मुखीभावान्कुरुष्वेति ।।

यौवन और रूप एक-दूसरे की शोभा-वृद्धि कर रहे हैं। यहाँ एक क्रिया 'विभाति' द्वारा उक्त दोनों पदार्थ एक-दूसरे के कारकभाव को प्राप्त कर रहे हैं, अर्थात् यौवन कर्ता है तो रूप कर्म है, और रूप कर्ता है तो यौवन कर्म ।

१७. उत्तर

जहाँ उत्तर के श्रवण से पूर्वकथित वचनों (प्रश्न) का निश्चय हो, तथा प्रश्नों से उत्तर का निश्चय हो, वहाँ उत्तर अलंकार होता है ।९३।

इस प्रकार उत्तर अलंकार के दो प्रकार हुए—

(१) उत्तर से प्रश्न का निश्चय,

(२) प्रश्नपूर्वक उत्तर ।

(१) उत्तर से प्रश्न के निश्चय का उदाहरण—

हे सखि ! मुझे मान करने का और कोई उपाय बताओ, क्योंकि मैं उसके सामने भृकुटि चढ़ाकर, मौन रहकर तथा पराङ्मुख होकर भी देख चुकी हूँ—इनमें से कोई उपाय काम नहीं देता ।९४।

नायिका के इस उत्तर से यह निश्चित हो जाता है कि सखी ने उसे मान करने का उपाय बताया होगा ।

द्वितीयोदाहरणमाह—

किं स्वर्गादधिकसुखं बन्धुसुहृत्पण्डितैः समं लक्ष्मीः ।
सौराज्यमदुर्भिक्षं सत्काव्यरसामृतास्वादः ॥९५॥

किमिति । इति प्रश्नादुत्तरम् । अथास्य परिसंख्यायाश्चायं विशेषो यत्तत्र नियमप्रतीतिरेतदेवात्रैव वेति इह तु प्रश्नादुत्तरमात्रम्, न तु नियमप्रतीतिः ॥

अथ सारम्—

यत्र यथासमुदायाद्यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति ।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद्भवेत्सारम् ॥९६॥

यत्रेति । यो यः समुदायो यथासमुदायम्, यो य एकदेशो यथैकदेशमित्यव्ययीभावः । यथासमुदायाद्यथैकदेशं क्रमेण निर्धार्यते पृथक्क्रियते । कथम्, परावधि । परमुत्कृष्टतममेकदेशमवधिं कृत्वा । निर्धारणं च गुणक्रियाजातिभिः संभवति । अत आह—गुणवदिति । गुणवत्त्वेन, न तु क्रियाजातिभ्याम् । क्रमेणेति चाक्रमनिवृत्त्यर्थम् । तेनेह सारत्वं न भवति । यथा—

नदीषु गङ्गा नगरीषु काञ्ची पुष्पेषु जाती रमणीषु रम्भा ।
सदोत्तमत्वं पुरुषेषु विष्णुरैरावणो गच्छति वारणेषु ॥

नह्यत्र शृङ्खलाकटकवन्निर्धारणम् । कस्तर्ह्येषोऽलंकारः साराभास इत्युच्यते । सर्वत्र हि संपूर्णलक्षणा भावे आभासत्वं कविभिर्व्यवस्थापितम् । निरतिशयग्रहणमतिशयालंकारत्वनिवृत्त्यर्थम् । अन्यरूपत्वात्तस्य । सारत्वमुत्कर्षस्तत्र चातिशयालंकाराशङ्केति । अथवाप्याक्षेपिकगुणवत्त्वनिवृत्त्यर्थमिति ॥

---

(२) प्रश्नपूर्वक उत्तर का उदाहरण—

स्वर्ग से बढ़कर अधिक सुखकर क्या है ? बन्धु, मित्र तथा विद्वानों की संगति, लक्ष्मी, अच्छा राज्य, दुर्भिक्ष का अभाव और सत्काव्य के रसामृत का आस्वाद ।९५।

१८. सार

जहाँ समुदाय में से एक देश को क्रम से पृथक् करके गुण-सम्पन्न होने से उसकी उत्कृष्टता की चरम-सीमा निश्चित की जाती है उसे सार कहते हैं ।९६।

इसका तात्पर्य यह है कि किसी एक पदार्थ से सम्बन्धित अनेक सारवान् (गुण-युक्त) वस्तुओं में ये किसी एक का निर्वाचन करके पुनः उससे सम्बन्धित किसी एक सारवान् वस्तु का निर्वाचन करते हुए इसी पद्धति को निभाते चलना सार अलंकार कहाता है । नमिसाधु ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए 'नदीषु गंगा···' पद्य के सम्बन्ध में कहा है कि यहाँ सार अलंकार की स्वीकृति न होगी—'नदियों में गङ्गा, नगरियों में

उदाहरणम्—

राज्ये सारं वसुधा वसुंधरायां पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥९७॥

राज्य इति । अत्र सप्ताङ्गराज्यसमुदायाद्वसुधारूपैकदेशस्य, ततोऽपि पुरस्येत्यादिगुणवत्त्वेन निर्धारणम् ॥

अथ सूक्ष्मम्—

यत्रायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजार्थसंबद्धम् ।
अर्थान्तरमुपपत्तिमदिति तत्संजायते सूक्ष्मम् ॥९८॥

यत्रेति । प्रतिपाद्योऽर्थे यस्य युक्तिर्न विद्यतेऽसावयुक्तिमदर्थः शब्दो यत्रात्मीयार्थसंबद्धमर्थान्तरं गमयति प्रत्यापयति तत्सूक्ष्मम् । ननु यस्य निजार्थेऽपि युक्तिर्नास्ति तस्य कुतस्तत्संबन्धे स्यादित्याह—उपपत्तिमदिति । इतिर्हेतौ । यतोऽर्थान्तरे तत्संबद्धे घटना विद्यते । अत एव सूक्ष्मावगमकारणात्सूक्ष्ममिति नाम ॥

उदाहरणमाह—

आदौ पश्यति बुद्धिर्व्यवसायोऽकालहीनमारभते ।
धैर्यं व्यूढमहाभरमुत्साहः साधयत्यर्थम् ॥९९॥

आदाविति । व्यवसायः कर्मण्युद्योगः । धैर्यमसंमोहः । उत्साहः शक्तिः । अत्र पुनर्बुद्धेर्दर्शनम्, व्यवसायस्यारम्भः, धैर्यस्य भरवहनम्, उत्साहस्य च साधनमचेतन-

---

कांची, पुष्पों में जाति पुष्प, स्त्रियों में रम्भा, पुरुषों में विष्णु, और हाथियों में ऐरावत सर्वश्रेष्ठ हैं ।' क्योंकि यहाँ एक-के-बाद एक उत्कृष्ट पदार्थों का निर्देश नहीं हुआ ।

उदाहरण

राज्य में भूमि सार होती है । भूमि पर नगर सार होते हैं; नगर में महल सार होते हैं, महल में सुन्दर शय्या सार होती है और शय्या पर कामदेव की सर्वस्वभूत सुन्दर कामिनी सार होती है ।९७।

१९. सूक्ष्म

प्रतिपाद्य अर्थ में युक्तिविहीन अर्थ बताने वाला शब्द जब अपने अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले युक्तियुक्त अर्थान्तर का बोध कराता है, तो वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है ।९८।

उदाहरण—

बुद्धि किसी वस्तु को देखती है । उद्योग समय को न खोते हुए कार्य को आरम्भ करता है । धैर्य कार्य में पड़ने वाले विघ्नों को सहता है और उत्साह उस कार्य को सिद्ध करता है ।९९।

त्वान्न घटते । इत्येते शब्दा यथोक्तेऽर्थेऽनुपपन्नाः । करणभावो ह्येषां घटते, न कर्तृत्वम् । बुद्ध्यादिसंबद्धे तु देवदत्तादौ सर्वमुपपद्यत इति कृत्वा । यदा बुद्धिमानर्थं पश्यति तदा बुद्धिः पश्यतीत्याद्युच्यत इति ॥

अथ लेशः—

दोषीभावो यस्मिन्गुणस्य दोषस्य वा गुणीभावः ।
अभिधीयते तथाविधकर्मनिमित्तः स लेशः स्यात् ॥१००॥

दोषीभाव इति । यस्मिन्गुणस्य दोषभावो दोषस्य च गुणभावो विधीयते । कीदृशः । तथाविधं गुणस्य दोषीकरणं दोषस्य गुणीकरणं वा कर्म निमित्तं यस्य स तथोक्तः । वाशब्द एकयोगेऽपि लेशत्वख्यापनार्थः । अन्यथा यत्रोभययोगस्तत्रैव स्यादिति ॥

उदाहरणमाह—

अन्यैव यौवनश्रीस्तस्याः सा कापि दैवहतिकायाः ।
मथ्नाति यया यूनां मनांसि दूरं समाकृष्य ॥१०१॥

अन्येति । अत्र यौवनस्य गुणस्यापि युवचेतोमथनाद्दोषीभावः ॥

अथ दोषस्य गुणभावोदाहरणमाह—

हृदयं सदैव येषामनभिज्ञं गुणवियोगदुःखस्य ।
धन्यास्ते गुणहीना विदग्धगोष्ठीरसापेताः ॥१०२।

इस कथन में सूक्ष्मता यह है कि बुद्धिमान कार्यसिद्धि के लिए सभी कार्य करता है ।

इस अलंकार के विशेष विवरण के लिए देखिए ७।१०२, व्याख्या-भाग ।

२०. *लेश*

जिस [कर्म] में गुण को दोष-रूप से और दोष को गुण रूप से वर्णित किया जाता है, ऐसा कर्म 'लेश' अलंकार का कारण बनता है ।१००।

गुण का दोष में परिवर्तित होने का उदाहरण —

उस अभागिनी की यौवन-शोभा अवश्य कुछ और ही प्रकार की है, जिससे वह युवकों के मन को दूर से खींचकर मथ डालती है ।१०१।

यहाँ यौवन-रूप गुण का यह दोष बताया गया है कि वह युवकों के मन को मथ डालता है ।

दोष का गुण में परिवर्तित होने का उदाहरण—

जिन का हृदय गुणों के वियोग के दुःख से अनभिज्ञ है और जिन्हें विद्वानों की गोष्ठी के आनन्द का अनुभव नहीं, ऐसे गुणहीन लोग धन्य हैं ।१०२।

इसी अध्याय की निम्नोक्त कारिकाओं में क्रमशः हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों का निरूपण प्रस्तुत किया गया है—८२-८३, ९८-९९, १००-१०२। ये तीनों अलंकार भामह के समय से ही विवाद-ग्रस्त रहे हैं। भामह ने इन्हें अलंकार-रूप में स्वीकृत नहीं किया था। उनके मत में इनका विषय काव्य से सम्बद्ध न होकर 'लोक-वार्ता' से ही सम्बद्ध है। किन्तु दण्डी ने इन्हें 'वाणी के भूषण रूप' में स्वीकार किया। आगे चलकर प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता रुद्रट ने इन तीनों अलंकारों का निरूपण किया, किन्तु इनके द्वारा सम्मत हेतु का लक्षण दण्डि-सम्मत लक्षण से भिन्न हो गया। दण्डी ने कारण और कार्य के एक साथ वर्णन को हेतु-अलंकार माना था, किन्तु रुद्रट ने कारण और कार्य की एकता को हेतु-अलंकार कहा है। आगे चलकर रुद्रट-सम्मत हेतु-अलंकार का मम्मट ने खण्डन प्रस्तुत किया है। उनके खण्डन का मुख्य आधार यह है इसमें 'वैचित्र्य' का अभाव रहता है, तथा इसका अन्तर्भाव इन्होंने काव्यलिंग अलंकार में किया है। किन्तु मम्मट की यह धारणा चिन्त्य है। एक ओर 'आयुर्घृतम्'—जैसे वाक्यों में उनके कथनानुसार वैचित्र्य के अभाव के कारण 'हेतु-अलंकार' के सद्भाव का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, [यद्यपि 'आयुर्घृतम्' में उन्होंने स्वयं 'सारोपा लक्षणा' की स्वीकृति की है], और दूसरी ओर 'अविरलकमलविकासः' जैसे पद्यों में प्रथम तो उक्त अभाव के कारण 'हेतु' अलंकार नहीं है, और यदि स्वीकृत कर भी लिया जाए तो उनके द्वारा सम्मत काव्यलिंग अलंकार ही 'हेतु' है। किन्तु उनके ये दोनों कथन परस्पर-विरोधी हैं। जब तथाकथित 'हेतु' अलंकार के उदाहरणों में 'वैचित्र्य का अभाव' मान लिया गया तो उन्हें काव्यलिंग का उदाहरण मानना समुचित प्रतीत नहीं होता। अस्तु !

लेश अलंकार का स्वरूप दण्डी ने दो रूपों में प्रस्तुत किया था—

(१) लेश (स्वल्प) मात्र भी प्रकट वस्तु के रूप को छिपाना, अथवा प्रकट वस्तु को लेश (व्याज) द्वारा छिपाना।

(२) लेशतः (व्याज से) स्तुति द्वारा निन्दा, और निन्दा द्वारा स्तुति करना।

आगे चलकर अप्पयदीक्षित ने उक्त दोनों रूपों में से पहले रूप की चर्चा नहीं की। दूसरे रूप की चर्चा अवश्य की है, किन्तु उसे लेश नाम नहीं दिया। इसके पहले प्रकार को व्याजोक्ति माना है और दूसरे को व्याजस्तुति।

रुद्रट ने सर्वप्रथम इस अलंकार का सम्बन्ध उक्त रूप में गुण एवं दोष के साथ जोड़ा और इसका यही रूप भोजराज एवं अप्पयदीक्षित ने भी स्वीकृत किया।

सूक्ष्म अलंकार का स्वरूप दण्डी से लेकर अप्पयदीक्षित-पर्यन्त अधिकतर आलंकारिकों ने लगभग एकसमान प्रस्तुत किया है। इसके जो उदाहरण दिये गये वे इतने अधिक चमत्कारपूर्ण हैं कि इसे भामह के अनुरूप अलंकार न मानने का प्रश्न

हृदयमिति । सुगममेव ।।

अथावसरः—

अर्थान्तरमुत्कृष्टं सरसं यदि वोपलक्षणं क्रियते ।
अर्थस्य तदभिधानप्रसङ्गतो यत्र सोऽवसरः ।।१०३।।

अर्थान्तरमिति । तत्रार्थस्य न्यूनस्य यद्युत्कृष्टमुदात्तं सशृङ्गारादिकं वार्थान्तरमुपलक्षणं क्रियते सोऽवसरालंकारः । किमर्थं क्रियत इत्याह—तस्योत्कृष्टत्वादेरभिधानप्रसङ्गेन । उत्कृष्टत्वं सरसत्वं वा न्यूनस्याभिधातुमित्यर्थः ।।

उदाहरणम्—

तदिदमरण्यं यस्मिन्दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन्बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ।।१०४।।

तदिति । अत्र साक्षाद्रामवासस्तत्कृतश्च राक्षसक्षय उत्कृष्टो वनस्योत्कृष्टत्वख्यापनायोपलक्षणत्वेन कृतः ।।

द्वितीयोदाहरणमाह—

सा सिप्रानाम नदी यस्यां मङ्क्षूर्मयो विशीर्यन्ते ।
मज्जन्मालवललनाकुचकुम्भास्फालनव्यसनात् ।।१०५।।

ही उपस्थित नहीं होता । सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण उदाहरण मम्मट प्रस्तुत है—

वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुंकुमं क्वापि कण्ठे ।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख ।।

—का० प्र० १०।५३०

[इन तीनों अलंकारों के विशेष विवरण के लिए देखिए : हमारा ग्रन्थ—'काव्यशास्त्रीय निबन्ध ।']

२१. अवसर

जहाँ न्यून अर्थ के प्रसङ्ग में उत्कृष्ट तथा रसपूर्ण दूसरे अर्थ का प्रतिपादन किया जाए वहाँ अवसर नामक अलंकार होता है ।१०३।

उदाहरण—

यह वही वन है, जहाँ दशरथ के वचनों का पालन करने में एकनिष्ठ राम ने अपने भुजबल से राक्षसों का विनाश किया था ।१०४।

यहाँ केवल वन की उत्कृष्टता निर्दिष्ट करने के उद्देश्य से ही उक्त प्रसंग की अवतारणा की गयी है ।

अन्य उदाहरण—

यह सिप्रा नामक नदी है, जिसकी लहरें स्नान करती हुई मालव देश की

सेति। अत्र मालवतरुणीलक्षणं सश्रृंङ्गारं वस्तु सरसत्वाभिधानायोपलक्षणं सिप्रायाः कृतम् ।।

अथ मीलितम्—

तन्मीलितमिति यस्मिन्समानचिह्नेन हर्षकोपादि।
अपरेण तिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि ।।१०६।।

तदिति । तन्मीलितमित्यलंकारः, यत्र हर्षकोपभयाद्यपरेण वस्तुना हर्षादि-तुल्यचिह्नेन स्वाभाविकेन कृत्रिमेण वा तिरस्क्रियते । अपिर्विस्मये । इतिः प्रकारे ।।

उदाहरणम्—

तिर्यक्प्रेक्षणतरले सुस्निग्धे च स्वभावतस्तस्याः ।
अनुरागो नयनयुगे सन्नपि केनोपलक्ष्येत ।।१०७।।

तिर्यगिति । अत्र नयनयुगस्य स्वाभाविकतिर्यक्प्रेक्षणादियुक्तस्य यादृशी चेष्टा तादृश्येवानुरागयुक्तस्येत्यसौ नित्येन तेनापह्नूयते ।।

मदिरामदभरपाटलकपोलतललोचनेषु वदनेषु ।
कोपो मनस्विनीनां न लक्ष्यते कामिभिः प्रभवन् ।।१०८।।

मदिरेति । अत्र कोपसदृशचिह्नेन मदिरामदेनागन्तुकेन कोपस्तिरस्क्रियते ।।

स्त्रियों के कठोर स्तनकलश के आघात से शीघ्र बिखर जाती हैं।१०५।

२२. मीलित

जहाँ हर्ष, कोप आदि को इन हर्ष, कोप आदि के समान चिह्न, चाहे वे नित्य (स्वाभाविक) हों, अथवा आगन्तुक (कृत्रिम) हों, तिरस्कृत कर देते हैं, वहाँ मीलित अलंकार होता है।१०६।

उदाहरण—

तिरछी दृष्टि के कारण स्वभावतः चंचल और सरस उस कामिनी के नेत्र-युगल में अनुराग रहने पर भी [उसे] कौन जान सकता है ?१०७।

अन्य उदाहरण—

मद्यपान के मद से अरुणित, मानिनियों के कपोल, नेत्र और मुखों पर उमड़ते हुए क्रोध को कामी लोग नहीं देख पाते।१०८।

(अर्थात् वे समझते हैं कि उनका मुख क्रोध से नहीं प्रत्युत मद्यपान से ही अरुणित है।)

अथैकावली—

एकावलीति सेयं यत्रार्थपरम्परा यथालाभम् ।
आधीयते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम् ॥१०९॥

एकेति । सेयमेकावलीनामालंकारो यत्रार्थानां परम्परा यथालाभमाधीयते न्यस्यते । कीदृशी सा । यो य उत्तरोऽर्थः स स पूर्वस्य विशेषणं यस्यां सा तथाविधा । एतेन समुच्चयस्यैकावलीत्वं निषिद्धम् । कथं यथोत्तरविशेषणा, कथं वाधीयत इत्याह— स्थित्यपोहाभ्यामिति । स्थितिर्विधिरपोहो व्यवच्छेदस्ताभ्यामिति ॥

यथाक्रममुदाहरणे—

सलिलं विकासिकमलं कमलानि सुगन्धिमधुसमृद्धानि ।
मधु लीनालिकुलाकुलमलिकुलमपि मधुररणितमिह ॥११०॥

सलिलमिति । अत्र सलिलाद्यर्थपरम्परा यथोत्तरकमलादिविशेषणा यथालाभं विधिमुखेन निर्दिष्टा ॥

नाकुसुमस्तरुरस्मिन्नुद्याने नामधूनि कुसुमानि ।
नालीनालिकुलं मधु नामधुरक्वाणमलिवलयम् ॥१११॥

नेति । अत्र निषेधरूपेण तर्वादिकार्यपरम्परा यथोत्तरकुसुमादिविशेषणा निहितेति ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतः
सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

---

२३. एकावली

जिस अलंकार में अर्थों की परम्परा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट रखी जाती है, उसे एकावली अलंकार कहते हैं। इसमें आगे आनेवाला अर्थ अपने से पूर्ववर्ती अर्थ का विशेषण होता है, इस अलंकार में कहीं विधि-रूप से, और कहीं निषेध-रूप से वर्णन होता है ।१०९।

विधि रूप से कथन का उदाहरण—

जल में कमल खिल रहे हैं, कमलों में पराग और मकरन्द में भौंरे चिपटे हुए हैं, और भौंरे मधुर गुंजन कर रहे हैं ।११०।

निषेध रूप से कथन का उदाहरण—

इस उपवन में ऐसा कोई पेड़ नहीं है, जिस पर फूल न लदे हों, ऐसे फूल भी नहीं हैं, जिनमें मधु न भरा हो, ऐसा मधु भी नहीं है, जहाँ भौंरे न लिपटे हों, और ऐसे भौंरे भी नहीं हैं, जो मधुर गुञ्जार न कर रहे हों ।१११।

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्य-हिन्दीव्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

अष्टमोऽध्यायः

वास्तवं सप्रभेदमाख्यायेदानीमौपम्यमाह—

सम्यक्प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति ।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम् ॥१॥

सम्यगिति । यत्र प्रस्तुतं वस्तु स्वरूपविशेषेण सम्यगनन्यथा प्रतिपादयितुं वस्त्वन्तरमप्रस्तुतं वक्ताभिदध्यात्तदौपम्यं नामालंकारः । ननु वस्त्वन्तरोक्त्या कथं वस्तुस्वरूपं विशेषतः प्रतिपाद्यत इत्याह—तत्समानमिति । इति हेतौ । यतो वस्त्वन्तरं प्रकृतवस्तुसदृशमतस्तेन तत्सम्यक्प्रतिपाद्यते । 'सर्वः स्वं स्वं रूपम्' (७।७) इत्यादिना सम्यक्त्वे लब्धे सम्यग्ग्रहणं विशिष्टसम्यक्त्वार्थम् । अभिदध्यादिति । कर्तृपदेनैव वक्तरि लब्धे वक्तृग्रहणं रक्तविरक्तमध्यस्थादिवक्तृविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् । तेन यो यादृशो वक्ता येन स्वरूपेण वक्तुमिच्छति तादृशमेव वस्त्वन्तरमभिदध्यात् तदौपम्यम् । रक्तो यथा—

अमृतस्येव कुण्डानि सुखानामिव राशयः ।
रतेरिव निधानानि योषितः केन निर्मिताः ॥

इत्यादि । विरक्तो यथा—

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतोर्विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति ।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः ॥

इत्यादि । मध्यस्थस्तु स्वरूपमात्रं वक्ति यथा—

दर्शनादेव नटवद्धरन्ति हृदयं स्त्रियः ।
सुविश्वस्तेऽप्यविश्वस्ता भवन्ति च चरा इव ॥

यत्रोपमानोपमेयभावः श्रौतः प्रातीतिको वा तदौपम्यमिति तात्पर्यम् । तेन संशयादयोऽप्येतद्भेदा एवेति ॥

अष्टम अध्याय

सप्तम अध्याय में अर्थालंकारों को चार वर्गों में विभाजित किया गया था—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष । उसी अध्याय में वास्तवमूलक अर्थालंकारों के निरूपण के उपरान्त इस अध्याय में औपम्यमूलक २१ अलंकारों का निरूपण प्रस्तुत है ।

औपम्य

जिसमें वक्ता किसी वस्तु के स्वरूप का सम्यक् प्रतिपादन करने के लिए उसके समान दूसरी वस्तु का वर्णन करे उसे औपम्य कहते हैं ।१।

सामान्यमभिधाय तद्भेदानाह—

उपमोत्प्रेक्षारूपकमपह्नुतिः संशयः समासोक्तिः ।
मतमुत्तरमन्योक्तिः प्रतीपमर्थान्तरन्यासः ॥२॥
उभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्ताः ।
पूर्वसहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि तद्भेदाः ॥३॥

उपमेति । उभयेति । तस्यौपम्यस्योपमादय एते एकविंशतिर्भेदाः ॥

यथोद्देशस्तथा लक्षणमिति पूर्वमुपमालक्षणमाह—

उभयोः समानमेकं गुणादि सिद्धं भवेद्यथैकत्र ।
अर्थेऽन्यत्र तथा तत्साध्यत इति सोपमा त्रेधा ॥४॥

उभयोरिति । उभयोः प्रस्तावादुपमानोपमेययोः समानं साधारणमेकमद्वितीयं गुणादि गुणसंस्थानादि यथा येन प्रकारेणैकत्रोपमाने सिद्धं प्रतीतम्, तथा तेनैव प्रकारेणान्यत्रार्थ उपमेये साध्यत इत्येवं प्रकारोपमा । सा च त्रेधा—वाक्योपमा, समासोपमा, प्रत्ययोपमेति । अभिधानस्य मानभेदेनेत्यत्र चैकत्रेति सामान्योक्तावपि 'प्रसिद्धमुपमानम्' इति न्यायादुपमानं लभ्यते ॥

अथैतद्भेदत्रयमाह—

वाक्योपमात्र षोढा तत्र त्वेका प्रयुज्यते यत्र ।
उपमानमिवादीनामेकं सामान्यमुपमेयम् ॥५॥

औपम्यगत अलंकार—

औपम्य के ये भेद हैं, अर्थात् औपम्य से सम्बद्ध ये अलंकार हैं—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण ।२-३।

१. उपमा

उपमान और उपमेय के एक स्वीकृत समान गुण को जैसा उपमान में कहा जाए, वैसा यदि उसे उपमेय में कहा जाए, तो वहाँ उपमा अलंकार माना जाता है । उपमा तीन प्रकार की होती है ।४।

वाक्योपमा

वाक्योपमा छः प्रकार की है। जहाँ उपमान और उपमेय की समानता 'इव' आदि वाचक शब्दों के द्वारा कही जाती है, वहाँ पहली वाक्योपमा मानी जाती है ।५।

वाक्येति । अत्रोपमायां वाक्योपमा तावत्षट्प्रकारेति । एतच्च ब्रुवता वाक्योपमा प्रथमेत्युक्तं भवति । तेन पृथगुद्देशाभावो न दोषाय । तत्र तासु षट्सु मध्याद् इयमेका प्रथमा, यस्यामुपमानः प्रयुज्यते । तथेवादीनामिववत्सदृशयथातुल्यनिभादीनां साम्यवाचकानां मध्यादेकम् । तथा सामान्यमुपमानोपमेययोः साधारणधर्माभिधायकं पदम् । तथोपमेयमिति चतुष्टयम् । तुशब्दो लक्षणान्तरेभ्योऽस्य विशेषणार्थः । ननु यदीवादीनामेकमेव प्रयुज्यते कथं तर्हि 'दिने दिने सा परिवर्धमाना' इत्यादिष्वनेकेषां प्रयोगः । सत्यम् । औपम्यानामनेकत्वात् । अत्र ह्यनेकं कारकमुपमानोपमेयतया निर्दिष्टम् । यथा—

ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम् ।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन्रसानिव ॥

अत्रेवादीनामपि बहूनां प्रयोगो न्याय्यः । एवं हि परिपूर्णमौपम्यं भवति । यत्र तु बहूनामप्यौपम्य एक एवेवादिः प्रयुज्यते तत्र गतार्थत्वादप्रयोगो बोद्धव्यः । यथा—'सा भूधराणामधिपेन तस्याम्' इत्यादौ । अत्र हि नीताविव मेनायाम्, उत्साहगुणेनेव नगेन, संपदिव पार्वती जनितेति व्याख्यानम् । इत्यलं विस्तरेण ॥

उदाहरणमाह—

कमलमिव चारुवदनं मृणालमिव कोमलं भुजायुगलम् ।
अलिमालेव सुनीला तवैव मदिरेक्षणे कबरी ॥६॥

कमलमिति । अत्र कश्चित्कामी मुखादिकं वस्तु सम्यक्स्वरूपतः कमलादिगतचारुत्वादियुक्तं प्रतिपादयितुं वस्त्वन्तरं कमलादिकं तत्समानत्वात्प्रयुक्तवानित्यौपम्यम् । तथोभयोः कमलमुखयोः समानमेकं चारुत्वं यथैकत्र कमले सिद्धं तथोपमेये मुखे साध्यत इत्युपमालक्षणम् । तथा कमलमुपमानम्, इवशब्दः, चार्विति सामान्यम्, वदनमुपमेयम्, इति चतुष्टयं समस्तमिति वाक्योपमालक्षणम् । एवमन्यत्रापि लक्षणयोजना कर्तव्या ॥

अथ द्वितीयामाह—

इयमन्या सामान्यं यत्रेवादिप्रयोगसामर्थ्यात् ।
गम्येत सुप्रसिद्धं तद्वाचिपदाप्रयोगेऽपि ॥७॥

उदाहरण—

हे मदिरेक्षणे ! तुम्हारा मुख कमल के समान सुन्दर है, भुजाएँ मृणाल के समान कोमल हैं, तथा तुम्हारी वेणी भ्रमरपंक्ति के समान अतिशय काली है ।६।

दूसरी वाक्योपमा—

जहाँ सुप्रसिद्ध समान धर्म अपने वाचक शब्दों से न कहा गया भी 'इव' आदि वाचक शब्दों के प्रयोग के बल से ज्ञात हो जाए, वहाँ दूसरी वाक्योपमा मानी जाती है ।७।

इयमिति । इयमन्या द्वितीया वाक्योपमा, यस्यां सामान्यं साधारणो धर्मस्तद्वाचिपदाप्रयोगेऽपि गम्यते । नन्वप्रयुक्तस्य पदस्य कथमर्थो गम्यत इत्याह—इवादिप्रयोगसामर्थ्यात् । इवादयो हि कस्य सादृश्यप्रतिपादनाय प्रयुज्यन्ते । यदि च प्रयुक्तैरपि तैरसौ न गम्यते तदानर्थकस्तेषां प्रयोगः स्यात् । यद्येवमुच्छेद एव सामान्यपदप्रयोगस्येत्याह—सुप्रसिद्धमिति । लोकप्रसिद्धमेव गम्यते नान्यदिति ।।

उदाहरणमाह—

शशिमण्डलमिव वदनं मृणालमिव भुजलतायुगलमेतत् ।
करिकुम्भाविव च कुचौ रम्भागर्भाविवोरू ते ।।८।।

शशीति । अत्र यथाक्रमं चारुत्वकोमलत्वोत्तुङ्गत्वगौरत्वान्यनुक्तान्यपि प्रसिद्धत्वात्प्रतीयन्ते ।।

तृतीयामाह—

वस्त्वन्तरमस्त्यनयोर्न सममिति परस्परस्य यत्र भवेत् ।
उभयोरुपमानत्वं सक्रममुभयोपमा सान्या ।।९।।

वस्त्वन्तरमिति । अनयोर्वस्तुनोर्वस्त्वन्तरं समं तुल्यं नास्तीत्यतः कारणाद्यस्यामुभयोरुपमानोपमेययोः क्रमेण परस्परमुपमानत्वं स्यात्सोभयोपमा । अन्या पूर्वविलक्षणा । इयमपि सामान्यस्य प्रयोगाप्रयोगाभ्यां द्विविधा ।।

प्रयोगोदाहरणं स्वयमाह—

शशिमण्डलमिव विमलं वदनं ते मुखमिवेन्दुबिम्बमपि ।
कुमुदमिव स्मितमेतत्स्मितमिव कुमुदं च धवलमिदम् ।।१०।।

उदाहरण—

हे सुन्दरि ! तुम्हारा मुख चन्द्रमण्डल के समान है, और भुजाएँ मृणाल के सदृश हैं। तुम्हारा स्तनयुगल हाथी के मस्तक के समान है, तथा जाँघें कदली वृक्ष के समान हैं।८।

यहाँ क्रमशः सुन्दर, कोमल, कठोर और वर्तुल समानधर्मों का यद्यपि कथन नहीं किया गया, तो भी प्रसिद्ध उपमानों के प्रयोग के कारण ये स्वतःगम्य हैं।

तीसरी वाक्योपमा—

कोई अन्य वस्तु इन दोनों वस्तुओं (उपमेय और उपमान) के समान नहीं है—इसी कारण जहाँ इन दोनों की क्रमशः एक-दूसरे से समता बतायी जाए, वहाँ उभयोपमा [नामक तीसरी वाक्योपमा] होती है।९।

उदाहरण—

तुम्हारा निर्मलमुख चन्द्रमण्डल के समान है, और चन्द्रबिम्ब तुम्हारे मुख के

शशिमण्डलमिति । अप्रयोगे तु यथा—

खमिव जलं जलमिव खं हंस इव शशी शशाङ्क इव हंसः ।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि ॥ इति ॥

चतुर्थीमाह—

सा स्यादनन्वयाख्या यत्रैकं वस्त्वनन्यसदृशमिति ।
स्वस्य स्वयमेव भवेदुपमानं चोपमेयं च ॥११॥

सेति । न विद्यतेऽन्वयो वस्त्वन्तरानुगमो यस्यामित्यनन्वयसंज्ञा सोपमा, यस्यामेकमेव वस्तु स्वयमेवोपमानमुपमेयं चात्मन एव भवेत् । कस्मात्, अनन्यसदृशमिति हेतोः । ननु यद्यन्यस्यात्रानुगमाभावस्तत्कथमौपम्यलक्षणमुपमालक्षणं वा घटते । नैष दोषः । यतोऽनन्यसमत्वं लक्षणं वस्तुनः सम्यक्स्वरूपं च यदा युगपद्विवक्षति वक्ता तदा सम्यक्स्वरूपप्रतिपादनं वस्त्वन्तराभिधानं विना न घटते । तदभिधाने चानन्यसमत्वं दुर्घटमिति कृत्वैकमेव वस्तूपमानोपमेयरूपतया विभिद्य वक्ति । अतः सामान्यमौपम्यलक्षणमुपमालक्षणं चास्ति । वस्त्वन्तरानन्वयश्चेत्यनन्वयोपमालक्षणम् ॥

सुश्लिष्टमुदाहरणमाह—

आनन्दसुन्दरमिदं त्वमिव त्वं सरसि नागनासोरु ।
इयमियमिव तव च तनुः स्फारस्फुरदुरुरुचिप्रसरा ॥१२॥

आनन्देति । हे करिकरोरु, त्वमिव त्वं सरसि गच्छसीत्याद्यन्वयः ॥

समान है । तुम्हारी मुस्कान कुमुद की तरह शुभ्र है, और यह शुभ्र कुमुद तुम्हारी मुस्कान के सदृश है ।१०।

जिन पदार्थों का आपस में उपमान-उपमेय रूप में प्रयोग होता हो उन्हें ही रचना में स्थान देना चाहिए, अन्य अप्रयुक्त पदार्थों को नहीं । जैसे नमिसाधु-प्रस्तुत इस उदाहरण में—

पानी आकाश के समान है, आकाश पानी के समान है, चन्द्रमा हंस के समान है, हंस चन्द्रमा के समान है, तारे कुमुदों के समान हैं, कुमुद तारों के समान हैं । चौथी वाक्योपमा—

जहाँ एक वस्तु की दूसरी से सदृशता न हो, [और वह] स्वयं ही अपनी उपमान और उपमेय हो, वहाँ अनन्वयोपमा [नामक चौथी वाक्योपमा] होती है ।११।

उदाहरण—

हे गजशुण्ड-सदृश जाँघों वाली ! तुम अपने ही समान बड़े तालाब में आनन्द एवं सुन्दरता के साथ प्रवेश कर रही हो । जाज्वल्यमान एवं अतिशय कान्तिमान्

पञ्चमीमाह—

सा कल्पितोपमाख्या यैरुपमेयं विशेषणैर्युक्तम् ।
तावद्भिस्तादृग्भिः स्यादुपमानं तथा यत्र ॥१३॥

सेति । यैर्यादृशैर्यत्संख्यैश्च विशेषणैर्युक्तमुपमेयम्, तादृग्भिरेव तत्संख्यैश्चोपमानमपि युक्तं यस्यां सा कल्पितोपमाख्या । कल्पिता चासावुपमा च तथाविधाख्या संज्ञा यस्या इति । विशेषणैरित्यतन्त्रम् । तेनैकस्य द्वयोश्च संग्रहः । किं तु बहुभिरौज्ज्वल्यं भवति ॥

उदाहरणम्—

मुखमापूर्णकपोलं मृगमदलिखितार्धपत्त्रलेखं ते ।
भाति लसत्सकलकलं स्फुटलाञ्छनमिन्दुबिम्बमिव ॥१४॥

मुखमिति । अत्र मुखमुपमेयं परिपूर्णकपोलं मृगमदलिखितार्धपत्त्रलेखमिति विशेषणद्वयोपेतम् । शशिबिम्बमुपमानमपि स्फुरत्षोडशकलं स्फुटकलङ्कं चेति ॥

षष्ठीमाह—

अनुपममेतद्वस्त्वित्युपमानं तद्विशेषणं चासत् ।
संभाव्य सयद्यर्थं या क्रियते सोपमोत्पाद्या ॥१५॥

तुम्हारा यह शरीर अपने सदृश ही है। अर्थात् तुम तथा तुम्हारा शरीर स्वयं अपने ही तुल्य हैं।१२।

पाँचवीं वाक्योपमा—

जहाँ जिस प्रकार के [और जितने] विशेषणों से युक्त उपमेय हों, यदि वैसे और उतने उपमान हों तो वहाँ कल्पितोपमा [नामक पाँचवीं वाक्योपमा] होती है।१३।

उदाहरण—

भरे हुए कपोलों से युक्त तथा कस्तूरी से आधी पत्र-रचना किया हुआ तुम्हारा मुख कलापूर्ण एवं लाच्छनयुक्त चन्द्रमण्डल की भाँति शोभित हो रहा है।१४।

यहाँ मुख और चन्द्रमा दोनों एकसमान विशेषणों से युक्त हैं।

छठी वाक्योपमा—

किसी अनुपम वस्तु (उपमेय) का कोई [सम्भव] न होता हुआ भी उपमान 'सयद्यर्थ' के द्वारा [उपयुक्त] विशेषणों से सम्भावित कर दिया जाए वहाँ उत्पाद्या [नामक छठी वाक्योपमा] होती है।१५।

'सयद्यर्थ' यदि, चेद् आदि शब्दों के प्रयोग को कहते हैं।

अनुपममिति उत्पाद्यत इत्युत्पाद्या । उत्पाद्यानामोपमा सा, प्रा क्रियते । किं कृत्वा । उपमानमुपमानविशेषणं च संभाव्य संभवि कृत्वा । कुतः । अनुपममुपमानविकलमेतद्वस्त्विति कारणात् । कीदृशम् । उपमानमसदविद्यमानम् । असतः कथं संभव इत्याह—सयद्यर्थं यदिचेदादिशब्दसहितमित्यर्थः उपलक्षणं च सयद्यर्थशब्दः । यस्मादभूतपूर्वासंभवादिप्रयोगेऽपि भवति । यथा माघस्य—

मृणालसूत्रामलमन्तरेण स्थितश्चलच्चामरयोर्द्वयं सः ।
भेजेऽभितःपातुकसिद्ध सिन्धोरभूतपूर्वां रुचमम्बुराशेः ।।

इत्यादि ।।

उदाहरणम्—

कुमुददलदीधितीनां त्वक्संभूय च्यवेत यदि ताभ्यः ।
इदमुपमीयेत तया सुतनोरस्याः स्तनावरणम् ।।१६।।

कुमुदेति । अत्र कुमुददलदीधितित्वमुपमानम्, तद्विशेषणं च्यवनं च द्वयमपि सयद्यर्थं संभावितम् । तथा—

सुवृत्तमुक्ताफलजालचित्रितं भवेदखण्डं यदि चन्द्रमण्डलम् ।
श्रमाम्बुबिन्दूत्कर राजितं ततो मुखं रतावित्युपमीयते प्रिये ।।

'ततो मुखं तेन तवोपमीयते' इति वा पाठः । अत्र पूर्णचन्द्रमण्डलस्य सुवृत्तमुक्ताफलजालचित्रितत्वं विशेषणमेव संभावितमिति ।।

एवं वाक्योपमां षड्विधामभिधायेदानीं समासोपमामाह—

सामान्यपदेन समं यत्र समस्येत तूपमानपदम् ।
अन्तर्भूतेवार्था सात्र समासोपमा प्रथमा ।।१७।।

उदाहरण—

यदि कुमुदों के कान्तिमान् पत्तों की त्वचा (छाल) एकत्रित हो जाए, और उन [त्वचाओं] से [रस] स्रुत होने लगे तो इस सुन्दर शरीर वाली [सद्यःस्नाता नायिका] के स्तनावरण की उपमा उससे दी जा सकती है ।१६।

इसी प्रकरण में नमिसाधु ने भी ऐसा ही एक अन्य पद्य उद्धृत किया है :

यदि अखण्डित चन्द्रमण्डल गोल-गोल मोतियों से जटित हो, तभी हे प्रिये ! रतिकाल में श्रमवश पसीने की बूंदों से शोभित तुम्हारे मुख की उपमा उस [चन्द्रमा] से दी जा सकती है ।

किन्तु हमारे विचार में 'सयद्यर्थं' के प्रयोग का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि इसी के बल पर असम्भव परिकल्पनाएँ भी कर ली जाएँ । अतः उक्त दोनों उदाहरण सहृदय-हृदयावर्जक नहीं हैं ।

सामान्येति । उपमानपदं चन्द्रकमलादिकं सामान्यपदेन सुन्दरशब्दादिना यत्र समस्येत सा समासोपमासु मध्ये प्रथमा । तुर्विशेषे । विशेषस्तु वाक्योपमातः समासकृत एव । यद्युपमा कथमिवादिपदं न श्रूयत इत्याह—अन्तर्भूत इवार्थ औपम्यं यस्याः सा तथोक्ता ॥

उदाहरणम्—

मुखमिन्दुसुन्दरमिदं बिसकिसलयकोमले भुजालतिके ।
जघनस्थली च सुन्दरि तव शैलशिलाविशालेयम् ॥१८॥

मुखमिति । अत्रेन्दुरिव सुन्दरमित्यादिविग्रहः ॥

प्रकारान्तरमाह—

पदमिदमन्यपदार्थे समस्यतेऽथोपमेयवचनेन ।
यस्यां तु सा द्वितीया सर्वसमासेति संपूर्णा ॥१९॥

पदमिति । इदं पूर्वोक्तं सामान्योपमानसमासपदमथानन्तरमुपमेयवचनेनान्यपदार्थे यत्र समस्यते सा सर्वपदसमासात्संपूर्णा समासोपमा द्वितीया ॥

उदाहरणम्—

शरदिन्दुसुन्दरमुखी कुवलयदलदीर्घलोचना सा मे ।
दहति मनः कथमनिशं रम्भागर्भाभिरामोरूः ॥२०॥

समासोपमा

जहाँ उपमान पद का सामान्य पद (समानधर्म सूचक पद) के साथ समास करके 'इव' आदि वाचक शब्दों को [उसी समस्त पद में] ही अन्तर्भूत किया जाए, वहाँ प्रथमा समासोपमा होती है ।१७।

उदाहरण—

हे सुन्दरि ! तुम्हारा यह मुख चन्द्र [के समान] सुन्दर है, दोनों भुजलताएँ कमलनाल [के समान] कोमल हैं, तथा जाँघें पर्वत की शिला के समान विशाल हैं ।१८।

यहाँ 'इन्दुसुन्दरम्' और 'त्रिसकिसलयकोमले' इन दोनों समस्त पदों में 'इव' वाचक शब्द स्वतःगृहीत है ।

अन्य प्रकार : सम्पूर्ण समासोपमा—

जहाँ पूर्वोक्त [उपमान-सामान्य समस्त] पदों का उपमेय-वचनों के साथ एक अन्य पदार्थ [के रूप] में समास कर दिया जाए, वहाँ सब पदों के समस्त होने के कारण दूसरी सम्पूर्णा समासोपमा होती है ।१९।

उदाहरण—

शरत्कालीन चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाली, कमलपत्र के समान विशाल

शरदिति । अत्र शरदिन्दुशब्दसुन्दरशब्दयोः पूर्ववत्समासं कृत्वा ततो मुखेनोपमेयेन सह नायिकायामन्यपदार्थे समासः ।

भूयः प्रकारान्तरमाह—

उपमानपदेन समं यत्र समस्येत चोपमेयपदम् ।
अन्यपदार्थे सोदितसामान्येवाभिधेयान्या ॥२१॥

उपमानेति । उपमानपदेन सह यत्रोपमेयपदमन्यपदार्थेन सह समस्यते सान्या समासोपमा । चः पुनरर्थे भिन्नक्रमः । सा पुनः समासेनोक्तौ सामान्यमिवार्थश्च यस्यां सा तथोक्ता ॥

उदाहरणम्—

नवविकसितकमलकरे कुवलयदललोचने सितांशुमुखि ।
दहसि मनो यत्तत्किं रम्भागर्भोरु युक्तं ते ॥२२॥

नवेति । अत्र नवविकसितकमलमिव रम्यौ करौ यस्या इति बहुव्रीहिः ॥

नेत्रों से युक्त तथा कदलीवृक्ष के समान सुन्दर जाँघों वाली यह रमणी क्यों रात-दिन मेरे मन को जला रही है ।२०।

यहाँ 'शरदिन्दुसुन्दरमुखी' में उपमान, समान धर्म और उपमेय इन सबका समास है । यह सम्पूर्णपद नायिका (अन्य पदार्थ) का वाचक है । इस समस्त पद में 'इव' शब्द स्वतःगृहीत है ।

अन्य समासोपमा—

जहाँ उपमान के साथ उपमेय का समास अन्य पदार्थ [के रूप] में किया जाए, तथा सामान्य अर्थात् समान धर्म [स्वतः] कथित हो जाए वहाँ एक अन्य समासोपमा मानी जाती है ।२१।

उदाहरण—

हे चन्द्रमुखि ! नवविकसित कमल के समान [सुन्दर] हाथों वाली ! कमल-दल के समान [कोमल] लोचनों वाली ! तथा कदली वृक्ष के समान [वर्तुल] जाँघों वाली ! क्या मेरे मन को जलाते रहना तुम्हें उचित है ।२२।

यहाँ 'नवविकसितकमलकरे', 'कुवलयदललोचने' और 'रम्भागर्भोरु' इन समस्त पदों में उपमान और उपमेय का समास अन्य पदार्थ—नायिका—का वाचक है । इन पदों में समान धर्म का स्वतःग्रहण है ।

अथ प्रत्ययोपमामाह—

उपमानात्सामान्ये प्रत्ययमुत्पाद्य या प्रयुज्येत ।
सा प्रत्ययोपमा स्यादन्तर्भूतेवशब्दार्था ॥२३॥

उपमानादिति । उपमानादुपमानपदादन्यतो वा धात्वादिकात्प्रत्ययं सामान्येन साधारणधर्मविषय उत्पाद्य या प्रयुज्यते सा प्रत्ययोपमा । सा च प्रत्ययान्तशब्देऽन्तर्भूतेवशब्दा ॥

उदाहरणम्—

पद्मायते मुखं ते नयनयुगं कुवलयायते यदिदम् ।
कुमुदायते तथा स्मितमेवं शरदेव सुतनु त्वम् ॥२४॥

पद्मायत इति । पद्ममिवाचरतीत्यादि वाक्यम् । एवं धातोः प्रत्यये उष्ट्रकोशीत्यादि द्रष्टव्यमिति ॥

एवमुपमात्रयमभिधायेदानीमेतद्भेदान्सामान्येनाह—

मालोपमेति सेयं यत्रैकं वस्त्वनेकसामान्यम् ।
उपमीयेतानेकैरुपमानैरेकसामान्यैः ॥२५॥

प्रत्ययोपमा

जहाँ उपमान शब्द का सामान्यसूचक शब्द के साथ प्रत्यय लगाकर समास करने पर 'इव' आदि वाचक शब्दों का अर्थ [उस समस्त पद में] अन्तर्भूत हो जाए वहाँ प्रत्ययोपमा होती है।२३।

उदाहरण—

हे सुन्दर शरीर वाली ! तुम तो साक्षात् शरत् हो। [क्योंकि] तुम्हारा मुख कमल के समान आचरण करता है, आँखें नील कमल के समान आचरण करती हैं, तथा तुम्हारी मुस्कान कुमुदसदृश आचरण करती है।२४।

यहाँ 'पद्मायते', 'कुवलयायते' और 'कुमुदायते' पदों में क्यङ् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है।

मालोपमा

जहाँ अनेक सामान्यों (समान धर्मों) वाली एक [उपमेय] वस्तु की उपमा अनेक सामान्यों वाले अनेक उपमानों के एक-एक सामान्य के साथ दी जाए वहाँ मालोपमा होती है।२५।

इसी प्रसंग में नमिसाधु-प्रस्तुत 'गायन्ति किन्नरगणाः...' पद्य का अर्थ है—किन्नरगण किन्नरियों के साथ हिमाचल के उच्च शिखरों की कन्दराओं में तुम्हारा

मालोपमेति । यत्रैकमुपमेयं वस्त्वनेकसामान्यमनेकधर्मकमेकसामान्यैरेकैकधर्मयुक्तैरनेकैरुपमानैरुपमीयते सेयमित्यमुना प्रकारेण मालोपमा । अथायं कोऽलंकारः—

गायन्ति किंनरगणाः सह किंनरीभिरुत्तुङ्गशृङ्गकुहरेषु हिमाचलस्य ।
क्षीरेन्दुकुन्ददलशङ्खमृणालनालनीहारहारहरहाससितं यशस्ते ।।

मालोपमैवेत्याहुः । यत एकत्वेऽपि शौक्ल्यस्यानेकसामान्यं विद्यत एव । तस्यानेकरूपत्वादन्यादृशमेव हि तच्छङ्खेऽन्यादृशं चन्द्रादौ तच्च सर्वं यशसि विद्यत इति । केचित्तु मालोपमाभास इत्याहुः ।।

उदाहरणम्—

श्यामालतेव तन्वी चन्द्रकलेवातिनिर्मला सा मे ।
हंसीव कलालापा चैतन्यं हरति निद्रेव ।।२६।।

श्यामालतेति । अत्रोपमेया कान्ता तनुत्वाद्यनेकधर्मयुक्ता । श्यामालतादीन्येकैकधर्मयुक्तान्युपमानानि । एषा वाक्योपमा । अन्ये त्विमे—

नवश्यामालतातन्वी शरच्चन्द्रांशुसप्रभा ।
मत्तहंसीकलालापा कस्य सा न हरेन्मनः ।।

समासोपमेयम्—

शरच्चन्द्रायसे मूर्तौ त्वं कृतान्तायसे युधि ।
दाने कर्णायसे राजन्सुनीतौ भास्करायसे ।।

प्रत्ययोपमेयम् ।।

यश गाते हैं, जो [यश] दूध, चन्द्र, कुन्दपत्र, शंख, कमलनाल, पाला, मुक्ताहार और शिव के अट्टहास के समान श्वेत है ।

इस पद्य में 'यश' की उपमा दूध, चन्द्र आदि कई श्वेत पदार्थों से दी गयी है, अतः यहाँ 'मालोपमा' है । किन्तु कई आचार्य यहाँ 'मालोपमाभास' मानते हैं क्योंकि उक्त पदार्थों की श्वेतता एक-समान नहीं है, जबकि इनके उपमेय 'यश' की कवि-ख्यात श्वेतता का एक निश्चित रूप ही माना जाना चाहिए ।

उदाहरण—

वह सुन्दरी श्याम लता के समान कोमल, चन्द्रकला की भाँति अति निर्मल, हंसिनी के समान मधुर बोलनेवाली तथा निद्रा के सदृश चेतना को हरनेवाली है ।२६।

इसी प्रसंग में नमिसाधु-प्रस्तुत दो पद्य विचारणीय हैं—

(१) 'नवश्यामलतातन्वी···' अर्थात् नवीन और श्यामल लता के समान क्षीण कटि वाली, शरत्कालीन चन्द्र की किरणों के समान सुन्दर, मस्त हंसिनी के समान मधुर बोलने वाली वह किसका मन हरण नहीं करती ?

भेदान्तरमाह—

अर्थानामौपम्ये यत्र बहूनां भवेद्यथापूर्वम् ।
उपमानमुत्तरेषां सेयं रशनोपमेत्यन्या ॥२७॥

अर्थानामिति । अत्रार्थानामुपमानोपमेयानां बहूनां सादृश्ये सति तेषामेव मध्याद्यथापूर्वं यो यः पूर्वः स स उत्तरेषामुपमानं भवेत्सेयं रशनासादृश्याद्रशनोपमेत्यन्या । यथा रशनायां परस्परमाभरणानां शृङ्खलाकटकवत्सम्बन्ध एवमिहार्थानामिति पूर्ववत् ।

उदाहरणम्—

नभ इव विमलं सलिलं सलिलमिवानन्दकारि शशिबिम्बम् ।
शशिबिम्बमिव लसद्द्युति तरुणीवदनं शरत्कुरुते ॥२८॥

नभ इति । अत्र गगनादिरर्थः पूर्व उत्तरेषां सलिलादीनामुपमानम् । एषा वाक्यरशनोपमा । अन्ये त्विमे—

शरत्प्रसन्नेन्दुसुकान्ति ते मुखं मुखश्रि लीलाम्बुजमम्बुजारुणौ ।
करौ करश्रीरवतंसपल्लवो वरानने पल्लवलोहितोऽधरः ॥

समासरशनोपमेयम् ।

चन्द्रायते शुक्लरुचाद्य हंसो हंसायते चारुगतेव कान्ता ।
कान्तायते तस्य मुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहायः ॥

प्रत्ययरशनोपमेयम् ॥

---

(२) 'शरच्चन्द्रायसे···' अर्थात् हे राजन् ! तुम आकार में (सुन्दरता में) शरत्कालीन चन्द्र के समान, युद्ध में यमराज के समान, दान में कर्ण के समान और सुनीति में सूर्य के समान हो ।

इन दोनों पद्यों में क्रमशः समासगता मालोपमा और प्रत्ययगता मालोपमा माननी चाहिए ।

रशनोपमा

जहाँ अनेक अर्थों (उपमान-उपमेयों) की सदृशता होने पर [उन्हीं में से] पूर्ववर्ती अर्थ [उपमेय] को उत्तरवर्ती अर्थ का उपमान बनाते चलें वहाँ रशनोपमा होती है ।२७।

उदाहरण—

जल आकाश के समान स्वच्छ है, चन्द्रबिम्ब जल के समान आनन्ददायी है, तथा चन्द्रबिम्ब के समान तरुणी का कान्तिपूर्ण मुख शरद् ऋतु बना रहा है ।२८।

नमिसाधु ने समासगता रशनोपमा का भी निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है—

भूयोऽपि भेदान्तरमाह—

क्रियतेऽर्थयोस्तथा या तदवयवानां तथैकदेशानाम् ।
परमन्या ते भवतः समस्तविषयैकदेशिन्यौ ।।२६।।

क्रियत इति । अर्थयोरुपमानोपमेययोरवयविनोस्तदवयवानां च सहजाहार्योभयरूपाणां या क्रियते, न त्ववयविनोः, एषान्या एकदेशविषया । इति द्वितीयः प्रकारः ।।

उदाहरणम्—

अलिवलयैरलकैरिव कुसुमस्तबकैः स्तनैरिव वसन्ते ।
भान्ति लता ललना इव पाणिभिरिव किसलयैः सपदि ।।३०।।

अलिवलयैरिति । अत्र लता ललना अवयविन्योऽलिवलयादयश्चावयवाः सर्व एवोपमिताः । इत्येषा समस्तविषया ।।

'शरत्प्रसन्नेन्दुसुकान्ति···' अर्थात् हे सुन्दर आननवाली ! तुम्हारा मुख शरत्कालीन निर्मल चन्द्र की कान्ति को धारण करता है, मुख की कान्ति लीला-कमल के सदृश है । दोनों हाथ कमल के समान लाल हैं, हाथों की शोभा कर्णभूषण [के रूप में धारण किये जाने वाले] पल्लव के तुल्य है, और अधर की कान्ति पल्लव के समान अरुण है ।

मुख—मुखश्री, अम्बुज—अम्बुज, कर—करश्री, पल्लव—पल्लव इनका उत्तरोत्तर प्रयोग रशनोपमा का सूचक है । इसके अतिरिक्त यहाँ समस्त पदों का भी प्रयोग है ।

एक अन्य प्रकार—

जहाँ [अवयवीभूत] दोनों अर्थों (उपमान और उपमेय) की, तथा उनके एकदेशीय अवयवों की परस्पर उपमा दी जाए, वहाँ एक अन्य उपमा होती है । इसके दो प्रकार हैं—समस्तविषया और एकदेशिनी ।२६।

उदाहरण (समस्तविषया)—

वसन्त ऋतु में ये लताएँ ललनाओं के समान हैं, [क्योंकि] इनके भ्रमरसमूह केशपाश के समान हैं, पुष्पगुच्छ स्तनों के समान हैं और पत्र हाथों के समान हैं ।३०।

इस पद्य में लताएँ और ललनाएँ अवयवी हैं, तथा भ्रमर-समूह और केशपाश आदि अवयव हैं । इन दोनों का उल्लेख किया गया है ।

[इस पद्य में 'सपदि' शब्द पादपूर्त्यर्थ प्रयुक्त है ।]

कमलदलैरधरैरिव दशनैरिव केसरैर्विराजन्ते ।
अलिवलयैरलकैरिव कमलैर्वदनैरिव नलिन्यः ॥३१॥

कमलदलैरिति । अत्रावयवानामेव कमलदलादीनामौपम्यं न त्ववयविन्या नलिन्याः प्रतीयते । [वास्या] इत्येषैकदेशविषया । द्विविधापि वाक्योपमेयम् । अन्ये त्विमे—

मृणालिकाकोमलबाहुयुग्मा सरोजपत्रारुणपाणिपादा ।
सरोजिनीचारुतनुर्विभाति प्रियालिनीलोज्ज्वलकुन्तलासौ ॥

तथा—

पद्मचारुमुखी भाति पद्मपत्त्रायतेक्षणा ।
दशनैः केसराकारैरलिनीलशिरोरुहा ॥

समासोपमेयं द्विधा ।

लतायसेऽतितन्वी त्वमोष्ठस्ते पल्लवायते ।
सितपुष्पायते हासो भृङ्गायन्ते शिरोरुहाः ॥
मुखेन पद्मकल्पेन भाति सा हंसगामिनी ।
दोर्भ्यां मृणालकल्पाभ्यामलिनीलैः शिरोरुहैः ॥

प्रत्ययोपमेयं द्विधा ॥

उदाहरण (एकदेशिनी)—

कमलिनी के पत्र होंठों के समान, केसर दाँतों की भाँति, भ्रमरसमूह केशों के सदृश तथा कमल मुखों के समान शोभायमान हैं ।३१।

इस पद्य में कमलिनी की उपमा नायिका (अवयवी) से दी गयी है, किन्तु उसका उल्लेख नहीं किया गया है, केवल पत्र और होंठ आदि अवयवों का उल्लेख किया गया है ।

नमिसाधु ने निम्नोक्त चार उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

(१) उस प्रिया के बाहुयुगल मृणालिनी के समान कोमल हैं, उसके हस्त और चरण-कमल पत्र के सदृश [मृदु] हैं, उसका शरीर कमलिनी की भाँति कमनीय है, और उसके केश भ्रमरों के समान काले और चमकदार हैं ।

(२) उस रमणी का मुख कमल के समान सुन्दर है, नेत्र कमल-पत्र के समान विशाल हैं, उसके दाँत केसर की भाँति हैं, और केश भ्रमरवत् काले हैं ।

इन दोनों पद्यों में समस्त पदों का प्रयोग है, तथा ये दोनों एकदेशिनी मालोपमा के उदाहरण हैं, क्योंकि यहाँ अवयवों के तो उपमान प्रस्तुत किये गये हैं, अवयवी (नायिका) का उपमान प्रस्तुत नहीं किया गया ।

अथोत्प्रेक्षा—

अतिसारूप्यादैक्यं विधाय सिद्धोपमानसद्भावम्।
आरोप्यते च तस्मिन्नतद्गुणादीति सोत्प्रेक्षा ॥३२॥

अतिसारूप्यादिति । उपमानोपमेययोरतिसादृश्याद्धेतोरैक्यमभेदं विधाय । कीदृशं तत् । सिद्ध उपमानस्यैव, न तूपमेयस्य, सद्भावः सत्त्वं यत्र तत्तथाविधम् । अनन्तरं च तस्मिन्नुपमाने तस्योपमानस्य ये गुणक्रिये न संभवतस्ते समारोप्येते यत्र सा । इत्यमुना प्रकारेणोत्प्रेक्षा भण्यते । चशब्दोऽतद्गुणाद्यनध्यारोपितस्यापि समुच्चयार्थः । येन सिद्धोपमानसद्भावे तयोरभेदमात्रेऽप्युत्प्रेक्षा दृश्यते । यथा—

तं वदन्तमिति विष्टरश्रवाः श्रावयन्नथ समस्तभूभृतः ।
व्याजहार दशनांशुमण्डलव्याजहारशबलं दधद्वपुः ॥

इत्यादि ॥

उदाहरणम्—

चम्पकतरुशिखरमिदं कुसुमसमूहच्छलेन मदनशिखी ।
अयमुच्चैरारूढः पश्यति पथिकान्दिधक्षुरिव ॥३३॥

चम्पकेति । अत्रोपमेयश्चम्पकराशिरुपमानं मदनाग्निस्तयोर्लौहित्येन सारूप्यादैक्यं सिद्धोपमानसद्भावं विधाय ततोऽग्नेर्यद्दर्शनमचेतनत्वादसंभवि तदारोपितमिति ॥

---

(३) अत्यन्त कृश [कटिवाली] तुम लता के समान हो, तुम्हारा होंठ पल्लव के समान है, तुम्हारी मुस्कान श्वेत पुष्प-जैसी है और केश भौंरों-जैसे हैं ।

(४) वह हँसगमना पद्म-समान मुख से, मृणाल-तुल्य भुजाओं से तथा भ्रमरों के समान काले केशों से शोभित हो रही है ।

ये दोनों उदाहरण प्रत्ययगत एकदेशिनी मालोपमा के हैं ।

२. उत्प्रेक्षा

जहाँ उपमान के प्रसिद्ध होने के कारण तथा [उपमान और उपमेय में] अति सादृश्य होने के कारण अभेद की स्थापना हो, तथा [उपमान के] गुण [अथवा क्रिया] के [उपमेय में] सम्भव न होने पर उनका उपमेय में आरोप हो, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है ।३२।

उदाहरण—

यह चम्पक वृक्ष का शिखर पुष्पसमूह के व्याज से कामाग्नि के समान ऊँचे चढ़कर वियोगियों को जलाने की इच्छा से देख रहा है ।३३।

यहाँ चम्पक वृक्ष उपमेय है । कामाग्नि उपमान है । इन दोनों में लाल रंग की समानता के आधार पर दोनों में एक धर्म—देखने की इच्छा—की कल्पना की गयी है ।

प्रकारान्तरमाह—

सान्येत्युपमेयगतं यस्या संभाव्यतेऽन्यदुपमेयम् ।
उपमानप्रतिबद्धापरोपमानस्य तत्त्वेन ॥३४॥

सेति । इतीत्थं सान्योत्प्रेक्षा यत्रोपमेयस्थमुपमेयान्तरमुपमानप्रतिबद्धस्योपमानान्तरस्य तत्त्वेन ताद्रूप्येण संभाव्यते ॥

उदाहरणम्—

आपाण्डुगण्डपालीविरचितमृगनाभिपत्ररूपेण ।
शशिशङ्कयेव पतितं लाञ्छनमस्या मुखे सुतनोः ॥३५॥

आपाण्डुगण्डेति । अत्र शश्युपमानं तत्प्रसिद्धमपरं लाञ्छनमुपमानान्तरम् । तत्सादृश्येनोपमेयं नायिकामुखगतमन्यदुपमेयं मृगनाभिपत्रलक्षणं संभावितमिति ।

भूयोऽपि भेदान्तरमाह—

यत्र विशिष्टे वस्तुनि सत्यसदारोप्यते समं तस्य ।
वस्त्वन्तरमुपपत्त्या संभाव्यं सापरोत्प्रेक्षा ॥३६॥

यत्रोत्प्रेक्षायां शोभनत्वेनाशोभनत्वेन वा विशेषणेन विशिष्टे वस्तुन्युपमेयरूपे

इसी प्रसंग में नमिसाधु ने एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया है—'तं वदन्तमिति विष्ठरश्रवाः···'अर्थात् उसके ऐसा कहने पर भगवान् विष्णु ने दाँतों से निकलती हुई [स्वच्छ] किरण-समूह के व्याज से शरीर को मानो हार से विचित्रवर्ण बनाते हुए तथा सब राजाओं को सुनाते हुए इस प्रकार कहा ।

अन्य प्रकार—

जहाँ उपमान से सम्बद्ध अन्य उपमान-तत्त्व के साथ उपमेय से सम्बद्ध अन्य उपमेय की सदृशता की सम्भावना की जाए वहाँ अन्य उत्प्रेक्षा होती है ।३४।

इस सुन्दरी के शुभ्र कपोल-प्रदेश पर कस्तूरी से बनी हुई पत्र-रचना ऐसे [विराजित है] जैसे चन्द्रमा पर अवस्थित कलंक ।३५।

यहाँ चन्द्रमा उपमान है तथा [उससे सम्बद्ध] कलंक एक अन्य उपमान है । इनकी सदृशता नायिका-मुख तथा [उससे सम्बद्ध कस्तूरी-पत्र रचना] से निर्दिष्ट की गयी है ।

एक अन्य भेद—

जहाँ किसी, [अच्छे अथवा बुरे] विशेषण से युक्त वस्तु (उपमेय) में [ऐसी] अविद्यमान समानता का आरोप किया जाता है, [जिसके विषय में] अन्य वस्तु की सम्भावना किसी युक्ति से कर दी जाती है, वहाँ एक अन्य उत्प्रेक्षा होती है ।३६।

सत्यविद्यमानमेव वस्त्वन्तरमुपमानलक्षणं समं समानमारोप्यते सापरान्योत्प्रेक्षा। ननु यद्यविद्यमानं कथं सममित्यारोपस्तस्येत्याह—उपपत्त्या युक्त्या संभाव्यं सावसरत्वात्संभावनायोग्यं यत इत्यर्थः ॥

उदाहरणम्—

अतिघनकुङ्कुमरागा पुरः पताकेव दृश्यते संध्या।
उदयतटान्तरितस्य प्रथयत्यासन्नतां भानोः ॥३७॥

अतिघनेति। अत्र विशिष्टे संध्याख्ये वस्तुन्यसदेव वस्त्वन्तरं पताकाख्यं साम्यादारोपितम्। तच्च युक्त्या संभाव्यम्। यतो रविरथे पताकया भाव्यम्, साप्युदयाचलव्यवहितस्य रवेर्दृश्यमाना सती नैकटचं प्रकटयति। अथ यत्र साम्यमात्रे सति विनैवोपपत्त्या संभावना भवति न चोपमाव्यवहारस्तत्र कोऽलंकारः। यथा—

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां संपादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसंध्यामिव धातुमत्ताम् ॥

तथा—'आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्याम्' इत्यादिषु। अत्र ह्यकालसंध्यादीनां संभावने न काचिदुपपत्तिर्निर्दिष्टा। न चाप्युपमाव्यवहारः। यतः सिद्धमुपमानं भवति। न वा काले सिद्धत्वम्। तथा यद्यर्थाश्रवणान्नाप्युत्पाद्योपमाव्यवहारः। न चाप्यतिशयोत्प्रेक्षा संभवोऽस्ति। अत्रोच्यते—उपमायामसंभव उत्प्रेक्षायां त्वनुपपत्तिरत उभयत्रापि लक्षणस्य न्यूनतायामुपमाभासो वा स्यादुत्प्रेक्षाभासो वा। एवम् 'पृथिव्या इव मानदण्डः' इत्यादावपि द्रष्टव्यम्। सूत्रकारेणानुक्तं भेदान्तरमपि चास्यां विद्यते—

कर्तुरुपमानयोगः सत्यौपम्येऽनिवादिरपि यत्र।
संभाव्यतेऽनुरोधाद्विज्ञेया सा परोत्प्रेक्षा ॥

उदाहरण—

बहुत घने कुंकुम राग से अरुण यह [प्रातःकालीन] सन्ध्या [रवि-रथ की] पताका के समान शोभित हो रही है, और [मानो] उदयाचल की ओट में छिपे सूर्य की समीपता को सूचित कर रही है।३७।

इसी प्रसंग में नमिसाधु-प्रस्तुत तीन उदाहरण अवलोकनीय हैं—

१. 'यश्चापसरोविभ्रम...' अर्थात् जो [हिमालय] अपने शिखरों पर अप्सराओं की विलास-प्रसाधन सामग्री को प्रस्तुत करने वाली [गैरिक आदि] धातुओं को इस प्रकार धारण करता है, मानो मेघों के खण्डों से विभक्त हुए रंगों वाली अकाल-सन्ध्या हो।

२. जहाँ उपमा होने पर भी कर्ता के उपमान में इव आदि का प्रयोग न हो, उसे एक अन्य [प्रकार की] उत्प्रेक्षा जानना चाहिए। जैसे—

यथा—

यः करोति वधोदर्का निःश्रेयसकरीः क्रियाः।
ग्लानिदोषाच्छिदः स्वच्छाः स मूढः पङ्कयत्यपः॥

तथा—

अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्तितं स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितम्।
श्वपुच्छमवनामितं बधिरकर्णजापः कृतः कृतान्धमुखमण्डना यदबुधो जनः सेवितः॥

अथ रूपकम्—

यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा।
अविवक्षितसामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम्॥३८॥

यत्रेति। यत्रोपमानोपमेययोर्गुणानां साम्ये तुल्यत्वे सति विद्यमाने प्रतीतिपथवारिण्या भिदा तयोरैक्यं कल्प्यते तदित्यमुना प्रकारेण रूपकं प्रथमम्। उत्तरत्र समासग्रहणादिह प्रथमशब्देन वाक्यरूपकं विवक्षितम्। उत्प्रेक्षायामप्यभेदो विद्यते, ततस्तन्निरासार्थमाह—अविवक्षितसामान्येति। सदप्यत्र सामान्यं न विवक्ष्यते। सिंहो देवदत्त इति। उत्प्रेक्षायां तु छद्मलक्ष्मव्याजव्यपदेशादिभिः शब्दैरुपमानोपमेययोरभेदो भेदश्च विवक्षित इति। परमार्थतस्तूभयत्राभेद एवेति॥

उदाहरणम्—

साक्षादेव भवान्विष्णुर्भार्या लक्ष्मीरियं च ते।
नान्यद्भूतसृजा सृष्टं लोके मिथुनमीदृशम्॥३९॥

साक्षादिति। सुगममेव॥

'यः करोति वधोदर्काः···' अर्थात् जो व्यक्ति शुभ कार्यों को भी घातक बना देता है, वह मूर्ख श्रम आदि कष्ट को दूर करने वाले निर्मल जल को मलिन करता है।

३. अरण्यरुदितं कृतम्···' अर्थात् जिस व्यक्ति ने मूर्ख की सेवा की, उसने [मानो] अरण्यरोदन किया, शव के शरीर को उबटन लगाया, स्थल पर कमल उगाने की चेष्टा की, देर तक बंजर भूमि का सिंचन किया, कुत्ते की पूँछ को झुकाने की चेष्टा की, बहरे से बातें कीं और अन्धे के मुख का प्रसाधन किया।

३. रूपक

जहाँ उपमान और उपमेय के गुणों की समानता होने पर ऐसा अभेद कल्पित किया जाता है जिसके समान धर्म का निर्देश नहीं किया जाता, वहाँ प्रथम रूपक अलंकार होता है।३८।

उदाहरण—

आप साक्षात् विष्णु हैं। आपकी यह पत्नी [साक्षात्] लक्ष्मी हैं। संसार में विधाता ने अन्य किसी ऐसे दम्पती की सृष्टि नहीं की।३९।

अथ भेदान्तरमाह—

उपसर्जनोपमेयं कृत्वा तु समासमेतयोरुभयोः ।
यत्तु प्रयुज्यते तद्रूपकमन्यत्समासोक्तम् ।।४०।।

उपसर्जनेति । एतयोरुपमानोपमेययोः समासं कृत्वा यत्पुनः प्रयुज्यते तदपरं समासोक्तं रूपकम् । समासोपमाया रूपकत्वनिवृत्त्यर्थमाह—उपसर्जनमप्रधानमुपमेयं यत्र । यथा—दुर्जन एव पन्नगो दुर्जनपन्नगः । समासोपमायां तूपमानमुपसर्जनम् । यथा—शशीव मुखं यस्याः सा शशिमुखी । तु शब्दः समुच्चये । उभयग्रहणं नियमार्थम् । उभयोरेव समासे, न तृतीयस्यापि सामान्यपदस्येत्यर्थः ।।

सामान्यं रूपकभेदद्वयमेतदभिधायेदानीमेतद्विशेषानाह—

सावयवं निरवयवं संकीर्णं चेति भिद्यते भूयः ।
द्वयमपि पुनर्द्विधैतत्समस्तविषयैकदेशितया ।।४१।।

सावयवमिति । एतद्वाक्यसमासलक्षणं रूपकद्वयं भूयः सावयवं निरवयवं संकीर्णं चेत्यमुना प्रकारेण त्रिधा भिद्यते । पुनश्च द्वयमपि वाक्यसमासलक्षणमेतद्रूपकं समस्तविषयतयैकदेशितया च द्विधा भिद्यते । न तु सावयवादिभेदभिन्नं सत् । निरवयवादिषु सर्वत्रासंभवात् । तेनात्र भेदद्वये सावयवादिप्रभेदानुप्रवेशो यथासंभवमेव भवतीति ।।

यहाँ उपमान और उपमेय के ऐक्य-कथन में किसी समानधर्म का निर्देश नहीं किया गया ।

एक अन्य प्रकार (समासरूपक)—

जहाँ उपमान और उपमेय का समास करके उपमेय को अप्रधान रूप में प्रयुक्त किया जाता है, उसे एक अन्य प्रकार का रूपक—समासरूपक कहते हैं ।४०।

नमिसाधु ने समासरूपक और समासोपमा में भेद निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि समासरूपक में उपमेय की अप्रधानता रहती है और समासोपमा में उपमान की । जैसे—(१) दुर्जन है पन्नग—दुर्जनपन्नगः (रूपक) । (२) शशि के समान मुख है जिसका—शशिमुखी (उपमा) ।

रूपक के भेद—

समास के [तीन] भेद हैं—सावयवव, निरवयव और संकीर्ण । [इनमें से प्रथम] दोनों के दो-दो भेद हैं—समस्तविषय और एकदेशी ।४१।

इदानीमेषामेव लक्षणमाह—तत्र सावयवम्—

उभयस्यावयवानामन्योन्यं तद्वदेव यत्क्रियते ।
तत्सावयवं त्रेधा सहजाहार्योभयैस्तैः स्यात् ॥४२॥

उभयस्येति । उभयस्योपमानोपमेयलक्षणस्य येऽवयवास्तेषां परस्परं यद्रूपणं तद्वदेवेति समस्तोपमावत्क्रियते तत्सावयवं रूपकम् । यथा समस्तोपमायामुपमानोपमेययोस्तदवयवानां चौपम्यम्, एवमिहापि रूपणमित्यर्थः । तच्च सहजैराहार्यैरुभयैश्च तैरवयवैस्त्रेधा स्यात्त्रिविधं भवेत् ॥

उदाहरणम्—

ललनाः सरोरुहिण्यः कमलानि मुखानि केशरैर्दशनैः ।
अधरैर्दलैश्च तासां नवबिसनालानि बाहुलताः ॥४३॥

ललना इति । एतद्वाक्यरूपकं सावयवं समस्तविषयं सहजावयवं च । आहार्यावयवं तु यथा—

गजो नगः कुथा मेघाः शृङ्खला पन्नगा अपि ।
यन्ता सिंहोऽभिशोभन्ते भ्रमरा हरिणास्तथा ॥

सावयव रूपक—

जहाँ उपमान और उपमेय के अवयवों का परस्पर अभेद वर्णित हो, वहाँ सावयव रूपक होता है । यह सावयव रूपक तीन प्रकार का है—सहज, आहार्य तथा उभय (सहजाहार्य) ।४२।

सहज से तात्पर्य है स्वाभाविक, और आहार्य से कृत्रिम ।

सावयव समस्तविषय सहजरूपक का उदाहरण—

वे कामिनियाँ कमलिनी हैं । उनके मुख कमल हैं, दाँत केसर हैं, अधर पत्र हैं, और बाहुलताएँ नवीन मृणालदण्ड हैं ।४३।

यहाँ कामिनी उपमेय है, कमलिनी उपमान । इनके क्रमशः अवयव हैं—मुख, दाँत, अधर और बाहु, तथा कमल, केसर, पत्र और मृणाल-दण्ड । यहाँ इन सभी अवयवों का परस्पर सहज अभेद निरूपित है ।

नमिसाधु ने इस प्रसंग में तीन उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

(१) 'गजो नगः कुथाः···' अर्थात् हाथी, पर्वत, दरी (एक बिछौने का वस्त्र), बादल, शृङ्खला, साँप, सारथी, सिंह, भौंरे तथा हरिण शोभित हो रहे हैं ।

(२) 'यस्या बीजमहंकृतिर्गुरुतरं···' अर्थात् [मेरे द्वारा की गयी आपकी स्तुति और सेवारूप कुल्हाड़े से आप मेरी तृष्णारूपी उस लता को काट दीजिए, अहंकार जिसका बीज है, 'मेरा-मेरा' इस प्रकार का आग्रह जिसकी मजबूत जड़ है, सदा उसकी

उभयावयवं यथा—

यस्या बीजमहंकृतिर्गुरुतरं मूलं ममेति ग्रहो
नित्यं तु स्मृतिरङ्कुरः सुतसुहृज्ज्ञात्यादयः पल्लवाः ।
स्कन्धो दारपरिग्रहः परिभवः पुष्पं फलं दुर्गतिः
सा मे त्वत्स्तुतिसेवया परशुना तृष्णालता लूयताम् ।।

इदानीं समासरूपकं सावयवं समस्तविषयं सहजावयवमुदाहर्तुमुचितम्, ग्रन्थकृतां तु नोदाहृतम् । तच्चेत्थं यथा—

वचनमधु नयनमधुकरमधरदलं दशनकेसरं तस्याः ।
मुखकमलमनुस्मरतः स्मरहतमनसः कुतो निद्रा ।।

समासरूपकाहार्योदाहरणमाह—

विकसितताराकुमुदे गगनसरस्यमलचन्द्रिकासलिले ।
विलसति शशिकलहंसः प्रावृड्विपदपगमे सद्यः ।।४४।।

विकसितेति । अत्र गगनमुपमेयं सर उपमानम् । तयोश्च समासः । ताराज्योत्स्नाशशिनो गगनस्याहार्यावयवाः । उपमानस्य तु ते यादृशास्तादृशा भवन्तु । नात्र तद्विवक्षा । प्रावृड्विपदिति रूपकमपि नोदाहरणत्वेन योज्यम् । अवयवत्वाभावात् ।।

स्मृति रहना अंकुर है, सन्तान, मित्र तथा सम्बन्धी आदि जिसके पत्ते हैं, पत्नी जिसकी शाखा है, सांसारिक परिभव (अपमान आदि) जिसके पुष्प हैं, और जिसका फल है दुर्गति ।

यह सावयव समस्त विषय सहजाहार्य रूपक का उदाहरण है । तृष्णा-रूपी लता का बीज अहंकार है—यह अभेद कथन तो सहज (स्वाभाविक) है, किन्तु 'मेरा-मेरा' इस प्रकार के आग्रह को दृढ़ जड़ कहना आहार्य अभेद-कथन है ।

(३) 'वचनमधुनयनमधुकरम्...' अर्थात् उस रमणी का सम्भाषण मधु है, आँखें मधुकर हैं, होंठ पल्लव हैं, दाँत केसर हैं और मुख कमल है, उसे स्मरण करते हुए मुझ कामपीड़ित को नींद कहाँ ?

नमिसाधु द्वारा प्रस्तुत इस पद्य में सावयव समस्त विषय सहज रूपक का उदाहरण समास-रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

आहार्य समासरूपक का उदाहरण—

वर्षारूपी विपत्ति के नाश होने पर चन्द्ररूपी कलहंस चमकते हुए नक्षत्ररूपी कुमुदवाले और निर्मल चाँदनी रूपी जलवाले आकाश-सरोवर में विहार कर रहा है ।४४।

अथ समासरूपकोभयोदाहरणमाह—

अलिकुलकुन्तलभाराः सरसिजवदनाश्च चक्रवाककुचाः ।
राजन्ति हंसवसनाः सम्प्रति वाणीविलासिन्यः ।।४५।।

अलीति । अत्र वाप्य उपमेया विलासिन्य उपमानभूताः । तयोः समासोऽत्र । वाप्या अलिकुलचक्रवाकहंसाः । कृत्रिमा अवयवाः । सरसिजानि तु सहजा विवक्षिताः । विलासिन्यश्च यथातथा भवन्तु । न तद्विवक्षा ।।

अथ निरवयवमाह—

मुक्त्वावयवविवक्षां विधीयते यत्तु तत्तु निरवयवम् ।
भवति चतुर्धा शुद्धं माला रशना परम्परितम् ।।४६।।

मुक्त्वेति । यत्त्ववयवविवक्षां त्यक्त्वा विधीयते तन्निरवयवं रूपकम् । तच्चतुर्धा । कथमित्याह—शुद्धमित्यादि ।।

इस उदाहरण में आकाश उपमेय और सरोवर उपमान है । तारे, चाँदनी और चन्द्रमा आकाश के आहार्य अवयव हैं, 'सहज' नहीं ।

सहजाहार्यगत समासरूपक का उदाहरण—

[ये] बावली-रूपी रमणियाँ भ्रमरकुल-रूपी केशभार को धारण किये हुए, कमल-रूपी मुखवाली, चकवे रूपी कुचों वाली तथा हंसरूपी वस्त्रों को धारण करती हुई शोभित हो रही हैं ।४५।

यहाँ वापियाँ उपमेय हैं और विलासिनियाँ उपमान । इनके क्रमशः चार-चार अवयव हैं—अलिकुल, कमल, चक्रवाक तथा हंस; और कुन्तलभार, मुख, कुच तथा वस्त्र । इनमें से उधर कमल और इधर मुख तथा कुच ये तीन सहज अवयव हैं और शेष पाँच आहार्य अवयव हैं ।

निरवयव रूपक—

अवयव की विवक्षा से विमुक्त रूपक निरवयव कहलाता है । उसके चार उपभेद हैं—शुद्ध, माला, रशना और परम्परित ।४६।

निरवयव रूपक के चार भेदों का लक्षण—

[निम्नोक्त श्लोक में उक्त चारों भेदों के लक्षण एक साथ प्रस्तुत किये गये हैं, जो स्वतः अस्पष्ट हैं । यहाँ नमिसाधु की टीका भी पूर्णतः सहायक नहीं है । इन चारों का स्वरूप ग्रन्थकार एवं टीकाकार के अनुसार प्रायः इस प्रकार है—]

(१) जहाँ उपमेय और उपमान का अभेद हो, किन्तु उनके अवयवों का कथन न हो, वहाँ 'शुद्ध' निरवयव रूपक होता है ।

अथ तल्लक्षणम्—

शुद्धमिदं सा माला रशनाया वैपरीत्यमन्यदिदम् ।
यस्मिन्नुपमानाभ्यां समस्यमुपमेयमन्यार्थे ।।४७।।

शुद्धमिति । इदमिति 'मुक्तवावयवविवक्षाम्' इति पूर्वलक्षणकं सा मालेति । यत्रैकं वस्त्वनेकसामान्यम् । 'उपमीयेतानेकैरुपमानैरेकसामान्यैः' इत्येतदुपमालक्षणं यत्र रूपके तदित्यर्थः । रशनाया वैपरीत्यमिति । यो यः पूर्वोऽर्थः स स उत्तरेषामुपमानमित्युपमालक्षणवैपरीत्यम् । रूपकरशनायां हि यो यः पूर्वोऽर्थः स स उत्तरेषामुपमेय इति । पअन्यत्परम्परितमिदं वक्ष्यमाणलक्षणकम् । तदेव लक्षणमाह—यस्मिन्नित्यादि । यत्र द्वाभ्यामुपमानाभ्यां सहैकमुपमेयमन्यस्य द्वितीयस्योपमेयस्यार्थे वर्तमानं समस्यते । यत्र हि द्वे उपमाने तत्रावश्यमुपमेयद्वयेनैव भाव्यमित्युपमेयार्थे उपमेयं समस्यते । यथा—रजनिपुरंध्रिरोध्रतिलकश्चन्द्र इति ।।

एतेषामुदाहरणानि चत्वारि यथाक्रममाह—

कः पूरयेदशेषान्कामानुपशमितसकलसंतापः ।
अखिलार्थिनां यदि त्वं न स्याः कल्पद्रुमो राजन् ।।४८।।

---

(२) जहाँ एक उपमेय के अनेक उपमान हों, वहाँ माला [निरवयव] रूपक होता है ।

(३) जहाँ इस [माला] के विपरीत बात हो, अर्थात् पूर्व-पूर्व उपमेय उत्तर-उत्तर का उपमान बनता जाए वहाँ रशनोपमा [निरवयव] रूपक होता है ।

(४) जहाँ दो उपमानों के साथ एक उपमेय अन्य उपमेय की अपेक्षा रखे, अर्थात् दो उपमानों के साथ दो उपमेयों का होना आवश्यक हो, वहाँ परम्परित रूपक होता है ।४७।

शुद्ध निरवयव रूपक का उदाहरण—

हे राजन् ! यदि तुम सब जीवों के संताप को शान्त करने वाले कल्पवृक्ष न होओ तो कौन सब याचकों की अभीष्ट कामनाओं को पूर्ण करे ।४८।

यहाँ राजा और कल्पवृक्ष का अभेद-कथन तो है, किन्तु प्रजा, शाखा आदि इनके अवयवों का निर्देश नहीं है । अतः निरवयव रूपक है । यहाँ माला, रशना और परम्परित भी नहीं है, अतः शुद्ध है ।

नमिसाधु द्वारा प्रस्तुत 'नीचोऽपि···' पद्य 'शुद्ध निरवयव समास-रूपक' का उदाहरण है । क्योंकि पाद और पद्मयुगल में अभेद-कथन के कारण 'शुद्ध निरवयव-रूपक' है, तथा 'पाद-पद्मयुगल' में समास है—

इस लोक में आपके चरणकमलों में रहने पर नीच, मन्दबुद्धि, अकुलीन, भीरु,

क इति। अत्र राजा शाखादिभिरवयवैर्विना कल्पद्रुमेण रूपितः। एतच्छुद्धं वाक्यरूपकम्। समासरूपकं तु यथा—

नीचोऽपि मन्दमतिरप्यकुलोद्भवोऽपि भीरुः शठोऽपि चपलोऽपि निरुद्यमोऽपि।
त्वत्पादपद्मयुगले भुवि सुप्रसन्ने संदृश्यते ननु सुरैरपि गौरवेण॥

मालामाह—

कुसुमायुधपरमास्त्रं लावण्यमहोदधिर्गुणनिधानम्।
आनन्दमन्दिरमहो हृदि दयिता स्खलति मे शल्यम्॥४६॥

कुसुमेति। अत्रैका दयिता विरहिहृदयदारणाद्यनेकधर्मयोगात्कुसुमायुधपरमाऽस्त्रादिभिरनेकैरुपमानैरेकैकधर्मयुक्तै रूपिता। अत्र वाक्यमेव। रशनापरम्परितयोः समास एव संभव इति॥

रशनारूपकमाह—

किसलयकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां जगज्जयति।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः॥५०॥

किसलयकरैरिति। अत्र यो यः पूर्वोऽर्थः किसलयादिकः स स उत्तरेषां करादीनामुपमेय इति॥

दुष्ट, चंचल तथा आलसी मनुष्य को भी देवता लोग सम्मान से देखते हैं।

मालारूपक का उदाहरण—

कामदेव की परम अस्त्र, सुन्दरता की सागर, गुणों की कोश, आनन्द का निकेतन यह प्रिया मेरे हृदय में शूल फेंकती है।४६।

यहाँ उपमेय (प्रिया) का अनेक उपमानों के साथ अभेद-कथन है। अतः यहाँ 'मालारूपक' है।

रशनारूपक का उदाहरण—

लताओं के किसलय-रूपी हाथों से और कामियों के हाथरूपी कमलों से जगत् वन्दनीय है, और कमलिनियों के कमल-रूपी मुखों से तथा कामिनियों के मुख-रूपी चन्द्रमा से कामदेव धन्य है।५०।

यहाँ पहले जो उपमान-रूप में वर्णित हैं, वे बाद में उपमेय रूप में वर्णित हैं। अतः यहाँ रशना-रूपक है। 'किसलयकर' में किसलय (कमल पत्र) उपमान है तो 'करकमल' में उपमेय। इसी प्रकार 'कमलमुख' में मुख उपमान है तो 'मुखेन्दु' में उपमेय।

परम्परितमाह—

स्मरशबरचापयष्टिर्जयति जनानन्दजलधिशशिलेखा ।
लावण्यसलिलसिन्धुः सकलकलाकमलसरसीयम् ।।५१।।

स्मरेति । अत्रैकः स्मर उपमेयो द्वाभ्यामुपमानाभ्यां शबरचापयष्टिभ्यामन्यस्य नायिकालक्षणस्य पदार्थस्यार्थे समस्यते । स्मरस्य शबर उपमानम्, नायिकायाश्चापयष्टिः । स्मर एव शबरस्तस्य नायिका चापयष्टिः । यथा शबरश्चापयष्टया हरिणादीनि विध्यति, एवं स्मरस्तया कामिन इत्यर्थः । एवमन्यत्रापि योज्यम् ।।

संकीर्णमाह—

उपमेयस्य क्रियते तदवयवानां च साकमुपमानैः ।
उभयेषां निरवयवैर्विज्ञेयं तदिति संकीर्णम् ।।५२।।

उपमेयस्येति । उपमेयस्योपमेयावयवानां च सहजाहार्योभयरूपाणामुपमानैरुभयेषामपि निरवयवैः सह यद्रूपणं क्रियते तत्संकीर्णं नाम ज्ञेयम् । एवं च सहजाद्यवयवभेदजत्वात् त्रिधा भवति । उभयेषामित्यनेनोपमेयस्तदवयवाश्च निर्दिश्यन्ते ।।

परम्परित रूपक का उदाहरण—

यह [नायिका] कामदेव रूपी भील का धनुष है । यह लोगों के आनन्द रूपी समुद्र के लिए चन्द्रकला के समान है, और लावण्यरूपी जल का सागर है, तथा सम्पूर्ण कलारूपी कमलों का सरोवर है ।५१।

'इयं स्मरशबरचापयष्टिः' का अर्थ है कि यह [नायिका] कामदेव रूपी शबर का धनुष है । नायिका (उपमेय) को चापयष्टि तभी कहा जा सकता है जब नायिका से सम्बन्धित किसी वस्तु को 'चापयष्टि से सम्बन्धित बताया जाए, अतः यहाँ स्मर (नायिका से सम्बन्धित वस्तु) का उपमान शबर (चापयष्टि से सम्बन्धित वस्तु) बनाया गया है । अतः यहाँ परम्परित रूपक है । इस समग्र पद्य का भावार्थ यह है कि जिस प्रकार शबर धनुष से मृग आदि का वध करता है, उसी प्रकार कामदेव नायिका के द्वारा कामी पुरुषों का वध करता है ।

[जहाँ] उपमेय का तथा उसके अवयवों का उपमानों के साथ [साहश्य बताया जाए, किन्तु यह साहश्य उपमेय और उपमान] दोनों के अवयवों के साथ घटित न हो, [वहाँ] संकीर्ण रूपक जानना चाहिए ।५२।

नमिसाधु के अनुसार अवयव सहज और आहार्य दोनों प्रकार के हो सकते हैं ।

उदाहरणानि—

लक्ष्मीस्त्वं मुखमिन्दुर्नयने नीलोत्पले करौ कमले ।
केशाः केकिकलापो दशना अपि कुन्दकलिकास्ते ।।५३।।

लक्ष्मीरिति । नायिकात्रोपमेया । तदवयवाश्च सहजा मुखादयः । लक्ष्मीचन्द्रप्रभृतीनि चोभयेषामुपमानानि निरवयवानि । नहि लक्ष्म्याश्चन्द्रादयोऽवयवाः । उपमेयं सावयवमुपमानेषु विपर्यय इति संकीर्णत्वमिति ।।

अथाहार्यावयवोदाहरणमाह—

सुतनु सरो गगनमिदं हंसरवो मदनचापनिर्घोषः ।
कुमुदवनं हरहसितं कुवलयजालं दृशः सुदृशाम् ।।५४।।

सुतन्विति । हे सुतनु, इदं सरः शरदि निर्मलत्वाद्विस्तीर्णत्वाच्च गगनसदृशमित्यर्थः । अत्र च गगनकामधनुर्ध्वनिहरहसिततरुणीदृशो निरवयवोपमानानि । उपमेयं सरः । तदवयवा हंसरवकुमुदवनकुवलयजालान्याहार्याणि विवक्षितानीति ।।

अथोभयावयवमाह—

इन्द्रस्त्वं तव बाहू जयलक्ष्मीद्वारतोरणस्तम्भौ ।
खड्गः कृतान्तरसना जिह्वा च सरस्वती राजन् ।।५५।।

उदाहरण (सहजावयव)—

हे नायिका ! तुम लक्ष्मी हो । तुम्हारा मुख चन्द्रमा है, आँखें नील कमल हैं, दोनों हाथ कमल हैं । तुम्हारे केश मोरपंख हैं और दाँत कुन्दकली हैं ।५३।

यहाँ नायिका उपमेय है और लक्ष्मी उपमान है, किन्तु नायिका के मुख, नयन आदि सहज अवयवों की सदृशता जिन (उपमानावयवों) से दी गयी है, वे लक्ष्मी के साथ सम्बद्ध नहीं हैं ।

उदाहरण (आहार्य अवयव)—

हे सुन्दरि ! यह तालाब आकाश है। इसमें हंसों का शब्द कामदेव के धनुष की टंकार है, कुमुदवन महादेवजी का शुभ्र हास है और नीले कमल सुन्दिरियों के नेत्र हैं ।५४।

यहाँ तालाब उपमेय है और आकाश उपमान, किन्तु तालाब के हंसरव, कुमुदवन आदि आहार्य अवयवों की सदृशता जिन उपमानावयवों से दी गयी है, वे आकाश से सम्बद्ध नहीं हैं ।

उदाहरण (सहज एवं आहार्य)—

हे राजन् ! तुम देवराज इन्द्र हो । तुम्हारी भुजाएँ विजयद्वार के तोरणस्तम्भ हैं । खड्ग महाकाल की जिह्वा है और तुम्हारी जिह्वा सरस्वती है ।५५।

इन्द्र इति। अत्र राजोपमेयः। तदवयवाश्च बाहुखड्गजिह्वाः सहजाहार्याः। इन्द्रजयलक्ष्मीद्वारतोरणस्तम्भादीनि निरवयवोपमानानि। एतेषु वाक्यभेद एवेति॥

समस्तविषयरूपकं निरूप्येदानीमेकदेशिरूपकमाह—

उक्तं समस्तविषयं लक्षणमनयोस्तथैकदेशीदम्।
कमलाननैर्नलिन्यः केसरदशनैः स्मितं चक्रुः॥५६॥

उक्तमिति। अनयोर्वाक्यसमासरूपकयोर्यत्समस्तविषयं लक्षणं तत्सावयवं रूपयद्भिरुक्तम्। तथैकदेशीदमार्योत्तरार्धेनोदाह्रियते। यथा—कमलेत्यादि। अत्रावयवानामेव कमलकेसराणां मुखदशनै रूपणं कृतम्, न तु पद्मिन्या अङ्गनयेत्येकदेशित्वमिति। अन्यदपि रूपकं संगतं नाम विद्यते। यत्र संगतार्थतया रूप्यरूपकभावः यथा कालिदासस्य—

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे॥

अत्र न सावयवादिव्यपदेशः। तत् क्वेदमन्तर्भवतीत्युच्यते—सामान्ये रूपकलक्षणमभिधाय तस्य वाक्यसमासभेदौ व्यापकौ उक्तौ। तयोश्च सावयवादिभेदा यथासंभवं योज्याः। ततस्तस्मिन् मूलभेदद्वये संगताद्यनुक्तभेदानामन्तर्भावः॥

अथापह्नुतिः—

अति साम्यादुपमेयं यस्यामसदेव कथ्यते सदपि।
उपमानमेव सदिति च विज्ञेयापह्नुतिः सेयम्॥५७॥

एकदेशी रूपक—

समस्त-विषयी रूपक का स्वरूप-निर्देश किया जा चुका है। अब इन दोनों [उपमेय और उपमान] के एकदेशी [रूप का उदाहरण प्रस्तुत] है—

कमलिनियों ने कमलरूपी मुखों से [तथा] परागरूपी दाँतों से स्मित किया।५६।

यहाँ कमल तथा मुख और पराग तथा दाँत—अवयवों का ही निर्देश है। अतः एकदेशी रूपक है।

नमिसाधु द्वारा प्रस्तुत रूपक का एक अन्य उदाहरण—

रावणरूपी अनावृष्टि से म्लान देवतारूपी कृषि पर अपनी वाणीरूपी अमृत से वर्षा करके विष्णु रूपी [कृष्ण] मेघ अन्तर्धान हो गये।

४. अपह्नुति

जहाँ अति साहृश्य के कारण सत्य [होने पर भी उपमेय को असत्य कहकर उपमान को सत्य] सिद्ध किया जाता है वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है।५७।

अतिसाम्यदिति । यस्यामुपमानोपमेययोरत्यन्तसाम्यादुपमेयं प्रस्तुतं वस्त्वविद्यमानं कथ्यते, उपमानमेव सत्तया, सेयमपह्नुतिर्नाम । उत्प्रेक्षायां व्याजादिशब्दैरुपमेयस्य सत्त्वमप्युच्यते, इह तु सर्वथैवापह्नव इति विशेषः ।।

उदाहरणम्—

नवबिसकिसलयकोमलसकलावयवा विलासिनी सैषा ।
आनन्दयति जनानां नयनानि सितांशुलेखेव ।।५८।।

नवेति । अत्रातिसादृश्याद् विलासिनीमुपमेयमपह्नुत्य शशिकलाया उपमानस्यैव सद्भावः कथितः ।।

अथ संशयः—

वस्तुनि यत्रैकस्मिन्ननेकविषयस्तु भवति संदेहः ।
प्रतिपत्तुः सादृश्यादनिश्चयः संशयः स इति ।।५९।।

वस्तुनीति । यत्रैकस्मिन्वस्तुन्युपमेये प्रतिपत्तुरनेकविषयः सादृश्यात्संदेहो भवति, अनिश्चयान्तः स इत्येवं प्रकारः संशयनामालंकारः । तुर्विशेषे ।।

उदाहरणम्—

किमिदं लीनालिकुलं कमलं किं वा मुखं सुनीलकचम् ।
इति संशेते लोकस्त्वयि सुतनु सरोवतीर्णायाम् ।।६०।।

उदाहरण—

नये कमलपत्र के समान कोमल अंगों वाली यह विलासिनी लोगों के नेत्रों को चन्द्रकला के समान आनन्द देने वाली है ।५८।

रुद्रट-प्रस्तुत यह उदाहरण वस्तुतः अपह्नुति के स्वरूप का सम्यक् द्योतक नहीं है । इसके लिए विश्वनाथ-प्रस्तुत निम्नोक्त पद्य अवलोकनीय है—

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः ।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो, नासौ कलंकः शयितो मुरारिः ।।

यह आकाशमण्डल नहीं है, सागर है, ये तारे नहीं हैं [सागर के जल पर] नयी-नयी झाग के कण हैं, यह चन्द्र नहीं है, कुण्डली मारे हुए शेषनाग है, यह [चन्द्र में स्थित] कलंक नहीं है, भगवान् [कृष्णवर्ण] मुरारि शयन कर रहे हैं ।

५. *संशय*

जहाँ किसी व्यक्ति को सादृश्य के कारण एक वस्तु (उपमेय) में अनेक विषयों का सन्देह हो जाए वहाँ अनिश्चय नामक संशय अलंकार होता है ।५९।

उदाहरण—

हे सुन्दरि ! जब तुम तालाब में प्रवेश करती हो, लोग तुम्हारे मुख को देख

किमिति । अत्रैकस्मिन्मुखे कमलमुखविषयः सादृश्यादनिश्चयसंशयः ।।

प्रकारान्तरमाह—

उपमेये सदसंभवि विपरीतं वा तथोपमानेऽपि ।
यत्र स निश्चयगर्भस्ततोऽपरो निश्चयान्तोऽन्यः ।।६१।।

उपमेय इति । यत्रोपमेये यद्वस्तु नैव संभवति तत्सत्कथ्यते, विपरीतं वा यत्सत्तदसंभवि कथ्यते, अथोपमाने यदसंभवि तत्सत्, यच्च सत्तदसंभवि कथ्यते स निश्चयगर्भाख्यः संशयो भवति । ततोऽन्यथा तु यत्र पर्यन्ते निश्चयो भण्यते सोऽन्यो निश्चयान्ताख्यः संशयो द्वितीयः । पूर्वोक्तं सामान्यं संशयलक्षणमुभयत्र योज्यम् ।।

निश्चयगर्भोदाहरणमाह—

एतत्किं शशिबिम्बं न तदस्ति कथं कलङ्कमङ्केऽस्य ।
किं वा वदनमिदं तत्कथमियमियती प्रभास्य स्यात् ।।६२।।
किं पुनरिदं भवेदिति सौधतलालक्ष्यसकलदेहायाः ।
वदनमिदं ते वरतनु विलोक्य संशेरते पथिकाः ।।६३।।
(युग्मम्)

एतदिति । किं पुनरिति । अत्रोपमाने शशिनि संभविनः कलङ्कस्याभावः, उपमेये त्वसंभविनः प्रभाबाहुल्यस्य सद्भाव उक्तः । वैपरीत्यं तु नोक्तम् । तदन्यत्र द्रष्टव्यम् ।।

कर संशय करते हैं कि क्या यह भ्रमरगर्भित कमल है अथवा कृष्ण केशों से युक्त मुख है ।६०।

अन्य प्रकार—

जहाँ उपमेय में असम्भव वस्तु की विद्यमानता बतायी जाए, अथवा इसके विपरीत [सम्भव] वस्तु की अविद्यमानता बतायी जाए, [इसी प्रकार] उपमान में भी [यही दोनों रूप बताये जाएँ], वहाँ निश्चयगर्भ नामक संशय अलंकार होता है, [और यदि अन्त में निश्चय हो जाए, तो वहाँ] निश्चयान्त संशय अलंकार होता है ।६१।

उदाहरण (निश्चयगर्भ)—

क्या यह चन्द्रबिम्ब है ? यदि है तो इसमें कलङ्क क्यों नहीं है ? क्या यह मुख है ? यदि यह मुख है तो इसकी इतनी प्रभा कैसे है ? फिर यह क्या हो सकता है ? हे सुन्दरि ! महल की छत पर तुम्हारे सारे शरीर के छिप जाने के कारण केवल तुम्हारे मुख को देखकर पथिक लोग इस प्रकार सन्देह कर रहे हैं ।६२-६३।

निश्चयान्तमाह—

किमयं हरिः कथं तद्गौरः किंवा हरः क्व सोऽस्य वृषः ।
इति संशय्य भवन्तं नाम्ना निश्चिन्वते लोकाः ॥६४॥

किमिति । अत्रोपमाने कृष्णे गौरत्वमसंभवि विद्यते । हरे च संभविनो वृषस्याभावः । नामग्रहणाच्च निश्चयः । अस्मिन्निश्चयान्ते संशयगर्भलक्षणापेक्षा न कार्येति । तेन 'उपमेये सदसंभवि' (८।६१) इत्यादिलक्षणाभावेऽपि भवति । यथा माघस्य—

किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्याः ।
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्बिब्बोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः ॥

इति । अन्येऽपि संशयभेदा विद्यन्त एव । यथा—

यत्रोक्तेऽपि निवर्तेत संदेहो नैव साम्यतः ।
संशयोऽन्यः स विज्ञेयः शेषगर्भः स्फुटो यथा ॥
प्रत्यग्राहितचित्रवर्णकृतकच्छायो मयाद्येक्षितः
सौधे तत्र स कोऽपि कः पुनरसावेतन्न निश्चीयते ।
वाक्यं वक्ति न वक्त्रमस्ति न शृणोत्यंसावलम्बिश्रुति-
श्चक्षुष्मांश्च निरीक्षते न विदितं तत्स ध्रुवं पार्थिवः ॥

उदाहरण—

क्या यह हरि हैं ? नहीं, यह तो गौरवर्ण हैं ! तो क्या यह शिव हैं, नहीं, इसके पास बैल कहाँ है ? हे राजन् ! इस प्रकार लोग आपके विषय में संशय करते हैं, और आपके नाम से ही आपका निश्चय करते हैं ।६४।

नमिसाधु ने इसी प्रसंग में संशय के विभिन्न रूपों से सम्बद्ध निम्नोक्त चार उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

१. 'किं तावत् सरसि···' अर्थात् यह, सरोवर में दूर से दीखने वाला कमल है, अथवा युवती का मुख शोभित हो रहा है ? इस प्रकार थोड़ी देर संशय में पड़कर किसी [कामी] ने बगुलों के सहवर्ती [कमलों] के अप्रत्यक्ष (अविद्यमान) विलासों से निश्चय कर लिया [कि यह युवती का ही मुख है] ।

२. जहाँ कह देने पर भी, सादृश्य के कारण सन्देह दूर नहीं होता, उसे शेषगर्भ नामक संशय का एक अन्य प्रकार जानना चाहिए । यथा—

'प्रत्यग्राहितचित्रवर्ण···' अर्थात् मैंने आज महल में किसी को देखा, उसकी विचित्र वर्ण की कृत्रिम कान्ति थी । वह कौन था इसका निश्चय नहीं हुआ । वह बिना मुख के बोल रहा था, उसके कान कन्धों तक फैले हुए (विशाल) थे, किन्तु वह सुन नहीं रहा था, नेत्रयुक्त होने पर भी वह देख नहीं रहा था । अहो, जान लिया, वह राजा था ।

तथा—

उपमेयमपह्नुत्य संदेग्धुर्यत्र कथ्यते ।
उपमानमसावन्यः संशयो दृश्यते यथा ।।

यो गोपीजनवल्लभः स्तनतटव्यासङ्गलब्धास्पद-
श्छायावान्नवरक्तको बहुगुणश्चित्रश्चतुर्हस्तकः ।
कृष्णः सोऽपि हताशया व्यपहृतः कान्तः कयाप्यद्य मे
किं राधे मधुसूदनो नहि नहि प्राणाधिकश्चोलकः ।।

तथा—

अतिशयकारिविशेषणयुक्तं यत्रोपमेयमुच्येत ।
साम्यादुपमानगते संदेहे संशयः सोऽन्यः ।।

यथा—

भुजतुलिततुङ्गभूभृत्स्वविक्रमाक्रान्तभूतलो जयति ।
किमयं जनार्दनो नहि सकलजनानन्दनो देवः ।।
एवमन्येऽपि संशयप्रकारा लक्ष्यानुसारेण बोद्धव्या इति ।।

भूयोऽपि भेदान्तरमाह—

यत्रानेकत्रार्थे संदेहस्त्वेककारकत्वगतः ।
स्यादेकत्वगतो वा सादृश्यात्संशयः सोऽन्यः ।।६५।।

---

३. जहाँ सन्देह करने वाले से, उपमेय को छिपाकर उपमान का वर्णन कर दिया जाए, वहाँ संशय का एक अन्य प्रकार होता है । जैसे—

'यो गोपीजनवल्लभः···' अर्थात् वह गोपियों का प्रिय है, उनके स्तनों का सम्पर्क उसे प्राप्त है, सुन्दर कान्ति से युक्त है, रागपूर्ण (रंगा हुआ, अनुरागयुक्त) है, अनेक गुणों (तागों) से युक्त है, विचित्र है, चार हाथ परिमाण का है, मेरे उस सुन्दर कृष्ण का किसी दुष्टा ने अपहरण कर लिया है ! हे राधे ! क्या मधुसूदन का [अपहरण कर लिया ?] नहीं, नहीं, मेरी प्राणाधिक चोली का ।

४. जहाँ उपमान-विषयक सन्देह होने पर सादृश्य के कारण उपमेय को अतिशयोक्तिपूर्ण विशेषणों से युक्त कहा जाए, वहाँ संशय का एक और प्रकार होता है । जैसे—

भुजाओं से ऊँचे-ऊँचे पर्वतों को धारण करने वाले और अपने विक्रम [पादाक्षेप] से भुवन को व्याप्त करने वाले की जय हो । क्या जनार्दन कृष्ण की ? नहीं, नहीं, सब लोगों को आनन्दित करने वाले महाराज की ।

अन्य प्रकार—

जहाँ सादृश्य के कारण उपमान और उपमेय में [कर्ता आदि] कारकों से सम्बद्ध [इस प्रकार का] सन्देह हो कि [किसी क्रिया का] कारक [उपमान है

यत्रेति । सोऽयमन्यः संशयो यत्रानेकत्रोपमानोपमेयलक्षणेऽर्थे कर्त्रादिकारकत्व-विषयः संशयो भवति । अस्याः क्रियायाः किमुपमानं कारकं स्यादुतोपमेयमिति, इत्थं यत्र भ्रान्तिरित्यर्थः । तथैकत्वगतो वेति यत्रोपमानोपमेययोरैक्ये संभाव्यमान एकस्य तात्त्विक-मन्यस्यातात्त्विकमिति संदेह इत्यर्थः ।।

उदाहरणद्वयमप्यार्ययैकमाह—

गमनमधीतं हंसैस्त्वत्तः सुभगे त्वया नु हंसेभ्यः ।
किं शशिनः प्रतिबिम्बं वदनं ते किं मुखस्य शशी ।।६६।।

गमनमिति । अत्राद्यार्धेऽध्ययनक्रियां प्रति कर्तृत्वसंदेह उक्तः । द्वितीये तु मुख-शशिनोस्तात्त्विकातात्त्विकत्वमेकत्र संदिग्धमिति । अथायं कोऽलंकारः । यथा भारवेः 'रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गमनं स्थगितं नु । पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण ।।' औपम्याभास इति केचित् । उत्प्रेक्षैवेयमित्यन्ये ।।

अथ समासोक्ति—

सकलसमानविशेषणमेकं यत्राभिधीयमानं सत् ।
उपमानमेव गमयेदुपमेयं सा समासोक्तिः ।।६७।।

सकलेति । यत्रैकमुपमानमेवोपमेयेन सह सकलसाधारणविशेषणमभिधीयमानं सदुपमेयं गमयेत्सा समासोक्तिः । सकलग्रहणं मिश्रत्वनिवृत्त्यर्थम् । एकग्रहणं तूपमेय-वाचिपदप्रयोगनिवृत्त्यर्थम् । सद्ग्रहणं प्रतिपादनसमर्थत्वख्यापनार्थम् ।।

अथवा उपमेय], वहाँ एक अन्य प्रकार का संशय अलंकार होता है ।६५।

उदाहरण—

हे सुन्दरि ! क्या हंसों ने तुमसे तुम्हारी चाल सीखी है, या तुमने हंसों से उनकी चाल सीखी है ? क्या तुम्हारा मुख चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब है, या चन्द्रमा तुम्हारे मुख का प्रतिबिम्ब है ?६६।

यहाँ कर्ता कारक के विषय में सन्देह है ।

नमिसाधु-प्रस्तुत एक अन्य उदाहरण—

क्या अन्धकार ने अनेक वृक्षों और पर्वतों को रंग दिया है ? क्या आकाश को [पृथ्वी तक] झुका दिया है ? क्या आकाश को आच्छादित कर दिया है ? क्या ऊँचे-नीचे स्थानों को भरकर पृथ्वी को समतल बना दिया है, क्या दिशाओं का लोप कर दिया है ।

६. समासोक्ति

जहाँ कोई उपमेय उपमान से घटित होने योग्य विशेषणों से कथित होने के कारण उपमान की प्रतीति कराए वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है ।६७।

उदाहरणमाह—

फलमविकलमलघीयो लघुपरिणति जायतेऽस्य सुस्वादु ।
प्रीणितसकलप्रणयिप्रणतस्य सदुन्नतेः सुतरोः ।।६८।।

फलमिति । फलमाम्रादिकम् । दृष्टार्थश्चेत्यत्र तरुरुपमानं गुणसाधर्म्यात्सत्पुरुषमेव गमयति ।।

अथ मतम्—

तन्मतमिति यत्रोक्त्वा वक्तान्यमतेन सिद्धमुपमेयम् ।
ब्रूयादथोपमानं तथा विशिष्टं स्वमतसिद्धम् ।।६९।।

तदिति । तन्मतनामालंकारः । इत्यमुना वक्ष्यमाणप्रकारेण । यत्र वक्तान्यमतेन पराभिप्रायेण सिद्धं लोकप्रतीतमुपमेयमुक्त्वा प्रतिपाद्योपमानं ब्रूयात् । किंभूतम् । तथाविशिष्टमुपमेयधर्मसदृशम् । पुनश्च कीदृशम् । स्वमतेन स्वाभिप्रायेण तथोपमानत्वेन सिद्धम् । उपमेयमेव तत्त्वतस्तदित्यर्थः ।।

उदाहरणमाह—

मदिरामदभरपाटलमलिकुलनीलालकालिधम्मिल्लम् ।
तरुणीमुखमिति यदिदं कथयति लोकः समस्तोऽयम् ।।७०।।
मन्येऽहमिन्दुरेषः स्फुटमुदयेऽरुणरुचिः स्थितैः पश्चात् ।
उदयगिरौ छद्मपरैर्निशातमोभिर्गृहीत इव ।।७१।। (युग्मम्)

उदाहरण—

सब प्रेमियों को प्रसन्न करने वाले श्रेष्ठ उन्नति रूपी इस सुन्दर पेड़ का फल भी सुन्दर, बड़ा, स्वादिष्ट एवं शीघ्र पचने वाला होता है ।६८।

यहाँ वर्णित फलदार वृक्ष से किसी सत्पुरुष की भी प्रतीति होती है ।

७. मत

जहाँ वक्ता अन्यों के मत से सिद्ध (लोकप्रसिद्ध) उपमेय का वर्णन कर [उसी के समानधर्मा होने से] अपने अभिप्राय को सिद्ध करने के लिए उपमान का वर्णन करे वहाँ मत नामक अलंकार होता है । ।६९।

उदाहरण—

मदिरा के मद से कुछ-कुछ लाल और भ्रम-समूह के समान काले बालों की वेणी वाला यह तरुणी का मुख है—ऐसा सभी लोग कहते हैं, किन्तु मेरा विचार है कि यह चन्द्रमा है, और अभी-अभी उदय होने से कुछ-कुछ लाल है, तथा उदयगिरि पर स्थित रात्रि के कुटिल अन्धकार ने इसे सम्भवतः पीछे से पकड़ रखा है ।७०-७१।

मदिरेति। मन्य इति। अत्र मुखमुपमेयं लोकमतेनोक्त्वा स्वमतेनेन्दुमाह। विशेषणानि तुल्यानि। तथा हि मुखं मदिरामदभरेण लोहितमिन्दुरुदयारुणकान्तिः। मुखं कृष्णकेशकलापेन युक्तं शशी निशातमोभिः॥

अथोत्तरम्—

यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टस्तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम्।
कार्येणानन्यसमख्यातेन तदुत्तरं ज्ञेयम्॥७२॥

यत्रेति। यत्र वक्ता ज्ञातात्प्रसिद्धादुपमानलक्षणादन्यदुपमेयभूतं वस्तु पृष्टः संस्तत्त्वेन तद्भावेन तत्तुल्यमुपमानसदृशं वक्ति। तत्तुल्यतापि कुत इत्याह—कार्येण। कीदृशेन। अनन्यसमेन ख्यातेन च। तदुपमानं वर्जयित्वान्यत्राविद्यमानेन। तत्र च प्रसिद्धेनेत्यर्थः। अथ परिसंख्याया वास्तवोत्तरस्यास्य चोत्तरस्य को विशेषः। उच्यते—परिसंख्यायामज्ञातमेव पृच्छति नियमप्रतीतिश्चौपम्याभावश्च। 'किं सुखमपारतन्त्र्यम्' (७।८०) इत्यत्र ह्यपारतन्त्र्यमेव सुखं नान्यदित्यर्थः। इह तु ज्ञातादन्यत्पृच्छ्यते, न च नियमप्रतीतिरस्ति, औपम्यं च विद्यते। यथा 'किं मरणम्' (८।७३) इत्यादि। वास्तवोत्तरे तु न नियमप्रतीतिर्नाप्यौपम्यसद्भावः। केवलं प्रश्नादुत्तरमात्रकथनमेव। यथा लक्ष्मीसौराज्यादि तत्र कथितम्॥

अथोदाहरणमाह—

किं मरणं दारिद्र्यं को व्याधिर्जीवितं दरिद्रस्य।
कः स्वर्गः सन्मित्रं सुकलत्रं सुप्रभुः सुसुतः॥७३॥

किमिति। अत्रमरणात्प्राणत्यागसकाशात्प्रतीतादन्यत्पृष्टो वक्ता कार्येणाकिंचित्करत्वदुःखकारित्वादिना तत्तुल्यं दारिद्र्यं मरणमिव कथितवान्॥

---

८. उत्तर

जहाँ प्रसिद्ध उपमान से पृथक् उपमेय के विषय में प्रश्न किये जाने पर वक्ता अनन्य समान (उपमान को छोड़कर अन्यत्र अविद्यमान) तथा प्रसिद्ध उपमान के सदृश उत्तर देता है, वहाँ उत्तर अलंकार होता है।७२।

उदाहरण—

मृत्यु क्या है ? दरिद्रता। रोग क्या है ? दरिद्र का जीवन। स्वर्ग क्या है ? अच्छा मित्र, सुलक्षणा स्त्री और श्रेष्ठ स्वामी।७३।

मृत्यु क्या है—इसका उत्तर होता प्राणों का निकल जाना, किन्तु वक्ता ने मृत्यु-तुल्य किसी अन्य पदार्थ (दरिद्रता) का उत्तर दिया है। इसी प्रकार अन्य प्रश्न एवं उत्तर भी ज्ञातव्य हैं।

अथान्योक्तिः—

असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम् ।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः ।।७४।।

असमानेति । यत्रासाधारणविशेषणमप्युपमेयमुपमानेनोक्तेन परं केवलं गम्यते प्रतीयते सेत्युक्तेन प्रकारेणान्योक्तिर्भवति । यनु यद्यसमानविशेषणं तत्कथं तेन गम्यत इत्याह—समानेतिवृत्तमिति । समानं सदृशमितिवृत्तमर्थशरीरं यस्य तत्तथोक्तम् । यत उपमानतुल्यव्यवहारमुपमेयमतस्तेन गम्यत इत्यर्थ । अपिशब्दात्किंचित्समानविशेषणत्वेऽपि क्वापि भवतीति सूच्यत इति ।।

उदाहरणमाह—

मुक्त्वा सलीलहंसं विकसितकमलोज्ज्वलं सरः सरलम् ।
बकलुलितजलं पल्वलमभिलषसि सखे न हंसोऽसि ।।७५।।

मुक्त्वेति । अत्र हंसेनोपमानेनोक्तेन सज्जनः प्रतीयते । विशेषणानि चात्र सलीलहंसादीन्यसमानानि । नहि पुरुषः सरो मुक्त्वा पल्वलमभिलषति । इतिवृत्तं तु समानम् । यतस्तस्य शिष्टजनाधिष्ठितं स्थानं त्यजतः खलमन्यं चाश्रयतस्तत्तुल्य उपालम्भ इति ।।

अथ प्रतीपमाह—

यत्रानुकम्प्यते सममुपमाने निन्द्यते वापि ।
उपमेयमतिस्तोतुं दुरवस्थमिति प्रतीपं स्यात् ।।७६।।

---

९. *अन्योक्ति*

जहाँ कथित उपमान के द्वारा ऐसे उपमेय की प्रतीति हो जो [उपमान के] विशेषणों के असमान होता हुआ भी समान इतिवृत्त वाला हो, वहाँ अन्योक्ति अलंकार होता है ।७४।

उदाहरण—

हे मित्र ! क्रीडा करते हुए हंसों वाले, खिले हुए कमलों से शोभायमान, निर्मल जलपूर्ण सरोवर को छोड़कर तुम बगुलों से मलिन किये जा रहे जल वाले जौहड़ पर जाना चाहते हो । निश्चय ही तुम हंस नहीं हो ।७५।

यहाँ हंस उपमान है, और कोई सज्जन उपमेय । यद्यपि हंस और सज्जन के विशेषण एकसमान नहीं हैं, तथापि इनका इतिवृत्त एकसमान है ।

१०. *प्रतीप*

जहाँ उपमेय की अति स्तुति करने के लिए उसकी तुलना उपमान से करते

यत्रेति। यत्रोपमेयमनुकम्प्यते निन्द्यते वा तत्प्रतीपं नामालंकारः। कस्मात्तस्य निन्दानुकम्पे क्रियेते इत्याह—सममुपमाने इति कृत्वा। यत उपमानेन तुल्यमतो निन्दानुकम्पे तस्येत्यर्थः। तादृशं तर्हि किमर्थमुपमानं क्रियत इत्याह—अतिस्तोतुं सातिशयमुपमेयं ख्यापयितुम्। ननु यदि सातिशयं तर्ह्युपमानेन सह साम्यं नास्तीत्याह—दुरवस्थमिति। इतिर्हेतौ। यतो दुष्टामवस्थां प्राप्तम्। उपमेयमुपमानेन समम्, अत एव निन्द्यतेऽनुकम्प्यते वेत्यर्थः। अपिर्विस्मये। एतदेव चालंकारस्य प्रतीपत्वं यदन्येनान्यद्गम्यते॥

उदाहरणम्—

वदनमिदं सममिन्दोः सुन्दरमपि ते कथं चिरं न भवेत्।
मलिनयति यत्कपोलौ लोचनसलिलं हि कज्जलवत्॥७७॥

वदनमिति। अत्राञ्जनवारिमलिनत्वान्मुखस्य दौरवस्थ्यम्, अत एवेन्दुनोपमीयते। अनुकम्प्यते। तत्त्वतः स्तुतिर्मुखस्य कृता॥

निन्दोदाहरणमाह—

गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन वहसि किं भद्रे।
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि॥७८॥

गर्वमिति। अत्र बाहुल्योपलभ्यमाननलिननिभनयनवत्तया गर्ववहनान्निन्दा स्तुतिप्रातीतिकी। दुरवस्थं कस्मादपि कारणाद्बोद्धव्यम्॥

अर्थान्तरन्यासमाह—

धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्ध्यै।
यत्र सधर्मिकमितरं न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यासः॥७९॥

हुए उसकी दुरवस्था की अनुकम्पा (स्तुति) अथवा निन्दा की जाती है, वहाँ प्रतीप अलंकार होता है।७६।

उदाहरण (अनुकम्पा)—

तुम्हारे इस सुन्दर मुख की चन्द्रमा से क्यों न उपमा दी जाए, क्योंकि तुम्हारी आँखों का कज्जल-मिश्रित जल तुम्हारे कपोलों को मलिन (कलङ्कपूर्ण) बना रहा है।७७।

उदाहरण (निन्दा)—

हे सुन्दरि ! तुम क्यों व्यर्थ अपनी आँखों की सुन्दरता का अखर्व गर्व करती हो ? तुम्हारी आँखों-जैसे नीलकमल तो प्रत्येक दिशा में तालाबों के भीतर विद्यमान हैं।७८।

११. अर्थान्तरन्यास

जहाँ [उपमेय के] विशेष अथवा सामान्य धर्म को कहकर उसके समर्थन के

धर्मिणमिति । यत्रोपमेयं धर्मिणमर्थविशेषरूपं सामान्यरूपं वा केनचिद्धर्मेण परोपकारादिना युक्तमभिधाय तस्य धर्मस्य दृढीकरणार्थमितरं यथाक्रममेव सामान्यं विशेषरूपं च समानधर्मकमुपमानभूतमर्थं कविर्न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥

उदाहरणमाह—

तुङ्गानामपि मेघाः शैलानामुपरि विदधते छायाम् ।
उपकर्तुं हि समर्था भवन्ति महतां महीयांसः ॥८०॥

तुङ्गानामिति । अत्रोपमेयविशेषं मेघपर्वताख्यं तुङ्गत्वादि युक्तमभिधाय सामान्यमुपमानं महल्लक्षणमुपन्यस्तम् ॥

द्वितीयमाह—

सकलमिदं सुखदुःखं भवति यथावासनं तथाहीह ।
रमयन्तितरां तरुणीर्नखक्षतादीनि रतिकलहे ॥८१॥

सकलमिति । अत्र सामान्यरूपेणैव सुखदुःखादियुक्तं सकलमुपमेयमुक्त्वा ततो विशिष्टं नखक्षताद्युपमानमुक्तम् ॥

अयं चार्थान्तरन्यासः साधर्म्यप्रयुक्तसामान्यविशेषद्वारेण चतुर्विधो भवति । तत्र साधर्म्येण भेदद्वयमुक्तम् । वैधर्म्येणाह—

पूर्ववदभिधायैकं विशेषसामान्ययोर्द्वितीयं तु ।
तत्सिद्धयेऽभिदध्याद्विपरीतं यत्र सोऽन्योऽयम् ॥८२॥

लिए वैसा इतर सधर्मी (क्रमशः सामान्य अथवा विशेष अर्थ वाला उपमान) कहा जाए, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार माना जाता है ।७६।

उदाहरण (विशेष कथन का सामान्य कथन द्वारा समर्थन)—

अत्युन्नत पर्वतों पर भी मेघ अपनी छाया करते हैं । बड़े लोग बड़ों का उपकार करने में पूर्ण समर्थ हुआ करते हैं ।८०।

उदाहरण (सामान्य कथन का विशेष कथन द्वारा समर्थन)—

सब सुख-दुःख अपने-अपने स्थान पर ठीक होता है । रति-कलह में किये हुए नखक्षत सुन्दरियों को आनन्दित करते हैं ।८१।

अन्य प्रकार—

जहाँ विशेष और सामान्य में से किसी एक धर्म (विशेष अथवा सामान्य) का पूर्ववत् (७।७६ की भाँति) वर्णन करके उसके समर्थन के लिए उससे विपरीत (सामान्य अथवा विशेष) धर्म का कथन विपरीत रूप में किया जाए वहाँ अन्य प्रकार का अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है ।८२।

पूर्ववदिति । यत्र विशेषसामान्ययोर्मध्यादेकं पूर्ववत्केनचिद्धर्मेणोपेतमुक्त्वा ततस्तद्धर्मसिद्धये द्वितीयं सामान्यं विशेषं वा विपरीतं विधर्मकं कविर्ब्रूयात्सोऽन्योऽयमर्थान्तरन्यासः ॥

उदाहरणमाह—

अभिसारिकाभिरभिहतनिबिडतमा निन्द्यते सितांशुरपि ।
अनुकूलतया हि नृणां सकलं स्फुटमभिमतीभवति ॥८३॥

अभिसारिकाभिरिति । अत्र शशी अभिसारिकाश्च विशेषावुपमेयौ पूर्वमुक्तौ, ततो नृणां सकलमिति सामान्यं वैधर्म्येणोक्तम् । निन्द्यत इत्यस्य ह्यभिमतीभवतीति विरुद्धम् ॥

द्वितीयमाह—

हृदयेन निर्वृतानां भवति नृणां सर्वमेव निर्वृतये ।
इन्दुरपि तथाहि मनः खेदयतितरां प्रियाविरहे ॥८४॥

हृदयेनेति । अत्र सामान्यमुक्त्वा विशेषो वैधर्म्येणोक्तः अथायं कोऽलंकारः । यथा—

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसंनिधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने ।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥

न ह्यत्रौपम्यसद्भावोऽस्तीत्यर्थान्तरन्यासाभास इति ब्रूमः । भामहादिमतेन त्वर्थान्तरन्यास एव । 'अर्थद्वयस्य न्यासः सोऽर्थान्तरन्यासः' इति तदीयलक्षणात् ॥

उदाहरण (विशेष का सामान्य द्वारा समर्थन : विपरीत रूप से)—

अभिसारिकाएँ गहन अन्धकार का नाश करने वाले चन्द्रमा की भी निन्दा करती हैं, क्योंकि लोगों को अपनी अनुकूल वस्तु ही अभिमत होती है ।८३।

यहाँ पहला कथन विशेष है और दूसरा कथन सामान्य, तथा 'निन्दा करने' का समर्थन 'अभिमत होने' द्वारा—विपरीत रूप से—किया गया है ।

उदाहरण (सामान्य का विशेष द्वारा समर्थन : विपरीत रूप से)—

जिनका हृदय प्रसन्न है, उन्हें सभी वस्तुएँ आनन्द प्रदान करती हैं । प्रिया के वियोग में चन्द्रमा भी मन को अत्यन्त उद्विग्न बना देता है ।८४।

विपरीत रूप—आनन्द प्रदान करना : उद्विग्न बनाना ।

नमिसाधु द्वारा प्रस्तुत एक अन्य उदाहरण लीजिए । यहाँ वे 'अर्थान्तरन्यासाभास' स्वीकार करते हैं—

प्रतिपक्षी की उपस्थिति में प्रिय के द्वारा गूँथी हुई और पीन स्तनों से शोभित वक्षःस्थल पर पहनायी हुई जलार्द्र पुष्पमाला का उस रमणी ने त्याग नहीं किया, क्योंकि प्रेम में गुण होते हैं, वस्तु में नहीं ।

अथोभयन्यासमाह—

सामान्यावप्यर्थौ स्फुटमुपमायाः स्वरूपतोऽपेतौ ।
निर्दिश्येते यस्मिन्नुभयन्यासः स विज्ञेयः ।।८५।।

सामान्याविति । यत्र प्रकटं विद्यमानसामान्यावपि द्वावर्थौ तुल्यकक्षतया कृत्वा तथाप्युपमाया यत्स्वरूपं ततो व्यपेतौ निर्दिश्येते । उपमायां हि सामान्यस्यैवादेश्च प्रयोगः, इह तु नैवेत्यर्थः । स उभयन्यासो ज्ञेयः ।।

उदाहरणमाह—

सकलजगत्साधारणविभवा भुवि साधवोऽधुना विरलाः ।
सन्ति कियन्तस्तरवः सुस्वादुसुगन्धि चारुफलाः ।।८६।।

सकलेति । अत्र साधव उपमेयास्तरव उपमानानि तेषां तुल्यकक्षतया निर्देशः । न तु सताप्युपमानोपमेयभावेनेति ।।

अथ भ्रान्तिमान्—

अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेदन्यमेव तत्सदृशम् ।
निःसंदेहं यस्मिन्प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान्स इति ।।८७।।

अर्थेति । यत्र प्रतिपत्तार्थविशेषमुपमेयलक्षणं पश्यंस्तत्सादृश्यादन्यमेवार्थमुपमानलक्षणं निःसंशयमवबुध्येत स इत्यमुना प्रकारेण भ्रान्तिमान्नामालंकारः ।।

---

१२. उभयन्यास

जहाँ दो प्रकट सामान्य अर्थों को उपमा के स्वरूप से विभिन्न रूप में निर्दिष्ट किया जाता है, उसे वहाँ उभयन्यास अलंकार जानना चाहिए ।८५।

अर्थान्तरन्यास अलंकार के विपरीत यहाँ सामान्य का सामान्य द्वारा समर्थन किया जाता है ।

उदाहरण—

आजकल संसार में सब लोगों से कम सम्पत्ति रखने वाले साधु विरले ही हैं । स्वादु, सुगन्धित और सुन्दर फलों वाले पेड़ हैं ही कितने ? अर्थात् थोड़े हैं ।८६।

यहाँ सामान्य कथन का सामान्य कथन द्वारा समर्थन किया गया है ।

१३. भ्रान्तिमान्

जहाँ कोई व्यक्ति किसी अर्थ-विशेष (उपमेय) को देखता हुआ उसी के सदृश किसी अन्य अर्थ (उपमान) को बिना किसी सन्देह के जान ले, वहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार होता है ।८७।

उदाहरणम्—

पालयति त्वयि वसुधां विविधाध्वरधूममालिनीः ककुभः।
पश्यन्तो दूयन्ते घनसमयाशङ्कया हंसाः ॥८८॥

पालयतीति। अत्र यज्ञधूमधारिण्यो दिश उपमेयाः। वर्षाकाल उपमानम्। तत्रैवावगतिः॥

अथाक्षेपः—

वस्तु प्रसिद्धमिति यद्विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।
अन्यत्तथात्वसिद्धयै यत्र ब्रूयात्स आक्षेपः ॥८९॥

वस्त्विति। यत्र वक्ता यत्किमपि लोके प्रसिद्धमिति विरुद्धमिति वा कारणाद्वस्तु भूतं वर्तते, अस्य वचनमाक्षिप्य ततश्चान्यद्वस्त्वन्तरं तथात्वसिद्ध्यै तस्य स्वरूपस्य सिद्ध्यर्थं ब्रूयात्स आक्षेपो नामालंकारः॥

तत्र प्रसिद्धस्योदाहरणमाह—

जनयति संतापमसौ चन्द्रकलाकोमलापि मे चित्रम्।
अथवा किमत्र चित्रं दहति हिमानी हि भूमिरुहः ॥९०॥

जनयतीति। अत्र चन्द्रकलाकोमलत्वेनापि संतापकत्वे सति विस्मयः। अथ च विरहे तथैव प्रतीयमानत्वाद्वस्तुत्वं प्रसिद्धम्। ततश्च किमत्र चित्रमित्येतेनाक्षिप्य तथात्वसिद्धौ हिमानीलक्षणमुपमानमुक्तम्॥

उदाहरण—

आपके शासन में अनेक यज्ञों के धुएँ से व्याप्त दिशाओं को देखकर हंस वर्षागमन की आशंका से व्याकुल हो रहे हैं।८८।

१४. आक्षेप

जहाँ [वक्ता] किसी प्रसिद्ध अथवा विरुद्ध वस्तु (उपमेय) को कहकर इस वचन का आक्षेप करते हुए उसके समर्थन के लिए अन्य वस्तु का कथन करे वहाँ आक्षेप अलंकार होता है।८९।

उदाहरण (प्रसिद्ध)—

आश्चर्य है कि चन्द्रकला के सदृश कोमल वह कामिनी भी मुझे संताप देती है, अथवा इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि हिमवृष्टि भी तो वृक्षों को जला देती है।९०।

यहाँ पहले कथन का—जो कि प्रसिद्ध है—समर्थन दूसरे कथन द्वारा किया गया है। और साथ ही, इन दोनों के बीच 'इसमें क्या आश्चर्य है?' इस वचन द्वारा

अथ विरुद्धोदाहरणमाह—

तव गणयामि गुणानहमलमथवासत्प्रलापिनीं धिङ्माम्।
कः खलु कुम्भैरम्भो मातुमलं जलनिधेरखिलम् ॥९१॥

तवेति। अत्र समस्तगुणगणनमशक्यत्वाद्विरुद्धमथवेत्यादिनाक्षिप्य तद्विरुद्धत्वसिद्ध्यर्थमन्यदुपमानमुक्तं क इत्यादिना ॥

अथ प्रत्यनीकम्—

वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत् ॥९२॥

वक्तुमिति। यत्रोपमेयमुत्तमं वक्तुं तज्जिगीषयोपमेयविजयेच्छया हेतुभूतया तस्योपमेयस्य विरोधीति विपक्षभूतमित्युपमानं कल्प्येत तत्प्रत्यनीकनामालंकारः। ननु विरुद्धयोः कथमौपम्यमित्याह—उक्त्या वचनमात्रेण विरोधो न तत्त्वतः। उपमेयस्तुतिस्त्वत्र तात्पर्यार्थः ॥

उदाहरणम्—

यदि तव तया जिगीषोस्तद्वदनमहारि कान्तिसर्वस्वम्।
मम तत्र किमापतितं तपसि सितांशो यदेवं माम् ॥९३॥

'आक्षेप' भी किया गया है।

उदाहरण (विरुद्ध)—

मैं तुम्हारे गुणों की गणना करती हूँ। नहीं-नहीं मुझ असत्यवादिनी को धिक्कार है। क्या कभी कोई घड़ों से समुद्र का सम्पूर्ण जल माप सकता है? ९१।

गुणों की गणना कर सकना विरुद्ध (असम्भव) कथन है। असत्यवादिनी को धिक्कार है—यह आक्षेप-वचन है।

१५. प्रत्यनीक

जहाँ उपमेय को उत्तम बनाने के लिए उपमेय की विजय की इच्छा से उस उपमेय के विरोधी उपमान की कल्पना कर ली जाती है, वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है।९२।

उदाहरण—

तुम उस [नायिका] के मुख को जीतने के इच्छुक थे, किन्तु यदि उसने तुम्हारी सर्वस्व कान्ति का अपहरण कर लिया है तो इसमें मेरा क्या अपराध है कि तुम इस प्रकार से मुझे सन्तप्त करते हो। ९३।

यदीति । अत्र मुखमुत्तमं वक्तुं तज्जिगीषया शशी उपमानं कल्पितः । एतच्च वचनमात्रेण, न तत्त्वतः ॥

अथ दृष्टान्तः—

अर्थविशेषः पूर्वं यादृङ् न्यस्तो विवक्षितेतरयोः ।
तादृशमन्यं न्यस्येद्यत्र पुनः सोऽत्र दृष्टान्तः ॥९४॥

अर्थेति । विवक्षितेतरयोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोरर्थविशेषयोर्मध्याद्यादृशो येन धर्मेण युक्तोऽर्थविशेषः पूर्वमादौ न्यस्तो भवेत्तादृशं तद्धर्मयुक्तमेव पुनस्तमर्थविशेषमन्यं यत्र वक्ता न्यस्येत्स दृष्टान्तो नामालंकारः । विशेषग्रहणमर्थान्तरन्यासादस्य भेदख्यापनार्थम् । तत्र हि सामान्यविशेषयोर्मध्यादेकमुपमानमन्यदुपमेयम् । इह तु द्वयमपि विशेषरूपमिति । उभयन्यासस्यास्मात्सत्सामान्यत्वादिविशेषः ॥

विवक्षितोदाहरणमाह—

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम् ।
आलोके हि सितांशोर्विकसति कुमुदं कुमुद्वत्याः ॥९५॥

त्वयीति । अत्रार्थविशेषो नायिकामनोलक्षणः पूर्वं कान्तदर्शनान्निर्वृत्तिधर्मयुक्तो यादृशो निर्दिष्टः पुनस्तादृशमेव चन्द्रदर्शनात्कुमुदं विकासयुक्तमिति ॥

अविवक्षितोदाहरणम्—

लोकं लोलितकिसलयविषवनवातोऽपि मङ्क्षु मोहयति ।
तापयतितरां तस्या हृदयं त्वद्गमनवार्तापि ॥९६॥

यहाँ मुख को उत्तम कहने के लिए उसके द्वारा शशि (उपमान) को जीतने की कल्पना की गयी है ।

१६. दृष्टान्त

जहाँ वक्ता प्रस्तुत-अप्रस्तुत [के बीच से जिस] अर्थ-विशेष को पहले रखकर पुनः उसी के सदृश किसी अन्य तत्त्व का उपस्थापन करता है, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है।९४।

उदाहरण (प्रस्तुत)—

हे नायक ! तुम्हें देख लेने पर उसका कामाग्नि से दग्ध मन शान्त हो जाता है, क्योंकि चन्द्र के दर्शन से कुमुद्वती के कुमुद खिलने लगते हैं।९५।

उदाहरण (अप्रस्तुत)—

चंचल एवं विषैले किसलयवन की वायु भी लोगों को शीघ्र मूच्छित कर देती है। तुम्हारे जाने की बात ही उसके हृदय को सुतरां सन्तप्त कर देती है।९६।

लोकमिति । अत्राप्राकरणिकस्य विषवनवातस्य मोहकत्वधर्मयुक्तस्य पूर्वमुपन्यासः । पश्चात्प्रस्तुतस्य तःपकारित्वयुक्तस्य [गमनवृत्तस्य] अर्थवैधर्म्येण दृष्टान्तः कथं नोक्तः । असंभवादिति ब्रूमः । यत्र हि विशिष्टोऽर्थो विधर्मकश्च दृष्टान्तस्तादृशं लक्ष्यं न पश्यामः । दृश्यते चेत्तदा समुच्चय एव ज्ञेयः ॥

अथ पूर्वम्—

यत्रैकविधावर्थौ जायेते यौ तयोरपूर्वस्य ।

अभिधानं प्राग्भवतः सतोऽभिधीयेत तत्पूर्वम् ॥९७॥

यत्रेति । यत्र द्वावर्थावुपमानोपमेयलक्षणावेकविधौ तुल्यकर्मकौ यौ जायेते भवतस्तयोर्मध्यादपूर्वस्य सह पश्चाद्भाविनो वार्थस्योपमेयस्य प्राक्पूर्वं भवतः सतोऽभिधानं क्रियेत तत्पूर्वं नामालङ्कारः ॥

उदाहरणम्—

काले जलदकुलाकुलदशदिशि पूर्वं वियोगिनीवदनम् ।

गलदविरलसलिलभरं पश्चादुपजायते गगनम् ॥९८॥

काल इति । अत्रार्थौ गगनवदनलक्षणौ । तत्र वदनमुपमेयम् । तच्च गगनसमकालं पश्चाद्वा गलत्सलिलभरं भवति । अथ च विरहासहत्वप्रतिपादनार्थं प्रागुक्तम् ॥

अथ सहोक्तिः—

सा हि सहोक्तिर्यस्यां प्रसिद्धदूराधिकक्रियो योऽर्थः ।

तस्य समानक्रिय इति कथ्येतान्यः समं तेन ॥९९॥

---

१७. पूर्व

जहाँ दोनों अर्थ (उपमेय और उपमान) एक-से (एक-साथ) ही हों, [किन्तु उनमें से उपमेय का, जो वस्तुतः उपमान से] पहले न हुआ हो, पहले होना बताया जाए, वहाँ पूर्व अलंकार माना जाता है ।९७।

उदाहरण—

वर्षाकाल से जब मेघसमूह से दसों दिशाएँ व्याप्त हो जाती हैं, तब पहले वियोगिनी का मुख अविरत बहते हुए अश्रुजल से भर जाता है, तत्पश्चात् वर्षा की फुहारों से आकाश भरता है ।९८।

यहाँ उपमेय और उपमान दोनों एक-साथ हुए हैं, किन्तु उपमेय का होना पहले बताया गया है ।

१८. सहोक्ति

जो अर्थ (उपमान) प्रसिद्ध एवं अत्यधिक क्रिया वाला हो, उसी के समान उपमेय को बताना सहोक्ति अलंकार कहाता है ।९९।

सेति । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण सा सहोक्तिर्नामालंकारः । यस्यां प्रसिद्धा दूरमतिशयेनाधिका क्रिया यस्य स तथाविध उपमानलक्षणो योऽर्थस्तेन सार्धमन्य उपमेयार्थस्तस्योपमानस्य समानक्रिय इत्यमुना प्रकारेण कथ्येत इति । अथ वास्तवसहोक्तेरस्याश्च को विशेषः । उच्यते—तत्र कार्यकारणभाव औपम्याभावश्च समस्ति । अस्यां तु तद्विपर्ययः ॥

उदाहरणमाह—

मधुपानोद्धतमधुकरमदकलकलकण्ठदीपितोत्कण्ठाः ।
सपदि मधौ निजसदनं मनसा सह यान्त्यमी पथिकाः ॥१००॥

मधुपानेति । अत्रोपमानं मनः शीघ्रगमनक्रियया दूराधिकमपि पथिकैः सह समानक्रियमुक्तम् ॥

भेदान्तरमाह—

यत्रैककर्तृका स्यादनेककर्माश्रिता क्रिया तत्र ।
कथ्येतापरसहितं कर्मैकं सेयमन्या स्यात् ॥१०१॥

यत्रेति । यत्रैककर्तृकानेककर्माश्रिता क्रिया भवति, तत्र चैकं प्रधानमुपमेयाख्यं कर्मापरेण कर्मणोपमानेन सहोच्यते सेयमन्या पुनः सहोक्तिः ॥

उदाहरणम्—

स त्वां बिभर्ति हृदये गुरुभिरसंख्यैर्मनोरथैः सार्धम् ।
ननु कोपनेऽवकाशः कथमपरस्या भवेत्तत्र ॥१०२॥

उदाहरण—

वसन्त ऋतु में मधुपान से उद्धत भ्रमरों के मदपूर्ण कलकल स्वर से इन प्रवासियों की उत्कण्ठा अत्यन्त प्रज्ज्वलित हो गयी है, और ये शीघ्रता से मन की गति के साथ अपने-अपने घरों को जा रहे हैं।१००।

मन की गति की तीव्रता प्रसिद्ध है, इसी के साथ-साथ प्रवासियों का गमन सहोक्ति अलंकार का सूचक है।

अन्य प्रकार—

जहाँ ऐसी क्रिया का वर्णन किया जाए जिसका एक कर्ता हो और अनेक कर्म हों, [तथा इन्हीं कर्मों में से] एक [प्रधान] क्रिया अर्थात् उपमेय को अन्य कर्मों के साथ कहा जाए, वहाँ अन्य सहोक्ति अलंकार होता है।१०१।

उदाहरण—

हे भामिनि ! वह [नायक] असंख्य बड़े-बड़े मनोरथों के साथ तुम्हें हृदय में धारण करता है, फिर भला वहाँ किसी और [रमणी] के लिए स्थान ही कहाँ है ?१०२।

स इति। अत्रैका क्रिया धारणलक्षणानेकं कर्म नायिकां मनोरथांश्चाश्रिता। तथैक एव नायकस्तस्यां कर्ता। प्रधानमेकं चात्र कर्म नायिकाख्यमुपमेयमपरैर्मनोरथै-रुपमानैः सह कथितम्॥

अथ समुच्चयः—

सोऽयं समुच्चयः स्याद्यत्रानेकोऽर्थ एकसामान्यः।
अनिवादिर्द्रव्यादिः सत्युपमानोपमेयत्वे॥१०३॥

स इति। सोऽयं समुच्चयो नामालंकारो यत्रानेकस्त्र्यादिकोऽर्थ उपमानोपमेय-लक्षणो द्रव्यादिर्द्रव्यगुणक्रियाजातिरूप एकसामान्य एकेन साधारणेन धर्मेण युक्तः स्यादिति। उपमायाः समुच्चयत्वनिवृत्त्यर्थमाह—अनिवादिः। उपमायामिवादिशब्द-प्रयोग इत्यर्थः। एवमपि रूपकत्वं स्यादित्यत आह—सत्युपमानोपमेयत्व इति। रूपके ह्यभेद एव हेतुभेदः। तयोरनेकग्रहणमत्र त्र्याद्यर्थपरिग्रहार्थम्। त्रिचतुराः पञ्चषा वा यत्रार्था निर्दिश्यन्ते स समुच्चयः शोभामावहतीति भावः॥

उदाहरणम्—

जालेन सरसि मीना हिंस्रैरेणा वने च वागुरया।
संसारे भूतसृजा स्नेहेन नराश्च बध्यन्ते॥१०४॥

जालेनेति। अत्र जालादीनां करणानां सरःप्रमुखाणामधिकरणानां हिंस्रादीनां कर्तॄणां बहूनामुपमानोपमेयभावे बन्धनमेकं सामान्यमिति॥

धारण करना—एक क्रिया, नायक—एक कर्ता, कई मनोरथ—अनेक कर्म। इन्हीं 'कर्मों' के साथ नायिका को भी धारण करना सहोक्ति अलंकार का सूचक है।

१९. समुच्चय

जहाँ उपमान और उपमेय के रूप में द्रव्य आदि (द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति) अनेक अर्थ एक सामान्य (एक क्रिया) वाले हों, [और जहाँ] इव आदि का प्रयोग न किया जाए, वहाँ समुच्चय अलंकार [होता] है।१०३।

उदाहरण—

हिंसकों द्वारा तालाब में मछलियाँ जाल से, वन में मृगपाश से और ब्रह्मा के द्वारा संसार में मानव स्नेह से बाँधे जाते हैं।१०४।

यहाँ हिंसक और ब्रह्मा इन कर्ताओं का, तालाब, वन और संसार इन अधि-करणों का, मछलियाँ, मृग और मानव इन कर्मों का, जाल, पाश और स्नेह इन करणों का—एक ही क्रिया 'बाँधे जाते हैं' के साथ सम्बन्ध है। इनमें से ब्रह्मा, संसार मानव और स्नेह उपमेय हैं, तथा शेष सभी उपमान। इन सबका एक-साथ वर्णन समुच्चय अलंकार का सूचक है।

अथ साम्यम्—

अर्थक्रियया यस्मिन्नुपमानस्यैति साम्यमुपमेयम् ।
तत्सामान्यगुणादिककारणया तद्भवेत्साम्यम् ॥१०५॥

अर्थक्रिययेति । तयोरुपमानोपमेययोर्यत्सामान्यं साधारणं गुणक्रियासंस्थानादि तत्कारणं यस्यास्तया तथाविधयार्थक्रियया यत्रोपमानस्योपमेयसाम्यमिति तत्साम्यं भवेत् ॥

उदाहरणम्—

अभिसर रमणं किमिमां दिशमैन्द्रीमाकुलं विलोकयसि ।
शशिनः करोति कार्यं सकलं मुखमेव ते मुग्धे ॥१०६॥

अभिसरेति । अत्र शश्युपमानं मुखमुपमेयम्, प्रकाश्यमर्थक्रियासामान्यं कान्तिमत्त्वं गुणः ॥

भेदान्तरमाह—

सर्वाकारं यस्मिन्नुभयोरभिधातुमन्यथा साम्यम् ।
उपमेयोत्कर्षकरं कुर्वीत विशेषमन्यत्तत् ॥१०७॥

सर्वाकारमिति । यस्मिन्नुपमेयोत्कर्षकराद्विशेषादन्यथा प्रकारान्तरेणोभयोरुपमानोपमेययोः सर्वाकारं सर्वात्मना साम्यमभिधातुमुपमेयोत्कर्षकरविशेषं कंचन कविः कुर्वीत तदन्यत्साम्यमलंकारः ॥

---

२०. *साम्य*

जहाँ उपमेय सामान्य गुण आदि कारणों वाली अर्थ-क्रिया के द्वारा उपमान की समानता प्राप्त करता है वहाँ साम्य अलंकार माना जाता है।१०५।

उदाहरण—

अरी मुग्धे ! तुम अपने पति से रमण करो। क्यों व्याकुल होकर पूर्व दिशा को देख रही हो। तुम्हारा मुख ही चन्द्र का सारा कार्य सम्पादन कर रहा है।१०६।

मुख (उपमेय) द्वारा चन्द्र (उपमान) का कार्य-सम्पादन ।

अन्य प्रकार—

जहाँ उपमान और उपमेय में सर्वात्मना साम्य इसीलिए कहा (दिखाया) जाए कि जिससे उपमेय की उत्कर्षता-द्योतक विशेषता ज्ञात हो, वहाँ अन्य प्रकार का साम्य अलंकार होता है।१०७।

उदाहरणम्—

मृगं मृगाङ्कः सहजं कलङ्कं बिभर्ति तस्यास्तु मुखं कदाचित्।
आहार्यमेवं मृगनाभिपत्त्रमियानशेषेण तयोर्विशेषः ॥१०८॥

मृगमिति । अत्राहार्यकादाचित्कमृगनाभिपत्त्ररूपकालंकारभणनविशेषेणोपमेयस्य मुखस्योत्कर्षः प्रतिपादितः । अन्यथा तु नयनाह्लादनादिगुणैः सर्वथा साम्यमुक्तमिति ॥

अथ स्मरणम्—

वस्तुविशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम् ।
कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम् ॥१०९॥

वस्त्विति । अत्र प्रतिपत्ता विशिष्टं वस्तु किंचनावलोक्य कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरं स्मरति, अद एतत्स्मरणं नामालंकारः । अथ भ्रान्तिमतोऽस्य च को विशेषः । उच्यते—तत्रोपमानावगतिरेव न तूपमेयावगतिः । इह तूपमानस्मरणमात्रं न भ्रान्तिरिति ॥

उदाहरणम्—

तव भवने पश्यन्तः स्थूलस्थूलेन्द्रनीलमणिमालाः ।
भूभृन्नाथ मयूराः स्मरन्त्यमी कृष्णसर्पाणाम् ॥११०॥

तवेति । अत्रेन्द्रनीलमणिमालादर्शनात्तत्सदृशं कृष्णसर्पाख्यं वस्त्वन्तरं मयूराः स्मरन्तीति लक्षणयोजना ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतो-
ऽष्टमोऽध्यायः समाप्तः ।

उदाहरण—

चन्द्रमा स्वाभाविक रूप से मृग को कलंक के रूप में धारण करता है, और तुम्हारा मुख आहार्य रूप से अर्थात् कभी-कभी मृग की नाभि से उद्‌भूत कस्तूरी से पत्र-रचना धारण करता है, बस इतना इन दोनों में अन्तर है ।१०८।

२१. स्मरण

जब कोई व्यक्ति किसी विशेष वस्तु को देखकर उसी के सदृश किसी अन्य काल में अनुभूत वस्तु का स्मरण करता है वहाँ स्मरण अलंकार होता है ।१०९।

उदाहरण—

हे राजेन्द्र ! तुम्हारे भवन में बहुत स्थूल इन्द्रनील मणियों की मालाओं को देखकर ये मोर काले साँपों का स्मरण करने लगते हैं ।११०।

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्य-हिन्दी-व्याख्यायामष्टमोऽध्यायः समाप्तः ।

नवमोऽध्यायः

अथ क्रमप्राप्तमतिशयालंकारं वक्तुमाह—

यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति ।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य ॥१॥

यत्रेति । यत्रालंकारेऽर्थधर्मयोर्नियमो नियतं स्वरूपं विपर्ययमन्यथात्वं गच्छति । नियमश्चेत्कथं विपर्ययं यातीत्याह—प्रसिद्धेरुष्णं दहतीत्यादिकायाः ख्यातेर्यो बाधो बाधनं तस्माद्धेतोः । स इत्यनेन प्रकारेणातिशयो नामालंकारः स्यात् । ननु यदि नियमस्यान्यथात्वमतिशयस्तर्हि स नास्त्येव नियमस्यान्यथाभावादित्यत आह—कश्चित्क्वचिदिति । न सर्वः सर्वत्रेत्यर्थः । कथं विपर्ययं यातीत्याह—अतिलोकं लोकातिक्रान्तं यथा भवति । अत एवातिशयनामकत्वम् । तस्येत्युत्तरेण संबन्धः ॥

अथ सामान्यस्यैव विशेषानाह—

पूर्वविशेषोत्प्रेक्षाविभावनातद्गुणाधिकविरोधाः ।
विषमासंगतिपिहितव्याघाताहेतवो भेदाः ॥२॥

पूर्वेति । एते तस्य पूर्वादयो द्वादश भेदाः ॥

नवमोऽध्यायः

रुद्रट-सम्मत वास्तव और औपम्य नामक वर्गों के उपरान्त इस अध्याय में अतिशय नामक तीसरा वर्ग निरूपित है। इसके अन्तर्गत उन्होंने १२ अर्थालंकारों का स्वरूप निर्दिष्ट किया है।

अतिशय

जहाँ कहीं कोई अर्थ और धर्म का नियम अपनी प्रसिद्धि (ख्यात स्थिति) के बाध के कारण लोकातिक्रान्त विपरीतता को प्राप्त होता है, वहाँ 'अतिशय' माना जाता है। उसके [निम्नोक्त भेद हैं] ।१।

उस [अतिशय] के ये भेद हैं—१. पूर्व, २. विशेष, ३. उत्प्रेक्षा, ४. विभावना, ५. तद्गुण, ६. अधिक, ७. विरोध, ८. विषम, ९. असंगति, १०. पिहित, ११. व्याघात, १२. अहेतु ।२।

तत्र पूर्वस्य तावल्लक्षणमाह—

यत्रातिप्रबलतया विवक्ष्यते पूर्वमेव जन्यस्य ।
प्रादुर्भावः पश्चाज्जनकस्य तु तद्भवेत्पूर्वम् ॥३॥

यत्रेति । यत्र प्रागेव जन्यस्य कार्यस्य प्रादुर्भावो विवक्ष्यते जनकस्य तु कारणस्य पश्चात्तत्पूर्वं नामालंकारः । विवक्षापि कथं तथा भवतीत्याह—अतिप्रबलतया [हेतुभूतया । तत्र जनकव्यापारं विना जन्योत्पत्तिरिति जन्यस्यातिप्रबलता ।] जन्यं जनयित्वा स्वयमुत्पद्यत इति जनकस्याप्रबलता । विवक्ष्यत इत्यनेन विवक्षामात्रमेतन्न परमार्थत इति सूचयति ॥

उदाहरणम्—

जनमसुलभमभिलषतामादौ दन्दह्यते मनो यूनाम् ।
गुरुरनिवारप्रसरः पश्चान्मदनानलो ज्वलति ॥४॥

जनमिति । अत्र दाहः कार्यं पूर्वं जातम्, मदनाग्निज्वलनं तु दाहकारणं पश्चादिति विशेषलक्षणम् । ज्वलितोऽग्निर्दहतीत्येवंविधश्च योऽर्थधर्मनियमः स क्वचिदेव कामिनि विपर्ययं यात इतीदं सामान्यलक्षणम् । अत्र चातिप्रबलत्वं हेतुः ॥

अथ विशेषमाह—

किंचिदवश्याधेयं यस्मिन्नभिधीयते निराधारम् ।
तादृगुपलभ्यमानं विज्ञेयोऽसौ विशेष इति ॥५॥

---

१. पूर्व

जहाँ अति प्रबलता के कारण उत्पन्न [पदार्थ] का वर्णन पहले तथा उसके उत्पादक [पदार्थ] का बाद में किया जाता है वहाँ पूर्व अलंकार होता है ।३।

उदाहरण—

दुर्लभ कामिनी की इच्छा करने वाले युवकों का मन तो पहले दग्ध होने लगता है, और इसके पश्चात् तीव्रता से फैलने वाली भीषण कामाग्नि प्रज्ज्वलित होती है ।४।

२. विशेष

जहाँ निश्चित आधार वाली भी कोई वस्तु आधार के बिना वर्णित की जाती है, [और इसकी] यह [निराधारता] उपलभ्यमान होती है, वहाँ विशेष अलंकार होता है ।५।

निश्चित आधार वाले किसी पदार्थ को निराधार-रूप में वर्णित करना दोष माना जाएगा न कि अलंकार । अतः यहाँ 'तादृगुपलभ्यमान' शब्द का प्रयोग किया गया है कि वह पदार्थ निराधार भी हो सकता है ।

किंचिदिति । यस्मिन्नलंकारे किंचिद्वस्त्ववश्याधेयमिति विद्यमानाधारमेव सन्निराधारमित्यभिधीयते स इत्यनेन प्रकारेण विशेषनामालंकारो ज्ञेयः । ननु तथाभूतस्यान्यथाकथनं दोष एव स्यान्न त्वलंकार इत्याह—तादृगुपलभ्यमानमिति । तथा दर्शनान्न किंचिदनुपपन्नमित्यर्थः । वस्त्वन्तरेभ्यो विशिष्टधर्माभिधानाद्विशेषसंज्ञा ॥

उदाहरणम्—

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः ॥६॥

दिवमिति । अत्र गिर आधेयाः । प्राण्याश्रितत्वात् । अथ च विनापि कविभिराधारै रमयन्तीत्युपलब्ध्या कथितम् ॥

प्रकारान्तरमाह—

यत्रैकमनेकस्मिन्नाधारे वस्तु विद्यमानतया ।
युगपदभिधीयतेऽसावत्रान्यः स्याद्विशेष इति ॥७॥

यत्रेति । यत्रानेकस्मिंस्त्र्यादिक आधारे वस्तु सत्तया कथ्यते सोऽत्रान्यः प्रकारान्तरेण विशेष इति । कदाचिद्वस्त्वप्यनेकं स्यात्तत्रातिशयत्वमित्यत आह—एकमिति । एकमपि पर्यायेणानेकत्र तिष्ठत्येवेति न विशेष इत्याह—युगपदित्यादि ॥

उदाहरणम्—

हृदये चक्षुषि वाचि च तव सैवाभिनवयौवना वसति ।
वयमत्र निरवकाशा विरम कृतं पादपतनेन ॥८॥

उदाहरण—

स्वर्ग में चले जाने पर भी वे कवि धन्य हैं, जो अपने असंख्य गुणों को युग-युगों तक स्थिर कर गये हैं । [उनकी] वाणी अब भी संसार को आनन्दित कर रही है ।६।

कवि और उसकी वाणी में आधार-आधेय सम्बन्ध निश्चित है, किन्तु कवि की मृत्यु के उपरान्त भी उसकी वाणी स्थित रहती है—यह निराधारता भी उपलभ्यमान है । इसकी निराधारता का निर्देश यहाँ विषम अलंकार का द्योतक है ।

प्रकारान्तर—

जहाँ एक वस्तु अनेक आधारों में युगपद् कही जाती है वहाँ अन्य विशेष अलंकार होता है ।७।

उदाहरण—

[कोई मानिनी नायिका नायक से कह रही है] तुम्हारे हृदय, नेत्र और वाणी में वह नवयौवना निवास कर रही है, अब मेरे लिए तुम्हारे पास कोई स्थान नहीं रह गया । वहीं रहो, मेरे पाँव मत पड़ो ।८।

हृदय इति । अत्रैका तरुणी युगपदनेकस्मिन्नाधारे हृदयादिके वसन्ती कथिता अत एव परस्या निरवकाशत्वम् ॥

भूयोऽपि भेदान्तरमाह—

यत्रान्यत्कुर्वाणो युगपत्कार्यान्तरं च कुर्वीत ।
कर्तुमशक्यं कर्ता विज्ञेयोऽसौ विशेषोऽन्यः ॥९॥

यत्रेति । असावन्यो विशेषो ज्ञेयः, यत्र कर्तान्यत्कर्म कुर्वाणः सन्कर्मान्तरं कुर्वीत । पर्यायेणान्यदपि करिष्यति कोऽतिशय इत्यत आह—युगपत्समकालमिति । एवमपि हसन्पठतीत्यादिवद्भविष्यति तत्किमत्रातिशयत्वमित्याह—कर्तुमशक्यमिति । अशक्य-क्रियान्तरकरणादतिशय इत्यर्थः ॥

उदाहरणम्—

लिखितं बालमृगाक्ष्या मम मनसि तया शरीरमात्मीयम् ।
स्फुटमात्मनो लिखन्त्या तिलकं विमले कपोलतले ॥१०॥

लिखितमिति । अत्र नायिकया कर्त्र्या निजकपोले तिलकलेखनं कुर्वाणया तदैव कर्तुमशक्यं नायकचित्ते शरीरलेखनलक्षणं कर्मान्तरं कृतम् ॥

अथोत्प्रेक्षा—

यत्रातितथाभूते संभाव्येत क्रियाद्यसंभाव्यम् ।
संभूतमतद्वति वा विज्ञेया सेयमुत्प्रेक्षा ॥११॥

हृदय, नेत्र और वाणी—इन तीनों आधारों में कामिनी (आधेय) की स्थिति वर्णित होने के कारण यहाँ विषम अलंकार है ।

अन्य भेदान्तर—

जहाँ कर्ता किसी एक कार्य को करता हुआ किसी ऐसे अन्य को भी साथ ही कर देता है जिसे वह करने में असमर्थ होता है वहाँ विषम अलंकार होता है ।९।

उदाहरण—

मृगशावक के समान चंचलनयना उस युवती ने अपने विमल कपोल पर तिलक क्या बनाया, मेरे मन पर अपने शरीर का चित्र बना डाला ।१०।

तिलक लगाने के साथ-ही-साथ नायक के मन पर नायिका के शरीर का चित्र बन जाना जैसा अशक्य कार्य भी वर्णित होने के कारण यहाँ विषम अलंकार है ।

३. उत्प्रेक्षा

(१) जहाँ किसी पदार्थ के अतिशय होने पर उसमें किसी असम्भव क्रिया का सम्भव होना बताया जाए, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है, तथा (२) जहाँ अविद्यमान क्रिया विद्यमान दिखलायी गयी हो, वहाँ भी उत्प्रेक्षा होती है ।११।

यत्रेति । यत्रासंभाव्यं क्रियादिकं वस्तुनि क्वापि संभाव्यते सेयमुत्प्रेक्षा । यद्यत्र न संभवति कथं तत्र संभावनेत्याह—अतितथाभूत इति । अतिशयेन तथाभूते । तथात्वमसंभाव्यसंभावनायोग्यं प्रकारं प्राप्त इत्यर्थः । प्रकारान्तरमाह—संभूतमतद्वतिवेति । यत्र वा वस्तुन्यतद्वत्यविद्यमानतत्क्रियादिकेऽप्यसंभाव्यं क्रियादि तथाभूतत्वात्संभूतमेवोच्येत सान्योत्प्रेक्षा ॥

प्रथमोदाहरणमाह—

घनसमयसलिलधौते नभसि शरच्चन्द्रिका विसर्पन्ती ।
अतिसान्द्रतयेह नृणां गात्राण्यनुलिम्पतीवेयम् ॥१२॥

घनेति । अत्र चन्द्रिकाया अनुलेपनमसंभाव्यमेव संभावितमनुलिम्पतीवेति । नैर्मल्यान्नभसः, घनत्वेन च तस्यास्तथाभूतत्वम् ॥

द्वितीयोदाहरणमाह—

पल्लवितं चन्द्रकरैरखिलं नीलाश्मकुट्टिमोर्वीषु ।
ताराप्रतिमाभिरिदं पुष्पितमवनीपतेः सौधम् ॥१३॥

पल्लवितमिति । अत्र सौधाख्ये वस्तुन्यपल्लवितेऽपुष्पिते च चन्द्रतारकाप्रतिबिम्बसंपर्कात्तद्योग्ये सत्यसंभाव्यमपि पल्लवितत्वं पुष्पितत्वं च संभूतं कथितम् । इवार्थश्च सामर्थ्याद् गम्यते ॥

प्रकारान्तरमाह—

अन्यनिमित्तवशाद्यद्यथा भवेद्वस्तु तस्य तु तथात्वे ।
हेत्वन्तरमतदीयं यत्रारोप्येत सान्येयम् ॥१४॥

उदाहरण—

वर्षाकाल के जल से धुले हुए आकाश में फैलती हुई यह शरत्कालीन चन्द्र की चाँदनी बहुत गाढ़ी होने से मानो लोगों के शरीर पर लेप कर रही है ।१२।

चन्द्रिका द्वारा अनुलेपन असम्भव कार्य है, किन्तु यहाँ उसे सम्भव बताया है, और इसका कारण दिया गया है—वर्षाकाल द्वारा आकाश की अति स्वच्छता ।

उदाहरण—

राजभवन के नीली मणियों के बने हुए फ़र्श पर जब चन्द्रमा की किरणें पड़ती हैं तो ऐसा लगता है, जैसे पत्ते उग आये हों, और तारों का प्रतिबिम्ब पड़ने से वहाँ फूल लगे दिखायी देते हैं ।१३।

प्रकारान्तर—

जहाँ जो वस्तु किसी अन्य कारण से जिस रूप को प्राप्त करती है—उस वस्तु के वैसा होने में उससे भिन्न किसी अन्य कारण का आरोप किया जाए वहाँ अन्य

अन्येति । सेयमन्योत्प्रेक्षा यस्यां तद्वस्त्वन्यनिमित्तवशात्कारणाद्यथा येन रूपेण भवति तस्य वस्तुनस्तथा भवने तत्स्वरूपतोत्पत्तौ कारणान्तरमतदीयं यत्तस्य सक्तं न भवति तदारोप्येतेति ।।

उदाहरणम्—

सरसि समुल्लसदम्भसि कादम्बवियोगदूयमानेव ।
नलिनी जलप्रवेशं चकार वर्षागमे सद्यः ।।१५।।

सरसीति । अत्र नलिन्या जलप्रवेशे निजं जलोल्लासाख्यं कारणं विमुच्य हंस-वियोगाख्यं हेत्वन्तरमारोपितम् । या किलान्यापीष्टेन वियुज्यते सा प्रायो जलप्रवेशादि कुरुते ।।

अथ विभावना—

सेयं विभावनाख्या यस्यामुपलभ्यमानमभिधेयम् ।
अभिधीयते यतः स्यात्तत्कारणमन्तरेणैव ।।१६।।

सेति । सेयमेषा विभावना, यस्यामभिधेयः पदार्थो यतः कारणान्निजाद्धेतोर्भवति स पदार्थस्तत्कारणमन्तरेणाप्यभिधीयत इति । ननु तत्कारणं चेत्कथं तद्विनोत्पत्तिरित्याह—उपलभ्यमानं दृश्यमानमिति । अत एवातिशयत्वमिति ।।

उदाहरणम्—

निहतातुलतिमिरभरः स्फारस्फुरदुरुतरप्रभाप्रसरः ।
शं वो दिनकृद्दिश्यादतैलपूरो जगद्दीपः ।।१७।।

उत्प्रेक्षा होती है ।१४।

उदाहरण—

वर्षा ऋतु आने पर पानी से लबालब भरे हुए तालाब में मानो हंस के वियोग से संतप्त होकर कमलिनी ने तुरन्त जल में प्रवेश किया ।१५।

कमलिनी वर्षा ऋतु में जल की बहुलता के कारण तालाब में उग आती है, किन्तु यहाँ अन्य कारण प्रस्तुत किया गया है ।

४. विभावना

जहाँ कोई दृश्यमान पदार्थ किसी कारण के बिना कहा जाए वहाँ विभावना अलंकार होता है ।१६।

उदाहरण—

अत्यन्त गाढ़े अन्धकार का नाश करने वाले, अपनी अति समुज्ज्वल प्रभा का प्रसार करने वाले, तैलरहित, जगत् के दीपक सूर्य भगवान् तुम्हारा कल्याण करें ।१७।

सूर्य को दीप कहते हुए भी अतैलपूर कहना 'विभावना' है ।

अत्राभिधेयं दीपलक्षणं यतः कारणात्तैलाख्याद्भवति तद्विनापि कथितमतैलपूर इति । अत्र च दीप इव दीप इति सत्यपि रूपकत्वेऽतैलपूर इति विभावनाविभागः ॥

प्रकारान्तरमाह—

यस्यां तथा विकारस्तत्कारणमन्तरेण सुव्यक्तः ।
प्रभवति वस्तुविशेषे विभावना सेयमन्या तु ॥१८॥

यस्यामिति । सेयमेषान्या विभावना, यस्यां तथेति यतः कारणाद्विकारः क्वचिद्वस्तुनि प्रभवति तत्कारणमन्तरेणापि सुव्यक्तः प्रकटः स विकारः कथ्यत इति ॥

उदाहरणम्—

जाता ते सखि सांप्रतमश्रमपरिमन्थरा गतिः किमियम् ।
कस्मादभवदकस्मादियममधुमदालसा दृष्टिः ॥१९॥

जातेति । अत्र गतिदृष्टिलक्षणे वस्तुविशेषे मन्थरत्वालसत्वलक्षणो विकारो यतः कारणाच्छ्रममधुमदलक्षणाद्भवति तेन विनैवोक्तः । अथ पूर्वतोऽस्याः को विशेषः । उच्यते—पूर्वत्राभिधेयं कारणमन्तरेणोक्तमिह तु विकार इति ॥

भूयोऽपि भेदान्तरमाह—

यस्य यथात्वं लोके प्रसिद्धमर्थस्य विद्यते तस्मात् ।
अन्यस्यापि तथात्वं यस्यामुच्येत सान्येयम् ॥२०॥

यस्येति । यस्यार्थस्य यथात्वं यादृग्धर्मत्वं लोके प्रसिद्धं ततोऽर्थादन्यस्यापि तथात्वं तादृग्धर्मता कथ्यते सेयमन्या विभावना ॥

प्रकारान्तर—

जहाँ किसी वस्तु का विकार, विकार करने वाले कारण के बिना ही प्रकट किया जाता है वहाँ अन्य विभावना होती है ।१८।

उदाहरण—

हे सखि ! बिना किसी श्रम के भी तुम्हारी गति क्यों शिथिल हो रही है और बिना मधुपान के तुम्हारी आँखें क्यों सहसा अलसा रही हैं ।१९।

अन्य रूप—

जिस अर्थ का जो यथात्व (धर्म) लोक में प्रसिद्ध है वैसा ही [धर्म] किसी अन्य का बतलाना अन्य विभावना है ।२०।

उदाहरणम्—

स्फुटमपरं निद्रायाः सरसमचैतन्यकारणं पुंसाम् ।
अपटलमान्ध्यनिमित्तं मदहेतुरनासवो लक्ष्मीः ॥२१॥

स्फुटमिति । अत्राचैतन्यनिमित्तत्वं निद्रायाः प्रसिद्धम् । आन्ध्यहेतुत्वं पटलस्य । मदकारणत्वमासवस्य । अथ चान्यस्यार्थस्य लक्ष्मीलक्षणस्योक्तमिति ॥

अथ तद् गुणः—

यस्मिन्नेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम् ।
संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्गुणः स इति ॥२२॥

यस्मिन्निति । यत्राभिन्नगुणानामर्थानां संबन्धे सति नानात्वं भेदो न लक्ष्यत इत्युच्यते स तद्गुणो नामालंकारः स्यात् । स एव गुणो यत्रेति कृत्वा । ननु दुग्ध-तक्रादीनां संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यत एव तत्किमतिशयत्वमित्याह—योगलक्ष्यरूपाणा-मिति । यत्र योगे सति रूपं लक्षयितुं शक्यमथवा लक्ष्यमिति कथ्यत इत्यर्थः ॥

उदाहरणम्—

नवधौतधवलवसनाश्चन्द्रिकया सान्द्रया तिरोगमिताः ।
रमणभवनान्यशङ्कं सर्पन्त्यभिसारिकाः सपदि ॥२३॥

नवेति । अत्र ज्योत्स्नाभिसारिकालक्षणावर्थाविकेन सहजाहार्येण शुक्लगुणेन युक्तौ संसर्गे लक्ष्यारूपावप्यलक्ष्यतयोक्तौ ॥

उदाहरण—

निद्रावस्था की मधुरता में मनुष्यों की चेतना लुप्त हो जाया करती है, किन्तु लक्ष्मी आसव न होते हुए भी मनुष्यों को बिना आँखें बन्द किये मद से अन्धा बना देती है ।२१।

५. तद् गुण

जहाँ एक गुण वाले उन अर्थों (पदार्थों) के संसर्ग में भी विभिन्नरूपता लक्षित नहीं होती, जिन्हें परस्पर योगरूप में (एक साथ) देखने पर लक्षित हो जाती है, वहाँ 'तद्गुण' अलंकार होता है ।२२।

उदाहरण—

अभिसारिकाएँ निर्मल शुक्ल वस्त्र पहनने के कारण गहरी चाँदनी में अल-क्षित हो निःशंक रूप से अपने प्रेमियों के घरों में द्रुतवेग से प्रवेश कर रही हैं ।२३।

शुक्ल वस्त्र और चन्द्रिका में शुक्ल गुण समान है, परन्तु इन दोनों को एक साथ देखने पर इनकी शुक्लता में भिन्नता लक्षित हो जाती है, किन्तु यहाँ अभिन्न

भेदान्तरमाह—

असमानगुणं यस्मिन्नतिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु ।
संसृष्टं तद्गुणतां धत्तेऽन्यस्तद्गुणः स इति ॥२४॥

असमानेति । यत्र वस्तुनान्येन संसृष्टं वस्तु तद्गुणतां धत्ते तदीयगुणं भवतीति कथ्यते स इत्यन्यस्तद्गुणः । कदाचिदेकगुणता तयोर्भविष्यति, अतो नातिशयत्वमित्याह—अतिबहलगुणेनेति । अतिबहुगुणता तद्गुणत्वहेतुः क्रियत इत्यर्थः ॥

उदाहरणमाह—

कुब्जकमालापि कृता कार्तस्वरभास्वरे त्वया कण्ठे ।
एतत्प्रभानुलिप्ता चम्पकदामभ्रमं कुरुते ॥२५॥

कुब्जकमालेति । अत्र शुक्लगुणा कुब्जकमाला गौरवर्णकण्ठेन संपृक्ता गौरमेव वर्णं धत्ते ॥

अथाधिकम्—

यत्रान्योन्यविरुद्धं विरुद्धबलवत्क्रियाप्रसिद्धं वा ।
वस्तुद्वयमेकस्माज्जायत इति तद्भवेदधिकम् ॥२६॥

यत्रेति । यत्रैकस्मात्कारणाद्वस्तुद्वयमुत्पद्यत इत्युच्यते तदधिकम् । किमेतावतातिशयत्वमित्याह—अन्योन्यविरुद्धम् । परस्परविरुद्धस्वभावमित्यर्थः । प्रकारान्तरमाह—विरुद्धाभ्यां बलवतीभ्यां क्रियाभ्यां प्रसिद्धं वा यत्रैकस्मात्कारणाद्वस्तुद्वयं जायते तदप्यधिकम् ॥

दिखाने से 'तद्गुण' है ।

अन्य प्रकार—

जहाँ अनेक गुणों से युक्त वस्तु के सम्पर्क से कोई वस्तु [अपने असमान] तथा उसके समान गुण को धारण कर लेती है वहाँ अन्य तद्गुण अलंकार होता है ।२४।

उदाहरण—

तुम्हारे स्वर्ण के समान उज्ज्वल कण्ठ में पड़ी हुई यह शुक्ल कुब्जक पुष्पों की माला कण्ठ की प्रभा के सम्पर्क से चम्पकमाला की भ्रान्ति उत्पन्न कर रही है ।२५।

९. अधिक

(१) जहाँ एक ही कारण से अन्योन्य-विरुद्ध अर्थात् परस्पर-विरुद्ध स्वभाव वाले पदार्थ उत्पन्न हों वहाँ अधिक अलंकार होता है । (२) जहाँ एक ही कारण से ऐसे दो पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिनकी क्रियाएँ परस्पर विरुद्ध बल (परिणाम) वाली प्रसिद्ध हैं, वहाँ भी अधिक अलंकार होता है ।२६।

उदाहरणम्—

मुञ्चति वारि पयोदो ज्वलन्तमनलं च यत्तदाश्चर्यम्।
उदपद्यत नीरनिधेर्विषममृतं चेति तच्चित्रम् ॥२७॥

मुञ्चतीति । अत्र पूर्वार्धे एकस्मान्मेघाद्वस्तुद्वयं वारिज्वलनलक्षणं विरुद्धं जायमानमुक्तम् । उत्तरार्धे त्वेकस्मात्समुद्राद्वस्तुद्वयं विषामृतलक्षणमन्योन्यविरुद्धक्रियमुक्तम् । विषामृतयोर्हि न परस्परं विरोधः । किं तु मारणजीवनक्रिये विरुद्धे । इत्युदाहरणद्वयमेतत् ॥

भेदान्तरमाह—

यत्राधारे सुमहत्याधेयमवस्थितं तनीयोऽपि ।
अतिरिच्येत कथंचित्तदधिकमपरं परिज्ञेयम् ॥२८॥

यत्रेति । यत्र सुमहत्यप्याधारेऽतिशयवत्यप्याधेयं वस्त्ववस्थितं कुतश्चित्कारणान्न माति तदपरमधिकं बोद्धव्यम् ॥

उदाहरणम्—

जगद्विशाले हृदि तस्य तन्वी
प्रविश्य सास्ते स्म तथा यथा तत् ।
पर्याप्तमासीदखिलं न तस्यास्त-
त्रावकाशस्तु कुतोऽपरस्याः ॥ २९ ॥

उदाहरण—

आश्चर्य है कि मेघ जलवृष्टि के साथ अग्नि (विद्युत्) भी पैदा करता है। समुद्र से विष और अमृत की उत्पत्ति भी आश्चर्य में डालने वाली है।२७।

(१) जल और अग्नि—ये दोनों पदार्थ मेघ से उत्पन्न होते हैं।

(२) विष और अमृत ये दोनों पदार्थ सागर से उत्पन्न होते हैं। जल और अग्नि में परस्पर विरोध है, किन्तु विष और अमृत में परस्पर विरोध तो नहीं है, पर इनकी क्रियाएँ परस्पर-विरोधी हैं। एक में मारण की शक्ति है और दूसरे में जीवन की। अतः इन दोनों वाक्यों में अधिक अलंकार है।

अन्य प्रकार—

जहाँ सुविशाल आधार में भी किसी कारण से छोटी वस्तु नहीं समाती हो वहाँ दूसरा अधिक अलंकार जानना चाहिए।२८।

उदाहरण—

वह कोमलांगी उसके जगद्विशाल हृदय में किसी तरह कठिनता से प्रवेश

जगदिति । अत्र जगद्विस्तीर्णेऽपि हृदये आधारे तन्वीलक्षणमाधेयं स्वल्पमपि न माति । तस्यास्तत्रामानमनुरागाद् बहिरपि सर्वत्र दर्शनात् । तन्वीति साभिप्रायमत्र नाम ॥

अथ विरोधः—

यस्मिन्द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम् ।
एकत्रावस्थानं समकालं भवति स विरोधः ॥ ३० ॥

यस्मिन्नति । यत्र द्रव्यगुणक्रियाजातीनां विरुद्धानामेकत्राधारेऽवस्थानं भवति स विरोधः । परस्परमन्योन्यम् । न त्वाधारेण सह । तथा सर्वप्रकारं सजातीयैर्विजातीयैश्च सहेत्यर्थः । समकालमिति युगपत् । अत एवातिशयत्वं भवति ॥

एवं सर्वथा विरोधे सति कियन्तो भेदा इति तत्संख्यामाह—

अस्य सजातीयानां विधीयमानस्य सन्ति चत्वारः ।
भेदास्तन्नामानः पञ्च त्वन्ये तदन्येषाम् ॥ ३१ ॥

अस्येति । अस्य विरोधस्य सजातीयानां द्रव्यादीनां विधीयमानस्य चत्वारो भेदाः सन्ति । यथा द्रव्ययोर्विरोधो द्रव्यविरोधः । एवं गुणविरोधः क्रियाविरोधो जाति-

---

पा सकी थी, क्योंकि उसके ठहरने के लिए स्थान पर्याप्त नहीं था । वहाँ किसी और कामिनी के प्रवेश का तो प्रश्न ही नहीं उठता ।२९।

७. *विरोध*

जहाँ एक ही समय एक ही स्थान (आधार) पर परस्पर-विरुद्ध द्रव्यादि (द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति) का अवस्थान हो वहाँ विरोध अलंकार होता है ।३०।

विरोध के भेद—

सजातीय द्रव्य आदि द्वारा किये गये विरोध के इसी नाम के चार भेद होते हैं, किन्तु सजातीय से इतर [अर्थात् विजातीय द्रव्यादि द्वारा किये गये विरोध के] पाँच भेद होते हैं ।३१।

सजातीय—

[१. दो द्रव्यों में, २. दो गुणों में, ३. दो क्रियाओं में, ४. दो जातियों में]

विजातीय—

[१. द्रव्य और गुण में, २. द्रव्य और क्रिया में, ३. गुण और क्रिया में, ४. गुण और जाति में और ५. क्रिया और जाति में ।]

इस प्रकार ये ९ भेद हुए ।

इस प्रकार एक विजातीय रूप शेष रहता है : द्रव्य का जाति के साथ विरोध । इसके सम्बन्ध में नमिसाधु का कहना है कि—

विरोधश्च । अत एव तन्नामानः । तथा तेभ्यः सजातीयेभ्योऽन्येषां विजातीयानां पुनर्विधीयमानस्य पञ्च भेदा भवन्ति । यथा द्रव्यगुणयोर्द्रव्यक्रिययोर्गुणक्रिययोर्गुणजात्योः क्रियाजात्योश्चेति ॥

ननु द्रव्यजात्योरपि षष्ठो भेदः समस्ति तत्कथं पञ्चेत्युक्तं तत्राह—

जातिद्रव्यविरोधो न संभवत्येव तेन न षडेते ।
अन्ये तु वक्ष्यमाणाः सन्ति विरोधास्तु चत्वारः ॥ ३२ ॥

जातीति । नित्यमेव द्रव्याश्रितत्वाज्जातेर्न जातिद्रव्ययोर्विरोध इत्यर्थः । एवं नवभेदाः । तथात्रान्ये वक्ष्यमाणाश्चत्वारो विरोधाः सन्ति ॥

तद्यथा—

यत्रावश्यंभावी ययोः सजातीययोर्भवेदेकः ।
एकत्र विरोधवतोस्तयोरभावोऽयमन्यस्तु ॥ ३३ ॥

यत्रेति । यत्राधारे विरुद्धयोः सजातीययोरर्थयोर्मध्यादेकोऽवश्यंभावी निश्चितो भवति, तयोर्द्वयोरप्यभावो यत्र कथ्यते सोऽपरो विरोधश्चतुर्धा द्रव्यगुणक्रियाजाभेदेन । इत्येवं त्रयोदशसंख्योऽयं विरोधालंकारः ॥

अथैषामेव यथाक्रममुदाहरणान्याह—

अत्रेन्द्रनीलभित्तिषु गुहासु शैले सदा सुवेलाख्ये ।
अन्योन्यानभिभूते तेजस्तमसी प्रवर्तेते ॥ ३४ ॥

जाति और द्रव्य का विरोध सम्भव नहीं है । अतः यह [विजातीय विरोध पाँच होते हैं] छः नहीं । [इन नौ भेदों के अतिरिक्त] विरोध के चार भेद और भी होते हैं ।३२।

जहाँ दो सजातीय परस्पर-विरोधी द्रव्य आदि [अर्थों] में से किसी एक का रहना अवश्यम्भावी हो, पर उन दोनों का अभाव निर्दिष्ट किया जाए तो वहाँ [विरोध अलंकार के इन्हीं नामों के चार] भेद होते हैं ।३३।

इस प्रकार कुल ९+४=१३ भेद हुए ।

उदाहरण : सजातीय (दो विरोधी द्रव्यों की एकत्र स्थिति)—

इस सुवेल नामक पर्वत की इन्द्रनील मणि जटित गुफाओं में तेज और अन्धकार अविरुद्ध भाव से स्थित हैं ।३४।

अत्रेति । अत्र तेजस्तमसोर्विरुद्धद्रव्ययोरेकत्र गुहाधारेऽवस्थितिरुक्ता ॥

सत्यं त्वमेव सरलो जगति जराजनितकुब्जभावोऽपि ।
ब्रह्मन्परमसि विमलो विततध्वरधूममलिनोऽपि ॥३५॥

सत्यमिति । अत्र सरलत्वकुब्जत्वादिविरुद्धगुणावस्थितिः ॥

बालमृगलोचनायाश्चरितमिदं चित्रमत्र यदसौ माम् ।
जडयति संतापयति च दूरे हृदये च मे वसति ॥ ३६ ॥

बालेति । अत्र जडीकरणसंतापनादिक्रिये विरुद्धे ॥

एकस्यामेव तनौ बिभर्ति युगपन्नरत्वसिंहत्वे ।
मनुजत्ववराहत्वे तथैव यो विभुरसौ जयति ॥ ३७ ॥

एकस्यामिति । अत्र नरत्वादिजातिविरोधः ॥

अथ विजातीयोदाहरणान्याह—

तेजस्विना गृहीतं मार्दवमुपयाति पश्य लोहमपि ।
पात्रं तु महद्विहितं तरति तदन्यच्च तारयति ॥ ३८ ॥

तेजस्विनेति । अत्र कठिनस्य लोहद्रव्यस्य मार्दवगुणस्य च विरोधेऽप्येकत्रावस्थितिः । अत्र लोहद्रव्यस्य तरणक्रियायाश्च विरोधेऽवस्थितिः ॥

उदाहरण (दो विरोधी गुणों की एकत्र स्थिति)—

हे ब्रह्मन् ! तुम वृद्धावस्था के कारण कुबड़े होते हुए भी सरल (सीधे) हो, और सतत हो रहे यज्ञों के धूम से मलिन होकर भी परम निर्मल हो ।३५।

उदाहरण (दो विरोधी क्रियाओं की एकत्र स्थिति)—

उस बाल मृगनयनी का चरित्र कितना अद्भुत है, वह मुझे शीतल भी करती है और सन्तप्त भी। वह मुझसे दूर भी है और हृदय में स्थित होने से निकट भी ।३६।

उदाहरण (दो विरोधी जातियों की एकत्र स्थिति)—

उस विभु की जय हो, जो एक ही शरीर में एक साथ नरत्व और सिंहत्व (नृसिंहावतार) नरत्व और वराहत्व (वराहावतार) धारण करता है ।३७।

उदाहरण : विजातीय (विरोधी द्रव्य और गुण की एकत्र स्थिति)—

बलवान् पुरुष के हाथों में लोहा भी कोमल हो जाता है तथा वैज्ञानिक द्वारा आविष्कृत लोहे का यान स्वयं जल में तैरता है और दूसरों को भी तैराता है ।३८।

सा कोमलापि दलयति मम हृदयं पश्यतो दिशः सकलाः ।
अभिनवकदम्बधूलीधूसरशुभ्रभ्रमद्भ्रमराः ॥३९॥

सेति । अत्र कोमलगुणस्य दलनक्रियायाश्च विरोधेऽप्यवस्थितिः । अत्र भ्रमर-जातेः शुक्लत्वगुणस्य च विरोधः ॥

वरतनु विरुद्धमेतत्तव चरितमदृष्टपूर्वमिह लोके ।
मथ्नासि येन नितरामबलापि बलान्मनो यूनाम् ॥४०॥

वरतन्विति । अत्राबलत्वजातेर्मथनक्रियायाश्च विरोधः ॥

अन्ये तु भेदाश्चत्वारः सन्तीत्युक्तम् । तेषामुदाहरणान्याह—

अविवेकितया स्थानं जातं न जलं न च स्थलं तस्याः ।
अनुरज्य चलप्रकृतौ त्वय्यपि भर्ता यया मुक्तः ॥४१॥

अविवेकितयेति । अत्र द्रव्ययोर्जलस्थलयोर्विरोधित्वादेकस्याभावेऽवश्यमेवेतर-स्यावस्थानेन भाव्यम् । अत्र चोभयोरप्यभाव उक्तः ॥

न मृदु न कठिणमिदं मे हतहृदयं पश्य मन्दपुण्यायाः ।
यद्विरहानलतप्तं न विलयमुपयाति न च दार्ढ्यम् ॥४२॥

उदाहरण (विरोधी गुण और क्रिया की एकत्र स्थिति)—

कदम्ब के नव-पराग से मलिन हो रहे सफ़ेद भौंरों के गुंजन से व्याप्त दिशाओं को देखते हुए मेरे हृदय को वह कोमलाङ्गी तरुणी विदीर्ण कर देती है ।३९।

उदाहरण (विरोधी जाति और क्रिया की एकत्र स्थिति)—

हे सुन्दरि ! तुम्हारा चरित्र संसार में निराला है, क्योंकि उसमें परस्पर-विरोधी गुण हैं । तुम निपट अबला होकर भी युवकों के चित्त को बलपूर्वक मथ देती हो ।४०।

अब विरोध अलंकार के अन्तिम चार भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

उदाहरण (दोनों विरोधी द्रव्यों का अभाव)—

तुझ जैसे चंचल-प्रकृति से प्रेम करके जिसने मूर्खतावश अपने स्वामी का भी त्याग कर दिया है, उसे न तो स्थल में शरण है और न जल में ।४१।

स्थल और जल—ये दोनों विरोधी द्रव्य हैं । इनमें से किसी एक के अभाव में दूसरे में ही [नायिका की] स्थिति होनी चाहिए, किन्तु यहाँ दोनों द्रव्यों का अभाव बताया गया है ।

उदाहरण (दोनों विरोधी गुणों का अभाव)—

मुझ मन्दभागिनी का यह दुष्ट हृदय न तो मृदु है और न कठोर, क्योंकि यदि मृदु होता तो विरह की अग्नि में सन्तप्त होकर पिघल जाता, यदि कठोर होता तो

नेति । यदि मद्हृदयं मृदु भवेत्ततो विरहाग्नितप्तं जतुवद्विलीयेत । कठिनं स्यात्ततो घनवद्द्रढिमानमाप्नुयादिति । अत्र मार्दवकाठिन्ययोर्गुणयोरेकस्याप्यभावः ।।

नास्ते न याति हंसः पश्यन्गगनं घनश्यामम् ।
चिरपरिचितां च बिसिनीं स्वयमुपभुक्तातिरिक्तरसाम् ।।४३।।

नेति । यथा पूर्वत्र गुणयोरेवमत्र क्रिययोरासनगमनलक्षणयोर्विरुद्धयोर्मध्यादेकस्या अप्यभाव इति ।।

न स्त्री न चायमस्त्री जातः कुलपांसनो जनो यत्र ।
कथमिव तत्पातालं न यातु कुलमनवलम्बितया ।।४४।।

नेति । कुलपांसनः । कुलनाशन इत्यर्थः । अत्रापि स्त्रीत्वपुरुषत्वजात्योर्विरुद्धयोर्मध्यादेकस्या अप्यभावः ।।

अथ विषममाह—

कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः ।
तद्वत्क्रिययोरथवा संजायेतेति तद्विषमम् ।।४५।।

कार्यस्येति । यत्र कार्यकारणसंबन्धिनोर्गुणयोः क्रिययोर्वा परस्परमन्योन्यं विरोधो भवेत्तद्विषमनामालंकारः । ननु यदि वस्तुनोः कार्यकारणभावः, कथं तद्गुणयोः क्रिययोर्वा विरोधः । सत्यम् । अत एवातिशयत्वम् ।।

लोहे की भाँति और अधिक कठोर बन जाता ।४२।

उपर्युक्त पद्य (४१) के समान यहाँ भी परस्पर-विरोधी दोनों गुणों—मृदु और कठोर—का अभाव बताया गया है ।

उदाहरण (दोनों विरोधी क्रियाओं का अभाव)—

स्वयं [हंस] द्वारा ही उपभुक्त होने के कारण अति रसहीन, चिरपरिचित कमलिनी को और मेघश्यामल आकाश देखते हुए यह हंस न तो ठहरता है और न जाता है ।४३।

यहाँ परस्पर-विरोधी दोनों क्रियाओं—ठहरना और जाना—का अभाव है ।

उदाहरण (दोनों जातियों का अभाव)—

जहाँ इस जैसा कुलघाती पैदा हो, जो न स्त्री है, न पुरुष, वह वंश क्यों न रसातल को प्राप्त हो ।४४।

यहाँ परस्पर-विरोधी दोनों जातियों—स्त्री और पुरुष—का अभाव है ।

८. *विषम*

जहाँ कार्य और कारण से सम्बद्ध गुणों अथवा क्रियाओं का परस्पर-विरोध उत्पन्न हो, वहाँ विषम अलंकार होता है ।४५।

उदाहरणम्—

अरिकरिकुम्भविदारणरुधिरारुणदारुणादतः खड्गात् ।
वसुधाधिपते धवलं कान्तं च यशो बभूव तव ।।४६।।

अरीति । अत्र कारणस्य खड्गस्य गुणौ लौहित्यदारुणत्वे, कार्यस्य यशसो धवलत्वकान्तत्वे, तेषां चान्योन्यं विरोधः ।।

तथा—

आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ददासि त्वम् ।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ।।४७।।

आनन्देति । अत्र कारणस्य नायिकायाः क्रिया आनन्ददानम्, कार्यस्य तु विरहस्य तापनम्, तयोश्चान्योन्यं विरोधः ।।

अथासंगतिः—

विस्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र ।
यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयासंगतिः सेयम् ।।४८।।

विस्पष्ट इति । सेयमसंगतिर्बोद्धव्या, यस्यां विस्पष्टे प्रकटे समकालमेव च कार्यमन्यत्रोपलभ्यते कार्यं वान्यत्रेति, अत एवासंगतिर्नाम, अतिशयत्वं च ।।

उदाहरण (गुणों में परस्पर विरोध)—

हे राजन् ! अरि-सेना के हाथियों के मस्तक-विदारण से निकले रक्त से लाल और कठोर तुम्हारे इस खड्ग से श्वेत और सुन्दर यश उत्पन्न हुआ ।४६।

यहाँ खड्ग कारण है, इसके दो गुण हैं रक्तता और दारुणता । इसका कार्य है—यश, जिसके दो गुण हैं—श्वेतता और सुन्दरता । ये दोनों गुण उक्त दोनों के विरोधी हैं ।

उदाहरण (दो क्रियाओं में परस्पर विरोध)—

हे कमलपत्र के समान सुन्दर नेत्रोंवाली ! तुम मुझे अतुल आनन्द देती हो, किन्तु तुम्हारा विरह मेरे शरीर को अत्यन्त सन्तप्त करता है ।४७।

यहाँ नायिका कारण है, उसका विरह कार्य है । कारण की क्रिया आनन्द देना है और कार्य की क्रिया सन्ताप देना । ये दोनों क्रियायें परस्पर-विरोधी हैं ।

६. *असंगति*

जहाँ स्पष्टतः एक ही काल में कार्य कहीं और कारण कहीं वर्णित हों, वहाँ असंगति अलंकार होता है ।४८।

उदाहरणम्—

नवयौवनेन सुतनोरिन्दुकलाकोमलानि पूर्यन्ते ।
अङ्गान्यसंगतानां यूनां हृदि वर्धते कामः ॥४९॥

नवेति । अत्राङ्गपूरणाख्यं कारणं तन्वीस्थम्, मदनवर्धनं कार्यं युवस्थं विस्पृष्टमेवोपलभ्यते ॥

अथ पिहितम्—

यत्रातिप्रबलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम् ।
अर्थान्तरं पिदध्यादाविर्भूतमपि तत्पिहितम् ॥५०॥

यत्रेति । यत्रैकाधारमर्थान्तरं कर्मभूतं गुणः कर्तातिप्रबलतया हेतुभूतया पिदध्यात्स्थगयेत्तत्पिहितं नामालंकारः । ननु तुल्यं गुणान्तरं स्थग्यत एव किमतिशयत्वमित्याह—असमानम् । असदृशमित्यर्थः । कदाचिदसमानमप्यलब्धपाटवं स्यादित्यत आह—आविर्भूतमपीत्यर्थः । असमानग्रहणेन प्रथमातद्गुणालंकाराद्विशेषः ख्याप्यते, तत्र ह्येकगुणानामर्थानां संसर्गे नानात्वं लक्ष्यत इत्युक्तम् । द्वितीयात्तर्हि कोऽस्य विशेषः । उच्यते—तत्रासमानगुणं वस्तु वस्त्वन्तरेण प्रबलगुणेन संसृष्टं तद्गुणतां प्राप्यते, न तद्विधीयत इति । मीलितात्तर्हि कोऽस्य भेदः । उच्यते—असमानचिह्नत्वमेव । तत्र हि समानचिह्नेन वस्तुना हर्षकोपादि तिरस्क्रियत इति सर्वं समञ्जसम् ॥

उदाहरणम्—

प्रियतमवियोगजनिता कृशता कथमिव तवेयमङ्गेषु ।
लसदिन्दुकलाकोमलकान्तिकलापेषु लक्ष्येत ॥५१॥

उदाहरण—

सुन्दरी के चन्द्रमा की कला के समान कोमल अंगों को भरता तो है नवयौवन, और काम बढ़ता है विरही नवयुवकों के हृदय में ।४९।

१०. पिहित

जहाँ कोई गुण अपने गौरव से किसी ऐसे अन्य गुण को अपने गौरव से आच्छादित कर ले जो कि समानाधिकरण वाला, अर्थात् उसी गुण के ही आधार से उत्पन्न (सम्बद्ध), होता हुआ भी, उसके समान न हो, तथा स्पष्टतः प्रकट भी हो ।५०।

उदाहरण—

चन्द्रमा की सरस कला के समान तुम्हारे इन कोमल और कान्त अंगों में प्रियतम के वियोग की कृशता कैसे दिखायी दे सकती है ।५१।

प्रियेति। अत्र कान्तिगुणेनार्थान्तरं कृशताख्यमेकाधारमसमानगुणमतिप्रबलत्वात्पिहितमिति ॥

अथ व्याघातः—

अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य।
यस्मिन्नभिधीयेत व्याघातः स इति विज्ञेयः ॥५२॥

अन्यैरिति। यत्र कारणं कार्यस्याजनकमुच्येत स कार्यव्याघाताख्योऽलङ्कारः। कदाचित्कारणं केनचित्प्रतिहतं भविष्यतीत्यत आह—अन्यैः कारणैरप्रतिहतमपीति। अत एवातिशयितमिति ॥

उदाहरणमाह—

यत्र सुरतप्रदीपा निष्कज्जलवर्तयो महामणयः।
माल्यस्यापि न गम्या हृतवसनवधूविसृष्टस्य ॥५३॥

यत्रेति। अत्र दीपः कारणं कार्यस्य कज्जलस्य नोत्पादकम्। तच्च कारणं कारणान्तरैर्माल्यादिभिरप्रतिहतमिति ॥

अथाहेतुः—

बलवति विकारहेतौ सत्यपि नैवोपगच्छति विकारम्।
यस्मिन्नर्थः स्थैर्यान्मिन्तव्योऽसावहेतुरिति ॥५४॥

बलवतीति। असावहेतुर्नामालंकारः, यत्रार्थो विकारमन्यथात्वं नायाति। कदाचिद्विक्रियाकारणं न स्यादित्याह—विकारहेतौ सत्यपि। कदाचिदसौ हेतुः प्रबलो न स्यादित्याह—बलवतीति। अत एवातिशयत्वमिति। कथं नायाति, स्थैर्यादिति ॥

---

११. व्याघात

अन्य किसी कारण के विरोधी न होने पर भी जहाँ कारण कार्य को उत्पन्न नहीं करता वहाँ व्याघात अलंकार जानना चाहिए।५२।

उदाहरण—

जहाँ पर रात्रि में महामणियाँ बिना कज्जल और बत्ती के ही सुरत समय का दीपक होती हैं, और वस्त्रविहीन वधू द्वारा [मणियों के ऊपर] डाली हुई पुष्पमाला से भी उनका प्रकाश मन्द नहीं पड़ता।५३।

१२. अहेतु

जहाँ जो अर्थ स्थिरता के कारण बलवान् कारण के होने पर भी विकार को प्राप्त नहीं करता वहाँ अहेतु अलंकार मानना चाहिए।५४।

उदाहरणम्—

रूक्षेऽपि पेशलेन प्रखलेऽप्यखलेन भूषिता भवता।
वसुधेयं वसुधाधिप मधुरगिरा परुषवचनेऽपि ॥५५॥

रूक्ष इति। अत्र रूक्षादिके बलवति विकारकारणे सत्यपि विकारमपेशलत्वादिकं राजा महासत्त्वान्नायातीति ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतो-
नवमोऽध्यायः समाप्तः।

उदाहरण—

हे राजन् ! आपने रूक्ष (उद्दण्ड) व्यक्ति के साथ कोमलता से, दुष्ट के साथ सज्जनता से व्यवहार करके तथा कठोरभाषी के साथ भी मधुर वचन बोलते हुए इस पृथ्वी को अलंकृत किया है।५५।

रूक्षता आदि बलवान् कारणों के होते हुए भी अपेशलता (कठोरता) रूप कार्य न होकर पेशलता (कोमलता) रूप कार्य होने के कारण यहाँ अहेतु अलंकार है।

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्य-हिन्दी-व्याख्यायां नवमोऽध्यायः समाप्तः।

दशमोऽध्यायः

वास्तवौपम्यातिशयान्व्याख्यायाधुना क्रमप्राप्तं श्लेषं व्याचिख्यासुराह—

यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन् ।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ।। १ ।।

यत्रेति । यत्रैकमेव वाक्यं रचितं सदनेकस्मिन्नर्थे निश्चयं कुरुते सोऽर्थश्लेषो विज्ञेयः । नन्वेकं चेद्वाक्यं कथमनेकार्थनिश्चयं करोतीत्याह—अनेकार्थैः पदै रचितमिति कृत्वा । एकं वाक्यमित्येकग्रहणं शब्दश्लेषादस्य विशेषख्यापनार्थम् । तत्र हि 'युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयेत स श्लेषः (४।१) इत्युक्तम् । किं च तत्र शब्दानां श्लेषः, अत्र त्वर्थानामिति ।।

दशम अध्याय

वास्तव, औपम्य और अतिशय नामक अलंकार-वर्गों के उपरान्त इस अध्याय में श्लेष नामक अलंकार-वर्ग का निरूपण किया गया है । वस्तुतः यहाँ रुद्रट ने अर्थश्लेष के ही दस रूपों का स्वरूप प्रस्तुत किया है । इनके उपरान्त अलंकारों के 'संसृष्टि' और 'संकर' रूपों की चर्चा की गयी है ।

अर्थश्लेष

जहाँ अनेकार्थक पदों से रचित एक वाक्य अनेक अर्थों का निश्चय (द्योतन) करता है वहाँ अर्थश्लेष अलंकार जानना चाहिए ।१।

शब्दश्लेष के प्रकरण (४।१) में कहा गया था कि शब्दश्लेष में एक साथ दो वाक्य कहे जाते हैं, किन्तु यहाँ एक ही वाक्य रहता है । इसके अतिरिक्त शब्दश्लेष में शब्दों का श्लेष रहता है किन्तु अर्थश्लेष में अर्थों का । श्लेष अलंकार उसे कहते हैं जो अनेकार्थता के आधार पर काव्य-चमत्कार उत्पन्न करता है । इसके दो रूप माने जाते हैं—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष । शब्दश्लेष के दो भेद हैं—सभंग और अभंग ।

श्लेष के उक्त स्वरूप तथा भेदों के सम्बन्ध में कतिपय स्पष्टीकरण अपेक्षित हैं । जैसे—

१. शब्दश्लेष और अर्थश्लेष में क्या अन्तर है ?

२. अभंग श्लेष शब्दालंकार है अथवा अर्थालंकार ?

३. श्लेष अलंकार का अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना नामक शब्द-शक्तियों से क्या सम्बन्ध है ?

१. शब्दश्लेष और अर्थश्लेष में अन्तर

श्लेष अलंकार के दो रूप माने जाते हैं—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष। इन दोनों रूपों का निर्णायक आधार है—अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध। जिसके होने पर जो रहे उसे 'अन्वय' कहते हैं, और जिसके न होने पर जो न रहे उसे 'व्यतिरेक' कहते हैं—**यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम् अन्वयः। यदसत्त्वे यदसत्त्वं व्यतिरेकः।**

शब्दश्लेष में एक अथवा एक से अधिक अनेकार्थक शब्दों के कारण काव्य-चमत्कार रहता है। इनके स्थान पर किसी अन्य पर्यायवाची शब्द के रख देने से वह चमत्कार नष्ट हो जाता है, किन्तु इसके विपरीत अर्थश्लेष में किसी अनेकार्थक शब्द का प्रयोग नहीं होता, अपितु एक अथवा कई एकार्थक शब्द स्वाभाविक रूप से दो अर्थों का कथन करते हैं, तथा इसमें किसी शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रख देने से किसी प्रकार की चमत्कार-हानि भी नहीं होती। उदाहरणार्थ—

करन कलित है चक्र नित पीताम्बर छवि चारु।
सेवक जन जड़ता हरन हरि! श्रिय करहु अपारु॥

पहला अर्थ है—हे हरि अर्थात् हे विष्णु! आपके 'करन' अर्थात् हाथों में नित्य [सुदर्शन] चक्र शोभित रहता है, पीले अम्बर (वस्त्र) द्वारा आपकी शोभा अति सुन्दर है, तथा आप सेवक जनों की मूर्खता को हरने वाले हैं, आप हमें अपार लक्ष्मी प्रदान करें।

दूसरा अर्थ है—हे हरि अर्थात् हे सूर्य! आप 'करन' अर्थात् किरणों के द्वारा [काल रूपी] चक्र से सुशोभित हैं, तथा पीले अम्बर अर्थात् आकाश से आपकी छवि सुन्दर है।···इत्यादि।

इस पद्य में 'करन', 'अम्बर' तथा 'हरि' शब्द द्वयर्थक हैं, और इन्हीं के कारण काव्य-चमत्कार है। इनके स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्दों के रख देने से यह चमत्कार नष्ट हो जाएगा। अतः यह शब्दश्लेष का उदाहरण है। किन्तु इधर इसके विपरीत—

रंचहि सौं ऊँचे चढ़ैं रंचहि सौं घटि जांहि।
तुला-कोटि खल दुहुंन की यही रीति जग मांहि॥

अर्थात्, इस जग में तुला की डण्डी तथा खल दोनों की गति एक-समान है, क्योंकि ये दोनों थोड़े मात्र से ऊँचे चढ़ जाते हैं और थोड़े मात्र से घट जाते हैं। इस पद्य में किसी अनेकार्थक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, 'रंचहि सौं ऊँचे चढ़ौं, रंचहि सों घट जाहिं,' इन एकार्थक शब्दों का दूसरा अर्थ अश्लिष्ट पदों के प्रयोग के बिना—स्वाभा-रूप से—ही कथित हुआ है, तथा इनमें किसी शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रख देने से पद्य का काव्य-चमत्कार भी नष्ट नहीं होता। अतः यहाँ अर्थश्लेष है।

शब्दश्लेष को शब्दालंकार माना जाता है, और अर्थश्लेष को अर्थालंकार।

२. अभंग श्लेष : शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार

शब्दश्लेष के दो भेद माने जाते हैं सभंग और अभंग। 'सभंग' से तात्पर्य है जहाँ दूसरे अर्थ का बोध शब्द को भंग करने पर ही प्राप्त हो, और 'अभंग' से तात्पर्य है जहाँ शब्द का भंग न करना पड़े, स्वयं उस शब्द के अर्थ ही एक से अधिक हों। उदाहरणार्थ—**'हे पूतनामारण में सुदक्ष'**। यहाँ कृष्ण पक्ष में अर्थ है—'जो पूतना के मारण में निपुण' है, तथा राम के पक्ष में अर्थ है—'जो पूतनामा अर्थात् पवित्र नाम वाला है, तथा रण में निपुण है।' यहाँ 'पूतनामारण' में सभंग श्लेष है। अभंग-श्लेष का उपर्युद्धृत उदाहरण है—**'करन कलित है चक्र नित···।'** (देखिए पृष्ठ ३११)

कतिपय आचार्य सभंग श्लेष को तो शब्दालंकार मानते हैं, किन्तु अभंग श्लेष को अर्थालंकार मानते हैं। केवल सभंग श्लेष को शब्दालंकार स्वीकृत करने का कारण यह दिया जाता है कि 'जतुकाष्ठ-न्याय' के समान सभंग श्लेष के प्रसंग में पहले शब्द पर दूसरा शब्द विभिन्न होते हुए भी उस प्रकार चिपका रहता है जिस प्रकार काष्ठ पर जतु (गोंद), और ये दोनों शब्द स्वर और प्रयत्न के उच्चारण की दृष्टि से परस्पर भिन्न होते हुए भी एक ही प्रतीत होते हैं। यदि 'पूतना-मारण में सुदक्ष' काष्ठ है, तो 'पूतनामा, रण में सुदक्ष' जतु है, किन्तु ये दोनों विभिन्न न होकर एक हैं—परस्पर संश्लिष्ट हैं। अतः ऐसे पदों को शब्दश्लेष का उदाहरण मानना चाहिए।

इसके विपरीत अभंग श्लेष को अर्थालंकार मानने का यह कारण दिया जाता है कि इसमें दो शब्दों का नहीं अपितु दो अर्थों का ही संश्लेष रहता है। एक ही 'पीताम्बर' शब्द के दोनों अर्थ—'पीला वस्त्र' और 'पीला आकाश', परस्पर संश्लिष्ट हैं। अतः इसे अर्थालंकार मानना चाहिए न कि शब्दालंकार। यहाँ संश्लिष्टता दो अर्थों की है न कि दो शब्दों की। अतः यह अर्थश्लेष का ही विषय है, शब्दश्लेष का नहीं।

किन्तु मम्मट आदि परवर्ती आचार्य उक्त दोनों रूपों को शब्दश्लेष का ही विषय मानते हैं। सभंग श्लेष तो शब्दश्लेष है ही अभंग श्लेष के सम्बन्ध में भी उनका कथन है कि शब्दगतता और अर्थगतता का निर्णायक आधार उपर्युक्त 'अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध' ही है। उदाहरणार्थ उक्त 'पीताम्बर' पद को शब्दश्लेष का विषय मानने का आधार भी उक्त सम्बन्ध ही है। 'पीताम्बर' शब्द को हटाकर इसके स्थान पर इसके पर्यायवाची शब्द 'पीला वस्त्र' अथवा 'पीला आकाश' रख देने पर श्लेष का चमत्कार नष्ट हो जाएगा। अतः अभंग श्लेष भी शब्दश्लेष ही है।

वादी का कथन था कि इन प्रसंगों में दो अर्थों का संश्लेष है न कि दो शब्दों का। किन्तु इधर ये परवर्ती आचार्य **'अर्थभेदेन शब्दभेदः'** (अर्थात् अर्थभेद के कारण एक अन्य शब्द की स्वीकृति कर लेनी चाहिए) तथा **'प्रत्यर्थं शब्दनिवेशः'** (अर्थात्

प्रत्येक अर्थ पृथक् शब्द का सूचक रहता है) के आधार पर 'पीताम्बर' शब्द को एक शब्द न मानकर दो पृथक्-पृथक् शब्द ही स्वीकार करते हैं। वस्तुतः देखा जाए तो वादी का उक्त आक्षेप सभंग श्लेष पर भी एक दृष्टि से घटित हो जाता है। यदि सभंग श्लेष में दो पृथक् शब्दों का संश्लेष होता है तो वहाँ अभंग श्लेष के समान दो पृथक् अर्थों का संश्लेष भी होता है। इस दृष्टि से वहाँ भी शब्दगतता और अर्थगतता दोनों पक्ष समान रूप से ही प्रबल हैं, अतः वहाँ किसी एक पक्ष का समर्थन करना समुचित नहीं है। अस्तु ! इस निर्णय का एक ही आधार है, और वह है—अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध। यही कारण है कि अनुप्रास, यमक आदि अलंकारों को भी, जिनमें अर्थ की भी अपेक्षा रहती है, शब्दालंकारों में परिगणित किया जाता है, न कि अर्थालंकारों में। इसी प्रकार अर्थश्लेष का निर्णायक तत्त्व भी उक्त सम्बन्ध ही है। उदाहरणार्थ—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च॥

इस पद्य में तुला तथा खल की तुलना में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उनके पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी श्लेष का चमत्कार यथावत् बना रह जाता है, अतः यह अर्थश्लेष का विषय है न कि शब्दश्लेष का।

निष्कर्षतः अभंग-श्लेष के समान सभंग-श्लेष को भी शब्दालंकार मानना चाहिए।

३. श्लेष अलंकार और शब्दशक्ति

श्लेष अलंकार और अभिधा शब्दशक्ति—अभिधा शब्दशक्ति से मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का बोध होता है। एकार्थक शब्दों के मुख्यार्थ-बोध के सम्बन्ध में तो अभिधा शक्ति की स्थिति स्पष्ट है, किन्तु श्लिष्ट अर्थात् अनेकार्थक शब्द के किस अर्थ का ग्रहण अभिधा शक्ति द्वारा किया जाए और किसका नहीं, इसके निर्णय के लिए निम्नोक्त 'विशेष-स्मृति-हेतु' अर्थात् निर्णायक तत्त्व स्वीकृत किये गये हैं—

संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर आदि। उदाहरणार्थ—**'नग सूनो बिन मूँदरी'** कथन में 'नग' शब्द के अतिरिक्त शेष शब्दों के वाच्यार्थ का बोध अभिधा-शक्ति द्वारा होने में कोई बाधा नहीं है, किन्तु श्लिष्ट 'नग' शब्द का वाच्यार्थ यहाँ 'पर्वत' ग्रहण किया जाए अथवा 'रत्न-विशेष', इसका निर्णय 'साहचर्य' नामक विशेष-स्मृति-हेतु (निर्णायक तत्त्व) के आधार पर किये जाने पर 'नग' शब्द का वाच्यार्थ 'रत्न-विशेष' ही लिया जाएगा, 'पर्वत' नहीं। अब यह गृहीत अर्थ 'श्लेष' का विषय नहीं रहा, केवल अभिधा शब्दशक्ति का ही विषय बनकर रह गया है, क्योंकि श्लेष में सदैव एकाधिक अर्थों का ग्रहण किया जाता है। हाँ, जिन प्रसंगों में दोनों अर्थ

ग्रहण करना अभीष्ट रहता है वह श्लेष अलंकार का विषय है, किन्तु वहाँ भी दोनों अर्थ 'वाच्यार्थ' ही होते हैं, अतः उन दोनों अर्थों का ग्रहण भी अभिधा शक्ति द्वारा ही होता है। (उदाहरणार्थ, देखिए आगे—**'करन कलित है चक्र नित······'** पृष्ठ ३११)।

निष्कर्ष यह कि चाहे शब्द एकार्थक हों अथवा अनेकार्थक, उसका वाच्यार्थ अभिधा शक्ति द्वारा गृहीत होता है। अनेकार्थक शब्दों में जहाँ संयोग आदि के आधार पर केवल एक अर्थ का ग्रहण किया जाता है, अथवा श्लेष के आधार पर जहाँ कवि को दोनों अर्थ अभीष्ट रहते हैं—ये सब वाच्यार्थ होने के कारण अभिधा-शक्ति से ही गृहीत होते हैं।

श्लेष अलंकार तथा लक्षणा शब्दशक्ति—लक्षणा शब्दशक्ति द्वारा ज्ञात लक्ष्यार्थ न अभिधा शब्दशक्ति का विषय है और न श्लेष का, क्योंकि अभिधा शक्ति केवल वाच्यार्थ का बोध कराती है, किन्तु लक्ष्यार्थ का बोध वाच्यार्थ के उपरान्त होता है, यद्यपि यह अलग बात है कि वह उससे सम्बद्ध रहता है, पर होता उससे भिन्न ही है। लक्ष्यार्थ श्लेष का विषय भी नहीं है, क्योंकि एक तो श्लेष अलंकार में जिन दो अर्थों का बोध होता है वे दोनों वाच्यार्थ होते हैं—अर्थात् अभिधा शक्ति द्वारा गृहीत रहते हैं, और दूसरे, ये दोनों ही कवि को अभीष्ट रहते हैं, उदाहरणार्थ देखिए—**'करन कलित है चक्र नित······'** पृ० ३११, किन्तु इसके विपरीत लक्षणा के प्रसंग में प्रथम अर्थ तो अभिधा शक्ति द्वारा गृहीत रहता है किन्तु दूसरा अर्थ लक्षणा शक्ति द्वारा। इसके अतिरिक्त कवि को केवल लक्ष्यार्थ ही अभीष्ट रहता है, वाच्यार्थ नहीं। उदाहरणार्थ—'गंगा पर आश्रम है' यहाँ कवि को केवल गंगा का लक्ष्यार्थ 'गंगा का तीर' अर्थ ही अभीष्ट है, इसका वाच्यार्थ 'नदी का जलप्रवाह' अभीष्ट नहीं है।

श्लेष अलंकार और व्यंजना शब्दशक्ति—ठीक यही स्थिति व्यंजना शब्दशक्ति की भी है। इस शक्ति द्वारा ज्ञात प्रतीयमान अर्थ न तो अभिधा शक्ति का विषय है और न श्लेष का, क्योंकि अभिधा शक्ति केवल वाच्यार्थ का बोध कराती है, किन्तु व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के बोध के उपरान्त होती है, और वह अर्थ वाच्यार्थ से नितान्त भिन्न होता है। व्यंग्यार्थ श्लेष का विषय भी नहीं माना जाता, क्योंकि श्लेष अलंकार में जिन दोनों अर्थों का ग्रहण होता है वे दोनों वाच्यार्थ होते हैं, अर्थात् अभिधा शक्ति द्वारा गृहीत होते हैं, तथा दोनों समान स्तर पर अवस्थित रहते हैं, किन्तु व्यंजना शक्ति के प्रसंग में पहला अर्थ वाच्यार्थ होता है जो अभिधा शक्ति से गृहीत होता है और दूसरा अर्थ व्यंग्यार्थ होता है जो व्यंजना शक्ति द्वारा गृहीत रहता है। इसके अतिरिक्त ये दोनों अर्थ समान स्तर पर भी अवस्थित नहीं होते। कवि को वाच्यार्थ अभीष्ट नहीं रहता, केवल व्यंग्यार्थ ही अभीष्ट रहता है।

इसी प्रसंग में अभिधामूला-व्यंजना शब्दशक्ति पर भी किंचित् प्रकाश डालना

अथास्यैव भेदानाह—

अविशेषविरोधाधिकवक्रव्याजोक्त्यसंभवावयवाः ।
तत्त्वविरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य ॥ २ ॥

अविशेषेति । तस्य श्लेषस्य शुद्धस्याविशेषादयो दश भेदाः । इतिशब्दः समाप्त्यर्थो निर्देशार्थो वा । शुद्धग्रहणं परमतनिरासार्थम् । यतः कैश्चित् 'तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधम्' इति संकीर्णत्वेन त्रैविध्यमुक्तमिति शुद्धस्यैव सतोऽस्य दश भेदाः । अलंकारान्तरसंस्पर्शेऽनन्ता इत्यर्थः ॥

अपेक्षित है । जिन अनेकार्थक शब्दों के दोनों अर्थ कवि को अभीष्ट रहते हैं वह श्लेष अलंकार का विषय है, और ये दोनों अर्थ अभिधा शब्दशक्ति द्वारा बोधित होते हैं, तथा जिन अनेकार्थक शब्दों का संयोग, विप्रयोग आदि उक्त नियामक हेतुओं द्वारा केवल एक अर्थ ही गृहीत रहता है वह भी अभिधाशक्ति का विषय है, यह ऊपर कह आये हैं । किन्तु ऐसे स्थल भी होते हैं जहाँ उक्त नियामक हेतुओं द्वारा केवल किसी एक अर्थ के गृहीत हो जाने पर भी दूसरा अर्थ प्रतीयमान रूप में, व्यंग्यार्थक रूप में, ज्ञात होता है । यह विषय न तो अभिधा शब्दशक्ति का है और न श्लेष का, अपितु अभिधामूला व्यंजना शब्दशक्ति का है । उदाहरणार्थ—

मुखर मनोहर श्याम रंग बरसत मुद अनुरूप ।
झूमत मतवारी झमकि वनमाली रस रूप ॥

यहाँ वनमाली अर्थात् मेघ-विषयक प्रसंग के अन्तर्गत इस पद्य का संयोग आदि द्वारा एक अर्थ नियत हो जाने पर भी 'वनमाली' अर्थात् कृष्ण से सम्बद्ध अर्थ भी प्रतीत हो रहा है, जिसका व्यंग्यार्थ यह है कि मेघ कृष्ण के समान है । यह विषय न तो अभिधा शब्दशक्ति का है और न श्लेष अलंकार का, अपितु अभिधामूला व्यंजना शब्दशक्ति का है ।

श्लेष के भेद

इस शुद्ध श्लेष के—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधाभास ये दस भेद हैं ।२।

यहाँ 'शुद्ध श्लेष से स्वयं रुद्रट का अभिप्राय क्या था, इसका निर्णय करना कठिन है । इस सम्बन्ध में नमिसाधु ने उपर्युक्त संकेत दिया है—'शुद्ध ग्रहणं········ त्रैविध्यमुक्तम् ।' अर्थात् 'शुद्ध-ग्रहण' शब्द का प्रयोग दूसरों के मत का निरास करने के लिए किया गया है, क्योंकि दूसरों (भामह आदि) ने श्लेष को सहोक्ति, उपमा और हेतु—इनके निर्देश से तीन प्रकार का माना है । भामह का यह प्रसंग ज्ञातव्य है—

श्लेषादेवाऽर्थवचसोरस्य च क्रियते भिदा ।
तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात् त्रिविधं यथा ॥

(क) छायावन्तो गतव्यालाः स्वारोहाः फलदायिनः ।
मार्गद्रुमा महान्तश्च परेषामेव भूतये ॥

(ख) उन्नता लोकदयिता महान्तः प्राज्यवर्षिणः ।
शमयन्ति क्षितेस्तापं सुराजानो घना इव ॥

(ग) रत्नवत्त्वादगाधत्वात् स्वमर्यादाऽविलङ्घनात् ।
बहुसत्त्वाश्रयत्वाच्च सदृशस्त्वमुदन्वता ॥

काव्यालंकार (भामह) ३।१७-२०

[दूसरे अलंकारों की तुलना में] इस [श्लेष] अलंकार का अन्तर अनेकार्थक वचन से ही [जाना जाता] है। सहोक्ति, उपमा और हेतु के निर्देश के कारण इस अलंकार के [ये] तीन प्रकार हैं।

इन तीनों प्रकारों के निम्नोक्त उदाहरण हैं—

(क) सहोक्तिगत श्लेष—मार्ग के वृक्ष और महान् पुरुष दूसरों की भूति (सुख-सुविधा) के लिए ही होते हैं, [क्योंकि] वृक्ष छायादार होते हैं और महान् पुरुष आश्रय-युक्त। वृक्ष व्याल-(सर्प-)रहित होते हैं, और महान् पुरुष व्याल-(दुष्ट-)रहित। वृक्ष सु-आरोह (सरलतापूर्वक चढ़ने योग्य) होते हैं, और महान् पुरुष सु-आरोह (सरलतापूर्वक पहुँचने योग्य) होते हैं।

भामह ने यहाँ सहोक्तिगत श्लेष माना है, किन्तु वस्तुतः इसे समुच्चयगत श्लेष मानना चाहिए।

(ख) उपमागत श्लेष—ये श्रेष्ठ राजा बादलों के समान हैं, क्योंकि ये दोनों उन्नत होते हैं, दोनों लोगों के प्रिय होते हैं, महान् (बड़े, पक्षे—ऊँचे) होते हैं। अत्यधिक [धन-धान्य, पक्षे—जल] की वर्षा करने वाले होते हैं, तथा पृथ्वी के ताप [दुःख, पक्षे—उष्णता] को शान्त करते हैं।

(ग) हेतुगत श्लेष—[हे राजन्] तुम समुद्र के सदृश हो—रत्नवान् होने के कारण, अगाध होने के कारण, अपनी मर्यादा का उल्लंघन न करने के कारण तथा बहुजीवों को आश्रय देने के कारण।

इन उदाहरणों को देखकर यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि उक्त पद्य क्रमशः समुच्चय, उपमा और हेतु अलंकारों के उदाहरण हैं अथवा श्लेष अलंकार के। दूसरे शब्दों में यह प्रश्न इस रूप में उपस्थित किया जा सकता है कि श्लेष अलंकार स्वतन्त्र रूप से रह सकता है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में ध्वनि-पूर्ववर्ती और ध्वनि-परवर्ती आचार्यों के बीच मतभेद है :[1]

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—काव्यप्रकाश, नवम उल्लास, साहित्यदर्पण, दशम परि०, काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), पृ० २३१-३२।

उद्‌भट और रुय्यक का मन्तव्य है कि श्लेष अलंकार स्वतन्त्र रूप से कभी नहीं रहता, शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो श्लेष अलङ्कार अन्य अलङ्कारों से विविक्त (रहित) कभी नहीं रहता। जहाँ इसकी स्थिति होगी वहाँ कोई-न-कोई अन्य अलङ्कार अनिवार्यतः रहेगा, किन्तु इनका चमत्कार अन्य अलङ्कारों के चमत्कार को बाधित कर देता है, अतः वहाँ श्लेष अलङ्कार स्वीकृत किया जाता है।

इस सम्बन्ध में उनका प्रमुख तर्क यह है कि यदि श्लेष के होते हुए अन्य अलंकार माने जाएँगे तो श्लेष अलंकार निर्विषय हो जाएगा, अर्थात् इसके उदाहरण नहीं मिलेंगे। यद्यपि ये आचार्य काव्यशास्त्र के [अथवा किसी भी अन्य शास्त्र के] इस नियम से भली-भाँति परिचित हैं कि 'जो सबसे अन्त में प्रतीत हो वही प्रधान, पोष्य एवं उपस्कार्य माना जाता है', तथापि उनके विचार में श्लेष अलंकार के प्रसंग में यह नियम शिथिल करना पड़ेगा, अन्यथा किसी अन्य अलंकार की स्वीकृति कर लेने पर श्लेष सदा अप्रधान (पोषक) बना रहने के कारण अलंकार-पद से च्युत हो जाएगा।

किन्तु इधर मम्मट और विश्वनाथ इस स्थिति को सदा स्वीकार नहीं करते। इनके मत में श्लेष अलंकार कभी अन्य अलंकारों से स्वतन्त्र रहता है और कभी नहीं रहता। जहाँ वह स्वतन्त्र नहीं रहता वहाँ कभी तो इसका चमत्कार अन्य अलंकारों के चमत्कार को बाध देता है और कभी स्वयं बाधित होकर उसका पोषक बन जाता है। इस प्रकार इन आचार्यों के मत में श्लेष अलंकार की स्थिति तीन विकल्पों में सम्भव है—

१. श्लेष स्वतन्त्र रूप में रहता है।

२. श्लेष अन्य अलंकारों का बाधक बन जाता है।

३. श्लेष अन्य अलंकारों का पोषक बन जाता है।

इनमें से प्रथम दो विकल्प ही श्लेष-अलंकार से सम्बद्ध हैं।

सर्वप्रथम ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं जहाँ केवल श्लेष अलंकार का चमत्कार है—

(१) है पूतनामारण में सुदक्ष, जघन्य काकोदर था विपक्ष।
की किन्तु रक्षा उसकी दयालु, शरण ऐसे प्रभु हैं कृपालु॥

अर्थात् [राम और कृष्ण] ये दोनों प्रभु, शरण देने वाले और कृपालु हैं। राम पूतनामा अर्थात् पवित्र नाम वाले हैं, और रण में सुदक्ष (निपुण) हैं; कृष्ण पूतना-मारण में सुदक्ष (निपुण) हैं। राम अपने विपक्षी काकोदर (इन्द्र के पुत्र जयन्त) की रक्षा करने वाले हैं, और कृष्ण अपने विपक्षी कालीय सर्प की भी रक्षा करने वाले हैं।

इस पद्य में उद्भट और रुय्यक के अनुसार वस्तुतः तुल्ययोगिता नामक अलंकार होना चाहिए था, क्योंकि इसमें दोनों प्रकृतों का, राम और कृष्ण का, एक धर्म से

सम्बन्ध बताया गया है, पर श्लेष का चमत्कार तुल्ययोगिता के चमत्कार पर आच्छादित हो गया है। अतः यहाँ श्लेष अलंकार है।

किन्तु मम्मट और विश्वनाथ के मत में यहाँ केवल श्लेष का ही चमत्कार है। यहाँ तुल्ययोगिता अलंकार प्राप्त ही नहीं है। प्रथम तो राम और कृष्ण इन दोनों प्रकृत पक्षों का यहाँ एक धर्म से सम्बन्ध स्थिर ही नहीं किया गया। जैसे राम 'पूतनामा और रण में सुदक्ष' हैं, तो कृष्ण 'पूतना-मारण में सुदक्ष' हैं, इत्यादि। और दूसरे, इस पद्य में कवि को उक्त दोनों पक्षों के वाच्यार्थ अभीष्ट हैं और यही श्लेष का विषय है। अतः यहाँ श्लेष अलंकार पूर्णतः स्वतन्त्र रूप से ही है।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है—

(२) येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो।
यश्चोद्वृत्तभुजंगहारवलयोगङ्गां च योऽधारयत्॥
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः।
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः॥

—अलंकारसर्वस्व पृष्ठ १२२, सा० द० १०।१२ (वृत्ति)

इस पद्य में भी कवि को दोनों पक्षों [माधव अर्थात् विष्णु, और उमाधव अर्थात् उमा का धव (पति) अर्थात् महादेव] के अर्थ अभीष्ट हैं, और ये दोनों ही वाच्यार्थ हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ कोई अन्य अलंकार भी नहीं है। अतः यहाँ मम्मट और विश्वनाथ के मत में श्लेष अलंकार है।

उधर उद्भट और रुय्यक के मत में भी यहाँ श्लेष अलंकार है, यद्यपि वस्तुतः यहाँ तुल्ययोगिता अलंकार प्राप्त था, क्योंकि दो प्रस्तुत विषयों का एक धर्म से सम्बन्ध बताया गया है। जैसे, विष्णुपक्ष में—**अगं गां च योऽधारयत्,** जिसने [कृष्णरूप से] अग (गोवर्द्धन पर्वत) को, और [कूर्मरूप से] गो (पृथ्वी) को धारण किया था। महादेव-पक्ष में—**गंगां च योऽधारयत्,** जिसने गंगा को धारण किया था। किन्तु तुल्ययोगिता का यह चमत्कार श्लेष के चमत्कार द्वारा बाधित हो जाता है।

निष्कर्षतः दोनों प्रकार के आचार्य यहाँ श्लेष अलंकार ही स्वीकार करते हैं, किन्तु अपने-अपने दृष्टिकोण से।

अब दूसरे प्रकार के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत हैं जहाँ किसी अन्य अलंकार के रहते हुए भी श्लेष का चमत्कार प्रमुखतः स्वीकार किया जाने के कारण उन्हें श्लेष अलंकार का ही उदाहरण माना जाता है—

नीतानामाकुलीभावं लुब्धैर्भूरिशिलीमुखैः।
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां तदीक्षणे॥ सा० द० १०।११ (वृत्ति)

अर्थात्, इस [सुन्दरी] की आँखें कमलों अर्थात् पद्मों और हरिणियों के सदृश हैं (मृग-

भेदेऽपि कमलः इति मेदिनीकोशः) । एक ओर पद्म अनेक लुब्ध (लोभी) शिलीमुखों (भ्रमरों) से आकुलीभाव (संकुलता) को प्राप्त वन (जल) में बढ़े हुए हैं, और दूसरी ओर मृग अधिक शिलीमुख (बाणों) वाले लुब्धों (शिकारियों) द्वारा आकुलीभाव (त्रासभाव) को प्राप्त हैं, तथा वन (जंगल) में पड़े हुए हैं।

उद्भट और रुय्यक के अनुसार इस पद्य में भी यद्यपि तुल्ययोगिता अलंकार प्राप्त है, क्योंकि यहाँ दो अप्रकृतों पद्म और हरिणी का एक धर्म से सम्बन्ध स्थापित किया गया है[1], किन्तु श्लेष का चमत्कार इस अलंकार के चमत्कार को आच्छादित कर देता है। तुल्ययोगिता का चमत्कार श्लेष के आगे गौण है, वह इस अलंकार के चमत्कार का पोषण करता है। अतः यहाँ श्लेष अलंकार है। ठीक यही स्थिति मम्मट और विश्वनाथ को भी स्वीकृत है।

इस प्रकार श्लेष की इस दूसरी स्थिति में ये दोनों प्रकार के आचार्य परस्पर एक ही आधार पर सहमत हैं।

अब तीसरे प्रकार के उदाहरण लीजिए जहाँ मम्मट और विश्वनाथ के मत में श्लेष स्वयं गौण बनकर किसी अन्य अलंकार की पुष्टि करता है। विरोधाभास और परिसंख्या अलंकारों के उदाहरण इसी श्रेणी में आते हैं—

(क) सन्निहितबालान्धकारा भास्वान्मूर्तिश्च।

इस कथन में विरोध यह है कि 'बाल (अप्रौढ़) अन्धकार जिसके पास रहता है, ऐसे भास्वान् (सूर्य) की मूर्ति,' और इसका परिहार यह है कि वह [सुकन्या] बाल (केश) रूप अन्धकार जिसके पास रहता है ऐसी भास्वत् (चमकदार) मूर्ति वाली है। इस प्रकार यहाँ 'बाल' और 'भास्वत्' शब्दों में श्लेष का चमत्कार विरोधाभास के चमत्कार का पोषक है। अतः यहाँ 'श्लेष' की स्वीकृति न होकर विरोधाभास अलंकार माना जाता है। इसी प्रकार—

(ख) यस्मिंश्च राजनि जितजगति चित्रकर्मसु वर्णसंकराश्चापेषु गुणच्छेदाः × × ×, इत्यादि।

अर्थात्, जगत् को जीतने वाले उस राजा के राज्य में चित्रकारी में ही वर्णों (रंगों) का संकर (सम्मिश्रण) होता था [अन्यथा 'वर्णसंकर' नहीं था], धनुषों में ही गुणों (रस्सियों) का विच्छेद होता था [अन्यथा गुणों का कहीं नाश नहीं होता था।] इस कथन में भी श्लेष का चमत्कार परिसंख्या के चमत्कार का पोषक है। अतः यहाँ परिसंख्या अलंकार ही है।

---

१. साहित्यदर्पण की शालग्राम-कृत विमला टीका में इसे दीपक अलंकार का उदाहरण बताया गया है।

इसी प्रसंग के सन्दर्भ में अब रुद्रट का निम्नोक्त कथन उल्लेखनीय है। इससे विषय के स्पष्टीकरण में एक नयी दिशा मिलेगी—

स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ किंतु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः॥ का० प्र० ४।३२

अर्थात्, यद्यपि उपमा और समुच्चय ये दोनों स्पष्टतः अर्थालंकार हैं, किन्तु ये दोनों अलंकार [प्रकृत और अप्रकृत दोनों पक्षों के लिये] सामान्य अर्थात् एक-समान शब्दों को धारण करते हुए भी सम्भव होते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि उपमा और समुच्चय अर्थालंकार हैं, किन्तु ये दोनों शब्दगत समानता पर [भी] आधारित रहते हैं। रुद्रट के इसी कथन को उद्धृत करते हुए मम्मट और उनके अनुकरण पर विश्वनाथ ने यह निष्कर्ष निकाला कि उपमा अलंकार के अन्तर्गत उपमेय और उपमान में गुण और क्रिया का साम्य तो होता ही है, साथ ही उनमें शब्द-साम्य भी रहता है। उदाहरणार्थ—

सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव।

अर्थात्, यह नगर अब चन्द्र-बिम्ब के समान हो गया है, [क्योंकि एक ओर] चन्द्रबिम्ब 'सकल-कल' है, अर्थात् सकल कलाओं से युक्त है, [तो दूसरी ओर] यह नगर भी 'सकलकल' अर्थात् कलकल (शोर) से युक्त है।

यह उदाहरण रुद्रट-प्रस्तुत नहीं है, इसे मम्मट और विश्वनाथ ने प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यहाँ उपमा अलंकार मानना चाहिए, श्लेष अलंकार नहीं। यह उपमा 'सकलकल' इस शब्द-साम्य पर आधारित है। किन्तु हमारा विचार है कि यहाँ श्लेष का ही चमत्कार है। निस्सन्देह यहाँ कवि का उद्दिष्ट उपमा की स्थापना है, किन्तु सहृदय श्लेष से ही चमत्कृत होता है, उपमा का चमत्कार उसे गौण प्रतीत होता है, यहाँ तक कि सुरुचिपूर्ण पाठक को ऐसे स्थलों में उपमा हास्यास्पद-सी प्रतीत होती है। वस्तुतः कवि की विवक्षा से बढ़कर सहृदय का भावोद्वेलन ही काव्यगत सौन्दर्य का निर्णायक होता है। अतः उक्त कथन में उपमा अलंकार के स्थान पर श्लेष अलंकार ही मानना चाहिए। वस्तुतः यहाँ भी वही स्थिति मान्य है जिसे **'नीतानामाकुली-भावम्……'** उपर्युक्त पद्य में दोनों प्रकार के आचार्यों ने स्वीकार करते हुए तुल्य-योगिता के स्थान पर श्लेष का चमत्कार माना था। अस्तु! हाँ, **'सकलकलम्……'** इस कथन में यदि हम चाहें तो श्लेष को उपमापुष्ट, उपमाश्रित, उपमाजन्य, उपमा-मूलक, उपमागर्भित आदि में से किसी एक विशेषण के साथ समन्वित कर सकते हैं। जब श्लेषमूलक विरोधाभास, परिसंख्या आदि अनेक अलंकार स्वीकृत किये जाते हैं तो उपमामूलक श्लेषअलंकार स्वीकृत करने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ठीक यही स्थिति रहीम के निम्नोक्त दोहे की भी है। यहाँ भी उपमा के स्थान पर

श्लेष अलंकार ही मान्य है—

ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो करै बढ़े अँधेरो होय॥

वस्तुतः मम्मट और विश्वनाथ को उक्त उद्धृत कारिका से पूर्व रुद्रट की इससे पहली कारिका भी उद्धृत करनी चाहिए थी—

भाषाश्लेषविहीनः स्पृशति प्रायोऽन्यमप्यलंकारम्।
धत्ते वैचित्र्यमयं सुतरामुपमासमुच्चययोः॥ क० अ० ४।३१

अर्थात् 'भाषा-श्लेष को छोड़कर [अपने इतर प्रकारों से युक्त] यह [श्लेष अलंकार] अन्य अलंकारों का भी प्रायः स्पर्श करता है, [और जब वह] उपमा और समुच्चय का [स्पर्श करता है तो अत्यधिक) वैचित्र्य (चमत्कार) को धारण कर लेता है। वस्तुतः रुद्रट यहाँ दण्डी के इस कथन से ही प्रभावित हैं कि 'श्लेष अलंकार प्रायः सभी वक्रोक्तियों (अर्थात् अलंकारों) की शोभा को बढ़ा देता है—**श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्।** (का० द० २।३६३)

इस प्रकार हमने देखा कि रुद्रट के उक्त कथन में मूल प्रसंग श्लेष का है, और इसी के ही अधिक चमत्कार धारण करने की चर्चा उन्हें अभीष्ट है। स्वयं उनका उक्त उदाहरण—**'सुरचितवराहवपुषस्तव च हरेश्चोपमा घटते'** इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि यहाँ उपमामूलक श्लेष है—प्रस्तुत नृप और अप्रस्तुत विष्णु के औपम्य से बढ़कर यहाँ श्लेष का ही चमत्कार सहृदय-हृदयहारी है।

इसी प्रसंग से सम्बद्ध एक शंका मम्मट एवं विश्वनाथ ने उपस्थित की है कि यदि 'सकलकलम्……' इत्यादि स्थलों में उपमा के स्थान पर शब्द-श्लेष का चमत्कार माना जाए तो **'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्'** इस उदाहरण में पूर्णोपमा के स्थान पर अर्थश्लेष ही मानना चाहिए, क्योंकि 'मनोज्ञ' शब्द द्व्यर्थक न सही, पर कमल की 'मनोज्ञता' और मुख की 'मनोज्ञता' में तो अन्तर है ही, अर्थश्लेष की परिभाषा भी यही है—

शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्। (सा० द० १०।५८)

स्पष्ट है कि 'मनोज्ञ' शब्द का यहाँ 'सौन्दर्य' की ओर संकेत है जो कि कमलगत सौन्दर्य और मुखगत सौन्दर्य दोनों का वाचक है। इन दोनों सौन्दर्यों में निस्सन्देह पार्थक्य एवं अन्तर है। अतः जिस प्रकार 'सकलकलम्……' इस उपर्युक्त उदाहरण में उपमा को गौण समझकर शब्दश्लेष माना जाता है, उसी प्रकार 'कमलमिव मुखं मनोज्ञम्' में भी उपमा को गौण समझकर अर्थश्लेष मानना चाहिए। किन्तु मम्मट का यह तर्क अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी इस दृष्टि से अमान्य है कि यहाँ भी सहृदय का भावोद्वेलन ही निर्णायक आधार है। स्वयं मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार **'कमल-**

यथोद्देशस्तथा लक्षणमिति कृत्वा पूर्वमविशेषं लक्षयितुमाह—

अविशेषः श्लेषोऽसौ विज्ञेयो यत्र वाक्यमेकस्मात् ।
अर्थादन्यं गमयेदविशिष्टविशेषणोपेतम् ॥ ३ ॥

अविशेष इति । असावविशेषश्लेषो ज्ञेयः, यत्र वाक्यमेकस्मात्प्रक्रान्तादन्यमर्थं गमयेत् । कीदृशम् । अविशिष्टैः समानैर्विशेषणैरुपेतं युक्तम् । यादृशानि चैकस्य विशेषणानि तादृशान्येवापरस्यापीत्यर्थः । ननु प्रकृतानुपयोग्यर्थान्तरमुन्मत्तवाक्यवदसंबद्धमवगतमपि क्वोपयुज्यते । सत्यम् । एतदेवास्यालंकारत्वम् । एवं हि सहृदयावर्जकत्वमस्य । अत्र च महाकवय एव प्रमाणम् ॥

उदाहरणम्—

शरदिन्दुसुन्दररुचं सुकुमारां सुरभिपरिमलामनिशम् ।
निदधाति नाल्पपुण्यः कण्ठे नवमालिकां कान्ताम् ॥ ४ ॥

शरदिति । नवा प्रत्यग्रा माला यस्यास्तां नवमालिकां कान्तां प्रियतमामल्प-

---

मिव मुखं मनोज्ञम्' में यदि उपमा अलंकार का चमत्कार मान्य है, और निम्नांकित पद्य—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥

में अर्थश्लेष का, (यद्यपि दोनों में साम्यता-तत्त्व लगभग एक समान है, तो इसका एकमात्र कारण सहृदय का भावोद्वेलन ही है। अतः केवल इसी आधार पर **'सकलकलम्'**······' आदि कथनों में कवि द्वारा साम्यता के उद्दिष्ट रहने पर भी सहृदय का पलड़ा अत्यधिक भारी मानकर शब्दश्लेष स्वीकार करना चाहिए, उपमा नहीं । निष्कर्षतः—

१. श्लेष अलंकार का क्षेत्र स्वतन्त्र भी रहता है, तथा अन्य अलंकारों से युक्त भी ।

२. जहाँ श्लेष के साथ अन्य अलंकार रहते हैं वहाँ कभी यह उनसे पुष्ट होता है और कभी उनका पोषक रहता है ।

३. किन्तु उक्त तीनों स्थितियों का निर्णायक आधार सहृदय का भावोद्वेलन है, न कि कवि की विवक्षा ।

१. अविशेष श्लेष

जिस वाक्य में एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति [इस आधार पर] हो [कि ये दोनों अर्थ] एक-समान विशेषण से युक्त हों तो वहाँ अविशेष श्लेष अलंकार जाना जाता है ।३।

पुण्यः कण्ठे न करोतीति । एतत्प्रकृतं वाक्यं कान्तानवमालिकाशब्दयोरनेकार्थत्वादिदमर्थान्तरं गमयति । यथा—नवमालिकाख्यां सुमनोजातिं कान्तां हृद्यामल्पपुण्यः कण्ठे न कुरुत इति । शरदिन्दुसुन्दररुचमित्यादीन्यविशिष्टानि विशेषणानि ।।

अथ विरोधश्लेषः—

यत्र विरुद्धविशेषणमवगमयेदन्यदर्थसामान्यम् ।
प्रक्रान्तमतोऽन्यादृग्वाक्यश्लेषो विरोधोऽसौ ।।५।।

यत्रेति । असौ विरोधाख्यश्लेषः, यत्र प्रक्रान्तवाक्यमन्यदर्थसामान्यं विरुद्धविशेषणमवगमयेत् । कीदृग्वाक्यम् । अतोऽर्थान्तरादन्यादृशम् । विशेषरूपमविरुद्धं चेत्यर्थः । तेन यत्र प्रक्रान्तोऽर्थविशेषोऽन्यदर्थसामान्यं विरुद्धविशेषणमवगमयति स विरोधश्लेष इति तात्पर्यार्थः ।।

उदाहरणम्—

संवर्धितविविधाधिककमलोऽप्यवदलितनालिकः सोऽभूत् ।
सकलारिदाररसिकोऽप्यनभिमतपराङ्गनासङ्गः ।।६।।

उदाहरण—

शरत्कालीन चन्द्रमा के समान सुन्दर, सुकुमार, सुगन्धित द्रव्य धारण करने वाली एवं नवमालिका पुष्पों की माला से भूषित प्रिया को मन्दभाग्य पुरुष गले नहीं लगा सकता ।

दूसरा अर्थ—

शरच्चन्द्र के समान धवल, कोमल, पराग और मकरन्द से युक्त, सुन्दर, ताजी गूँथी हुई माला को मन्दभाग्य पुरुष नहीं पहन सकता ।४।

यहाँ कान्ता (प्रिया) और नवमालिका के विशेषण एक समान होने के कारण एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति हो रही है ।

२. *विरोध श्लेष*

जहाँ प्रक्रान्त (अभीष्ट) वाक्य अन्य अर्थ की समानता वाले विरुद्ध विशेषण-युक्त अपने से भिन्न [वाक्य] की प्रतीति कराए वहाँ विरोध श्लेष [माना जाता] है ।५।

उदाहरण—

कठिन शब्दों के अर्थ : नालिकः—भैंस (मूर्ख व्यक्ति), पक्षे नालिका—कमल की नालिका । दार—नारी, पक्षे विदारण । अनभिमत—अनिष्ट, पक्षे अनासक्त ।

प्रकृत अर्थ—

इस राजा ने विविध प्रकार से लक्ष्मी का संवर्धन किया है और मूर्खों का

संवर्धितेति । अत्रायं प्रक्रान्तोऽर्थः—स कश्चिद्राजा एवंविधोऽभूत् । यथा संवर्धितनानाभ्यधिकलक्ष्मीकोऽत्रदलितमूर्खश्च । तथा सकलशत्रुविदारणरसिकोऽनिष्टपरस्त्रीसङ्गश्चेति । इदं तु विरुद्धमर्थसामान्यं गम्यते—यदि संवर्धितानि विविधान्यधिकं कमलानि पद्मानि येन, कथमवदलितानि नालिकानि पद्मानि तेनैवेति । तथा यदि सकलेष्वरिदारेषु शत्रुकलत्रेषु रसिकः कथमनभिमतपराङ्गनासङ्ग इति । सामान्यरूपता चास्य विशेष्याविशेषणादिति ॥

अथाधिकश्लेषः—

यत्राधिकमारब्धादसमानविशेषणं तथा वाक्यम् ।
अर्थान्तरमवगमयेदधिकश्लेषः स विज्ञेयः ॥७॥

यत्रेति । यत्र वाक्यं कर्तृभूतमारब्धात्प्रकृतादन्यदर्थान्तरमधिकमुत्कृष्टं गमयेत्सोऽधिकश्लेषः । अविशेषश्लेषादस्य विशेषमाह—असमानविशेषणमिति । तत्र हि समानार्थानि विशेषणान्युक्तानि ॥

उदाहरणम्—

प्रेम्णा निधाय मूर्धनि वक्रमपि बिभर्ति यः कलावन्तम् ।
भूतिं च वृषारूढः स एव परमेश्वरो जयति ॥८॥

प्रेम्णेति । यः कलावन्तं विदग्धं वक्रमनृजुहृदयमपि बिभर्ति, प्रेम्णा प्रीत्या

तिरस्कार किया है । अपने समस्त शत्रुओं का विनाश करने में तत्पर इस राजा की अपने अनिष्ट शत्रुओं की स्त्रियों में आसक्ति है ।६।

विरुद्धार्थ—

इस राजा ने विविध कमलों का संवर्धन किया है तथा कमलों को पददलित किया है, शत्रुओं की स्त्रियों में आसक्त है, तथा शत्रुओं की स्त्रियों के संग से इसे अनासक्ति है ।

३. अधिक श्लेष

जहाँ [प्रकृत] वाक्य आरब्ध (अर्थात् प्रकृत अर्थ) से अन्य ऐसे अर्थ को बताता है जो [प्रकृत अर्थ] से अधिक तथा असमान-विशेषणों वाला होता है वहाँ अधिक श्लेष अलंकार होता है ।७।

अविशेष श्लेष में विशेषण समान रहते हैं किन्तु यहाँ असमान रहते हैं ।

उदाहरण—

कठिन शब्दों के अर्थ : वक्र—कुटिलमति, पक्षे तिरछा । कलावान्—विद्वान्, पक्षे चन्द्रमा । भूतिम्—ऐश्वर्य, पक्षे राख । वृष—धर्म, पक्षे वृषभ (बैल) ।

जो कुटिल कलावान् (विद्वान्) का भी प्रेमपूर्वक आदर करने वाला है और समृद्धिशाली एवं धर्मात्मा है, वही राजा प्रशंसनीय है ।

शिरसिकृत्वा । तथा भूतिं समृद्धिं च बिभर्ति । कीदृशः सन् । वृषे धर्मे समारूढः । स एव परमेश्वरो नायको जयति । एतत्प्रकृतं वाक्यमिदं तूत्कृष्टमर्थान्तरं गमयति—यथा स एव परमेश्वरो महादेवो जयति, यः कलावन्तं चन्द्रं वक्रं कलाशेषमपि प्रेम्णा मूर्ध्नि निधाय वहति । भूतिं च भस्म वहति । वृषे वृषभे समारूढ इति । उत्कृष्टत्वं चात्र देववर्णनात् । नृभ्यो हि देवा अधिकाः । विशेषणान्यपि भिन्नार्थान्यत्रेति ॥

अथ वक्रश्लेषः—

यत्रार्थादन्यरसस्तत्प्रतिबद्धश्च गम्यतेऽन्योऽर्थः ।
वाक्येन सुप्रसिद्धो वक्रश्लेषः स विज्ञेयः ॥९॥

यत्रेति । यत्र वाक्येन स्वमर्थं ब्रुवतान्योऽर्थः प्रासङ्गिको गम्यते । कीदृशः । प्रकृतादन्यरसः । तथा तेन प्रकृतार्थेन प्रतिबद्धः । प्रतिबद्धता चैकविषयत्वेन । तथा सुप्रसिद्धस्तत्प्रतिबद्धत्वेन सुष्ठु प्रतीतः ॥

उदाहरणम्—

आक्रम्य मध्यदेशं विदधत्संवाहनं तथाङ्गानाम् ।
पतति करः काञ्च्यामपि तव निर्जितकामरूपस्य ॥१०॥

आक्रम्येति । तव निर्जितकामरूपाख्यजनपदस्य संबन्धी करो नृपदेयभागः काञ्चीनाम्नि यावद्देशे पतति । काञ्च्यपि त्वया जितेत्यर्थः किं कृत्वा । मध्यदेशं कान्यकुब्जा-

---

दूसरा अर्थ—

वक्र चन्द्रमा को प्रेमपूर्वक सिर पर बैठाने वाले, नन्दी वृषभारोही एवं भस्मधारी भगवान् शिव की जय हो ।८।

यहाँ प्रकृत अर्थ (राजा) की अपेक्षा अप्रकृत अर्थ (महादेव) 'अधिक' है, क्योंकि मानवों की अपेक्षा देवों को अधिक माना जाता है ।

४. वक्रश्लेष

जिस वाक्य से [प्रकृत] अर्थ से इतर ऐसा अर्थ प्रतीत होता है जो उस प्रकृत से प्रतिबद्ध (सम्बद्ध) होता हुआ भी अन्य रस का बोधक हो वहाँ वक्रश्लेष अलंकार होता है ।९।

उदाहरण—

हे राजन्, तुम कामरूप देश के विजेता हो । कांची देश वाले तुम्हें कर देते हैं । मध्यदेश (कान्यकुब्जादि) और अंगदेश पर भी आक्रमण करके तुमने उन्हें अपने अधिकार में किया है ।

दूसरा अर्थ—

तुम कामदेव के रूप का तिरस्कार करने वाले हो । तुम्हारा हाथ उदर पर पड़कर अंगों का मर्दन करता हुआ कांची (रशना) पर पड़ता है ।१०।

दिकमाक्रम्याभिभूय। अनन्तरमङ्गानां देशविशेषाणां संवाहनमुपमर्दनं कुर्वन्निति। अथ गम्यमर्थान्तरं भण्यते—यथा तव तिरस्कृतमदनरूपस्य करो हस्तः काञ्च्यां रसनाप्रदेशे पतति। मध्यदेशमुदरमात्रम्। अङ्गानामूरुस्तनादीनां संवाहनं परिमलनं कुर्वन्। अयं चार्थः शृङ्गाररसयुक्तः। एकविषयत्वेन च पूर्वार्थप्रतिबद्धः। पूर्वत्र तु रसो वीराभिधः॥

अथ व्याजश्लेषः—

यस्मिन्निन्दा स्तुतितो निन्दाया वा स्तुतिः प्रतीयेत।
अन्या विवक्षिताया व्याजश्लेषः स विज्ञेयः॥११॥

यस्मिन्निति। यत्र स्तुतेर्विवक्षिताया अन्या प्रासङ्गिकी निन्दा प्रतीयते निन्दाया वा विवक्षितायाः प्रासङ्गिकी स्तुतिः स व्याजश्लेषः॥

उदाहरणमाह—

त्वया मदर्थे समुपेत्य दत्तमिदं यथा भोगवते शरीरम्।
तथास्यते दूति कृतस्य शक्या प्रतिक्रियानेन न जन्मना मे॥१२॥

त्वयेति। अत्र कयापि नायिकया दूती दयितपार्श्वे प्रेषिता। सा तु तत्र स्वार्थं कृतवती। समागत्य चाधरक्षतादिकमुद्दिश्योत्तरं दत्तवती यथाहं तत्र त्वदर्थे गता सती सर्पेण दष्टा, परं वैद्यैश्चिकित्सितेति जीविता। ततस्तां कृतदोषां दूतीं नायिका स्तुतिद्वारेण निन्दति त्वयेत्यादिना। भोगवते इत्येकत्र सर्पाय, अन्यत्र विलासिने। प्रतिक्रिया त्वेकत्रोपकारः, अन्यत्रापकारः॥

निन्दास्तुतिमाह—

नो भीतं परलोकतो न गणितः सर्वः स्वकीयो जनो
मर्यादापि च लङ्घिता न च तथा मुक्ता न गोत्रस्थितिः।
भुक्ता साहसिकेन येन सहसा राज्ञां पुरः पश्यतां।
सा मेदिन्यपरैः परं परिहृता सर्वैरगम्येति या॥ १३॥

यहाँ प्रकृत अर्थ वीररस से सम्बद्ध है किन्तु अप्रकृत अर्थ शृंगार रस से।

५. व्याजश्लेष :

जहाँ [प्रकृत वाक्य में] स्तुति की विवक्षा हो, पर निन्दा प्रतीत हो, अथवा निन्दा की विवक्षा हो तो स्तुति प्रतीत हो, वहाँ व्याजश्लेष जानना चाहिए।११।

उदाहरण (स्तुति से प्रतीयमान निन्दा)—

हे दूति ! तुमने मेरे लिए अपने शरीर को उस भोगी (साँप) के अर्पण कर दिया, मैं तुम्हारे इस उपकार (अपकार) का ऋण इस जन्म में नहीं चुका सकती।१२।

वस्तुतः श्लेष द्वारा प्रतीयमान अर्थ यह है कि तुमने उस भोगी (विलासी) को

नो इति । अत्र निन्दा तावत्—या सर्वैरेव लोकैरगम्यत्वात्परिहृता सा मेदिनी शिल्पिविशेषनारी येन साहसिकेन राज्ञां पुरतः सहसैव भुक्ता । तेन किं कृतम् । न परलोकाद्भीतम्, न स्वजनो गणितः, मर्यादा च लङ्घिता, गोत्रस्थितिर्मुक्तेति । अतोऽपि निन्दायाः प्रासङ्गिकी स्तुतिरेव गम्यते । यथा—सा मेदिनी भूर्येन साहसिकेन राज्ञां पुरः पश्यतां सहसा भुक्तात्मवशीकृता । या सर्वैरेव राजभिर्दुर्गमत्वाद्दूरं परिहृता । तेन किं कृतम् । परलोकतः शत्रुलोकान्नो भीतम् । तथातिबलवत्त्वादात्मीयजनोऽपि साहाय्ये नापेक्षितः । तथा मर्यादा स्वदेशसीमा लङ्घिता । तथा गोत्राः पर्वतास्तेषु स्थितिश्च मुक्ता दुर्गं मुक्तमित्यर्थः ।।

अथोक्तिश्लेषः—

यत्र विवक्षितमर्थं पुष्यन्ती लौकिकी प्रसिद्धोक्तिः ।
गम्येतान्या तस्मादुक्तिश्लेषः स विज्ञेयः ।। १४ ।।

यत्रेति । यत्र तस्माद्विवक्षितार्थादन्या लोकप्रसिद्धोक्तिर्वचनं गम्यते स उक्तिश्लेषः । का तर्ह्यस्यालंक्रियेत्याह – विवक्षितमर्थं पुष्यन्तीं । एतदुक्तं भवति—प्रकृतोऽर्थो रम्यो भवतु, मा वा भूत्, लौकिकी चेदुक्तिर्गम्यते तयैव तस्य पोषः क्रियत इति ।।

उदाहरणमाह—

कलावतः संभृतमण्डलस्य यया हसन्त्यैव हृताशु लक्ष्मीः ।
नृणामपाङ्गेन कृतश्च कामस्तस्याः करस्था ननु नालिकश्रीः ।।१५।।

शरीर अर्पण कर दिया । अतः तुझे धिक्कार है ।

उदाहरण (निन्दा से प्रतीयमान स्तुति)—

निन्दा—इस दुःसाहसी ने अगम्या मेदिनी (शिल्पी की स्त्री) से सब राजाओं के सामने ही बलात्कार करते हुए परलोक का भी ध्यान नहीं किया, अपने सम्बन्धियों की परवाह नहीं की । अपने वंश और मर्यादा की अवहेलना की ।

स्तुति—इस साहसी राजा ने अन्य वीरों से दुराक्राम्य पृथ्वी को सब राजाओं के होते हुए अपने अधीन किया । वह शत्रुओं से भयभीत न हुआ, अपने स्वजनों की सहायता की अपेक्षा न करके अकेले ही इसने राज्य-सीमा का अतिक्रमण किया और दुर्ग छोड़ दिया ।१३।

६. उक्तिश्लेष

जहाँ विवक्षित अर्थ को पुष्ट करती हुई [श्लेष द्वारा] किसी लोक-प्रसिद्ध उक्ति की प्रतीति हो वहाँ 'उक्तिश्लेष' जानना चाहिए ।१४।

उदाहरण—

इस [नर्तकी] ने अपने मुस्कराते हुए मुख से पूर्ण मण्डल से युक्त चन्द्रमा की

कलावत इति । कस्याश्चिद्रूपवर्णनं क्रियते—कलावतश्चन्द्रस्य पूर्णबिम्बस्य यया हसन्त्यैवाशु शीघ्रं लक्ष्मीः शोभा हृताभिभूता । नृणां चापाङ्गेन कटाक्षेण कामः कृतः तस्या नालिकश्रीः पद्मशोभा करस्थैव । यया मुखेनाखण्डः शशी जितस्तया हस्तशोभया पद्ममपि नूनं जीयेतेत्यर्थ इति । एषोऽत्र विवक्षितोऽर्थः । एतस्यैव परिपोषं कुर्वाणान्या लौकिकी प्रसिद्धोक्तिर्गम्यते । यथा—यया नर्तक्या कलावतो विदग्धस्य संभृतमण्डलस्य ससहायवृन्दस्य हसन्त्यैवाक्लेशेनैवाशु लक्ष्मीर्हृता धनं भक्षितम् । नृणां चापाङ्गेन हेलयैव कामः कृतः । तस्या नालिकश्रीर्मुग्धजनसंपत्करस्थितैवेति । एष एव चात्र पूर्वार्थपोषो यल्लोकप्रसिद्धयोक्त्यवगम इति ॥

अथासंभवश्लेषः—

गम्येत प्रक्रान्तादसंभवत्तद्विशेषणोऽन्योऽर्थः ।
वाक्येन सुप्रसिद्धः स ज्ञेयोऽसंभवश्लेषः ॥ १६ ॥

गम्येतेति । सोऽसंभवश्लेषो ज्ञेयः, यत्र वाक्येन प्रक्रान्तादर्थादन्योऽप्रस्तुतोऽर्थो गम्यते । कीदृशः । असंभवत्तद्विशेषण इति । असंभवन्ति तस्य प्रस्तुतार्थस्य संबन्धीनि विशेषणानि यस्य स तथोक्तः । तथा सुप्रसिद्धः ख्यात इति ॥

उदाहरणमाह—

परिहृतभुजंगसंगः समनयनो न कुरुषे वृषं चाधः ।
नन्वन्य एव दृष्टस्त्वमत्र परमेश्वरो जगति ॥ १७ ॥

छवि का हरण किया, अपने कटाक्ष से लोगों को काम-विह्वल किया, इसके हाथ कमलों की शोभा को धारण कर रहे हैं।

दूसरा अर्थ—

इस नर्तकी ने अपनी मधुर मुस्कान से गोष्ठी में इस कलाविज्ञ पुरुष की लक्ष्मी का अपहरण कर लिया है। अपने कटाक्ष से लोगों को काम-विवश कर दिया है, भोले-भाले लोगों की सम्पत्ति तो इसके हाथ में ही है।१५।

यहाँ 'नालिकश्री' शब्द के दो अर्थ हैं—नालिका (पद्म) की शोभा और नालिका भैंस अर्थात् मूर्ख व्यक्तियों की सम्पत्ति ।

मूर्ख व्यक्तियों की सम्पत्ति नर्तकी के हाथ में होती है—यहाँ श्लेष द्वारा इस लोकोक्ति की प्रतीति हो रही है ।

७. असम्भवश्लेष

जिस वाक्य से प्रकृत अर्थ की अपेक्षा ऐसे अन्य अर्थ की प्रतीति हो जिसके विशेषण [प्रकृत अर्थ] के साथ घटित न हो सकें वहाँ असम्भवश्लेष जानना चाहिए।१६।

उदाहरण—

हे राजन् ! आप तो महादेव से भिन्न जान पड़ते हैं, क्योंकि महादेव भुजंग

परिहृतेति । अत्र प्रकृतान्नृपलक्षणादर्थादन्योऽर्थो महादेवलक्षणोऽसंभवद्विशेषणः प्रसिद्धो गम्यते । महादेवो हि विद्यमानवासुकिसङ्गस्त्रिनयनो वृषवाहनश्च । राजा तु दूरीकृतविटः समदृष्टिः पूजितधर्मश्च । अस्य चालंकारस्यान्यैर्व्यतिरेक इति नाम कृतम् । अत्र तु न व्यतिरेकरूपेण साम्यं प्रतिपिपादयिषितम् । अन्यत्वमेव विशेषणान्तरयुक्तमिति । रूपकताशङ्काप्यत्र न कार्या । साम्यस्य स्वयमेवाप्रकृतत्वादिति ॥

अथावयवश्लेषः—

यत्रावयवमुखस्थितसमुदायविशेषणं प्रधानार्थम् ।
पुष्यन्गम्येतान्यः सोऽयं स्यादवयवश्लेषः ॥ १८ ॥

यत्रेति । यत्र प्रधानार्थं पुष्यन्प्रकृतार्थपोषं कुर्वाणोऽन्योर्थो गम्यते सोऽवयवश्लेषः । कीदृशं प्रधानार्थम् । अवयवमुखेनावयवद्वारेण स्थितानि समुदायस्य विशेषणानि यत्र तत्तथोक्तम् ॥

उदाहरणम्—

भुजयुगले बलभद्रः सकलजगल्लङ्घने तथा बलिजित् ।
अक्रूरो हृदयेऽसौ राजाभूदर्जुनो यशसि ॥ १९ ॥

भुजयुगल इति । स राजा भुजयुगले बलेन हेतुना भद्रः श्रेष्ठः । तथा सकलस्य जगतो लङ्घने आक्रमणे कर्तव्ये बलिनः शक्तानपि जयत्यभिभवतीति बलिजित् । तथा

धारण करते हैं, किन्तु अपने भुजंगों (दुष्टों) का संग छोड़ दिया है । महादेव विषमनेत्र (तीन नेत्रों वाले) हैं, किन्तु आप समनयन (सबसे एक समान व्यवहार करने वाले) हैं । शिवजी नन्दी वृषभ पर सवारी करते हैं, किन्तु आप कभी वृष (धर्म) को [सवारी के लिए] नीचा नहीं होने देते ।१७।

८. *अवयव श्लेष*

जहाँ ऐसा अप्रकृत अर्थ प्रतीत हो जो उस प्रकृत अर्थ का पोषण करे जिसका समग्र विशेषण [विशेषण के एक भाग के द्वारा] अवस्थित हो ।१८।

उदाहरण—

वह राजा अपनी दोनों भुजाओं में बल के कारण श्रेष्ठ है, सारे संसार का उल्लंघन (विजय) करते हुए बलवानों को जीतने वाला है । उसका हृदय क्रूर न होकर मृदु-स्वभाव है और उसका धवल यश सर्वत्र प्रसृत हो रहा है ।

दूसरा अर्थ—

वह राजा भुजबल में बलभद्र (बलदेव) है । सारे जगत् को नाप लेने में (जीत लेने में) वह बलिजित् कृष्ण है । हृदय की कोमलता में वह साक्षात् अक्रूर है और अपने शुभ्र यश के कारण वह महावीर अर्जुन प्रतीत होता है ।१९।

हृदये मनस्यक्रूरो मृदुः। यशसि चार्जुनः शुक्लः। अत्रैतानि विशेषणान्यवयवद्वारेण समुदायस्य स्थितानि। यस्मान्नात्र बलभद्रत्वादिकं भुजादीनाम्। अपि तु राजैव यदा भुजयुगले बलेन भद्रस्तदा स एव बलभद्र इत्युच्यते। तथा सकलजगल्लङ्घने बलिजयनाद्बलिजित्। एवं हृदयस्याक्रूरत्वात्स एवाक्रूरः। यशसोऽर्जुनत्वात्स एवार्जुन इति। एवं प्रधानार्थं पोषयन्नयमन्योऽर्थोऽवगम्यते। यथा—बलभद्रो हलधरः। बलिजिद्वासुदेवः। अक्रूरो वृष्णिविशेषः। अर्जुनः पाण्डवः। एष एव चात्र प्रधानार्थपोषो यदन्येषां यानि नामानि तान्येवास्यान्वर्थेन प्रशंसाकारीणीति ॥

अथ तत्त्वश्लेषः—

यस्मिन्वाक्येन तथा प्रक्रान्तस्य प्रसाधयत्तत्त्वम्।
गम्येतान्यद्वाच्यं तत्त्वश्लेषः स विज्ञेयः ॥ २० ॥

यस्मिन्निति। यत्र वाक्येन पूर्ववत्प्रक्रान्तस्यार्थस्य तत्त्वं परमार्थं प्रसाधयदलंकुर्वाणमन्यद्वाच्यमर्थान्तरं गम्यते स तत्त्वश्लेषो विज्ञेयः ॥

उदाहरणमिदम्—

नयने हि तरलतारे सुतनु कपोलौ च चन्द्रकान्तौ ते।
अधरोऽपि पद्मरागस्त्रिभुवनरत्नं ततो वदनम् ॥२१॥

नयन इति। हे सुतनु, तव नयने चञ्चलकनीनिके। कपोलौ च चन्द्रवत्कान्तौ। पद्मवल्लोहित ओष्ठः। ततो वदनं मुखं त्रिभुवने रत्नं सारम्। जातौ यद्यदुत्कृष्टं तत्तद्र-

---

यहाँ राजा को 'भुजयुगले बलभद्रः' आदि चार विशेषणों से युक्त बताया गया है। ये सभी विशेषण समग्र रूप से राजा के साथ घटित होते हैं, किन्तु इन विशेषणों का एक-एक अवयव (बलभद्र, बलिजित्, अक्रूर और अर्जुन) अप्रकृत अर्थ का द्योतक होता हुआ प्रकृत अर्थ का पोषण करता है।

९. *तत्त्वश्लेष*

जहाँ वाक्य के द्वारा ऐसा अन्य अर्थ प्रतीत हो जो प्रकृत अर्थ के तत्त्व का प्रसाधन [पोषण] करे, वहाँ तत्त्वश्लेष जानना चाहिए।२०।

उदाहरण—

हे सुन्दरि ! तुम्हारी आँखों की पुतलियाँ चञ्चल हैं, तुम्हारे कपोल चन्द्रमा के समान सुन्दर हैं, तुम्हारे होंठ कमल की रक्तिमा धारण कर रहे हैं और तुम्हारा मुख त्रिभुवन का श्रेष्ठ रत्न—चिन्तामणि है।२१।

दूसरा अर्थ—

नयन चंचल तार (हार-मध्यमणि) के समान, कपोल चन्द्रकान्तमणि के समान, अधर पद्मराग के समान, और वदन त्रिभुवन रत्न अर्थात् चिन्तामणि के समान।

त्नमुच्यते । एनमर्थं प्रसाधयन्नयमन्योऽर्थो गम्यते । तव नयने तरले च तारे च । तरलो हारमध्यमणिः । तथा चन्द्रकान्तो मणिभेदः, पद्मरागश्च । यतश्चैतेऽवयवा रत्नरूपास्ततो वदनं त्रिभुवनरत्नं चिन्तामणिरेव । अस्माच्च पूर्वत्र विशेषोऽवयवमुखस्थितसमुदायविशेषणत्वमिति ॥

अथ विरोधाभासः—

स इति विरोधाभासो यस्मिन्नर्थद्वयं पृथग्भूतम् ।
अन्यद्वाक्यं गमयेदविरुद्धं सद्विरुद्धमिव ॥२२॥

स इति । स इत्यनेन प्रकारेण विरोधाभासोऽलंकारः, यस्मिन्नेकमेव वाक्यमन्यदर्थद्वयं पृथग्भूतं गमयति । कीदृशमर्थद्वयम् । स्वरूपेणाविरुद्धमपि विरुद्धमिव लक्ष्यमाणम् ॥

उदाहरणमाह—

तव दक्षिणोऽपि वामो बलभद्रोऽपि प्रलम्ब एष भुजः ।
दुर्योधनोऽपि राजन्युधिष्ठिरोऽस्तीत्यहो चित्रम् ॥२३॥

तवेति । हे राजन्, तव बाहुर्भक्तान्प्रत्यनुकूलत्वाद्दक्षिणोऽपि शत्रून्प्रति प्रतिकूलतया वाम इत्यविरुद्धमर्थद्वयम् । तथा स एव बलेन भद्रोऽपि प्रलम्बो दीर्घः । तथा दुःखेन योध्यत इति दुर्योधनोऽपि युधि समरे स्थिरोऽचञ्चल इत्यविरोधः । विरोधप्रतिभासश्च

यहाँ दूसरा प्रतीत अर्थ प्रकृत अर्थ के प्रत्येक तत्त्व का पोषण कर रहा है—मुख को चिन्तामणि कहना तभी सम्भव हुआ है, जब मुख के तत्त्वों (अवयवों) नयन आदि को 'हार-मध्यमणि' आदि कहा गया है ।

१०. विरोधाभास श्लेष

जहाँ एक ही वाक्य दो ऐसे पृथक् अर्थों का निर्देश करता है जो [परस्पर] विरुद्ध न होते हुए भी विरुद्ध-से प्रतीत होते हैं वहाँ विरोधाभास श्लेष होता है ।२२।

उदाहरण—

विरुद्धार्थ—**हे राजन् ! तुम्हारी भुजा दक्षिण (दाईं) होती हुई [भी] वाम (बाईं) है । बलभद्र (बलदेव) होती हुई भी प्रलम्ब (बलदेव का शत्रु प्रलम्बासुर) है । दुर्योधन होती हुई भी युधिष्ठिर है—कितना आश्चर्य है ।**

अविरुद्धार्थ—**हे राजन् ! [भक्तों की रक्षा करने वाली] तुम्हारी दक्षिण भुजा [शत्रुओं को सन्तप्त करने के कारण] वाम है, और बल से श्रेष्ठ [बलदेव] तथा लम्बी [प्रलम्बासुर] है । युद्ध में कठिनता से लड़ती हुई भी (दुर्योधन होकर भी) अविचल भाव से स्थित (युधिष्ठिर) है ।२३।**

दक्षिणवामयोः सव्येतररूपयोरन्यत्वात्, तथा बलभद्रप्रलम्बयोर्हलधरासुरयोरन्यत्वात्, तथा दुर्योधनयुधिष्ठिरयोर्धार्तराष्ट्रपाण्डवयोर्भिन्नत्वाल्लक्ष्यते । अथ विरोधादस्य को विशेषः । उच्यते—तत्र यादृग्विशेषणमादौ निर्दिष्टं तत्प्रत्यनीकं पुनरुच्यते । यथा संवर्धितकमलोऽप्यवदलितनालिक इति । अत्र तु वाक्यान्तरार्थपर्यालोचनया विरोधच्छायास्तीति । अत्रापि भवति, यदि दुर्योधनोऽपि सुयोधन इत्युच्यते । अत एव विरोधाभाससंज्ञा ॥

एवं शुद्धानलंकारान्सप्रभेदानाख्यायाधुना पूर्वकविलक्ष्यसिद्ध्यर्थं संकीर्णास्तानाह—

एषां तु चतुर्णामपि संकीर्णानां स्युरगणिता भेदाः ।
तन्नामानस्तेषां लक्षणमंशेषु संयोज्यम् ॥२४॥

एषामिति । एषां चतुर्णां वास्तवौपम्यातिशयश्लेषाणां संकीर्णानां मिश्राणां भेदाः स्युर्भवन्ति । कियन्त इत्याह—अगणिताः बाहुल्यपरमेतद्वचनम् । संख्या तु विद्यते । एषां त्विति तुरवधारणे । तेषामेव नान्यदलंकारजातमस्तीत्यर्थः । किं तेषां भेदानां नामेत्याह—तन्नामान इति । येषामलंकाराणां मिश्रभावस्त एव मिलितास्तेषां नामेत्यर्थः । यदि सहोक्तेः समुच्चयस्य च संकरस्तदा सहोक्तिसमुच्चय इति नाम । उत सहोक्तेर्व्यतिरेकस्य च तदा सहोक्तिव्यतिरेक इति नाम । एवमन्यत्रापि दृश्यम् । किं तेषां तर्हि लक्षणमित्याह—तेषामित्यादि । तेषां संकरभेदानां लक्षणमंशेषु भागेषु संयोज्यम् । यस्यालंकारस्य योंऽशस्तदीयमेव तत्र लक्षणमित्यर्थः ॥

अथ संकरस्यैव भेदानाह—

योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च ।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात्संकर उत्पद्यते द्वेधा ॥२५॥

अलंकारों की परस्पर-संकीर्णता

इन चार (वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष) के परस्पर संकीर्ण (मिश्रण) होने से अलंकारों के अगणित भेद होते हैं । वाक्य के जिस अंश में जो अलंकार हो उसका नाम तथा लक्षण उसमें जोड़ देना चाहिए ।२४।

संकर के दो भेद—

तिल-तण्डुल और दूध-पानी के योग से व्यक्त और अव्यक्त अंशों के कारण संकर दो प्रकार का होता है ।२५।

एक से अधिक अलंकारों के परस्पर-मिश्रण को संकर कहते हैं । संकर दो प्रकार का होता है—'तिल-तण्डुल' के मिश्रण के समान व्यक्त अंशों का संकर 'व्यक्तांश संकर' कहाता है, और 'क्षीर-नीर' के मिश्रण के समान 'अव्यक्तांश संकर' कहाता है ।

योगवशादिति । एतेषां वास्तवादीनां संकरो व्यक्ताव्यक्तांशत्वाद्धेतोर्द्वेधा द्विप्रकारो भवति । व्यक्ताव्यक्तांशत्वमपि कुत इत्याह—योगवशात् । तथाविधसंबन्धवशादित्यर्थः । केषां यथा स स्यादित्याह—तिलतण्डुलवदित्यादि । तिलतण्डुलानां यथा व्यक्तांशः संकरः, दुग्धजलयोश्चाव्यक्तांशस्तद्वदेतेषामपीत्यर्थः ।।

अत्र हि दिङ्मात्रप्रदर्शनार्थमाह—

अभियुज्य लोलनयना साध्वसजनितोरुवेपथुस्वेदा ।
अबलेव वैरिसेना नृप जन्ये भज्यते भवता ।।२६।।

अभियुज्येति । त्वया सेनाभियुज्याक्रम्य भज्यते भङ्गं नीयते । कीदृशी । भयवशाल्लोलनयना चञ्चलाक्षी । तथा साध्वसेन भयेन जनित उरुर्महान्वेपथुः कम्पः स्वेदश्च यस्याः । अत्राबलेव सेनेति । यथा येन केनचिद्वनिता भज्यते सेव्यते तेनाभियुज्याभिसृत्यादौ ततो भज्यते । तथा सापि प्रथमसमागमवशाच्चञ्चलनेत्रा भवति । तस्या अपि साध्वसेनोर्वोर्वेपथुस्वेदौ भवत इति । इहाबलेवेत्येष उपमाविभागः । अभियुज्येत्यादिकस्तु श्लेषविभागः । तयोर्लक्षणं स्वधिया योज्यम् । एतौ तिलतण्डुलवत्प्रकटौ ।।

तथान्यदप्यत्रैवाह—

सन्नारीभरणो भवानपि न किं किं नाधिरूढो वृषं
किं वा नो भवता निकामविषमा दग्धाः पुरो विद्विषाम् ।

उदाहरण (व्यक्तांश संकर)—

हे राजन् ! आपकी शत्रुसेना अबला स्त्री के समान है । उसकी आँखें भय से चंचल हैं । वह डर के कारण काँप रही है और पसीने से तरबतर हो रही है । आप युद्ध में उस पर आक्रमण करके उसे तितर-बितर कर रहे हैं । (पक्षे—उससे समागम कर रहे हैं) ।२६।

यहाँ 'अबलेव' इस व्यक्त अंश में उपमा अलंकार है, और शेष व्यक्त अंशों में श्लेष अलंकार है । 'तिल-तण्डुल' के समान इन दोनों अलंकारों का संकर है ।

अन्य उदाहरण—

हे लोकव्यापक राजन् ! आप और महादेव—दोनों के स्वभाव और कार्य एक जैसे हैं । महादेव श्रेष्ठ नारी (उमा) के पति हैं, क्या आप श्रेष्ठ स्त्री के भर्ता नहीं हैं ? अथवा युद्ध में शत्रु के हाथियों को मारने वाले नहीं हैं । शिवजी वृषारोही हैं । क्या आप वृष (धर्ममार्ग) पर आरूढ़ नहीं हैं ? शिवजी ने शत्रुओं के विषम (तीन) पुरों को जलाया था । क्या आपने भी शत्रुओं के विषम (अजेय) दुर्गों को

इत्थं द्वौ परमेश्वराविह शिवस्त्वं चैकरूपस्थिती
तत्किं लोकविभो न जातु कुरुषे सङ्गं भुजंगैः सह ॥२७॥

सन्नारीति। हे लोकविभो राजन्, इत्थमुक्तप्रकारेण त्वं हरश्च परमेश्वरौ। यस्मादेकरूपस्थिती तुल्यस्वभावव्यवहारौ। तत्कदाचिदपि भुजंगैः सह सङ्गं न कुरुषे। तदेव तुल्यत्वं वक्ति– स हि हरः सतीं नारीमुमाख्यां बिभर्ति धारयति। भवानपि शोभना नारी। बिभर्ति पोषयत्येव। अथवा सन्ना अवसादं गता अरीभा रिपुकरिणो रणे यस्य स तथाविधः। हरो वृषं जरद्गवमधिरूढः। भवानपि वृषं धर्मम्। तथा हरेण विद्विषां त्रिपुरवासिनां त्रिषमास्तिस्रः पुरो दग्धाः। भवतात्यन्तदुर्गाः शत्रूणां पुरो दग्धाः। सर्वत्र किंशब्दः प्रश्ने। तथा तस्य परमेश्वर इति संज्ञा। त्वमपि परम उत्कृष्ट ईश्वरोऽर्थवान्। एवं यादृशो हरस्तादृशो भवानपि। तद्यथा तेन भुजंगैः सह संपर्कः कृतस्तथा त्वयापि खिङ्गैः कथं न कृत इति व्यतिरेकस्य श्लेषस्य चात्र संकरः। साधारणविशेषणयोगात् (श्लेषणयोगात्) श्लेषसद्भावः। हरे उपमाने भुजङ्गसङ्गस्य दोषस्य सत्त्वाद्राजनि चासत्त्वाद्गुणत्वे सति व्यतिरेकसद्भावः एतौ चात्र तिलतण्डुलवत्प्रकटौ॥

इदानीमव्यक्तसंकरोदाहरणमाह—

आलोकनं भवत्या जननयनानन्दनेन्दुकरजालम्।
हृदयाकर्षणपाशः स्मरतापप्रशमहिमसलिलम् ॥२८॥

आलोकनमिति। भवत्या आलोकनं जननयनानन्दनेन्दुकरजालमेवेति रूपकम्। गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदेति रूपकलक्षणात्। अथवा भवत्या आलोकनं

दग्ध नहीं किया है ? शिवजी परमेश्वर हैं। आप भी परम ऐश्वर्य वाले हैं। शिवजी भुजंगों को अपने पास रखते हैं, किन्तु हे राजन्, आप भुजंगों (दुष्टों) को अपने पास क्यों नहीं रखते ? ।२७।

यहाँ भी, तिल-तण्डुल-न्याय' से श्लेष और व्यतिरेक अलंकारों का संकर है। उदाहरण (अव्यक्त संकर)—

हे सुन्दरि ! तुम्हारा दर्शन लोगों की आँखों को आनन्द देने में चन्द्रमा का शीतल किरणजाल ही है, अथवा उसके समान है। यह हृदय को आकृष्ट करने में पाश ही है, अथवा पाश के समान है, तथा कामसन्ताप को शान्त करने में शीतल जल है, अथवा शीतल जल के समान है ।२८।

यहाँ 'जननयनानन्दनेन्दुकरजालम्' में रूपक भी है और उपमा भी। यही स्थिति 'हृदयाकर्षणपाशः' तथा 'स्मरतापप्रशममहिमसलिलम्' की भी है। इन स्थलों के अव्यक्त अंशों में ही ये दोनों अलंकार हैं। यहाँ १०।२६ में 'अवलेव' इस व्यक्त अंश के समान स्थिति नहीं है।

जननयनानन्दने इन्दुकरजालमिवेत्युपमा। एतौ चालंकारावव्यक्तांशौ। अत्र प्रमाणाभावादेकत्रानिश्चयः। दोषाभावाच्चोभयमप्याश्रयितुं योग्यम्। एवं हृदयाकर्षणपाश-एव पाश इव वा। स्मरतापप्रशमने हिमसलिलमेव तदिव वेति। रूपकोपमासंकरोऽयमलंकारः॥

तथा—

आदौ चुम्बति चन्द्रबिम्बविमलां लोलः कपोलस्थलीं
संप्राप्य प्रसरं क्रमेण कुरुते पीनस्तनास्फालनम्।
युष्मद्वैरिवधूजनस्य सततं कण्ठे लगत्युल्लसन्
किंवा यन्न करोत्यवारितरसः कामीव वाष्पः पतन्॥२९॥

आदाविति। हे नृप, युष्मद्वैरिवधूजनस्य संबन्धी वाष्पः पतन्प्रसरन्कामीव किं वा यन्न करोति। वा इवार्थे। किमिव यन्न करोतीत्यर्थः। वाष्पस्तावत्पतन्प्रथमं कपोलस्थलीं चुम्बति। कामुकोऽपि तथैव। ततो वाष्पः प्रसरं प्राप्य क्रमेण पीनस्तनास्फालनं कुरुते। काम्यपि तदेव। ततः कण्ठे च द्वावपि लगतः। ततश्चावारितरसो वाष्पः कामीव किमिव न कुरुते। जघनस्थलमपि स्पृशतीत्यर्थः। अत्र रूपकोपमाश्लेषपर्यायाणां संकरः। तत्र कपोलस्थलीमिति रूपकम्। कामीव चन्द्रबिम्बविमलामिति चोपमा। वाष्पकामिनोः साधारणविशेषणयोगाच्छ्लेषः। शत्रवश्च त्वया जिता इति तात्पर्यतः पर्यायसद्भाव इति। अत्र चालंकारसंकरे पूर्वकविलक्ष्याणि भूरिशो दृश्यन्त इत्यत्र महानादरः कार्यः। तथा च—'दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु' इत्यादि। अत्रोत्प्रेक्षार्थान्तरन्यासोपमानां संकरः। यथा च—

अन्य उदाहरण—

हे राजन्! आपकी शत्रुस्त्रियों का आँसू कामुक व्यक्ति की भाँति क्या-क्या नहीं करता। पहले तो वह उनके चन्द्रबिम्ब के समान निर्मल कपोलों का चुम्बन करता है, फिर आगे बढ़ता हुआ उनके स्थूल कुचों का ताड़न करता है। तत्पश्चात् उनके गले लगता है। इस प्रकार आनन्दानुभव में बाधा न डालते हुए वह उनके जघन आदि का स्पर्श करता है।२९।

यहाँ विभिन्न अव्यक्त अंशों में रूपक, उपमा, श्लेष, पर्याय आदि अलंकारों का संकर है।

इसी प्रकार नमिसाधु-प्रस्तुत 'रक्तस्त्वम्……' पद्य में श्लेष और व्यतिरेक का संकर है—

हे अशोक वृक्ष! तुम अपने नवकिसलयों से रक्त (अरुण) हो, और मैं अपनी प्रिया के प्रशंसनीय गुणों के कारण रक्त (अनुरक्त) हूँ। तुम्हारे ऊपर शिलीमुख

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै—
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ता सखे मामपि ।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥

एतौ श्लेषव्यतिरेकौ । एवमन्यदपि बोद्धव्यमिति ।

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतो
दशमोऽध्यायः समाप्तः ।

(भ्रमर) आते हैं और मुझ पर भी कामदेव के धनुष से छूटे हुए शिलीमुख (बाण) आते हैं (गिरते हैं) । सुन्दर रमणी के चरणतल का प्रहार तुम्हें प्रसन्नता (विकास) देनेवाला है और इसी प्रकार मुझे भी । हम दोनों की इन बातों में तो समानता है, अन्तर केवल इतना है कि तुम अशोक (शोकरहित) हो और मुझे विधाता ने सशोक (शोकयुक्त) बनाया है ।

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्य-हिन्दी-व्याख्यायां दशमोऽध्यायः समाप्तः ।

एकादशोऽध्यायः

अर्थस्यालङ्कारा अभिहिताः । संप्रति दोषाः कथ्यन्ते । नन्वर्थालङ्कारप्रतिपादनात्प्रागेवार्थदोषा परिहृता एव तत्किमिति पुनस्ते कथ्यन्त इत्याह—

परिहृत एव प्रायो दोषोऽर्थस्यान्यथोक्तिपरिहारात् ।
अयमुच्यते ततोऽन्यस्तत्कारणमन्यथोक्तौ च ॥१॥

परिहृत इति । 'सर्वः स्वं स्वं रूपम्' (७।७) इत्यादिना ग्रन्थेनार्थस्य विपरीतकथनलक्षणो यो महान्दोषः सोऽस्माभिः 'तं च न खलु बध्नीयान्निष्कारणमन्यथातिरसात्' (७।७) इत्यनेनान्यथोक्तिपरिहारात्परिहृत एव । यस्तु ततोऽन्यथोक्तेरन्यः स्वल्पदोषः सोऽयमधुनोच्यते । तथा तस्यार्थस्यान्यथोक्तौ यत्कारणं तदप्युच्यते । परिहृतमेव सर्वं दोषजातमन्यथोक्तिपरिहारद्वारेण । किंचिदेव दुर्लक्ष्यमपरिहृतमस्तीति प्रायोग्रहणेन सूच्यते । यत्तु विद्यते तदधुना परिह्रियते ॥

अथ तानेव दोषानुद्दिशति—

अपहेतुरप्रतीतो निरागमो बाधयन्नसंबद्धः ।
ग्राम्यो विरसस्तद्वानतिमात्रश्चेति दुष्टोऽर्थः ॥२॥

अपहेतुरिति । अपहेत्वादयो नवार्थदोषाः । इतिशब्दो हेत्वर्थे प्रत्येकमभिसंबध्यते यतोऽपहेतुरतो दुष्ट इत्यर्थः । एवमन्यत्रापि योज्यम् ।

एकादश अध्याय

इस ग्रन्थ के छठे अध्याय में ७ पद-दोषों, और ४ वाक्य-दोषों का निरूपण किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त दूसरे अध्याय के ८वें श्लोक में भी गुणों के वैपरीत्य से सम्भव [पदवाक्यगत] छः दोषों की चर्चा की गयी थी। अब इस अध्याय में आचार्य ने ९ अर्थदोषों का निरूपण करने के उपरान्त ४ उपमा-दोषों पर प्रकाश डाला है।

अर्थ की अन्यथा [विपरीत, अशुद्ध, अमान्य, भ्रान्त, अपूर्ण आदि] उक्ति का त्याग करना चाहिए, इसी कारण दोष प्रायः त्याज्य होते हैं, [यह पहले इस ग्रन्थ में बताया जा चुका है, अब] अन्य दोषों का निरूपण किया जाता है तथा उनकी अन्यथा-उक्ति का कारण भी [निर्दिष्ट किया जाता है।] ।१।

अपहेतु, अप्रतीत, निरागम, बाधयन्, असम्बद्ध, ग्राम्य, विरल, तद्वान् और अतिमात्र ये [नौ] अर्थ-दोष हैं ।२।

यथोद्देशस्तथा लक्षणमिति कृत्वा पूर्वमपहेतुलक्षणमाह—

अपहेतुरसौ यस्मिन्केनचिदंशेन हेतुतामर्थः ।
याति तथात्वे युक्त्या बलवत्या बाध्यते परया ।।३।।

अपहेतुरिति । असावपहेतुर्दोषः, यत्र केनचित्प्रकारेणार्थस्तथात्वे तद्धर्मतायां हेतुत्वं याति । स च हेतुतां गतः सन्नपरया बलिष्ठया युक्त्या बाध्यते । यदा चार्थहेतुत्वसद्भावस्तदान्यथोक्तिपरिहारेण न परिहृतः ।।

उदाहरणम्—

तव दिग्विजयारम्भे बलधूलीबहलतोयजनितेषु ।
गगनस्थलेषु भानोश्चक्रमभूद्रथभराभिज्ञम् ।।४।।

तवेति । गतार्थमेव । अत्र धूलेर्बहलत्वलक्षणोऽर्थः स्थलत्वे हेतुतां यात्येव । किंतु स्थलस्य गगने निराधारत्वादवस्थानं न संभवतीत्यनयोत्तरकालभाविन्या बलवत्या युक्त्या बाध्यते ।।

---

१. अपहेतु

जिसमें अर्थ किसी अंश में कारण बन जाता है, फिर वैसा हो जाने पर अन्य बलवान् युक्ति से बाधित हो जाता है, वहाँ अपहेतु होता है ।३।

उदाहरण—

[हे राजन्] तुम्हारे दिग्विजय के आरम्भ में सेना की धूलि-समूह और जल के मिश्रण [के उड़ने] से उत्पन्न आकाश-मार्गों में सूर्य का चक्र रथ के भार से परिचित हो गया ।४।

धूलि-समूह और जल के मिश्रण से स्थल बन जाने का कारण तो मान्य है, किन्तु निराधार गगन में इसकी स्थिति असम्भव होने से यहाँ अपहेतु दोष है ।

२. अप्रतीत

जो अर्थ होता हुआ भी वृद्धों (पूर्व कवियों) द्वारा प्रयुक्त नहीं होता वह (उसका प्रयोग करना) 'अप्रतीत' [दोष] कहलाता है ।

उदाहरण—

वह सुकुमारी शरद् ऋतु के समान शोभित होती है, क्योंकि ये दोनों 'विकसत्पुलकोत्करा' हैं—सुकुमारी का पुलक-(रोमांच-)समूह प्रसरित है, और शरद् ऋतु में 'पुलक' नामक वृक्षों के समूह पुष्पित होते हैं ।५।

यहाँ 'पुलक' शब्द वृक्ष के अर्थ में अप्रतीत है ।

अथाप्रतीतः—

अर्थोऽयमप्रतीतो यः सन्नपि न प्रयुज्यते वृद्धैः ।
शरदिव विभाति तन्वी विकसत्पुलकोत्करेयमिति ।।५।।

अर्थ इति । अयमप्रतीतोऽर्थो भण्यते यो विद्यमानोऽपि वृद्धैः पूर्वकविभिर्न प्रयुज्यते । उदाहरणम्—[शरदिति ।] प्रसरद्रोमाञ्चनिवहा तन्वी भाति । शरच्च पुष्यत्पुलकाख्यवृक्षविशेषनिवहा । अत्र पुलकशब्दो वृक्षविशेषवाचकोऽपि तद्वाचकत्वेन पूर्वकविभिर्न प्रत्युक्त इति न प्रयोज्यः ।।

अथ निरागमः—

आगमगम्यस्तमृते य उच्यतेऽर्थो निरागमः स इति ।
सततं स राजसूयैरीजे विप्रोऽश्वमेधैश्च ।।६।।

आगमेति । योऽर्थ आगमात्सिद्धान्ताद्गम्यते, अथ चागमनिरपेक्ष एवोच्यते, स इत्यनेन प्रकारेण निरागमः । उदाहरणम्—सततमिति । अत्र विप्रस्य राजसूयाश्वमेधौ यागौ कथितौ । तौ च वेदगम्यौ । वेदे च तयोर्नृपस्यैवाधिकारो न ब्राह्मणस्येत्युक्तम् ।।]

अथ बाधयन्—

यः पूर्वमन्यथोक्तं तद्वक्तृकमेव बाधयेदर्थम् ।
अर्थः स बाधयन्निति मृगाक्षि नेत्रे तवानुपमे ।।७।।

---

३. निरागम

जो अर्थ आगम (सिद्धान्त) से ज्ञातव्य हो, किन्तु उसे इसके बिना कहा जाए उसे निरागम कहते हैं ।

उदाहरण—

वह ब्राह्मण राजसूय और अश्वमेध यज्ञों द्वारा निरन्तर इष्टि करता है ।६।

राजसूय और अश्वमेध ये दोनों यज्ञ वेद में नृप के लिए अधिकृत हैं न कि ब्राह्मण के लिए । अतः यहाँ 'निरागम' दोष है ।

४. बाधयन्

जो अर्थ उसी वक्ता द्वारा पहले कहे गये विपरीत अर्थ का बाध करे वह अर्थ 'बाधयन्' [दोष] कहाता है ।

उदाहरण—

मृग के समान नेत्रों वाली । तुम्हारे नेत्र अनुपम हैं ।७।

जिस वक्ता द्वारा नायिका के नेत्र मृग के नेत्रों के समान कहे गये हैं उसी के द्वारा उन्हें अनुपम कहना 'बाधयन्' दोष है, क्योंकि इससे पूर्व कथन का बाध होता है।

य इति । योऽर्थ उत्तरकालं भण्यमानः समानववतृकं पूर्वमन्यथोक्तमर्थं बाधयेत्स बाधयन्निति भण्यते । यथा—मृगाक्षि नयने तवानुपमे, अत्र येनैव वक्त्रा प्रथमं मृगाक्षीत्युक्तं तेनैव पुनस्तव नयने अनुपमे इति पूर्वस्य बाधकमुक्तम् । इदं चात्र निदर्शनम्। यथा—

वपुरनुपमं नाभेरूर्ध्वं विधाय मृगीदृशो ललितललितैरङ्गन्यासैः पुरा रभसादिव ।
तदनु सहसा खिन्नेनेव प्रजापतिना भृशं पृथुलपृथुला स्थूलस्थूला कृता जघनस्थली ।।

अत्र नाभेरूर्ध्वमनुपमं वपुरित्याद्युक्त्वा मृगीदृश इत्युक्तम् ।।

अथासंबद्धः—

प्रक्रान्तानुपयोगी प्राप्तो यस्तत्क्रमादसंबद्धः ।
स इति गता ते कीर्तिर्बहुफेनं जलधिमुल्लङ्घ्य ।।८।।

प्रक्रान्तेति । योऽर्थः प्रक्रान्तार्थक्रमायातोऽपि प्रक्रान्तेऽर्थेऽनुपयोगी सोऽसंबद्ध इत्युच्यते । उदाहरणम्—गता ते कीर्तिरित्यादि । अत्र जलधौ संबद्धत्वात्फेनानां बहुफेनत्वं क्रमप्राप्तम् । अथ च प्रस्तुतेऽर्थेऽनुपयोगि । यदि बहुफेनत्वं जलधेर्दुस्तरत्वे हेतुर्भवेत्तदा भवेदपारजलधिलंघनं कीर्तेरतिशयाय । न चैवमस्ति । तस्माद्बहुफेनमित्येतदकिंचित्करम् ।।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण नमिसाधु ने भी प्रस्तुत किया है—

प्रजापति ने पहले तो जल्दी में उस [नायिका] की नाभि से ऊपर के शरीर को अति रमणीय अंगों के निवेश द्वारा अनुपम बना दिया, बाद में सहसा खिन्न-से होकर उस मृगनयनी के नितम्ब-भाग को विशाल-विशाल सा एवं स्थूल-स्थूल सा बना डाला।

यहाँ भी नायिका के उपरिभाग-स्थित शरीर को अनुपम कहकर कवि ने उसके नेत्रों को मृग के नेत्रों के समान कह दिया है ।

५. *असम्बद्ध*

जो अर्थ क्रम से आया हुआ भी प्रस्तुत अर्थ में अनुपयोगी भी हो वह असम्बद्ध होता है ।

उदाहरण—

[हे राजन्] तेरी कीर्ति बहुफेनयुक्त समुद्र को भी लाँघकर चली गयी है—समुद्र के पार भी फैल गयी है ।८।

समुद्र के प्रसंग से 'बहुफेन' शब्द का प्रयोग समुचित होता हुआ भी प्रस्तुत अर्थ में अनुपयोगी है, क्योंकि यह कीर्ति की लंघनीयता में बाधक नहीं है ।

अथ ग्राम्यः—

ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम् ।
देशकुलजातिविद्यावित्तवयःस्थानपात्रेषु ॥९॥

ग्राम्यत्वमिति । यद्व्यवहाराकारवेषवचनानां चतुर्णामपि प्रत्येकं देशकुलजातिविद्यावित्तवयःस्थानपात्रेष्वष्टसु विषयेष्वनौचित्यं तद्ग्राम्यत्वं दोषः । तत्र व्यवहारश्चेष्टा । आकारः स्वाभाविकं रूपम् । कृत्रिमं तु वेषः । वचनं भाषा । तथा देशो मध्यदेशादिरार्यानार्यभिन्नः । कुलं गोत्रमिक्ष्वाक्वादिः । देवदैत्यादिकमित्यन्ये । जातिः स्त्रीपुंसादिका । ब्राह्मणत्वादिका वा । विद्या शास्त्रज्ञता । वित्तं धनम् । वयः शैशवादिकम् । स्थानं पदमधिकारः । पात्राणि भरतोक्तान्युत्तममध्यमादीनि । तत्रार्यदेशेष्वकरुणो व्यवहारः, भयंकर आकारः, उद्धतो वेषः, परुषवचनमनुचितम् । म्लेच्छेषु त्वेतदेवोचितम् । तथा ग्रामेषु यदुचितं तदेव नगरेषु ग्राम्यम् । एवं कुलजेषु परिभवसहत्वादिको व्यवहारः, असौम्य आकारः, विकृतो वेषः, वितथं वचनमनुचितानि । जातौ तु ब्राह्मणादीनां निजनिजजातिविहितव्यवहाराकारवेषवचनान्युचितानि तदन्यथा त्वनुचितानि । पुरुषेषु शूद्रवर्जमन्नपाकादिको व्यवहारः, स्थूलस्तनश्मश्रुरहितं च रूपमाकारः, कौसुम्भवस्त्रं काचाद्याभरणं च वेषः, समन्मथादिवचनमनुचितम् । स्त्रीषु तदेवोचितम् । एवमन्येषामपि । तथा विद्यायां पण्डितेषु शस्त्रग्रहणपूर्वको व्यवहारः, सव्याधिवपुराकारः, उद्भटो वेषः, असंस्कृतवचनमनुचितानि । मूर्खेषु तान्येवोचितानि । वित्ते धनिनां दानोपभोगरहितो व्यवहारः, दुःस्पर्शादिराकारः, मलिनवस्त्रादिको वेषः, दीनं वचनमनुचितानि । द्रमकेषु (?) तान्येवोचितानि । वयसि वृद्धेषु सेवादिव्यवहारः, इन्द्रियपाटवादिराकारः, कुण्डलादिधारणं वेषः, समन्मथं वचनमनुचितानि । तरुणेषु तान्येवोचितानि । स्थाने राज्ञां सक्रोधलोभादिको व्यवहारः, निर्लक्षण आकारः, कुण्डलादिरहितो वेषः, परुषं दीनं वचनमनुचितानि । एवं पात्रेषु यानि भीमसेने व्यवहारादीन्युचितानि तान्येव युधिष्ठिरे ग्राम्याणीत्यादि । एतत्तु ग्राम्यत्वमन्यथोक्तिपरिहारेण न परिहृतम् ॥

---

९. *ग्राम्य*

कुल, जाति, विद्या, वित्त, आयु, स्थान और पात्र इन [आठों विषयों] में व्यवहार, आकार, वेश और वचन का औचित्य ग्राम्य कहाता है ।९।

यहाँ नमिसाधु ने ग्राम्यत्व (अनौचित्य) की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है । विज्ञ पाठकों के लिए वह अति सुबोध है । उदाहरणार्थ— विद्वान् जनों के लिए शस्त्र-ग्रहण रूप व्यवहार, व्याधि (रोग, चाहें तो इसका अर्थ 'कुप्रकृति', विषय-वासना आदि भी ले सकते हैं) से युक्त देह रूप, आकार, भयंकर वेष और अपरिष्कृत वचन अनुचित हैं, किन्तु मूर्खों के लिए ये सभी उचित हैं । इत्यादि ।

अथात्रैव दिक्प्रदर्शनार्थमाह—

प्रागल्भ्यं कन्यानामव्याजो मुग्धता च वेश्यानाम् ।
वैदग्ध्यं ग्राम्याणां कुलजानां धौर्त्यमित्यादि ॥१०॥

प्रागल्भ्यमिति । कन्याशब्देन नवोढा लक्ष्यते । कन्यानां नवोढाङ्गनानां प्रागल्भ्यं वैयात्यम् । तथा वेश्यानां पण्यस्त्रीणामव्याजकृत्रिमं मौग्ध्यम् । तथा ग्राम्याणां वैदग्ध्यम् । तथा कुलीनानां धूर्तत्वमनुचितम् । ग्राम्यमित्यर्थः ॥

ततश्च किमित्याह—

एतद्विज्ञाय बुधैः परिहर्तव्यं महीयसो यत्नात् ।
नहि सम्यग्विज्ञातुं शक्यमुदाहरणमात्रेण ॥११॥

एतदिति । एतद्ग्राम्यत्वं विशेषेण ज्ञात्वा महीयसो यत्नादादरेण परिहर्तव्यम् । महाकवयो यत्र मुह्यन्तीत्यतो महीयसो यत्नादित्युक्तम् । तदुदाहरणानि किमेतेषु नोच्यन्त इत्याह—नहीत्यादि । यस्मादुदाहरणमात्रेण न यथावद्विज्ञातुं शक्यते । ततः स्वधिया विज्ञाय यथा ग्राम्यत्वं न भवति तथा प्रयोज्यम् ।

यथा—

व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥

कन्याओं की [नवोढाओं की भी] धृष्टता, वेश्याओं की अकृत्रिम मुग्धता, ग्रामीणों की चतुरता, कुलीनों की धूर्तता—यह सब [वर्णन करना] ग्राम्य दोष है ।१०।

इस ग्राम्यत्व को जानकर बुद्धिमानों को महान् प्रयास से इस ग्राम्यत्व का परिहार करना चाहिए । केवल उदाहरण-मात्र से यह अच्छी प्रकार से नहीं जाना जा सकता ।११।

इसी प्रसंग में नमिसाधु ने दो पद्य प्रस्तुत किये हैं जिनमें ग्राम्यत्व दोष की स्वीकृति नहीं करनी चाहिए—

(१) 'व्याहृता प्रतिवचो न…'—वह पार्वती संभाषण करने पर उत्तर नहीं देती थी । दुपट्टा पकड़ने पर [वहाँ से] चले जाना चाहती थी । शय्या पर मुँह फेर लेती थी । फिर भी [इन विपरीत चेष्टाओं से] भगवान् शिव को आनन्द ही मिलता था ।

(२) 'उपचारिताप्यतिमात्रम्…'—[इस पद्य में किसी वेश्या का वर्णन प्रतीत होता है] वह प्रकट-वधू अर्थात् वेश्या [धन-राशि द्वारा] अत्यधिक उपचारित (सेवित) की जाती हुई भी उस वैशिक की ओर, जिसकी सम्पत्ति अब क्षीण हो चुकी है और

तथा—

उपचरिताप्यतिमात्रं प्रकटवधूः क्षीणसंपदः पुंसः ।
पातयति दृशं व्रजतः स्पृहया परिधानमात्रेऽपि ।। एवमादि ।।

अथ विरसः—

अन्यस्य यः प्रसङ्गे रसस्य निपतेद्रसः क्रमापेतः ।
विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यग्ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः ।।१२।।

अन्यस्येति । रसान्तरप्राप्तौ सत्यां यो रसः शृङ्गारादिः निपतति स विरसोऽर्थदोषः । ननु सर्वरसयुक्तत्वान्महाकाव्यस्य रसान्तरापातोऽभ्युपगत एव । तत्कथमत्र विरसोऽर्थदोष इत्याह—क्रमापेतः प्रसङ्गविरुद्धः । यस्य रसस्य तत्रानवसरः स दुष्ट इत्यर्थः । किमत्रोदाहरणमित्याह—स चेत्यादि । चो हेतौ । यस्मात्स विरसोर्थदोषः प्रबन्धेभ्यो महाकाव्यादिभ्यः सम्यग्विज्ञातुं शक्यते । अत इह नोदाहृत इत्यर्थः ।।

सूचीमात्रमाह—

तव वनवासोऽनुचितः पितृमरणशुचं विमुञ्च किं तपसा ।
सफलय यौवनमेतत्सममनुरक्तेन सुतनु मया ।।१३।।

जो [बाहर] जा रहा है, अपने दरवाज़े को बन्द करते हुए भी [इस] स्पृहा से दृष्टि-पात कर रही है [कि वह पुनः धनराशि लेकर आएगा] ।

इन दोनों उदाहरणों में परिस्थिति का अनुकूल-चित्रण होने के कारण ग्राम्यत्व दोष नहीं मानना चाहिए ।

७. विरस

जो रस किसी अन्य रस के प्रसङ्ग में क्रम से हटा हुआ अर्थात् विरुद्ध रूप में आ पड़े वह विरस [दोष कहाता] है, और यह प्रबन्ध-काव्यों द्वारा जाना जा सकता है ।१२।

उदाहरण—

हयग्रीव का सुत नरकासुर को लाने के लिए उसकी नगरी में गया । वहाँ उसे ज्ञात हुआ कि विष्णु द्वारा नरकासुर का वध कर दिया गया है और उसकी पुत्री अपने पिता की मृत्यु के शोक से आकुल होकर वन में चली गयी है तो वह उसे आश्वासन देने के लिए चला गया । किन्तु उस सुन्दरी को देखते ही वह कामपीड़ित होकर इस प्रकार कहने लगा—

वन में रहना तेरे लिए अनुचित है । पिता की मृत्यु के शोक को छोड़ । तपस्या करने से क्या लाभ ? सुकुमारि ! अपने प्रति मुझ अनुरक्त के साथ अपने इस यौवन को सफल बना ।१३।

तवेति । हयग्रीवसुतो नरकासुरानयनाय तत्पुरीं गतः, तत्र च हरिहतं नरकासुरं जनेभ्यः श्रुत्वा तत्सुतां च पितृमरणदुःखेन वनगतां बुद्ध्वा समाश्वासनाय गतः, तत्र दृष्ट्वा च तां सकामः सन्नाह—तव वनवास इत्यादि । पातनिकयैव गतार्थम् ।।

प्रकारान्तरमाह—

य: सावसरोऽपि रसो निरन्तरं नीयते प्रबन्धेषु ।
अतिमहतीं वृद्धिमसौ तथैव वैरस्यमायाति ।।१४।।

य इति । यः काव्यादौ क्वापि प्रस्तुतो रसो नैरन्तर्येण महतीं वृद्धिं नीयते स श्रोतृणां वैरस्यमावहतीति विरसो भवति । अत्र वेणीसंहारषष्ठोऽङ्को निदर्शनम् ।।

अथ तद्वान्—

यो यस्याव्यभिचारी सगुणादिस्तद्विशेषणं क्रियते ।
परिपूरयितुं छन्दो यत्र स तद्वानिति ज्ञेयः ।।१५।।

य इति । यो गुणादिर्यस्य पदार्थस्याव्यभिचारी नित्यस्थः स गुणादिस्तस्य विशेषणतया यत्र क्रियते स दोषस्तद्वानिति ज्ञेयः । यद्यव्यभिचारी तर्हि किमर्थं क्रियत इत्याह—परिपूरयितुं छन्दः । तस्य हि छन्दःपूरणमात्रमेवार्थ इति ।।

उदाहरणम्—

क्व नु यास्यन्ति वराकास्तरुकुसुमरसैकलालसा मधुपाः ।
भस्मीकृतं वनं तद्दवदहनेनातितीव्रेण ।।१६।।

यहाँ करुण रस के प्रसंग में विरोधी रस शृंगार रस का आपतन विरस दोष है ।

अन्य प्रकार—

जो रस प्रसंगानुकूल होता हुआ भी प्रबन्ध-काव्यों में निरन्तर [प्रयोग के कारण] अतिशय वृद्धि को पहुँचा दिया जाता है वह भी विरसता को प्राप्त होता है ।१४।

नमिसाधु के अनुसार 'वेणीसंहार' का छठा अंक इस प्रकार की विरसता का निदर्शन है ।

८. *तद्वान्*

जो गुण आदि जिस [पदार्थ] का अव्यभिचारी है, अर्थात् उसके साथ नित्य रूप से रहता है, उसे [गुण] को यदि छन्दः की पूर्ति के लिए उस [पदार्थ] का विशेषण बना दिया जाता है तो वहाँ तद्वान् दोष होता है ।१५।

उदाहरण—

यदि यह वन अति तीव्र वनाग्नि से भस्म कर दिया गया तो ये बेचारे भ्रमर जो एक मात्र वृक्षों के पुष्पों के रस की ही लालसा रखते हैं कहाँ जाएँगे ।१६।

क्वेति। अत्र दवदहनस्यातितीव्रेणेति विशेषणं छन्दःपूरणार्थमेव। तत्राव्यभिचारादिति ॥

अथातिमात्रः—

अतिदूरमतिक्रान्तो मात्रां लोकेऽतिमात्र इत्यर्थः ।
तव विरहे हरिणाक्ष्याः प्लावयति जगन्ति नयनाम्बु ॥१७॥

अतिदूरमिति। योऽर्थो लोकप्रसिद्धां मात्रां परिणाममतिदूरमत्यर्थमतिक्रान्त उल्लङ्घितः सोऽतिमात्रोऽर्थदोषः। उदाहरणम्—तवेत्याद्युत्तरार्धम्। अत्राश्रुलक्षणोऽर्थो मात्रां त्यक्तवान्। परा ह्यश्रूणां भूयस्ता यद्वस्त्रार्द्रीकरणम्। न तु प्रलयजलदवज्जगत्प्लावनम् ॥

अथ यत्पूर्वमुक्तम् 'तत्कारणमन्यथोक्तौ च' (११।१) इति तदाह—

अत्यन्तमसंबद्धं परमतमभिधातुमन्यदश्लिष्टम् ।
संगतमिति यद् ब्रूयात्तत्रायुक्तिर्न दोषाय ॥१८॥

अत्यन्तमिति। असंबद्धार्थता महान्दोषः। तस्यापवादोऽयम्। यत्र परकीयं मतमतिशयेनासंबद्धं प्रतिपादयितुमन्यदात्मीयमश्लिष्टमसंबद्धमर्थं वक्ता वक्ति तत्रायुक्तिरसंगतता न दोषाय। अथ कथं तेनासंबद्धेन परमतस्यासंबद्धता प्रतिपाद्यत इत्याह—संगतमिति। इतिर्हेतौ। यतस्तस्यासंबद्धस्याश्लिष्टमेव संगतं सदृशतया दर्शयितुम् ॥

उदाहरणम्—

किमिदमसंगतमस्मिन्नादावन्यत्तथान्यदन्ते च ।
यत्नेनोप्ता माषाः स्फुटमेते कोद्रवा जाताः ॥१९॥

यहाँ वनाग्नि का 'अति तीव्र' विशेषण पादपूर्त्यर्थ प्रयुक्त है। वस्तुतः इस विशेषण का प्रयोग अनावश्यक है, क्योंकि यह वनाग्नि के साथ नित्यरूप से रहता है।

९. *अतिमात्र*

जो अर्थ लोक-प्रसिद्ध मात्रा को अत्यधिक उल्लंघन कर जाता है वह अतिमात्र कहाता है।

उदाहरण—

तुम्हारे विरह में उस मृगनयनी के अश्रु [तीनों] लोकों को डुबो रहे हैं।१७।

इस दोष का परिहार—

जहाँ किसी दूसरे के अत्यन्त असम्बद्ध तथा असुगठित मत को [उसकी असमानता में अपने मत को] संगत [बताने के लिए] कहा जाए वहाँ यह 'असंगतता' दोष नहीं होती।१८।

उदाहरण—

यह क्या असंगत [बात कही] है [आपने कि] इसके आदि में कुछ और है

किमिदमिति । कश्चिदसंबद्धं परवचनं क्षिपन्नाह—अस्मिन्वस्तुनि किमिदमसंगतं भवतोच्यते । कुतः । आदौ प्रारम्भेऽन्यत्तथान्ते च निर्गमे चान्यदिति । किमिवासंभवमिति तत्सदृशमाह—यथा माषा उप्ताः कोद्रवाश्चोत्पन्ना इत्यसंबद्धम्, एवं तवापि वचनमित्यर्थः ॥

भूयोऽप्याह—

अभिधेयस्यातथ्यं तदनुपपन्नं निकाममुपपन्नम् ।
यत्र स्युर्वक्तॄणामुन्मादो मौर्ख्यमुत्कण्ठा ॥२०॥

अभिधेयस्येति । यत्र वक्तुरुन्मादो मौर्ख्यमुत्कण्ठा च दोषः स्यात्त्रातथ्यमयथार्थतानुपपन्नापि निकाममतिशयेनोपपन्ना युक्ता । स्वस्थस्य ह्यन्यथावचनं दोषाय । उन्मत्तादीनां तु तदेवं भूषायै ॥

एतदुदाहरणानि यथाक्रममाह—

भुक्ता हि मया गिरयः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत् ।
हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ॥२१॥

भुक्ता इति । इत्युन्मादे ॥

किं मां ब्रवीषि मूर्ख पश्येदं शिशिरमेव ननु तिमिरम् ।
सुस्वादुरयं गन्धस्तमसा त्वेनं न पश्यामि ॥२२॥

तथा अन्त में कुछ और । [यह तो ऐसे असम्बद्ध है जैसे] यत्न से उड़द बोये गये किन्तु उत्पन्न हो गये कोद्रव (धान्य-विशेष) ।१९।

इसी प्रसंग में कुछ और भी कथनीय है—

जहाँ वक्ता का उन्माद, मूर्खता और उत्कण्ठा दिखानी हो वहाँ अर्थ यदि तथ्यरहित तथा असंगत हो तो भी उसे नितान्त संगत समझना चाहिए ।२०।

उदाहरण (उन्मादपूर्ण वचन)—

मैंने पहाड़ों को खा लिया है, मैं अग्नि से नहाया हूँ, मैं हवा पीता हूँ । विष्णु, महादेव और हिरण्यगर्भ मेरे पुत्र हैं । अतः नाचता हूँ ।२१।

उदाहरण (मूर्खतापूर्ण वचन)—

क्या मुझे मूर्ख कहते हो ! देखो यह अन्धकार शीतल है । यह गन्ध अति स्वादिष्ट है, किन्तु इसे अन्धकार के कारण नहीं देखता हूँ ।२२।

किमिति । इति मौर्ख्ये ॥

हे हंस देहि कान्तां सा मे भवता हृतेति किं मिथ्या ।
ननु गतिरियं तदीया वाणी सैवेयमतिमधुरा ॥२३॥

हे इति । इत्युत्कण्ठायाम् । अत्र गिरिभोजनं वह्निस्नानमाकाशपानमजादि-पुत्रत्वं च, तथा तिमिरस्य शीतलत्वम्, गन्धस्य सुस्वादुत्वम्, तस्य चान्धकारेण दर्शनम्, तथा हंसेन कान्ताहरणं च सर्वमेवासंबद्धमुन्मत्तमूर्खोत्कैश्चोक्तत्वाच्चार्वेव ॥

एवं सर्वार्थालंकारसाधारणान्दोषानभिधायेदानीं केवलोपमादोषानाह—

सामान्यशब्दभेदो वैषम्यमसंभवोऽप्रसिद्धिश्च ।
इत्येते चत्वारो दोषा नासम्यगुपमायाः ॥२४॥

सामान्येति । औपम्यभेदस्योपमाया इत्येते सामान्यशब्दभेदादयश्चत्वारो दोषाः । ते च नासम्यक् । अपि तु स्फुटा एव । अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणाद्यन्मेधाविप्रभृतिभिरुक्तं यथा—"लिङ्गवचनभेदौ हीनताधिक्यमसंभवो विपर्ययोऽसादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः । तत्र लिङ्गवचनभेदावन्योन्यमुपमानोपमेययोः । यथा—

भक्षिताः सक्तवो राजञ्शुद्धाः कुलवधूरिव ।
परमातेव निःस्नेहाः शीतलाः परकार्यवत् ॥

उपमेयादुपमानस्य यत्रोनानि विशेषणानि सा हीनता । यथा—

स मारुताकम्पितपीतवासा बिभ्रत्सलीलं शशिभासि शङ्खम् ।
यदुप्रवीरः प्रगृहीतशार्ङ्गः सेन्द्रायुधो मेघ इवावभासे ॥

उदाहरण (उत्कण्ठापूर्ण वचन)—

हे हंस, मेरी प्रिया को मुझे वापस दे दो । उसे तूने ही चुराया है—क्या यह बात असत्य है ? यह तेरी गति उसी की ही है । यह तेरी अति मधुर वाणी भी उसी की ही है ।२३।

सब अर्थालंकारों के सामान्य दोषों को दिखाने के उपरान्त अब रुद्रट केवल उपमा अलंकार के दोषों का निर्देश करते हैं—

उपमा-दोष

सामान्य शब्दभेद, वैषम्य, असम्भव और अप्रसिद्धि—ये चार उपमा के स्पष्ट दोष हैं ।२४।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि रुद्रट से पूर्व भामह, दण्डी और वामन ने भी उपमा-अलंकार के दोषों का उल्लेख किया था । दण्डी और वामन ने भामह से ही सामग्री ली है, किन्तु रुद्रट का विवेचन प्रायः स्वतन्त्र है । रुद्रट के उपरान्त आनन्द-वर्धन, भोजराज, मम्मट और विश्वनाथ ने इस विषय पर प्रकाश डाला है । इन सब

एवं यत्रोपमेयादुपमानस्याधिकानि विशेषणानि तदाधिक्यम् । यथा—

स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोन्यभीमं (?) वपुराप कृष्णः ।
शतह्लदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः ।।

अत्रोपमाने मेघे शशियोगोऽधिकः । यत्र विनैव यद्यर्थमसंभवद्विशेषणमुपमानं क्रियते सोऽसंभवः । यथा—

निपेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः ।
जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात् ।।

नहि वारिधाराणामयद्यर्थं जाज्वल्यमानत्वं रविबिम्बाद्वा वारिधारापतनं संभवति । यत्रोपमेयाद्धीनमुत्कृष्टं वोपमानं क्रियतेऽसौ विपर्ययः । तत्र हीनं यथा—

स्फुरन्ति निखिला नीले तारका गगने निशि ।
भास्कराभीशुसंस्पृष्टाः कृमयः कर्दमे यथा ।।

उत्कृष्टं यथा—

अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते ।
युगादौ भगवान्ब्रह्मा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ।।

की विषय-सामग्री का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य मेधावी के नाम से इन सात उपमा-दोषों का उल्लेख किया है—हीनता, असम्भव, लिंग-भेद, वचन-भेद, विपर्यय, उपमानाधिकता और असदृशता । (काव्यालंकार—भामह, २. ३९)

२. दण्डी ने इन में से केवल चार उपमा-दोष माने हैं, और वह तभी जब वे सहृदयजनों के उद्वेग के कारण बनें, अन्यथा नहीं । इस प्रकार दण्डी ने दोष की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति में प्रथम बार अनुद्वेगजनकता अर्थात् औचित्यविधान की ओर संकेत किया—

न लिंगवचने भिन्ने न हीनाऽधिकताऽपि वा ।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ।। (का० द० २।५१)

३. वामन ने उक्त सात दोषों में से 'विपर्यय' के अतिरिक्त शेष छः दोषों को स्वीकार किया है । (का० सू० वृ० ४.२.८)

उपमेय के विशेषणों की अपेक्षा उपमान के विशेषणों की हीनता अथवा अधिकता; उपमेय के लिंग और वचन के अनुसार उपमान के लिंग अथवा वचन का न होना; और असम्भव तथा असदृश उपमान की स्थापना—यह हुए छः दोष, जो भामह और वामन को अभीष्ट हैं, इनमें से चार दोष दण्डी को भी स्वीकृत हैं । शेष रहा भामह का विपर्यय दोष—उपमान की अपेक्षा उपमेय में हीनता अथवा अधिकता—तो वामन के शब्दों में इसका अन्तर्भाव हीनता और अधिकता में किया जा सकता

यत्रोपमानोपमेययोः साम्यं नास्ति तदसादृश्यम् । यथा—

वनेऽथ तस्मिन्वनिताविहारिणः प्रभिन्नदानार्द्रकटा मतङ्गजाः ।
विचित्रबर्हाभरणाश्च बर्हिणो बभुर्दिवीवामलविग्रहा ग्रहाः ।।

अत्र न किंचिद्दन्तिनां मयूराणां च ग्रहैः सारूप्यमस्तीति" । तदेतन्निरस्तम् । यतश्चत्वार एवामी संग्राहका भेदाः । न त्वन्ये । तथाहि सामान्यशब्दभेदं विना लिङ्ग-वचनभेदमात्रं न दुष्टम् । इह हि का दुष्टता । यथा—

अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः ।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव ।।

है । जहाँ उपमान में अधिकता होगी, वहाँ उपमेय में हीनता अवश्य होगी; और जहाँ उपमान में हीनता होगी, वहाँ उपमेय में अधिकता अवश्य होगी । अतः 'विपर्यय' का इन दोनों में अन्तर्भाव होने के कारण उसे अलग दोष मानना उचित नहीं है :

अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाऽऽख्यस्य दोषस्याऽन्तर्भावान्न पृथगुपादानम् । अतएवा-ऽस्माकं मते षड् दोषा इति । का० सू० ४।२।११।

४. रुद्रट ने उपमा के चार दोष गिनाये हैं—सामान्य शब्द-भेद, वैषम्य, असम्भव और अप्रसिद्ध । इनके मत में यही चार दोष ही पर्याप्त हैं । रुद्रट-प्रणीत 'काव्यालंकार' के टीकाकार नमिसाधु ने भामह-प्रस्तुत सात उपमा-दोषों में से छः दोषों का इन्हीं चार दोषों में अन्तर्भाव दिखाया है । दोष-मर्मज्ञता की दृष्टि से यह विवेचन अवेक्षणीय है—

(क) उपमेय और उपमान का पारस्परिक लिंग और वचन का भेद सामान्य-शब्दभेद के आधार पर ही सदोष होता है, अन्यथा नहीं । जैसे **'चन्द्रकलेव सुगौरः'** यहाँ लिंगभेद, और **'कुवलयदलमिव दीर्घे तव नयने'** यहाँ वचनभेद तो सदोष हैं; पर 'अन्यदा भूषणं पुंसां शमो लज्जेव योषितः' में पुमान् और योषित में, शमः, लज्जा और भूषणाम् में लिंगभेद होने पर भी कोई दोष नहीं है । (तुलनार्थ—का० द० २।५२,५३,५५ : प्रभा टीका) इसके अतिरिक्त 'सामान्य शब्दभेद' में न केवल उपमेय-उपमान में लिंग, वचन का भेद सम्मिलित है; अपितु काल, कारक और विभक्ति का भेद भी सम्मिलित है ।

(ख) उपमेय के विशेषणों की अपेक्षा उपमान के विशेषणों की हीनता और अधिकता नामक दोष साम्याभाव अथवा वैषम्य पर ही आश्रित है ।

(ग) उपमेय और उपमान की हीनता और अधिकता का 'विपर्यय' नामक दोष अप्रसिद्धि के अन्तर्गत आ जाता है । और फिर कभी-कभी निन्दा अथवा स्तुति की इच्छा से जान-बूझकर भी तो उपमान को हीन अथवा अधिक बनाना पड़ता है, जैसे—

निशि चण्डाल इवायं मारयति वियोगिनीश्चन्द्रः ।

किं च लिङ्गवचनभेदे दोषत्वेनाश्रीयमाणे कालकारकविभक्तिभेदा नाश्रिताः। सामान्यशब्दभेदे तु तेऽपि संगृहीताः। तथा हीनताधिक्ये चोपमानोपमेयसाम्याभावाद्दोषत्वेनाश्रिते परेण। तत्र च वैषम्यमेवोभयदोषसंग्राहकमेकमुक्तमस्माभिः। तथा योऽपि हीनताधिक्यविशिष्टो विपर्यय उक्तः सोऽपि न तावन्मात्रेण दोषहेतुः अतिप्रसङ्गात्। अपि त्वप्रसिद्धित एव। अन्यथा हि निन्दास्तुती यत्र चिकीर्षिते भवतस्तत्रापि यथाक्रमं

(घ) भामह का 'असादृश्य' दोष अमान्य है। ऐसा कौन है जो उपमा-लक्षण को जानता हुआ भी सादृश्याभाव में उपमा का उदाहरण प्रस्तुत करेगा; और फिर सदृश उपमान भी यदि अप्रसिद्ध हो तो उसकी स्थापना अशास्त्रीय ही नहीं, अवांछनीय भी है।

(ङ) शेष रहा भामह का असम्भव दोष, तो वह रुद्रट को स्वीकार है।

५. आनन्दवर्द्धन ने अलंकार-दोषों का पृथग् रूप से कहीं निर्देश नहीं किया। उन्होंने शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के प्रयोग के विषय में कुछ सीमाएँ निर्धारित की हैं।[1] उदाहरणतया—शृंगार रस में अनुप्रास अलंकार का प्रयोग रस का अभिव्यंजक नहीं है; शृंगार विशेषतः विप्रलम्भ शृंगार में यमक आदि का निबन्धन समुचित नहीं है। रूपकादि अर्थालंकारों की अलंकारता उनके रसानुकूल प्रयोग में ही निहित है—उनकी विवक्षा सदा रसपरक हो; प्रधान रूप से किसी भी दशा में न हो; उनका उचित समय पर ग्रहण और त्याग होना चाहिए तथा आद्यन्त उनके निर्वाह की इच्छा नहीं करनी चाहिए। इन सीमाओं और नियमों के उल्लंघन को अलंकार-दोषों के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

६. भोजराज ने वाक्यगत और वाक्यार्थगत दोषों के अन्तर्गत प्राचीन आचार्यों द्वारा सम्मत छः उपमादोषों को भी स्थान दिया है।[2] इस प्रसंग में उनकी अपनी कुछ भी मौलिकता लक्षित नहीं होती।

७. आचार्य मम्मट तक केवल उपमादोषों का ही निर्देश होता रहा, अन्य अलंकार-दोषों का नहीं। अलंकारों में उपमा का प्राधान्य ही इस एकाधिकार का सम्भव कारण है। मम्मट ने उपमा तथा अन्य अलंकार-दोषों की चर्चा करते हुए भी इन सबका अन्तर्भाव स्वसम्मत दोषों में इस प्रकार दिखाया है—[3]

(क) अनुप्रास के तीन दोषों—प्रसिद्ध्यभाव, वैफल्य और वृत्तिविरोध का क्रमशः प्रसिद्धिविरुद्धता, अपुष्टार्थता और प्रतिकूलवर्णता में;

(ख) यमक को यदि श्लोक के तीन चरणों ही में रखा जाए तो इस दोष का 'अप्रयुक्त' दोष में;

---

१. ध्वन्या० २।१४-१९। २. स० क० भ० १।२५, २६; ५१, ५२।
३. का० प्र० १०।१४२ तथा वृत्ति।

निकृष्टस्योत्कृष्टस्य चोपमानस्य दुष्टत्वं स्यात्। यथा—

> चतुरसखीजनवचनैरतिवाहितवासरा विनोदेन।
> निशि चण्डाल इवायं मारयति वियोगिनीश्चन्द्रः॥

स्तुतौ यथा—

> जित्वा सपत्नानुक्षायं धेन्वा सह विराजते।
> यथा क्षपितदैत्येन्द्रः श्रिया साकं जनार्दनः॥

(ग) उपमा के प्रकरण में जाति और प्रमाण में न्यूनता व अधिकता होने पर उनका 'अनुचितार्थता' में; साधारण धर्म में न्यूनता अथवा अधिकता होने पर उनका क्रमशः हीनपदता और अधिकपदता में; लिंगवचनभेद और कालपुरुषविधि आदि भेदों का 'प्रक्रमभंगता' में; असादृश्य और असम्भव का 'अनुचितार्थ' में;

(घ) उत्पेक्षा अलंकार में ध्रुव, इव आदि वाचक शब्दों के स्थान पर यथा आदि शब्दों का प्रयोग करना दोषयुक्त है। इस दोष का 'अवाचकत्व' में; उत्प्रेक्षा अलंकार में असम्भावित पदार्थ का समर्थन अर्थान्तरन्यास अलंकार से करना सदोष है, इस दोष का 'अनुचितार्थत्व' में;

(ङ) समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकारों में क्रमशः उपमान और उपमेय का शब्द द्वारा कथन सदोष है, इन दोषों का अपुष्टार्थता अथवा पुनरुक्ति में अन्तर्भाव बड़ी सरलता से किया जा सकता है।

विश्वनाथ ने इसी विषय में मम्मट का ही अनुकरण किया है—

एभ्यः पृथगलंकारदोषाणां नैव सम्भवः॥ (सा० द० ७म परि० पृष्ठ ४०)

इसी प्रसंग में नमिसाधु ने कतिपय उपमा-दोषों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

१. लिङ्गभेद उपमा-दोष का उदाहरण—

'भक्षिताः सक्तवो···'—हे राजन्! मैंने कुलवधू की तरह स्वच्छ, सौतेली माता के समान स्नेह-(चिकनाहट-)रहित और दूसरे के कार्य की तरह शीतल सत्तू खाये।

यहाँ 'कुलवधूः' (उपमान) और 'शुद्धाः' (उपमेय) में लिङ्गभेद है। 'परमाता' (उपमान) और 'निस्स्नेहाः' (उपमेय) में तथा 'परकार्य' (उपमान) और 'शीतलाः' (उपमेय) में लिङ्ग-भेद और वचन-भेद हैं।

जहाँ उपमेय की अपेक्षा उपमान में न्यून विशेषण हो वहाँ हीनोपमा दोष होता है, जहाँ अधिक विशेषण हों वहाँ अधिकोपमा दोष होता है।

२. हीनोपमा दोष का उदाहरण—

'मारुतकम्पित पीतवासाः···'—वायु से कम्पित पीताम्बर को धारण करते हुए, शार्ङ्ग-[धनुष-]धारी, चन्द्र के समान धवल शंख को लीला से ग्रहण किये हुए, यदुवंशी, श्रेष्ठ वीर श्रीकृष्ण इस प्रकार शोभित हो रहे थे, जैसे इन्द्रधनुष से मेघ शोभित होता है।

न चात्र काचिददुष्टता । यस्त्वर्थो यत्रोपमानत्वेन न प्रसिद्धः स सादृश्ये सत्यपि न कर्तव्यः । तथाहि सिंहादधिकोऽपि शरभः शौर्येणोपमानं न केनचिन्निबद्धः । असादृश्यस्य तु दोषत्वेऽप्युपमानलक्षणेनैव निरस्तत्वादिहोपादानमनर्थकम् । को हि ज्ञातोपमालक्षणः सादृश्याभावे उपमां कुर्वीत । तस्मादेतन्निरासाच्चत्वार एवामी दोषाः, न तु सप्तेति स्थितम् । अत एव नासम्यगित्युक्तम् ॥

---

३. अधिकोपमा दोष का उदाहरण—

'स पीतवासा…'—पीताम्बरधारी, शार्ङ्ग [धनुष] को ग्रहण करने वाले श्रीकृष्ण का सुन्दर शरीर इस प्रकार शोभित हो रहा था, जैसे रात में इन्द्रधनुष, विद्युत् एवं चन्द्र से सम्पृक्त मेघ शोभा देता है ।

यहाँ मेघ (उपमान) में चन्द्रमा की स्थिति श्रीकृष्ण (उपमेय) की अपेक्षा अधिक रूप में वर्णित है ।

४. असम्भव उपमा-दोष का उदाहरण—

'निपेतुरास्यादिव…'—धनुषों के मध्य में स्थित उसके मुख से मानो प्रज्वलित बाण गिर रहे थे, जैसे दिन के मध्य में स्थित मण्डलाकार सूर्य से अत्युष्ण जल-धाराएँ गिरती हैं ।

यहाँ न तो जल-धाराओं की जाज्वल्यमानता सम्भव है और न रवि-बिम्ब से जलधाराओं का गिरना ।

उपमेय की अपेक्षा उपमान को हीन अथवा उत्कृष्ट दिखाना विपर्यय नामक उपमा-दोष है ।

५. हीन-विपर्यय उपमा-दोष का उदाहरण—

'स्फुरन्ति निखिलाः…'—नीले आकाश में रात्रि के समय समस्तत ारासमूह इस प्रकार दीप्ति को धारण कर रहा था, जैसे सूर्य की किरणों के स्पर्श से कीचड़ में कीड़े ।

६. उत्कृष्ट विपर्यय उपमा-दोष का उदाहरण—

'अयं पद्मासनासीनः…'—यह कमल के आसन पर स्थित चकवा ऐसे शोभित हो रहा है, जैसे कल्प के आदि में प्रजा के निर्माण की इच्छा से [कमलासन] ब्रह्मा ।

यद्यपि ऐसे स्थलों में विपर्यय दोष के स्थान पर व्यतिरेक अलंकार की स्थिति स्वीकार की जानी चाहिए, किन्तु इन दोनों स्थलों में व्यतिरेक-जन्य चमत्कार का अभाव ही इस दोष का कारण है ।

जहाँ उपमान और उपमेय में साम्य न हो वहाँ असाध्य उपमा-दोष होता है ।

७. असादृश्य उपमा-दोष का उदाहरण—

'वनेऽथ तस्मिन्…'—उस वन में, बहते हुए मदजल से आर्द्र गण्डस्थल वाले हाथी अपनी स्त्रियों के साथ, तथा विचित्र वर्ण के पंखों से भूषित मोर इस प्रकार

इदानीमेतेषामेव दोषाणां लक्षणमाह—

सामान्यशब्दभेदः सोऽयं यत्रापरत्र शक्येत ।
योजयितुं नाभग्नं तत्सामान्याभिधायिपदम् ॥२५॥

सामान्येति । सोऽयं सामान्यशब्दभेदाख्यो दोषः, यत्र तयोरुपमानोपमेययोः सामान्यवाचिपदं यावन्न भग्नं तावदपरत्रोपमाने योजयितुं वाचकीकर्तुं न शक्यते ॥

शोभित हो रहे थे, जैसे आकाश में स्वच्छ देहधारी ग्रह ।

हाथियों और मोरों की ग्रहों के साथ कोई समानता नहीं है ।

८. नियत लिङ्गोपमा दोषाभाव का उदाहरण—

'अन्यदा भूषणं पुंसाम्···'—किसी और ही समय पर क्षमा पुरुष का इस प्रकार भूषण होती है जिस प्रकार लज्जा स्त्री का । अपमान होने पर पराक्रम [पुरुष का] इस प्रकार भूषण है जिस प्रकार सुरतकाल में निर्लज्जता [स्त्री का] ।

यहाँ क्षमा [उपमेय] और लज्जा [उपमान] में तथा पराक्रम (उपमेय) और वैयात्य (उपमान) में लिङ्ग-भेद होने पर भी लिङ्गोपमा दोष नहीं है, क्योंकि इन शब्दों के लिङ्ग नियत हैं ।

९. हीनोपमा दोषाभाव का उदाहरण—

'चतुरसखी जनवचनैः···'—चतुर सखियों की [सरस] बातों से दिन का समय विनोद में बिताने वाली वियोगिनी ललनाओं को रात्रि के समय चन्द्रमा चाण्डाल के समान मार डालता है ।

यहाँ यद्यपि चन्द्रमा की उपमा चाण्डाल के साथ दी गयी है और इस प्रकार चन्द्रमा की निन्दा व्यक्त की गयी है, किन्तु 'मार डालने' के प्रसंग में ऐसी उपमा में हीनोपमा दोष नहीं मानना चाहिए ।

१०. अधिकोपमा दोषाभाव का उदाहरण—

[यह राजा] अपने शत्रुओं का नाश करते हुए [उन्हें] जीतकर इस प्रकार शोभित हो रहा है जैसे विष्णु भगवान् दैत्यराज को विनष्ट करने के उपरान्त लक्ष्मी के साथ [शोभित] होते हैं ।

राजा की उपमा विष्णु भगवान् से करना यद्यपि अधिकोपमा दोष का सूचक है, तथापि विजय के प्रसंग में ऐसा करना अनुचित नहीं है ।

१. सामान्य शब्द भेद

जहां [उपमान और उपमेय के] सामान्य वाचक शब्द को जब तक भग्न न किया जाए तब तक वह अपरत्र [उपमान के पक्ष में] योजित न किया जा सके ।२५।

अथ सामान्याभिधायिपदभेदे हेतुमाह—

तल्लिङ्गकालकारकविभक्तिवचनान्यभावसद्भावात् ।
उभयोः समानयोरिति तस्यां भिद्येत किंचित्तु ॥२६॥

तदिति तत्सामान्याभिधायिपदं लिङ्गादीनामन्यथात्वाद्धेतोस्तस्यामुपमायां भिद्येत। ननु तर्हि वैषम्यमेवेदं तत्किमस्य पृथक्पाठेनेत्याह-उभयोरुपमानोपमेययोः। समानयोरिति। वैषम्ये पुनरुभे अप्यसमाने ते। तर्हि लिङ्गादिभेद एव स्वरूपेण किं नोक्त इत्याह—भिद्येत किंचित्तु। तुरवधारणे। तत्सामान्याभिधायिपदं लिङ्गादिभेदेऽपि किंचिदेव भिद्यते, न सर्वम्। ततो यत्रैव तस्य भेदस्तत्रैव दोषः, न सर्वत्र ॥

एतदुदाहरणानि यथाक्रममाह—

चन्द्रकलेव सुगौरो वात इव जगाम यः समुत्सृज्य ।
दहतु शिखीव स कामं जीवयसि सुधेव मामालि ॥२७॥

चन्द्रकलेति। काचिद्विरहिणी सखीं ब्रूते—आलि सखि, यथा चन्द्रकला सुगौरी तथायं सुगौरः। इति लिङ्गभेदे। यथा वातो गच्छति तथा मां समुत्सृज्य यो जगाम। इति कालभेदे। भूतकालो वर्तमानेन भग्नः सन्नुपमाने योज्यते। दहतु शिखीव स कामम्। इति कारकभेदे। विधिविशिष्टो हि कर्ता कर्तृमात्रेण शिखिनोपमितोऽत्र। जीवयसि सुधेव मामालि। इति विभक्तिभेदे। मध्यमपुरुषो हि प्रथमपुरुषेण विपरिणम्योपमाने योज्यते।

इन दोनों समान पक्षों [उपमान और उपमेय] में लिङ्ग, काल, कारक, विभक्ति और वचन के अभाव और सद्भाव के कारण (अर्थात् उपमान में जो लिङ्ग आदि हों वे उपमेय में न हों) उस [उपमा के चमत्कार] में कुछ अन्तर पड़ जाता है।२६।

उदाहरण—

[कोई विरहिणी अपनी सखी से कहती है—] हे सखि, वह चन्द्रमा की कला के समान गौरवर्ण है, वह मुझे वायु के समान छोड़कर चला गया है। भले ही वह मुझे अग्नि के समान जला दे, किन्तु तू मुझे अमृत के समान जीवित रखती है।२७।

जैसे चन्द्रकला सुगौरी है, उसी प्रकार वह नायक सुगौर है—इस प्रकार 'सुगौर' इस सामान्य शब्द का भेद करने पर ही यह उपमान पर घटित होता है और यह भेद लिंगगत है—चन्द्रकला (स्त्री०) सुगौरी है तो नायक सुगौर (पु०)। इसी प्रकार 'जगाम' का अर्थ वायु के पक्ष में 'जाता है' संगत है और नायक के पक्ष में 'गया'। यह कालगत भेद है। अग्नि के समान वह जलाए (दहतु)। यह कारक भेद का उदाहरण है, क्योंकि नायक विशिष्ट विधि करता है, अर्थात् जलाने का कार्य स्वयं कर सकता है, किन्तु अग्नि कर्तृमात्र है अर्थात् उसका कर्तृत्व स्वाधीन नहीं है, उसमें

कुवलयदलमिव दीर्घे तव नयने इत्ययं तु सुव्यक्तः ।
युक्त्या तावद्दोषो विद्वद्भिरपि प्रयुक्तश्च ॥२८॥

कुवलयेति । कुवलयदलमिव दीर्घे तव नयने । इति वचनभेदे । दीर्घे इति द्विवचनान्तं ह्येकवचनान्तं कृत्वा योज्यते । नन्वेवं लिङ्गादिभेदे दोषीकृते महाकविलक्ष्यम् 'तां हंसमालाः शरदीव गंगाम्' इत्यादिकं कालादिभेदस्य विद्यमानत्वात्प्रायशः सर्वमेव दूष्यत इत्याह—इत्ययं त्वित्यादि । तुरवधारणे । युक्त्या तावदयं सुव्यक्त एव दोषः । ततोऽस्माभिरुक्तः । उक्तं च पूर्वमेव 'काव्यालंकारोऽयं ग्रन्थः क्रियते यथायुक्ति' (१।२) इति । विद्वद्भिरपि प्रयुक्तश्चेत्यनेन दोषस्याप्यपरिहार्यतामाह ॥

वैषम्यमाह—

अकृतविशेषणमेकं यत्स्यादुभयोस्तदन्यवैषम्यम् ।
संभवति कल्पितायामुत्पाद्यायां च नान्यत्र ॥२९॥

अकृतेति । उभयोरुपमानोपमेययोर्मध्यादेकमुपमानमुपमेयं वा निर्विशेषणं भवेत्तदस्याकृतविशेषणस्य कृतविशेषणेन सह वैषम्यम् । तच्च कल्पितायामुत्पाद्यायां चोपमायां संभवति ॥

कुछ आ पड़ता है तो जल जाता है । अतः यह उपमा समुचित नहीं है ।

तू मुझे अमृत के समान जीवित रखती है । यहाँ नमिसाधु ने विभक्तिभेद माना है । विभक्ति में उनका तात्पर्य पुरुष-भेद से है । सुधा (उपमान) प्रथम पुरुष है और जीवयसि (इस क्रिया का कर्ता : उपमेय) मध्यम पुरुष में है । अतः यह प्रयोग सदोष है ।

तुम्हारे नेत्र कमल के पत्ते के समान दीर्घ हैं [इसमें वचन-भेद है—] इस युक्ति से यह तो स्पष्ट दोष है ही, और इसी प्रकार के दोष विद्वानों (सुकवियों) द्वारा भी प्रयुक्त किये गये हैं [जो कि स्थिति के अनुकूल दोष, दोषाभाव अथवा गुण माने जाने चाहिएं] ।२८।

२. वैषम्य

[उपमान और उपमेय में से यदि] कोई एक विशेषण-रहित [प्रस्तुत किया गया] हो तो इसका सविशेषण [उपमेय अथवा उपमान] के साथ [संयोजन] वैषम्य उपमा-दोष कहाता है, और यह दोष कल्पित और उत्पाद्य दो रूप में होता है अन्यत्र नहीं होता ।२९।

विपरीतरते सुतनोरायस्ताया विभाति मुखमस्याः ।
श्रमवारिबिन्दुजालकलाञ्छितमिव कमलमुत्फुल्लम् ।।३०।।

विपरीतरत इति । इवशब्दो भिन्नक्रमे । कमलस्योपमानस्य न किंचिदवश्याय-जलकणनिकुरम्बाञ्चितत्वादिकं कृतम् । कल्पितोपमेयम् ।।

उत्पाद्यामाह—

मुक्ताफलजालचितं यदीन्दुबिम्बं भवेत्ततस्तेन ।
विपरीतरते सुतनोरुपमीयेताननं तस्याः ।।३१।।

मुक्ताफलेति । अत्रोपमानस्येन्दुबिम्बस्य मुक्ताफलजालचितमिति विशेषणं कृतम् न तु मुखस्योपमेयस्य श्रमवारिकणचितत्वादि ।।

अथासंभवः—

उपमानं यत्र स्यादसंभवत्तद्विशेषणं नियमात् ।
संभूतमयद्यर्थं विज्ञेयोऽसंभवः स इति ।।३२।।

उपमानमिति । स इत्यनेन प्रकारेणासंभवो नाम दोषः । यत्रोपमानमसंभवत्त-द्विशेषणमसंभाव्यविवक्षितधर्मकमपि नियमान्निश्चयेन संभूतं तद्विशेषणयुक्तं स्यात् । ननु तर्हि **'पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्'** इत्याद्यपि दुष्टं स्यादित्याह—अयद्यर्थम् । यद्यर्थविकलं यदि क्रियते । सयद्यर्थे तु न दोषः ।"

उदाहरण (कल्पित वैषम्य)—

विपरीत सुरत में इस थकी हुई सुकुमारी का मुख जो कि पसीने की बूँदों के समूह से चिह्नित है खिले हुए कमल के समान शोभित हो रहा है ।३०।

मुख का विशेषण तो निर्दिष्ट किया गया है, किन्तु कमल का नहीं किया गया कि यह भी ओस की बूंदों से युक्त है, और यदि ऐसा किया भी जाता तो कमल-पक्ष में श्रम का कोई कारण भी बताना पड़ता जो कि सामान्यतः सम्भव नहीं है ।

उदाहरण (उत्पाद्य वैषम्य)—

यदि चन्द्रमा का बिम्ब मोतियों के समूह से युक्त हो तो विपरीत सुरत के उपरान्त इस सुकुमारी के मुख की उपमा इससे दी जा सकती है ।३१।

३. असम्भव

जहाँ ऐसा उपमान प्रयोग किया जाए जिसके विशेषण ['यद्यर्थ' में तो सम्भव हो, किन्तु] यद्यर्थ के बिना निश्चयपूर्वक असम्भव हों वहाँ असम्भव उपमा-दोष होता है ।३२।

'यद्यर्थ' का तात्पर्य है—यदि ऐसा हो तो ।

उदाहरणमाह—

सुतनुरियं विमलाम्बरलक्ष्योरुमृणालमूललालित्या ।
अजलप्रकृतिरदूरस्थितमित्रा गगननलिनीव ॥३३॥

सुतनुरिति । अत्र विशेषणत्रयमपि तन्वीगगननलिन्योः समानम् । परं यदि गगने नलिनी संभवेत्तदा तन्वीसदृशी भवेत् । अतो यद्यर्थं विना दुष्टता ॥

अथाप्रसिद्धिः—

उपमानतया लोके वाच्यस्य न तादृशं प्रसिद्धं यत् ।
क्रियते यत्र तदुत्कटसामान्यतयाप्रसिद्धिः सा ॥३४॥

उपमानतयेति । यत्किमपि वस्तु लोके वाच्यस्योपमेयार्थस्योपमानतया न प्रसिद्धमथ च तथा क्रियते सा प्रसिद्धिर्दोषः । कदाचिद्वाच्येन सह विसदृशं स्यादथवा तादृशं तुल्यमपि यदि न प्रसिद्धं कथं क्रियत इत्याह—उत्कटसामान्यतया । अतिसादृश्यादित्यर्थः ॥

उदाहरण—

यह सुकुमारी आकाश में स्थित कमलिनी के समान है, क्योंकि यह स्वच्छ अम्बर (वस्त्र, पक्षे आकाश) से लक्षित उरू (जंघा) रूपी बिस-मूल से ललित प्रतीत होती है (पक्षे उरू—विशाल) । [स्थलस्थित होने के कारण यह जल प्रकृति वाली नहीं है (उधर गगनस्थित कमलिनी भी जल में स्थित नहीं होती) । इसका मित्र (नायक) पास ही ठहरा है (उधर गगननलिनी के पास ही मित्र अर्थात् सूर्य का वास होता है ।३३।

यहाँ तीनों विशेषण सुकुमारी और गगन-नलिनी में समान हैं । किन्तु यदि गगन में नलिनी होती तो—इस प्रकार के ['यद्यर्थ' के] अभाव में यह पद्य सदोष है, क्योंकि गगन में 'नलिनी' का होना सम्भव नहीं होता । जिन पद्यों में 'यद्यर्थ' का प्रयोग किया जाता है वहाँ यह दोष नहीं होता । उदाहरणार्थ—उपर्युक्त 'पुष्पं प्रवालोपहितं···' के बाद अगले दो पाद इस प्रकार हैं—

तेनानुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रोऽठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ।

अर्थात् यदि पुष्प को पत्ते पर रखा जाए, अथवा मोती को स्वच्छ नीलमणि पर रखा जाए तब वह उस नायिका के ताम्र के समान [अरुण] ओष्ठों के चारों ओर फैली हुई मुस्कान की कान्ति का अनुकरण कर सकता है ।

उदाहरणमाह—

पद्मासनसंनिहितो भाति ब्रह्मेव चक्रवाकोऽयम् ।
श्वपचश्यामं वन्दे हरिमिन्दुसितो बकोऽयमिति ।।३५।।

पद्मेति । इह ब्रह्मकेशवचन्द्राणां क्रमेण पद्मासनत्वेन श्यामत्वेन सितत्वेन च चक्रवाकश्वपचबकाः समाना अपि न तदुपमानत्वेन प्रसिद्धाः । यत्र तु प्रसिद्धिस्तत्र भवत्येव । यथा—

नमामि शंकरं काशसंकाशं शशिशेखरम् ।
नमो नुताय गीर्वाणैरलिनीलाय विष्णवे ।।

इत्यादि । ननु कथम्

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि ।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ।।

इत्यादिष्वौपम्यम् । अत्र ह्येकत्र विधिरपरत्र निषेधः । यथा शमीतरुमग्निर्दहत्येवं त्वां मन्युः कथं न दहतीति । सत्यम् । प्रथममौपम्ये विहिते पश्चादुपमेयप्रतिषेधे न किंचिदनुपपन्नम् । केचित्तु व्यतिरेकोऽयमित्याहुः ।।

अथ सर्वमेव शास्त्रोक्तमुपसंहरन्नाह—

शब्दार्थयोरिति निरूप्य विभक्तरूपा-
न्दोषान्गुणांश्च निपुणो विसृजन्नसारम् ।
सारं समाहितमनाः परमाददानः
कुर्वीत काव्यमविनाशि यशोऽधिगन्तुम् ।।३६।।

---

४. अप्रसिद्धि

यदि कोई उपमान [किसी] उपमेय के अति सदृश होने पर भी लोक में [उस उपमेय के] उपमान के रूप में प्रसिद्ध न हो, फिर भी [उसे] उपमान रूप में [वर्णित] किया जाए वहाँ अप्रसिद्धि नामक उपमा-दोष होता है ।३४।

उदाहरण—

यह चकवा ब्रह्मा के समान शोभित होता है, [ब्रह्मा पद्मासन पर स्थित होता है और] यह पद्म रूपी आसन पर स्थित है । मैं विष्णु को नमस्कार करता हूँ जो चण्डाल के समान श्याम-वर्ण है । यह बगला चन्द्रमा के समान श्वेत-वर्ण है ।३५।

यहाँ ब्रह्मा की उपमा चकवे से, विष्णु की चण्डाल से और बगले की चन्द्रमा से से यद्यपि सकारण है तो भी ये सभी उपमान तथा उपमेय एक-दूसरे के प्रति अप्रसिद्ध हैं ।

उपसंहार

इस प्रकार निपुण तथा सावधान मन वाला [कवि] शब्द और अर्थ के अलग-

शब्दार्थयोरिति। इति पूर्वोक्तेन युक्तिमता प्रकारेण शब्दार्थयोर्दोषान्गुणांश्च निपुणः प्रवीणः कविर्निरूप्य पर्यालोच्य। किंभूतान्। विभक्तरूपान्विभागेन स्थितरूपान्। शब्दस्य हि वक्रोक्त्यादयः पञ्च गुणाः। दोषास्त्वसमर्थादयः षट्। अर्थस्य पुनर्गुणा वास्तवादयश्चत्वारः। दोषास्त्वपहेतुत्वादयो नव। ततश्चासारं दोषान्विसृजन्, परमुत्कृष्टं सारमलंकारानाददानो गृह्णन्। किंभूतः सन्। समाहितं सावधानं मनो यस्य स तथाविधः। अनवधाने हि महाकवीनामपि स्खलितं भवति। किमर्थं पुनरेवं कुर्वीतित्याह—अविनाश्यविनश्वरं यशः प्राप्तुमिति। अत्र च वास्तवादीनां चतुर्णामपि ये सहोक्त्यादयः प्रभेदा उक्तास्ते बाहुल्यतो न पुनरेतावन्त एव। उक्तं च—**न हुघट्ट इताणअवही नयने दीसन्ति कहवि पुणरुत्ता। जेवि सनापिय आणं अत्था वा सुकइवाणीए**॥ ततो यावन्तो हृदयावर्जका अर्थप्रकारास्तावन्तोऽलंकाराः। तेनेत्याद्यपि सिद्धं भवति यथा—

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः
सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशा न तप्तं तपः।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शंभोः पदं
तत्तत्कर्म कृतं परानतिपरैस्तैस्तैः फलैर्वञ्चितम्॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतो एकादशोऽध्यायः समाप्तः।

अलग रूप में स्थित दोषों और गुणों का पर्यालोचन करके असार (दोषों) को छोड़ता हुआ तथा उत्कृष्ट सार (गुणों, अलंकारों आदि) को ग्रहण करता हुआ अनश्वर यश को प्राप्त करने के लिए काव्य की रचना करे।३६।

इसी प्रसंग में नमि साधु का कहना है कि रुद्रट-प्रस्तुत अलंकार ही अलम् नहीं हैं, अपितु 'जितने भी हृदय को आकृष्ट करने वाले अर्थ-प्रकार हैं उतने ही अलंकार बन सकते हैं।' उनका यह कथन दण्डी के इस कथन के ठीक अनुरूप है—**अस्त्यनेको गिरां मार्गः।** (काव्यादर्श १।४०) नमिसाधु-प्रस्तुत एक पद्य का अर्थ लीजिए जिसमें हमारे विचार में विशेषोक्ति अलंकार का चमत्कार द्रष्टव्य है—

'क्षान्तं न क्षमया···'—अर्थात् हमने कष्ट तो सहे पर क्षमा-पूर्वक नहीं। [अपितु दूसरों पर कृतज्ञता लादते हुए]। हमने गृह से प्राप्त सुखों को छोड़ा तो है, किन्तु सन्तोष-पूर्वक नहीं। हमने सहे तो हैं किन्तु कठिन शीत, वायु, ग्रीष्म के क्लेश नहीं सहे, तपा तो है, पर तप नहीं तथा, प्राणों की बाज़ी लगा कर रात-दिन ध्यान तो किया है, पर धन का न कि महादेव के चरणों का, दूसरों के आगे झुकते हुए हमने कई प्रकार के कार्य किये हैं पर उनके फल से वञ्चित रहे हैं।

इति 'अंशुप्रभा' ऽऽख्य-हिन्दी-व्याख्यायामेकादशोऽध्यायः समाप्तः।

द्वादशोऽध्यायः

ननु काव्यकरणे कवेः पूर्वमेव फलमुक्तम्, श्रोतृणां तु किं फलमित्याह—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥१॥

नन्विति । ननुशब्दः पृष्टप्रतिवचने । काव्येन हेतुना चतुर्वर्गे धर्मार्थकाममोक्षलक्षणेऽवगमोऽवबोधः क्रियते । ननु तत्र धर्मादिशास्त्राण्येव हेतुरस्ति, किं काव्येनेत्याह—लघु मृदु चेति क्रियाविशेषणम् । शीघ्रं कोमलोपायं च यथा भवतीत्यर्थः । तथापि धर्मादिसारसंग्रहशास्त्रेभ्यो लघु मृदु च भविष्यतीत्याह—सरसानां शृंगारादिप्रियाणाम् । धर्मादिशास्त्रेभ्यस्तेषामपि किं न भवतीत्याह—नीरसेभ्यः शास्त्रेभ्यो हि यस्मात्ते सरसास्त्रस्यन्ति बिभ्यति ॥

ततः किमित्याह—

तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात् ॥२॥

द्वादश अध्याय

इस ग्रन्थ के अग्रिम चार अध्यायों में रस-निरूपण है । इस अध्याय में सर्वप्रथम काव्य-प्रयोजन प्रस्तुत किया गया । फिर रस की अनिवार्यता पर संकेत किया गया है । ये दोनों स्थल वस्तुतः रस-प्रकरण की भूमिका ही हैं । इसके बाद दस रसों का नाम-निर्देश है । फिर लौकिक रस और काव्य रस में साम्य का संकेत किया गया है । इसके उपरान्त शृंगार रस का प्रकरण प्रारम्भ हो जाता है, और इसी के ही अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद-प्रसंग का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है ।

१. काव्य का प्रयोजन

काव्य के द्वारा सरस जनों—रसिकों का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्ग में ज्ञान कराया जाता है । इससे शीघ्र और सरलतापूर्वक ज्ञान हो जाता है । रसिक लोग नीरस शास्त्रों से डरते हैं ।१।

२. काव्य में रस की अनिवार्यता

इसके लिए काव्य को महान् प्रयत्न से रसयुक्त बनाना चाहिए । अन्यथा शास्त्र की भाँति इससे भी भय होगा ।२।

तस्मादिति । गतार्थम् । नन्वेवं सति सरसार्थमेव काव्यं स्यान्न तु नीरसार्थमिति नास्य सर्वजनीनत्वं स्यात् । नैष दोषः । सरसानां प्रवृत्त्युपाय एषोऽस्माभिरुक्तः, न तु नीरसप्रवृत्तिनिषेधः कृत इति । तेऽपि प्रवर्तन्त एव । अथालंकारमध्य एव रसा अपि किं नोक्ताः । उच्यते—काव्यस्य हि शब्दार्थौ शरीरम् । तस्य च वक्रोक्तिवास्तवादयः कटककुण्डलादय इव कृत्रिमा अलंकाराः । रसास्तु सौन्दर्यादय इव सहजा गुणाः इति भिन्नस्तत्प्रकरणारम्भः ॥

रसके प्रति इस प्रकार के समादर-पूर्ण कथन रुद्रट से पूर्व भरत, भामह, दण्डी और उद्‌भट के ग्रन्थों में, और रुद्रट के उपरान्त आनन्दवर्धन, कुन्तक, अग्निपुराणकार, मम्मट और विश्वनाथ आदि के ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में जितना समादर रस-तत्त्व को मिला उतना किसी अन्य काव्यतत्त्व को नहीं मिला। इस समादर-भाव का संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत है :

भरत को रस-तत्त्व का प्रवर्तक समझा जाता है। उन्होंने इसे नाटक के अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार किया,[1] तथा कतिपय काव्य-तत्त्वों—अलंकार, गुण, दोष के रस-संश्रयत्व पर भी उन्होंने प्रकाश डाला।[2] अलंकारवादी आचार्यों—भामह, दण्डी और उद्‌भट ने यद्यपि रस, भाव आदि को रसवद् आदि अलंकार नाम से अभिहित किया, तथापि उन्होंने अपने दृष्टिकोण से इसे समुचित समादर भी प्रदान किया। भामह और दण्डी ने इसे महाकाव्य के लिए 'एक आवश्यक तत्त्व' के रूप में स्वीकृत किया।[3] भामह के अनुसार कटु ओषधि के समान कोई शास्त्र-चर्चा भी रस के संयोग से मधुर बन जाती है।[4] दण्डी का माधुर्य गुण 'रसवत्' ही है, तथा इसकी यह रसवत्ता मधुपों के समान सहृदयों को प्रमत्त बना देती है।[5] दण्डी के

---

१. (क) एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च ।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥ ना०, शा० १।११०

(ख) बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम् ।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥ वही, १७।१२३

२. एवमेते ह्यलंकाराः गुणाः दोषाश्च कीर्तिताः ।
प्रयोगमेषां च पुनः वक्ष्यामि रससंश्रयम् ॥ वही १७।१०८

३. (क) युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् । का० अ० १।२१

(ख) अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ॥ का० आ० १।१८

४. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम् ॥ का० अ० ५।३

५. मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ का० आ० १।५१

'माधुर्य' गुण का एक भेद वस्तुगत माधुर्य कहाता है जिसका अपर नाम 'अग्राम्यता' है। दण्डी के शब्दों में यही अग्राम्यता काव्य में रससेचन के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली अलंकार है।[१]

इनके उपरान्त प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता रुद्रट ने अनेक स्थलों पर रस की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। भामह और दण्डी के समान इन्होंने भी रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व माना।[२] प्रथम बार इन्होंने ही वैदर्भी, पांचाली नामक रीतियों और मधुरा, ललिता वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग का निर्देश किया, शृङ्गार रस का प्राधान्य स्वीकार किया, (१४।३७, ३८) और प्रस्तुत पद्य (१२।२) में कवि को रस के लिए प्रयत्नशील रहने का आदेश दिया।

अलंकारवादी आचार्यों के उपरान्त ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा तथा रस को ध्वनि का एक भेद—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि नाम से स्वीकृत करते हुए भी रस को ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप घोषित किया। कतिपय प्रमाण लीजिए :

—वाच्यार्थों की बहुविध रचना रस के आश्रय से सुशोभित होती है।[३]

—यों तो व्यंग्यार्थ (ध्वनि) के कई भेद हैं, किन्तु रस, भाव आदि [नामक भेद] उनकी अपेक्षा कहीं [अधिक] प्रधान हैं।[४]

—रस के सम्पर्क से प्रचलित अर्थ उस प्रकार नूतन रूप में आभासित होने लगते हैं जिस प्रकार वसन्त के सम्पर्क से द्रुम।[५]

—रस, भाव आदि के विषय से सम्बद्ध रहकर ही वाच्य और वाचक की औचित्यपूर्वक [योजना होती है, और ऐसी] योजना करना महाकवि का मुख्य कर्म है।[६]

---

१. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ॥ का० आ० १।६२

२. काव्यालंकार १६।१,५

३. अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात् ॥ ध्वन्या० ४।८

४. प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपेक्षणं प्राधान्यात्।
—ध्वन्या० १।५ वृत्ति

५. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥ ध्वन्या० ४।४

६. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ॥ ध्वन्या० ३।३२

—इस व्यंग्य-व्यंजकभाव (अर्थात् ध्वनितत्त्व) के अनेक भेदों के होने पर भी कवि को केवल रसादिमय ध्वनि-काव्य में ही अवधानवान् रहना चाहिए।[1]

इसी प्रकार आनन्दवर्द्धन के प्रख्यात अनुकर्ता मम्मट ने भी रस को काव्य का सर्वोपरि प्रयोजन निर्दिष्ट किया।[2]

आनन्दवर्द्धन के उपरान्त वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' स्वीकार करते हुए भी रस को काव्य का अमृत एवं अन्तश्चमत्कार का वितानक मानते हुए प्रकारान्तर से इसे सर्वप्रमुख काव्य-प्रयोजन के रूप में घोषित किया।[3] उन्होंने उपसर्गगत और निपातगत पदवक्रता के प्रसंग में रस की चर्चा की,[4] प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता के लिए रस की अनिवार्यता का अनेक रूपों में निर्देश किया,[5] और रसवत् अलंकार को 'सब अलंकारों का जीवित' कहते हुए प्रकारान्तर से रस की उत्कृष्टता मुक्तकण्ठ से स्वीकृत की।[6]

कुन्तक के उपरान्त इस दिशा में अग्निपुराणकार ने काव्य में रस की अनिवार्यता का संकेत करते हुए कहा कि जिस प्रकार लक्ष्मी त्याग (दान) के बिना शोभित नहीं होती, उसी प्रकार वाणी भी रस के बिना शोभित नहीं होती।[7]

रस के प्रति उक्त समादर-भाव अग्निपुराणकार के समय के आसपास और अधिक उच्च रूप ग्रहण कर गया। अब रस को 'आत्मा' पद पर आसीन कर दिया गया—**वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवाऽत्र जीवितम्**। अर्थात् काव्य में यद्यपि वाणी की विदग्धता की प्रधानता (अनिवार्यता) रहती है, किन्तु उसका जीवित (आत्मा) तो रस ही है। इसी प्रकार महिमभट्ट ने भी रस को सर्वसम्मति से ही काव्य की

---

१. **व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।**
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥ ध्वन्या० ४।५

२. **सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलित-वेद्यान्तरम् आनन्दम्।** का० प्र० १म उ०

३. **चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।**
काव्यामृतरसेनाऽन्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ व० जी० १।५

४. **रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः।**
वाक्यैकजीवितत्वेन साऽपरा पदवक्रता॥ वही, २।३३

५. व० जी० ४।४, ८, १०, १६, २१

६. **यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्।**
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते॥ व० जी० ३।१४

७. **लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा।** अ० पु० ३३९।९

अथ क एते रसास्तानेवोद्दिशति—

श्रृंगारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे ॥३॥

श्रृंगारेति। गतार्थं न वरम्। श्रृंगारस्य प्राधान्यख्यापनार्थः प्रागुपन्यासः। इतिशब्द एवंप्रकारार्थः। एवं प्रकारा अन्येऽपि भावा रतिनिर्वेदस्तम्भादयः सर्वेऽपि रसा बोद्धव्याः। तत्र रत्यादयः स्थायिनः। निर्वेदादयो व्यभिचारिणः। स्तम्भादयः सात्विकाः। तद्यथा—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायिभावा रसाश्रयाः॥
निर्वेदोऽथ तथा ग्लानिः शंकासूयामदश्रमाः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च।
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थस्तथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च॥

आत्मा स्वीकृत करने का निर्देश किया—**काव्यस्यात्मनि संगिनि × × × रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।** (सा० द० १म परि०)

इधर इसी बीच 'काव्यपुरुष-रूपक' भी पूर्णतः स्थिर हो चुका था—जिसके बीज दण्डी और वामन के समय से मिलना प्रारम्भ हो गये थे।

दण्डी ने 'काव्य-शरीर' की ओर संकेत किया था तो वामन ने 'काव्यात्मा' की ओर—

(क) **शरीरं तावद् इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।** का० द० १।१०

(ख) **रीतिरात्मा काव्यस्य।** का० सू० वृ० १।२।६

राजशेखर और उनके उपरान्त विश्वनाथ ने इसी रूपक के अन्तर्गत रस को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया, (का० मी० पृ० १३-१४) और विश्वनाथ ने तो सर्वप्रथम अपना काव्यलक्षण भी इसी मान्यता के आधार पर प्रस्तुत किया—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।**

३. रसों का नाम

श्रृङ्गार, वीर, करुण, बीभत्स, भयानक, अद्भुत, हास्य, रौद्र, शान्त और प्रेयान् ये सब (दस) रस समझने चाहिएँ।३।

प्रेयान् रस का सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया है। विशेष विवरण के लिए देखिए १५।१७-१९।

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदिमे भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः ॥

तत्र शृंगारादिषु रत्यादयो यथासंख्यं भवन्ति । निर्वेदभयस्तम्भादयस्तु सर्वेष्विति ॥

ननु कथं तर्हि निर्वेदादयो रसतां यान्तीत्याह—

रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः ॥४॥

रसनामिति । आचार्यैर्भरतादिभिरेषां स्थायिभावानां रसनादास्वादनाद्धेतो रसत्वमुक्तम् । केषामिव । मधुराम्लादीनामिव । मधुरादयो ह्यास्वाद्यमानाः सन्तो रसतां यान्तीति । उक्तं च—

अनेकद्रव्यसंयुक्तैर्व्यञ्जनैर्बहुभिश्चितम् ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तभुजो यथा ॥
भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा रसान् ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

स्यादेतत् । स्थायिभावानामेव रसनं भविष्यतीत्याह—

निर्वेदादिष्वपि तद्रसनं निकाममस्तीति हेतोस्तेऽपि रसा ज्ञेयाः । यस्य तु परिपोषं न गतास्तस्य भावा एव ते अयमाशयो ग्रन्थकारस्य—यदुत नास्ति सा कापि

---

४. लौकिक रस : काव्यरस

आचार्यों ने मधुर [अम्ल, लवण] आदि की तरह इनके आनन्द-दायक होने के कारण इनको रस कहा है । यह आनन्द-प्राप्ति निर्वेद आदि से भी होती है । अतः वे भी रस हैं ।४।

रुद्रट का यह पद्य व्याख्यापेक्ष है—एषां रसनाद् (इनके आनन्ददायक होने के कारण)' में 'एषाम्' से तात्पर्य किसका है । रुद्रट के उक्त पद्य से तो प्रतीत होता है कि 'एषाम्' से उन्हें शृङ्गार, वीर आदि रस अभीष्ट हैं, किन्तु नमिसाधु की टीका में 'एषाम्' से अभिप्राय स्थायिभाव लिया गया है—जिस प्रकार [लोक में] मधुर आदि आस्वाद्यमान होते हुए रसता को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार [रत्यादि] स्थायिभाव भी रसता को प्राप्त होते हैं । देखा जाए तो नमिसाधु का दृष्टिकोण शास्त्रसंगत नहीं है, क्योंकि रति, शोक आदि स्वायिभाव जब तक विभाव आदि से पुष्ट नहीं होते, तब तक लौकिक कहाते हैं और अपनी स्थिति के अनुकूल लौकिक सुख और

चित्तवृत्तिर्या परिपोषं गता न रसीभवति। भरतेन सहृदयावर्जकत्वप्राचुर्यात्संज्ञां चाश्रित्याष्टौ नव वा रसा उक्ता इति ॥

अथ शृङ्गारलक्षणम्

व्यवहारः पुंनार्योरन्योन्यं रक्तयो रतिप्रकृतिः।
शृङ्गारः स द्वेधा संभोगो विप्रलम्भश्च ॥५॥
संभोगः संगतयोर्वियुक्तयोर्यश्च विप्रलम्भोऽसौ।
पुनरप्येष द्वेधा प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च ॥६॥

व्यवहार इति। संभोग इति गतार्थं न वरम्। मातृसुतयोः पितृदुहित्रोर्भ्रातृभगिन्योः शृङ्गारनिवृत्त्यर्थं रक्तयोरिति पदम् रतिः कामानुविद्धा प्रकृतिः कारणं यस्य। अथ शृङ्गारभेदव्याख्या संभोग इत्यादिका। पुनरप्येष इत्यादिना प्रभेदकथनम् ॥

दुःख दोनों प्रदान करते हैं, वे केवल आनन्ददायक नहीं होते। अस्तु!

इस पद्य में रुद्रट-प्रस्तुत 'निर्वेदादि' शब्द भी व्याख्यापेक्ष है। 'निर्वेद आदि' से उनका अभिप्राय शायद शान्त और प्रेयान् के स्थायिभावों—निर्वेद और स्नेह (देखिए: १५, १७। से है कि अन्य आठ [स्थायिभावों और तत्सम्बद्ध] रसों के अतिरिक्त इन दोनों को भी रस मानना चाहिए। शान्त का स्थायिभाव रुद्रट ने 'निर्वेद' न मानकर 'सम्यग् ज्ञान' माना है, अतः सम्भवतः 'निर्वेद आदि' से उक्त तात्पर्य ही लिया जा सकता है न कि निर्वेद आदि ३३ संचारी भाव कि इनके परिपोष को रस मान सकते हैं। अस्तु, इनका यह पद्य अधिक स्पष्ट नहीं है।

५. *शृङ्गार रस का लक्षण और उसके भेद-उपभेद*

दो परस्पर अनुरक्त स्त्री-पुरुषों का रतिपरक व्यवहार शृङ्गार कहलाता है। यह शृङ्गार दो प्रकार का है—सम्भोग और विप्रलम्भ।५।

दोनों के एक साथ रहने को सम्भोग और वियुक्त रहने को विप्रलम्भ कहते हैं। शृङ्गार के दो और भेद भी हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश।६।

इस प्रकार सम्भोग और विप्रलम्भ शृङ्गार—दोनों के दो-दो भेद हुए—प्रच्छन्न और प्रकाश।

६. *नायक-नायिका-भेद*

यहाँ से शृङ्गार रस के आलम्बनविभाव के अन्तर्गत रुद्रट ने नायक-नायिका-भेद का निरूपण किया है। संस्कृत-साहित्यशास्त्र में नायक-नायिका-भेद को नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र और कामशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में स्थान मिला है—

(१) नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी चार ग्रन्थ सुलभ हैं—भरत का नाट्यशास्त्र, धनंजय का दशरूपक, सागरनन्दी का नाटकलक्षणरत्नकोष और रामचन्द्र-गुणचन्द्र का

नाट्यदर्पण। इन सब में नायक-नायिका-भेद का यथास्थान निरूपण हुआ है, पर भरत के ग्रन्थ के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में अपने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रकारों का ही प्रायः अनुकरण-मात्र है।

(२) नायक-नायिका-भेद की दृष्टि से काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों के दो वर्ग हैं—

(क) शृङ्गार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद निरूपक ग्रन्थ—इन ग्रन्थों में से रुद्रट का 'काव्यालंकार', भोज का 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृङ्गारप्रकाश' तथा विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त रुद्रभट्ट, अग्नि-पुराणकार, श्रीकृष्ण कवि, वाग्भट्ट प्रथम, हेमचन्द्र, शारदातनय, विद्यानाथ, शिंगभूपाल, वाग्भट्ट द्वितीय और केशव मिश्र के काव्यशास्त्रों में भी नायक-नायिका-भेद-प्रकरण को स्थान मिला है, पर इन ग्रन्थों में इस विषय-सम्बन्धी कोई उल्लेखनीय नवीनता उपलब्ध नहीं होती।

(ख) केवल नायक-नायिका-भेद-निरूपक ग्रन्थ—इस वर्ग में दो ग्रन्थ अति प्रसिद्ध हैं—भानुमिश्र का 'रसमंजरी' और रूपगोस्वामी का 'उज्ज्वलनीलमणि'। तीसरा ग्रन्थ सन्त अकबरशाह 'बड़े साहब' का 'शृङ्गार-मंजरी' प्रसिद्धि की दृष्टि से न सही, पर विषय-व्यवस्था और कतिपय मौलिक मान्यताओं की दृष्टि से अत्यन्त सम्मान के साथ उल्लेखनीय है।

(३) कामशास्त्र-सम्बन्धी चार प्रख्यात ग्रन्थ सुलभ हैं—वात्स्यायन का 'कामसूत्र'; कक्कोक (कोका-पण्डित) का 'रतिरहस्य'; महाकवि कल्याण मल्ल का 'अनंगरंग' और ज्योतिरीश्वर का 'पंचसायक'। अन्तिम दो ग्रन्थों में नायक-नायिका-भेद का निरूपण रति-रहस्य पर आधृत है, तथा अति संक्षिप्त एवं साधारण कोटि का और लगभग एक-सा है। अस्तु !

रुद्रट से पूर्व भरत ने नाट्यशास्त्र में इस प्रसंग का विस्तृत प्रतिपादन किया है। रुद्रट के इस प्रकरण का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

(क) नायक तथा नायक-सहाय के भेद—नायक के नायिका के प्रति प्रेम-व्यवहार के आधार पर रुद्रट-निरूपित चार भेद हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। भरत-सम्मत धीरोदात्तादि चार भेदों का उल्लेख रुद्रट ने सम्भवतः जान-बूझकर नहीं किया। वस्तुतः ये भेद शृंगार रस के नायक के हैं भी नहीं। नायक के नर्मसचिव (गुप्त बातों में सहायक) के तीन भेद हैं—पीठमर्द, विट और विदूषक। भरत-सम्मत चेट को सम्भवतः हीन पात्र समझकर रुद्रट ने अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया।

(ख) नायिका-भेद—रुद्रट के अनुसार नायिका के (सामाजिक बन्धन के आधार पर) प्रमुख तीन भेद हैं—आत्मीया, परकीया और वेश्या।

आत्मीया के रति-विकास के आधार पर तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा । एक ओर मुग्धा जहाँ 'नवयौवनजनित-मन्मथोत्साहा' होती है, 'मध्या 'आविर्भूत-मन्मथोत्साहा' और 'किंचिद्धृतसुरत-चातुर्या' होती है, वहाँ प्रगल्भा 'रतिकर्म-पण्डिता' होती है, तथा नायक के अंक में द्रवित होकर यह विवेक खो बैठती है कि यह कौन है, मैं कौन हूँ और यह सब कुछ क्या हो रहा है ।

इनमें से मध्या और प्रगल्भा के [पति द्वारा प्राप्त प्रेम के आधार पर] पहले दो-दो भेद हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा; फिर इन दोनों के [मान-व्यवहार के आधार पर] तीन-तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और मध्या । इस प्रकार ये बारह भेद, और मुग्धा का एक भेद मिलकर आत्मीया के कुल तेरह भेद हुए ।

परकीया के दो भेद हैं—कन्या और अन्योढा; तथा वेश्या का एक ही रूप है। इस प्रकार नायिका के कुल १६ भेद हुए ।

आत्मीया के रुद्रट ने फिर दो भेद माने हैं—स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका । किन्तु हमारे विचार में ये दोनों भेद परकीया और वेश्या के सम्भव नहीं हैं ।

आत्मीया, परकीया और वेश्या के दो-दो अन्य भेद इन्होंने माने हैं—अभिसारिका और खण्डिता । पर हमारे विचार में इन दोनों भेदों की संगति भी इन तीनों नायिकाओं के साथ घटित होना सम्भव नहीं है । अभिसरण का क्षेत्र परकीया तक ही सीमित है, न वेश्या को इसकी आवश्यकता है और न आत्मीया को । परिस्थितिवश कभी इन्हें अभिसरण करना भी पड़े तो हमारे विचार में काव्यशास्त्र द्वारा तत्क्षण के लिए इन्हें 'परकीया' नाम से अभिहित करने की आज्ञा मिल जानी चाहिए । 'खण्डिता' का सम्बन्ध आत्मीया के साथ है, परकीया के साथ भी यह संगत हो सकता है, पर वेश्या के साथ यह तर्कसम्मत प्रतीत नहीं होता—वैशिक से एक-वेश्यानुरक्तता की आशा रखना उसके लिए दुराशामात्र है । किस-किस वैशिक के लिए वह खण्डिता बनकर दुखड़े रोती रहेगी ।

नायिका के भरत-सम्मत स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद तथा उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद काव्यालंकार में भी परिगणित हुए हैं । उपर्युक्त १६ प्रकार की नायिकाओं के साथ इन भेदों का गुणनफल नायिकाभेद को (१६ × ८ × ३ =) ३८४ की संख्या तक पहुँचा देता है । काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने इस स्थल को क्षेपक माना है । हम नमिसाधु से सहमत हैं, क्योंकि एक तो स्वाधीनपतिका आदि सभी भेदों का आत्मीया, परकीया और वेश्या के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता, और दूसरे, इन भेदों में से उपर्युक्त चार भेदों—स्वाधीनपतिका, प्रोषितपतिका, अभिसारिका और खण्डिता—का एक ही प्रसंग में दो बार उल्लेख तर्कसम्मत और मनस्तोषक भी नहीं है ।

अगम्या नारियाँ—रुद्रट ने निम्नलिखित अगम्या नारियों का उल्लेख किया है—सम्बन्धिनी, सखि (मित्रभाव से परिचित), श्रोत्रिया, राजदारा, उत्तमवर्णदारा, निर्वसितदारा, भिन्नरहस्या, व्यंगा (विकृतांगा) और प्रव्रजिता।

रुद्रट के उपरान्त नायक-नायिका-भेद प्रकरण की दृष्टि से भानुमिश्र का स्थान है। इनके दो ग्रन्थों—रसतरंगिणी और रसमंजरी में क्रमशः रस और नायक-नायिका-भेद का स्वतंत्र रूप से निरूपण किया गया है।

उनका नायक-नायिका-भेद प्रकरण विषय के विस्तार एवं व्यवस्था की दृष्टि से अति स्तुत्य है। भरत और भोजराज के ग्रन्थों में विषय का विस्तार था, पर इतनी सुव्यवस्था नहीं थी; रुद्रट और विश्वनाथ के ग्रन्थों में व्यवस्था अवश्य थी, पर विषय-सामग्री संक्षिप्त और अस्वतन्त्र रूप में प्रतिपादित की गयी थी। किन्तु भानुमिश्र के निरूपण में विषय का स्वतन्त्र विस्तार भी है, और उसका सुव्यवस्था-पूर्ण प्रतिपादन भी। इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(क) **नायक-भेद**—भानुमिश्र के अनुसार नायक के प्रमुख भेद तीन हैं—पति, उपपति और वैशिक। इनमें से प्रथम दो नायक-नायिका के प्रति व्यवहार के आधार पर चार-चार प्रकार के हैं—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। शठता उपपति का नियत धर्म है, और शेष तीन उसके अनियत धर्म हैं। शठ के अन्तर्गत 'मानी' और 'चतुर' नायकों का भी भानुमिश्र ने समावेश माना है, अतः इनके मत में किसी अज्ञात आचार्य द्वारा सम्मत इन दो भेदों की गणना पृथक् रूप से नहीं करनी चाहिए। चतुर नायक दो प्रकार का होता है—वाक्चतुर और चेष्टाचतुर। इन्होंने वैशिक के तीन भेद माने हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। वस्तुतः यही तीनों भेद पति और उपपति के भी सम्भव हैं। प्रोषण के आधार पर नायक तीन प्रकार का होता है—प्रोषितपति, प्रोषितोपपति और प्रोषितवैशिक।

जाति के आधार पर श्रीकृष्ण कवि ने नायक के तीन भेद स्वीकार किये थे—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। भानुमिश्र को ये भेद स्वीकार नहीं हैं, पर उन्होंने इस अस्वीकृति का कोई पुष्ट कारण उपस्थित नहीं किया।

भोजराज ने नायकाभास को भी नायक का एक प्रकार माना था। नायकाभास का भानुमिश्र के शब्दों में अपर पर्याय है अनभिज्ञ, अर्थात् 'सांकेतिक चेष्टाज्ञानशून्य पुरुष'। 'अनभिज्ञ नायकाभास एव' इस वाक्य में भानुमिश्र द्वारा प्रयुक्त 'एव' शब्द नायकाभास को प्रमुख नायकों की पंक्ति से बहिष्कृत-सा कर रहा है।

(ख) **नायिका-भेद**—भानुमिश्र के अनुसार नायिका के प्रमुख तीन भेद हैं—स्वीया, परकीया और सामान्या।

(१) स्वीया—स्वीया के प्रमुख तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा।

मुग्धा के दो भेद हैं—अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना, और फिर पति के प्रति विश्रब्धता के आधार पर दो अन्य भेद हैं—[अविश्रब्ध-] नवोढा और विश्रब्धनवोढा। मध्या विश्रब्धनवोढा तो होती ही है, प्रायः अति-विश्रब्धनवोढा की सीमा तक भी पहुँच जाती है। प्रगल्भा के दो भेद हैं—रतिप्रीतिमती और आनन्दसम्मोहवती। मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के मानावस्थाजन्य तीन-तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और धीरा-धीरा। फिर इन छहों नायिकाओं के पतिस्नेह के आधार पर दो-दो भेद हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा। इस प्रकार स्वीया के कुल १३ प्रमुख भेद हुए।

(२) परकीया—परकीया के दो भेद हैं—परोढा और कन्यका। अपने समय में प्रचलित गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना और मुदिता आदि नायिका-भेदों और उनके उपभेदों का अन्तर्भाव भानुमिश्र ने परकीया के अन्तर्गत माना है। सामान्या के भेदोपभेदों की चर्चा भानुमिश्र ने नहीं की। इस प्रकार नायिका के कुल प्रमुख भेद १३+२+१= सोलह हुए। यही सोलह भेद भरत-सम्मत स्वाधीनपतिका आदि आठों भेदों तथा उत्तमादि तीन भेदों के साथ गुणन द्वारा भानुमिश्र के मत में ३८४ तक पहुँच जाते हैं। उक्त संख्या में भानुमिश्र-निरूपित नायिका के अन्य तीन भेद—अन्यसम्भोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता (प्रेमगर्विता, सौन्दर्यगर्विता) तथा (लघु-मध्यम-गुरु) मानवती सम्मिलित नहीं हैं। अवस्था के अनुसार प्रवत्स्यत्-पतिका नामक नवीं नायिका भी इन्होंने गिनायी है। श्रीकृष्ण कवि द्वारा परिगणित नायिका के दिव्या, अदिव्या और दिव्यादिव्या भेद इन्हें स्वीकृत नहीं हैं।

(ग) **नर्मसचिव भेद**— पीठमर्द, विट, चेटक, विदूषक।

(घ) **दूती-निरूपण**—

सखी के कर्म हैं—मण्डन, उपालम्भ, शिक्षा, परिहास आदि; तथा दूती के कर्म हैं—संघटन, विरह-निवेदन आदि।

समीक्षा

(क) नायक-नायिका-भेद और शृङ्गार रस—

नायक-नायिका-भेद का प्रसङ्ग शृंगार रस का विषय रहा है। कारण स्पष्ट है स्त्री और पुरुष के पारस्परिक रति-सम्बन्ध पर ही इन भेदों का यह विशाल प्रासाद अवस्थित है। उदाहरणार्थ निम्नोक्त भेद लीजिए—स्वकीया और परकीया तथा उनसे सम्बद्ध पति और उपपति का मूलाधार प्रेम-मिश्रित यौन सम्बन्ध है तो सामान्या तथा उससे सम्बद्ध वैशिक का मूलाधार केवल यौन सम्बन्ध। रति-सम्बन्धी कौशल-प्रदर्शन की न्यूनता अथवा अधिकता के ही बल पर नायक के अनुकूल आदि भेद स्वीकृत हुए हैं, और रति के ही बल पर परकीया के उपपति को नायक-भेद में स्थान मिला है; परन्तु इसके अभाव के ही कारण उसके बेचारे विवाहित पति को नहीं। मानवती

नायिका के मान करने का कारण केवल एक ही है—नायक द्वारा पर नारी के साथ रति-सम्बन्ध; तथा दो सौत स्वकीया नायिकाओं में से एक को ज्येष्ठा और दूसरी को कनिष्ठा कहने का कारण बड़ी अथवा छोटी आयु न होकर पति द्वारा प्राप्त स्नेह की ही अधिकता अथवा न्यूनता है। इसी प्रकार स्वाधीनपतिका आदि अष्ट नायिकाएँ नायकगत स्नेह और रति-सम्बन्ध की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति के ही फलस्वरूप विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होती हैं। नायिका के मुग्धा आदि तीन, धीरादि तीन तथा नायक-नायिका के उत्तम अथवा उत्तमा आदि तीन-तीन भेदों का मूल कारण भी पारस्परिक रति-भाव ही है।

निष्कर्ष यह कि नायक-नायिका-भेद प्रसंग शृंगार रस का ही एक अंग है। इन भेदोपभेदों की एक ही कसौटी है—स्त्री-पुरुष का रति-सम्बन्ध। अतः इस कसौटी पर जो भेदोपभेद खरे नहीं उतरते, हमारे विचार में उन्हें इस प्रसंग में स्थान नहीं मिलना चाहिए। भरत-सम्मत देवताशीला आदि २१ भेदों तथा अन्तःपुर-समाश्रित महादेवी आदि १७ प्रकार की नारियों का नाट्यशास्त्रोल्लिखित स्वरूप उनके रति-सम्बन्ध पर मुख्य रूप से प्रकाश नहीं डालता। यही कारण है कि भरत के उत्तरवर्त्ती किसी भी आचार्य ने इन भेदों का उल्लेख नहीं किया। इसी प्रकार भोज-सम्मत नायक-नायिका के कथावस्तु पर आधृत नायक, प्रतिनायक आदि तथा नायिका, प्रतिनायिका आदि भेद; मानव-प्रकृति पर आधृत नायक के सात्त्विक आदि भेद; पुनर्भू नायिका के यातायाता तथा यायावरा भेद; और नायक-सहायों के शकार, ललक, पताका, आपताका और प्रकरी नामक भेद आगामी नायक-नायिका-प्रकरणों में स्थान नहीं पा सके।

इनके अतिरिक्त दो वर्ग और हैं, जो रति-सम्बन्ध की कसौटी पर खरे नहीं उतरते—नायक के धीरोदात्तादि चार भेद; तथा नायक-नायिका के दिव्यादि तीन-तीन भेद। धीरोदात्तादि भेद नायक की सामान्य प्रकृति के परिचायक हैं और दिव्यादि भेद मर्त्यलोक और द्युलोक के स्त्री-पुरुषों में विभाजक रेखा खींचने का प्रयास करते हैं। स्पष्टतः इन वर्गों का लक्ष्य रति-सम्बन्ध-द्योतन नहीं है, अतः ये भी नायक-नायिका-भेद में स्थान पाने योग्य नहीं हैं।

(ख) नायक-नायिका-भेद-परीक्षण

(१)

सामाजिक व्यवहार के आधार पर नायिका के प्रमुख तीन भेद हैं—स्वकीया, परकीया और वेश्या; और इन्हीं भेदों के अनुरूप नायक के भी तीन भेद हैं—पति, उपपति और वैशिक। परकीया का परपुरुष से स्नेह-सम्बन्ध भी है और यौन-सम्बन्ध भी, पर वेश्या का पुरुष के साथ केवल यौन सम्बन्ध है। मम्मट और विश्वनाथ ने

परदारा के साथ अनुचित व्यवहार को रसाभास का विषय माना है। (का० प्र० ५।११९ वृत्ति भाग; सा० द० ३।२६२, २६३) जब विषय के प्रकाण्ड आलोचकों द्वारा परकीया के प्रति इतनी अवहेलना प्रकट की गयी है, तो वेश्या के प्रति इससे भी कहीं अधिक अवहेलना स्वतःसिद्ध है। निस्सन्देह सामाजिक व्यवस्था के परिपालन के लिए समुचित भी यही है। स्वकीया के ही समान परकीया और वेश्या का भी नायिका के रूप में चित्रण काव्य को निम्न स्तर पर ले जाएगा—इसी आशंका से संस्कृत-साहित्य के लक्ष्य-ग्रन्थों में परकीया और वेश्या को शास्त्रीय-स्वरूपानुसार काव्य का विषय नहीं बनाया गया। किन्तु फिर भी नायक-नायिका-भेद के अन्तर्गत इन दोनों नायिकाओं और उपपति तथा वैशिक नायकों को बहिष्कृत नहीं करना चाहिए, क्योंकि एक तो नायक-नायिका-भेद लोक--व्यवहार तथा कामशास्त्र के ग्रन्थों पर आधृत है, न कि लक्ष्य-ग्रन्थों पर; और दूसरे, 'रसाभास' रस की अपेक्षा हीन कोटि का काव्य होते हुए भी ध्वनिकाव्य का एक सबल अंग अवश्य है; और गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्र-काव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का काव्य है। अतः नायिका-भेदों में परकीया और वेश्या भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

उक्त तीन नायिकाओं के अतिरिक्त सामाजिक व्यवहार पर आधृत इस वर्ग के अन्तर्गत संस्कृत के आचार्यों में भरत ने कृतशौचा, और अग्निपुराणकार तथा भोज ने पुनर्भू नायिकाओं को भी सम्मिलित किया है; पर इन दोनों का अन्तर्भाव स्वकीया नायिका में बड़ी सरलता के साथ किया जा सकता है, इन्हें अलग मानने की आवश्यकता नहीं।

(२)

स्वकीया नायिका के तीन उपभेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। वयः तथा तत्प्रभूत लाज—इन दो आधारों पर मुग्धा के कुल चार भेद हैं—अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना तथा (अविश्रब्ध-) नवोढा और विश्रब्धनवोढा। अन्तिम दो भेद स्वाभाविक और सम्भव हैं; पर प्रथम दो भेदों पर हमें आपत्ति है। अज्ञातयौवना मुग्धा और उसके पति के बीच स्नेहव्यवहार-वर्णन उभयपक्षीय न होकर लगभग एकपक्षीय होने के कारण काव्य का बहिष्करणीय विषय है, तथा दोनों में रतिजन्य यौन-सम्बन्ध का वर्णन क्रूरता, प्रकृति-विरुद्धता तथा अनाचार का सूचक है। अतः 'अज्ञात-यौवना' भेद प्रशस्त और शरीरविज्ञान-सम्मत नहीं है, और इस दृष्टि से उसके विलोम रूप में परिगणित 'ज्ञातयौवना' भेद की स्वीकृति भी समुचित नहीं है।

(३)

परकीया के दो उपभेद हैं—परोढा और कन्या। ये दोनों नायक के प्रति प्रच्छन्न रूप से स्नेह निभाती चलती हैं। इनमें से परोढा निस्सन्देह परकीया है। पर

'कन्या' को इस कारण परकीया कहना कि वह पिता आदि के अधीन रहती है— 'कन्यायाः पित्राद्यधीनतया परकीयता' (र० मं० पृष्ठ ५१) हमारे विचार में युक्तिसंगत नहीं है। नायक-नायिका-भेद मूलतः रतिसम्बन्ध पर अवलम्बित है। परोढा और उसके पति का पारस्परिक रति-सम्बन्ध सामाजिक दृष्टि से ही सही, प्रत्यक्ष है, अतः वह परकीया कहाने योग्य है, किन्तु कन्या और उसके पिता के बीच पोषक-पोष्य-सम्बन्ध के बल पर कन्या को परकीया कहना अवश्य खटकता है। अतः कन्या को परकीया का उपभेद न मानकर स्वतन्त्र भेद मानना समुचित है। संस्कृत-आचार्यों में वाग्भट ने यही किया है—'अनूढा च स्वकीया च परकीया पणांगना।' (वा० अ० पृष्ठ १०) हाँ, यह अलग प्रश्न है कि बाद में उसी पुरुष से विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर वह स्वकीया; अथवा किसी अन्य पुरुष से विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर भी उसी अथवा किसी अन्य के साथ गुप्त मिलन निभाते चले जाने की अवस्था में वह परकीया कहाए, पर वर्तमान परिस्थिति में तो उसे परकीया नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सामाजिक व्यवहार के आधार पर नायिका के चार प्रमुख भेद होने चाहिएँ—स्वकीया, परोढा (परकीया), कन्या और सामान्या, तथा इनके अनुरूप नायक के तीन भेद—पति, जार और वैशिक। परोढा और कन्या से प्रच्छन्न रति-सम्बन्ध रखने वाले पुरुष को 'उपपति' नाम से अभिहित करना 'पति' शब्द का तिरस्कार है। अतः उसे 'जार' की संज्ञा मिलनी चाहिए। नायक के प्रमुख चार भेदों में से अनुकूल का सम्बन्ध केवल पति के साथ मानना चाहिए, और दक्षिण, धृष्ट और शठ का जार और वैशिक के साथ। भानुमिश्र ने ये चार भेद पति के और उपपति के स्वीकार किये हैं, पर हमारे विचार में ये नायक के सामान्य भेद हैं।

(४)

भोजराज ने मुग्धा आदि तीन उपभेदों का सम्बन्ध परकीया (परोढा और कन्या) के साथ भी स्थापित किया है। हम इनके साथ आंशिक रूप से सहमत हैं। मुग्धा नायिका का यथानिरूपित शास्त्रीय स्वरूप उसे परकीयात्व में धकेलने से बचाए रखने में सदा समर्थ है। केवल मध्या और प्रगल्भा अवस्थाओं में पहुँची हुई नारियाँ ही परकीयात्व की ओर फिसल सकती हैं। अतः मानव-मन के ऐक्य के आधार पर परकीया के भी मध्या और प्रगल्भा भेद सम्भव हैं, पर मुग्धा के नहीं। इसी सम्बन्ध में एक बात और। भानुमिश्र ने एक ओर तो मध्या और प्रगल्भा नायिकाएँ केवल स्वकीया के साथ सम्बद्ध की हैं; और साथ ही दूसरी ओर इन दोनों नायिकाओं के मान के आधार पर धीरादि तीन उपभेद स्वकीया के अतिरिक्त परकीया के साथ भी जोड़े हैं। उनके ये कथन परस्पर-विरोधी अवश्य हैं, पर पिछले वर्गीकरण द्वारा प्रकारान्तर से

हमारी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि हो रही है कि मध्या और प्रगल्भा भेद परकीया के भी सम्भव हैं ।

(५)

नायक के व्यवहार से उद्भूत अवस्था के आधार पर नायिका के स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद हैं । इनके शास्त्र-निरूपित स्वरूप से स्पष्ट है कि—

(क) आठों प्रकार की ये नायिकाएँ अपने-अपने प्रियतमों के प्रति सच्चा स्नेह रखती हैं । 'कुलटा' परकीया का इनमें कोई स्थान नहीं है ।

(ख) विप्रलब्धा और खण्डिता नायिकाएँ अपने-अपने नायकों की प्रवंचना की शिकार हैं, और शेष छहों को पूर्ण स्नेह सम्प्राप्त है ।

(ग) स्वाधीनपतिका और खण्डिता को छोड़कर शेष सभी नायिकाओं के नायक इनसे दूर हैं, और ये उनसे सम्मिलिन के लिए समुत्सुक हैं ।

(घ) स्वाधीनपतिका सर्वाधिक सौभाग्यवती है—उसका नायक सदा उसके पास है । मिलन-वेला समीप होने के कारण वासकसज्जा और अभिसारिका का सौभाग्य दूसरे दरजे पर है; और मिलन-आशा पर जीवित विरहोत्कण्ठिता और प्रोषितभर्तृका का सौभाग्य तीसरे दरजे पर ।

(ङ) विप्रलब्धा और खण्डिता दुर्भाग्यशालिनी हैं—पहली का नायक परनारी-सम्भोग के लिए चल दिया है, और दूसरी का नायक सम्भोग के उपरान्त ढीठ बनकर उसके सामने आ खड़ा है । सबसे दयनीय दशा बेचारी कलहान्तरिता की है—चाटु-कारिता करने वाले भी नायक को पहले तो इसने घर से निकाल दिया है और अब बैठी पछता रही है ।

(६)

पुरुष और नारी की मनःस्थिति के ऐक्य के कारण स्वाधीनपत्नीक आदि आठ भेद नायक के भी सम्भव हैं—इसी स्वाभाविक शंका को उठाकर भानुमिश्र ने उसका खण्डन स्वयं कर दिया है । उनके मतानुसार नायक के उत्क, खण्डित, विप्रलब्ध आदि भेद सम्भव नहीं है । वस्तुतः काव्य-परम्परा नायक के ही शरीर पर अन्य सम्भोगजन्य चिह्नों और उन चिह्नों के आधार पर उसकी धूर्तता पर आशंकित होकर नायिका द्वारा ही मान-प्रदर्शनों का वर्णन करती आई है । किन्तु इसकी विपरीत स्थिति में अर्थात् नायिका के शरीर पर रतिचिह्नों के प्रकट होने की स्थिति में तो काव्य का यह विषय [शृङ्गार] रस की कोटि में न आकर [शृङ्गार] रसाभास की कोटि में आ जाएगा— "...अन्यसम्भोगचिह्नत्वं वा नायकानाम् न तु नायिकानाम् । तान् प्रति तदुद्भावने रसाभासापत्तिरिति।" (र० मं० पृष्ठ १८६) किन्तु देखा जाए तो सत्य इससे भी कहीं अधिक कटु है । स्त्री भले ही पुरुष की धूर्तता को सहन कर ले; फिर मान-प्रदर्शन द्वारा उसे

कुछ काल के लिए तड़पा ले, और इस प्रकार उसे और भी अधिक रत्यानन्द-प्रदान करने का कारण बन जाए, पर पुरुष का पौरुष स्त्री के शरीर पर रतिचिह्नों को देखकर प्रतिकार के लिए उन्मत्त हो रक्त की नदी बहाने के लिए हुँकार कर उठेगा और तब यह काव्य-वर्णन शृङ्गार रसाभास के स्थान पर रौद्र रसाभास के विषय में परिणत हो जाएगा।

उक्त आठ अवस्थाओं में से प्रोषितावस्था नायक पर भी घटित हो सकती है। परदेश में गये पति, उपपति और वैशिक का अपनी प्रेयसियों की विरहाग्नि में जलना उतना ही स्वाभाविक है, जितना कि प्रोषित्-पतिका, स्वकीया अथवा परकीया का। भानुमिश्र ने इसी कारण नायक के तीन अन्य भेद भी गिनाये हैं—प्रोषितपति, प्रोषितोपपति और प्रोषितवैशिक।

(७)

भानुमिश्र ने नायिका के तीन अन्य भेदों—अन्यसम्भोगदुःखिता, मानवती और गर्विता के भी लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किये हैं। पर उनके विवेचन से इन भेदों के आधार के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। हमारे विचार में यह आधार नायककृतापराध-जन्य प्रतिक्रिया है। प्रथम दो भेदों पर तो यह आधार निस्सन्देह घटित हो ही जाता है। गर्विता पर भी, जिसके भानुमिश्र और सोमनाथ ने दो उपभेद—रूपगर्विता और प्रेमगर्विता गिनाये हैं, कुछ सीमा तक घटित हो सकता है। ऐसी नायिकाओं की संख्या में भी कभी कमी नहीं रह सकती, जो दुःखिता और मानवती होकर पराजित होने की अपेक्षा अपने रूप और प्रेम के गर्व पर अपराधी नायक को सुमार्ग पर लाने का सुप्रयास करती हैं। फिर भी 'गर्विता' नायिका का यह आधार इतना सुपुष्ट नहीं है।

अब प्रश्न रहा इन भेदों को स्वकीया आदि भेदों के साथ सम्बद्ध करने का। हमारे विचार में वेश्या के साथ प्रथम दो भेद तो सम्बद्ध नहीं किये जा सकते। 'रूपगर्विता' भेद भले ही वेश्या के साथ सम्बद्ध हो जाए, पर बाह्य रूप से राग दिखाने वाली वेश्या के साथ 'प्रेम-गर्विता' भेद को भी सम्बद्ध करना वैशिक बेचारे को आत्मप्रवंचना का शिकार बनाना है।

शेष रहीं स्वकीया और परकीया नायिकाएँ। मुग्धा स्वकीया के लिए उसका मौग्ध्य वरदान के समान है, अतः पतिकृत अपराध से उत्पन्न प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप दुःख, मान-क्लेश और गर्व करने की पीड़ा से वह नितान्त बची रहती है। शेष रहीं मध्या और प्रगल्भा स्वकीयाएँ। निस्सन्देह ये तीनों भेद इन दोनों से ही सम्बद्ध हैं, मुग्धा स्वकीया से नहीं। इनकी सुचेतावस्था इन्हें उक्त वेदनाओं को झेलने के लिए बाध्य कर देती है। परकीया पर भी ये तीनों भेद घटित हो सकते हैं। माना कि

परकीया अपनी और अपने प्रिय की लम्पटता से भली-भाँति परिचित है, किन्तु नारी-सुलभ सौतिया-डाह वश उसे भी अपने प्रिय का अपराध उतना ही उद्विग्न और विह्वल करता है जितना स्वकीया को।

(८)

संस्कृत के आचार्यों में रुद्रट के समय से ही विभिन्न आधारों पर आधृत नायक-नायिका-भेदों को परस्पर गुणन-क्रिया द्वारा अधिकाधिक संख्या तक पहुँचाने की प्रवृत्ति रही है। निम्नांकित अंकों से हमारे इस कथन की पुष्टि हो जाएगी। रुद्रट ने नायक ४ माने हैं और नायिकाएँ ३८४; भोजराज ने १०४ और १४३; विश्वनाथ ने ४८ और ३८४; भानुमिश्र ने १२ और ३५४; तथा रूपगोस्वामी ने ९६ और ३६०। किन्तु वस्तुत: यह गुणन-क्रिया तर्क और बुद्धि की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। इस धारणा के लिए बहु-प्रचलित विश्वनाथ-सम्मत नायक-भेदों और भानुमिश्र-सम्मत नायिका-भेदों पर विचार करना अपेक्षित है।

विश्वनाथ ने ४८ नायक-भेद माने हैं—धीरोदात्तादि ४ × अनुकूलादि ४ × उत्तमादि ३ = ४८। पर यह सम्बन्ध युक्तिसंगत नहीं है। प्रथम तो धीरोदात्तादि भेद केवल शृङ्गार रस की कथावस्तु से सम्बद्ध न होकर सभी रसों की कथावस्तु से सम्बद्ध हैं। अत: इनका परस्पर-संयोजन विरोधी रसों में सम्पर्क-स्थापक होने के कारण काव्यशास्त्र की दृष्टि से सदोष है। दूसरे; [राम जैसे] धीरोदात्त नायक को दक्षिण, धृष्ट और शठ नामों से और [वत्सराज जैसे] धीरललित नायक को कभी केवल 'अनुकूल' नाम से अभिहित करना परम्परापुष्ट आख्यानों और मनोविज्ञान दोनों को झुठलाना है। यही कारण है कि संस्कृत-आचार्यों में वाग्भट द्वितीय ने केवल धीरललित नायक के अनुकूलादि चार भेद माने हैं; शेष तीन नायकों के नहीं। किन्तु धीरललित भी इन चारों भेदों के साथ सदा सम्बद्ध हो सके—यह निश्चित नहीं है। इसी प्रकार विश्वनाथ-मतानुसार धीरोदात्त और अनुकूल को 'उत्तम' के साथ-साथ मध्यम और अधम भी मानना तथा धृष्ट और शठ को उत्तम भी कहना न्याय-संगत नहीं है।

अब भानुमिश्र-सम्मत नायिका-भेदों को लें। उन्होंने नायिका के ३८४ भेद माने हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या के (१३ + ३ + १ =) १६ भेद × स्वाधीन-पतिका आदि ८ भेद × उत्तमादि ३ भेद = ३८४ भेद। परन्तु गुणन-प्रक्रिया द्वारा उक्त पारस्परिक गठ-बन्धन मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। स्वाधीन-पतिका आदि सभी नायिकाएँ अपने-अपने प्रियतमों के प्रति सच्चा स्नेह रखती हैं, अतः सामान्या नायिका अपने शास्त्रीय स्वरूप के आधार पर किसी भी अवस्था में इन आठ भेदों में से किसी के साथ सम्बद्ध नहीं की जा सकती। स्वकीया और परकीया के साथ भी ये सभी नायिकाएँ सम्बद्ध नहीं हो सकतीं। स्वाधीनपतिका नायिका

केवल स्वकीया ही हो सकती है और अभिसारिका केवल परकीया ही। शेष छहों नायिकाओं का सम्बन्ध स्वकीया और परकीया दोनों के साथ है।[1] इसी प्रकार उत्तमा, मध्यमा और अधमा भेद स्वकीया तथा परकीया पर तो घटित हो सकते हैं, पर सामान्या पर किसी भी रूप में नहीं। उससे स्नेह-पूर्ण हित की आशा रखना अथवा अहित की आशंका करना व्यर्थ है। केवल संख्यावृद्धि के विचार से गुणन-प्रक्रिया का आश्रय खिलवाड़ मात्र है, बुद्धि-संगत और तर्क-परिपुष्ट नहीं है।

(ग) नायक-नायिका-भेद और पुरुष

नायक-नायिका-भेद निरूपण में पुरुष का स्वार्थ पद-पद पर अंकित है। नारी उसके विलासमय उपभोग की सामग्री के रूप में चित्रित की गई है। एकाधिक नारियों के साथ रतिप्रसंग तो मानो पुरुष का जन्मसिद्ध अधिकार है। 'परकीया' नायिका पर भी यह लांछन लगाया जा सकता है कि वह पर पुरुष से प्रेम-सम्बन्ध रखती है; पर शास्त्रीय आधार के अनुसार उसका परकीयात्व इसी में है कि वह अपने पति को स्नेह से वंचित रखकर केवल एक ही पर-पुरुष की वासना-तृप्ति का साधन बने, भले ही स्वयं वही पुरुष अनेक स्त्रियों का उपभोक्ता क्यों न हो। एकाधिक पुरुषों के साथ रति-प्रसंग करने पर काव्यशास्त्र नारी को तो 'कुलटा' नाम से कुख्यात कर देता है, किन्तु परनारी-रत दक्षिण, धृष्ट और शठ नायकों के प्रति शास्त्र ने कोई तिरस्कार-सूचक भाव प्रकट नहीं किया। निस्सन्देह यह पुरुष के प्रति अनुचित पक्षपात है।

निरपराध भी सौत स्वकीया नायिका पुरुष के स्वार्थ से विमुक्त नहीं हो सकी। वह अपने समादर के लिए पति के प्रेम की भिखारिणी है। 'ज्येष्ठा' कहाने का अधिकार उसे तभी मिलेगा, जब उसे दूसरी सौत की अपेक्षा पति का अधिक स्नेह प्राप्त है, अन्यथा वह 'कनिष्ठा' ही बनी रहेगी—चाहे वह आयु में ज्येष्ठा भी क्यों न हो, और उसका विवाह पहले भी क्यों न सम्पन्न हो चुका हो!

पुरुष के स्वार्थ का एक और नमूना है 'मुग्धा स्वकीया' का 'अज्ञात-यौवना' नामक उपभेद। 'अज्ञात यौवना मुग्धा' तो नायक के विलास का साधन बनकर सरस काव्य का विषय बन सकती है, पर इधर 'सांकेतिक चेष्टाज्ञान शून्य अनभिज्ञ' नायक

१. संस्कृत के काव्यशास्त्रों में हेमचन्द्र के काव्यानुशासन (पृष्ठ ३७०) में परकीया की केवल तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं—विरहोत्कण्ठिता, विप्रलब्धा तथा अभिसारिका; और शारदातनय के भावप्रकाश (पृष्ठ ९५, प० ११-१४) में अन्या (वेश्या) की केवल तीन अवस्थाएँ—विरहोत्कण्ठिता, अभिसारिका और विप्रलब्धा। पर इन आचार्यों की ये धारणाएँ भी तर्क की कसौटी पर पूरी नहीं उतरतीं। परकीया की अन्य अवस्थाएँ भी सम्भव हैं, और वेश्या की उपर्वणित अवस्थाओं में से हमारे विचार में एक भी अवस्था सम्भव नहीं है।

का वर्णन काव्य में रसाभास का विषय माना गया है : 'अनभिज्ञो नायको नायकाभास एव।' (र०मं० पृष्ठ १८७) आखिर अज्ञातयौवना के यौवन के साथ यह खिलवाड़ क्यों ?

नारी की दुर्दशा का एक दृश्य और। यह पुरुष का ही साहस हो सकता है कि रात-भर पर-नारी के साथ उपभोग के उपरान्त प्रातःकाल होते ही रतजगे के कारण आँखों में लालिमा और नारी-नेत्र-चुम्बन के कारण ओष्ठों में काजल की कालिमा तथा अन्य रति-चिह्नों के साथ स्वकीया के सम्मुख ढीठ बनकर आ खड़ा हो जाए, और 'उत्तमा' नायिका को इतना भी अधिकार न हो कि वह उसके अनिष्ट की ज़रा भी कल्पना कर सके, अन्यथा वह 'मध्यमा' अथवा 'अधमा' के निम्न स्तर पर जा गिरेगी।

आचार्यों ने ऐसी 'पीड़ित' नारियों को मान करने का अधिकार अवश्य दिया है। पर इसमें भी पुरुष का स्वार्थ छिपा हुआ है। रिरंसा-पूर्ति के लिए पादस्पर्शन-पूर्वक नायिका को मनाना नायक को और भी अधिक आनन्द देता है। धीरा, अधीरा और धीराधीरा नायिकाओं के मानमिश्रित विभिन्न कोप-प्रदर्शनों में भी नायक विभिन्न प्रकार के सुखों का अनुभव करता है। 'वक्रोक्तिगर्विता' और 'सौन्दर्यगर्विता' नायि-काओं का गर्व इन नायिकाओं को मानसिक शान्ति दे अथवा न दे, किन्तु नायक की वासना को प्रदीप्त करने का साधन अवश्य बन जाता है। इन मान-प्रदर्शनों और गर्वोक्तियों से नायक की रिरंसा और भी अधिक वेगवती हो उठती है।

मानवती नायिका चाहे जितना भी तड़पा ले, किन्तु शास्त्रीय दृष्टिकोण से अन्त में उसे मान की शान्ति अवश्य कर लेनी चाहिए, अन्यथा काव्य का यह प्रसंग रसाभास और अनौचित्य का विषय बन जाएगा : असाध्यस्तु रसाभासः। (र० मं० पृष्ठ ८३) आवेशाधिक्य के वशीभूत होकर यदि वह क्रोध में आकर नायक को कभी बाहर निकाल देती है तो उसके चले जाने के बाद 'कलहान्तरिता' के रूप में पश्चाताप करना और झुँझलाना भी नायिका के ही 'भाग्य' में लिखा है। भला 'बेचारे' नायक का यह 'सौभाग्य' कहाँ कि वह पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसता फिरे ! 'खण्डिता' और 'अन्यसम्भोगदुःखिता' बनना भी नायिका के ललाट में लिखा है, और 'क्रूर' नायक की वासना का शिकार बनकर नखक्षत, दन्तक्षत आदि जन्य 'पीड़ा' का सह्य करना भी।

इसी प्रसंग के सम्बन्ध में एक बात और ! काव्यशास्त्र ने पुरुष को तो चेता-वनी दे दी है कि अमुक नारियाँ सम्भोग के लिए 'वर्ज्या' हैं; पर पुरुषों की ऐसी सूची प्रस्तुत न कर काव्याचार्यों ने नारी की कोमल भावनाओं को ठेस पहुँचाने का अधि-कार वर्ज्य और अवर्ज्य दोनों प्रकार के पुरुषों को प्रकारान्तर से दे दिया है। पुरुष के हाथ में लेखनी हो और वह नायक-नायिका-भेद जैसे निरूपण में अपनी स्वार्थसिद्धि की पूर्ति के लिए सिद्धान्त-निर्माण न करे, ऐसे अवसर से हाथ धो बैठना भी तो कम 'दुर्भाग्य' का विषय न होता !

शृङ्गारश्च नायकाश्रय इति तस्य गुणानाह—

रत्युपचारे चतुरस्तुङ्गकुलो रूपवानरुङ्मानी ।
अग्राम्योज्ज्वलवेषो ऽनुल्बणचेष्टः स्थिरप्रकृतिः ॥७॥

सुभगः कलासु कुशलस्तरुणस्त्यागी प्रियंवदो दक्षः ।
गम्यासु च विस्रम्भी तत्र स्यान्नायकः ख्यातः ॥८ ॥युग्मम्॥

रत्युपचार इति। सुभग इति। सुगमम्। एतैः षोडशभिर्गुणैर्युतो नायकः स्त्रीणामभिगम्यत्वाच्छृङ्गाराश्रय इति।

अथैवं गुणस्यास्य भेदान्सलक्षणानार्याचतुष्टयेनाह—

एवं स चतुर्धा स्यादनुकूलो दक्षिणः शठो धृष्टः ।
तत्र प्रेम्णः स्थैर्यादनुकूलोऽनन्यरमणीकः ॥९॥

[उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह एक बात तो स्पष्ट है कि रुद्रट का यह प्रकरण विषय-सामग्री की दृष्टि से बहुविध तथा प्रतिपादन की दृष्टि से स्वच्छ एवं व्यवस्थित है। इनसे पूर्व यह प्रकरण यद्यपि केवल भरत के नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध है, तथापि इन दोनों प्रकरणों को देखते हुए यह अनुमान लगाना सहज है कि या तो किन्हीं अप्रख्यात अतएव विलुप्त ग्रन्थों में इस प्रकरण की चर्चा होती रही है, या फिर यह विद्वद्गोष्ठियों का विषय बना रहा है। अस्तु !]

नायक

रति-उपचार में चतुर, कुलीन, रूपवान्, नीरोग, स्वाभिमानी, सुन्दर और उज्ज्वल परिधान धारण करने वाला, सौम्य-चेष्टाओं से युक्त, स्थिर-प्रकृति, ऐश्वर्य-वान्, कलाओं में दक्ष, तरुण, त्यागी, मधुरभाषी, चतुर तथा गम्या नारियों का विश्वास करने वाला व्यक्ति शृङ्गाररस का नायक होता है।७-८।

नायक के भेद

नायक चार प्रकार के होते हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट।

रुद्रट से पूर्व भरत ने नायक-भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु रुद्रट-प्रस्तुत ये चार भेद उनमें परिगणित नहीं हैं।

१. अनुकूल—

प्रेम एवं स्थिरता से एक ही नायिका में रमण करने वाला नायक अनुकूल [कहाता] है।९।

खण्डयति न पूर्वस्यां सद्भावं गौरवं भयं प्रेम ।
अभिजातोऽन्यमना अपि नार्यां यो दक्षिणः सोऽयम् ॥१०॥
वक्ति प्रियमभ्यधिकं यः कुरुते विप्रियं तथा निभृतम् ।
आचरति निरपराधवदसरलचेष्टः शठः स इति ॥११॥
कृतविप्रियोऽप्यशङ्को यः स्यान्निर्भर्त्सितोऽपि न विलक्षः ।
प्रतिपादितेऽपि दोषे वक्ति च मिथ्येत्यसौ धृष्टः ॥१२॥

एवमिति । खण्डयतीति । वक्तीति । कृतेति । गतार्थम् ॥

अथ तस्य नर्मसचिवः क्रीडासहायो भवति, तस्य चाष्टौ गुणाः । तानाह—

भक्तः संवृतमन्त्रो नर्मणि निपुणः शुचिः पटुर्वाग्मी ।
चित्तज्ञः प्रतिभावांस्तस्य भवेन्नर्मसचिवस्तु ॥१३॥

भक्त इति । गतार्थार्या ॥

अथ तस्यैव भेदानाह—

त्रिविधः स पीठमर्दः प्रथमोऽथ विटो विदूषकस्तदनु ।
नायकगुणयुक्तोऽथ च तदनुचरः पीठमर्दोऽत्र ॥१४॥

---

२. दक्षिण—

जो अन्य नायिका से प्रेम आदि करने पर भी अपनी पहली नायिका में सद्भाव, गौरव, प्रेम एवं भय को खण्डित नहीं करता वह दक्षिण नायक कहलाता है ।१०।

३. शठ—

अत्यधिक प्रिय बोलता हुआ भी जो छिपकर अप्रिय करता है, कुटिल व्यवहार करता हुआ भी जो निरपराधवत् आचरण करता है वह शठ नायक कहलाता है ।११।

४. धृष्ट—

जो प्रिया का अप्रिय करके भी निःश्शङ्क होता है । अत्यधिक भर्त्सना के उपरान्त भी जो निर्लज्ज हो । अपराध करने के बाद भी जो मिथ्या बोलता है वह धृष्ट नायक है ।१२।

नर्मसचिव (नायक का सहायक)

भक्त, गूढमन्त्रणा देनेवाला, क्रीड़ा में निपुण, पवित्र, चतुर, वाक्-कुशल, चित्त को भाँपने वाला, प्रतिभावान् (व्यक्ति) उसका नर्म सचिव (क्रीड़ासहाय) होता है ।१३।

नर्म सचिव तीन प्रकार का होता है—पीठमर्द, विट और विदूषक । नायक का वह अनुचर जो नायक के गुणों से युक्त हो पीठमर्द कहाता है ।१४।

विट एकदेशविद्यो विदूषकः क्रीडनीयकप्रायः ।
निजगुणयुक्तो मूर्खो हासकराकारवेषवचाः ॥१५॥

त्रिविध इति विट इति । गतार्थमार्याद्वयम् ॥

अथ नायिकानां स्वरूपं भेदान्प्रभेदांश्च भेदप्रभेदस्वरूपं चाह—

आत्मान्यसर्वसक्तास्तिस्रो लज्जान्विता यथोक्तगुणाः ।
सचिवगुणान्वितसख्यस्तस्य स्युर्नायिकाश्चेमाः ॥१६॥
शुचिपौराचाररता चरित्रशरणार्जवक्षमायुक्ता ।
आत्मीया तु त्रेधा मुग्धा मध्या प्रगल्भा च ॥१७॥
मुग्धा तत्र नवोढा नवयौवनजनितमन्मथोत्साहा ।
रतिनैपुणानभिज्ञा साध्वसपिहितानुरागा च ॥१८॥
तल्पे परिवृत्यास्ते सकम्पमालिङ्गनेऽङ्गमपहरति ।
वदनं च चुम्बने सा पृष्टा बहुशोऽस्फुटं वक्ति ॥१९॥

जिसने नायक के साथ ही एक स्थान पर शिक्षा पाई हो, उसे विट कहते हैं। विदूषक वह होता है, जो [नायक का मनोरंजन करने के कारण] उसका खिलौने-सदृश हो। उसमें अपने विशिष्ट गुण भी हों, जो मूर्ख हो, और जिसका आकार, वेष और वचन हँसाने वाला हो।१५।

नायिका

उस नायक की ये तीन नायिकाएँ होती हैं—आत्मीया, अन्या और सर्व-सक्ता। ये सभी लज्जाशीला होती हैं। इनके गुण [इनके नामों से ही] प्रकट हैं। इनकी सखियाँ होती हैं जो सचिव (मन्त्री) के गुणों से युक्त होती हैं।१६।

१. आत्मीया

आत्मीया नायिका पवित्र, नागरिक आचार-व्यवहार में निपुण, शील, दया, सरलता, क्षमा आदि [गुणों से] युक्त होती है। यह तीन प्रकार की है—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा।१७।

(क) मुग्धा—

मुग्धा नायिका नव-विवाहिता, नवयौवन में उत्पन्न कामवासना में उत्साह-युक्ता, काम-क्रीड़ा की कलाओं से अनभिज्ञ होती है। भय के कारण उसका अनुराग स्पष्टतया प्रकाशित नहीं होता।

शय्या पर जो घूमकर बैठती है, आलिङ्गन के समय काँपती है तथा अंगों को

अन्यां निषेवमाणे सा कुप्यति नायके ततस्तस्य ।
रोदिति केवलमग्रे मृदुनोपायेन तुष्यति च ॥२०॥
आरूढयौवनभरा मध्याविर्भूतमन्मथोत्साहा ।
उद्भिन्नप्रागल्भ्या किंचिद्धृतसुरतचातुर्या ॥२१॥
व्याप्रियते सायस्ता सुरते विशतीव नायिकाङ्गेषु ।
सुरतान्ते सानन्दा निमीलिताक्षी विमुह्यति च ॥२२॥
कुप्यति तत्र सदोषे वक्रोक्त्या प्रतिभिनत्ति तं धीरा ।
परुषवचोभिरधीरा मध्या सास्रैरुपालम्भैः ॥२३॥
लब्धायतिः प्रगल्भा रतिकर्मणि पण्डिता विभुर्दक्षा ।
आक्रान्तनायकमना निर्व्यूढविलासविस्तारा ॥२४॥

सिकोड़ लेती है, मुख-चुम्बन के समय कुछ पूछने पर प्रायः अस्पष्ट बोलती है।

नायक द्वारा किसी अन्य [नारी] का सेवन किए जाने पर वह क्रुद्ध होती है। केवल उसी के आगे होती है तथा साधारण उपायों से प्रसन्न हो जाती है। १८-२०।

(ख) मध्या—

जो यौवन के उत्कर्ष पर आरूढ हो, जिसमें कामविषयक उत्साह का आविर्भाव हो चुका हो तथा गम्भीरता भी उत्पन्न हो गई हो, जिसमें कुछ-कुछ रति-नैपुण्य भी आ गया हो, आलिगन में आबद्ध होकर पीड़ित होना जिसे अधिक रुचिकर न लगे, जो सुरत-क्रीड़ा के समय नायक के अंगों में प्रविष्ट-सी होती जाती है और सुरत के अन्त में आनन्द से डूबी हुई आँखों को बन्द किये विमोहित-सी हो रही होती है, उसे मध्या नायिका कहते हैं।२१-२२।

धीरा-अधीरा (मध्या)—

जो मध्या नायिका नायक के अपराध करने पर वक्रोक्ति द्वारा उसे कोसती है वह धीरा होती है, और जो आँसू बहाकर, कठोर वचनों और उपालम्भों से [कोसती है] वह अधीरा होती है।२३।

(ग) प्रगल्भा—

जिसे [रति-विषयक] विस्तृत ज्ञान हो चुका है और रति-कर्म में जो निपुण, समर्थ एवं दक्ष है। नायक के मन को अपने अधीन करने वाली तथा नाना रति-विलासों में भाग लेने वाली नायिका को 'प्रगल्भा' की संज्ञा दी गयी है।२४।

सुरते निराकुलासौ द्रवतामिव याति नायकस्याङ्गे ।
न च तत्र विवेक्तुमलं कोऽयं काहं किमेतदिति ॥२५॥
तत्र कुपितापराधिनि संवृत्याकारमधिकमाद्रियते ।
कोपमपह्नुत्यास्ते धीरा हि रहस्युदासीना ॥२६॥
मध्या तु साधुवचनैस्तमीदृशं प्रतिभिनत्ति सोल्लुण्ठैः ।
ताडयति मंक्ष्वधीरा कोपात्संतर्ज्य संतर्ज्य ॥२७॥
ज्येष्ठकनिष्ठत्वेन तु पुनरपि मध्या द्विधा प्रगल्भा च ।
मुग्धा त्वनन्यभेदा काव्येषु तथा प्रसिद्धत्वात् ॥२८॥
दाक्षिण्यप्रेमभ्यां व्यवहारो नायकस्य काव्येषु ।
दृष्टस्तयोरवश्यं सन्नपि न पुनर्भवो भेदः ॥२९॥

वह सुरत-क्रीडा में निराकुल (स्वस्थ) होती है, नायक के अङ्गों में फिसलती-सी, प्रविष्ट करती है। वह थोड़ा भी विवेक नहीं कर पाती कि यह कौन है, मैं कौन हूँ, और क्या हो रहा है।२५।

धीरा प्रगल्भा—

धीरा [प्रगल्भा] नायिका अपराधी नायक के प्रति कुपित होकर भी अपने आकार से वैसा प्रकट नहीं होने देती, प्रत्युत उसका अधिक आदर करती है। क्रोध को छिपाकर वह एकान्त में उदासीन रहती है।२६।

ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ 'मध्या' पाठ अशुद्ध है, इसके स्थान पर धीरा पाठ होना चाहिए।

धीरा-अधीरा (प्रगल्भा)—

धीरा [प्रगल्भा] नायिका व्यङ्ग्यपूर्ण [किन्तु] मृदु वचनों से ही उसे ऐसा कोसती है, किन्तु अधीरा नायिका क्रोध में उसे झिड़क-झिड़ककर पीटने भी लग जाती है।२७।

ज्येष्ठा-कनिष्ठा—

ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेद से मध्या और प्रगल्भा दो-दो प्रकार की होती हैं। मुग्धा का कोई भेद नहीं है, जैसा कि काव्यों में प्रसिद्ध है।२८।

नायक-व्यवहार—

काव्यों में नायक का व्यवहार दाक्षिण्य और प्रेम [इन दो रूपों में] देखने में आता है। इस [दाक्षिण्य और प्रेम की] दृष्टि से अन्य भेद हो सकते हैं, किन्तु

परकीया तु द्वेधा कन्योढा चेति ते हि जायेते ।
गुरुमदनार्ते नायकमालोक्याकर्ण्य वा सम्यक् ॥३०॥
साक्षाच्चित्रे स्वप्ने स्याद्दर्शनमेवमिन्द्रजाले वा ।
देशे काले भङ्ग्या साधु तदाकर्णनं च स्यात् ॥३१॥
द्रष्टुं न संमुखीनं कन्या शक्नोति नायकं हृष्टा ।
वक्तुं न च ब्रुवाणं वक्ति सखीं तं सखी चासौ ॥३२॥
पश्यत्यवीक्षमाणं सुस्निग्धस्फारलोचना सततम् ।
दूरात्पश्यति तस्मिन्नालिंगति बालमङ्कगतम् ॥३३॥
अनिमित्तं च हसन्ती सादरसाभाषते सखीं किमपि ।
रम्यं वा निजमंगं सव्यपदेशं प्रकाशयति ॥३४॥

काव्यों में नहीं मिलते ।२९।

२. *परकीया*

परकीया दो प्रकार की है—कन्या और विवाहिता । नायक को देखकर अथवा उसके विषय में सुनकर ये दोनों कामदेव से अति पीड़ित हो जाती हैं ।३०।

नायक-दर्शन के साधन—

[नायक का] दर्शन [इन चार रूपों में होता है—] साक्षात्, चित्र में, स्वप्न में और इन्द्रजाल अर्थात् जादू के बल पर । उसके विषय में भली प्रकार से श्रवण इन तीन रूपों में होता है—किसी स्थान विशेष में, किसी विशेष अवसर पर और किसी विशेष भङ्गी अर्थात् उपाय से ।३१।

कन्या—

[नायक के दर्शन से] हर्षित होकर भी कन्या अपने सम्मुख स्थित नायक को देखने में समर्थ नहीं होती और न ही वह उसकी बातों का प्रत्युत्तर दे पाती है । वह अपनी बात सखी से कहती है और सखी उस [नायक] से कहती है ।

न देख रहे नायक को लगातार प्रेमभरे स्फारित नयनों से देखती है । उस नायक के दूर से देखने पर अपनी गोदी में स्थित [किसी] बालक को आलिङ्गन करती है ।

निष्कारण हँसती है, अपनी सखी से आदरपूर्वक कुछ कहती है । किसी बहाने से अपने रमण-योग्य अंगों को प्रकाशित करती है ।

सख्या पर्यस्तं वा रचयत्यलंकावतंसरशनादि ।
चेष्टां करोति विविधामनुल्बणैरंगभंगैर्वा ॥३५॥
अन्योढापि तथैतत्सर्वं कुरुतेऽनुरागमापन्ना ।
नायकमभियुङ्क्ते सा प्रगल्भभावेन पुरतश्च ॥३६॥
उद्भूतानन्दभरा प्रस्नुतजघनस्थलार्द्रवसना च ।
निःष्पन्दतारनयना भवति तदालोकनादेव ॥३७॥
कन्या पुनरभियुंक्ते न स्वयमेनं गतापि दुरवस्थाम् ।
सुस्निग्धा तदवस्थां सखी तु तस्मै निवेदयति ॥३८॥
सर्वांगना तु वेश्या सम्यगसौ लिप्सते धनं कामात् ।
निर्गुणगुणिनोस्तस्या न द्वेष्यो न प्रियः कश्चित् ॥३९॥

बिखरे, अस्त-व्यस्त अथवा शिथिल केश, कर्णभूषण, रशना आदि को सखि द्वारा ठीक कराती है, तथा अपने अंगों की सौम्य भङ्गियों द्वारा अनेक चेष्टाएँ करती है ।३२-३५।

ऊढा—

[परकीया नायिका का] अन्य [भेद है] ऊढा अर्थात् विवाहिता । [नायक के] प्रेम को प्राप्त होने पर यह [उपर्युक्त] सब कुछ वैसा ही करती है । वह प्रौढ़ भाव से ही नायक के सामने होकर उससे सम्मिलन करती है ।

नायक के देखने मात्र से ही यह नायिका अत्यधिक आनन्द से भर जाती है । इसका जघनस्थल क्लिन्न हो जाता है, स्वेद के कारण वस्त्र गीले हो जाते हैं और आँखें अपलक रह जाती हैं ।

इस प्रकार की बुरी अवस्था को प्राप्त भी कन्या स्वयं कभी भी नायक के पास नहीं जाती, अपितु उसकी सखी ही उस नायक को उसकी यह सब दशा निवेदित करती है ।३६-३८।

२. वेश्या

सर्वसाधारण की प्रिया स्त्री वेश्या कहाती है । वह एकमात्र धन ही चाहती है । अतः कोई गुणी व्यक्ति न तो उसे प्रिय होता है और न मूर्ख अप्रिय ।

गम्य (जिस पुरुष के पास धन एवं यौवन को देखकर अपने प्रति गम्य अर्थात् रमण-योग्य समझती है उस) पुरुष को देखकर वह उसे अनुरक्ता की भांति

गम्यं निरूप्य सा स्फुटमनुरक्तेवाभियुज्य रञ्जयति ।
आकृष्टसकलसारं क्रमेण निष्कासयत्येनम् ॥४०॥

आत्मेत्याद्यार्यापञ्चविंशतिः सुगमा न वरम् । आत्मीया परकीया वेश्या चेति मूलभेदत्रयम् । आत्मीया च, मुग्धा मध्या प्रगल्भा चेति पुनस्त्रेधा । पुनश्च मध्याप्रगल्भयोर्धीराधीरा मध्या चेति प्रत्येकं भेदत्रयम् । पुनश्च ज्येष्ठाकनिष्ठात्वेन मध्याप्रगल्भयोर्भेदद्वयम् । मुग्धा त्वेकभेदैव । काव्येषु तथा प्रसिद्धेः । अक्षतयोनित्वात्पुनर्विवाहिता पुनर्भूः । परकीया, कन्या परिणीता चेति द्विभेदा । वेश्या त्वेकरूपैवेति । तल्लक्षणं च स्वयं योजनीयमिति ॥

[ता एवाधीतपतिर्वासकसज्जाभिसारिकोत्का च ।
अभिसंधिता प्रगल्भा प्रोषितपतिखण्डिते चाष्टौ ॥१॥

यस्याः सुरतविलासैराकृष्टमनाः पतिः स्थितः पार्श्वे ।
विविधक्रीडासक्ता साधीनपतिर्भवेत्तत्र ॥२॥

निश्चितदयितागमना सज्जितनिजगेहदेहशयनीया ।
ज्ञेया वासकसज्जा प्रियप्रतीक्षेक्षितद्वारा ॥३॥

प्रसन्न करती है । उसके सम्पूर्ण सार (धन) को निचोड़कर उसे बाहर निकाल देती है ।३९-४०।

इसके उपरान्त पद्यसंख्या ४०-४१के बीच १४ पद्य प्रक्षिप्त माने गये हैं :—

अष्ट नायिकाएँ—

इन नायिकाओं में से प्रत्येक फिर आठ प्रकार की होती है—१—अधीनपतिका, २—वासकसज्जा, ३—अभिसारिका, ४—उत्का, ५—अभिसन्धिता, ६—प्रगल्भा, ७—प्रोषितपतिका, ८—खण्डिता ।१।

१. अधीनपतिका—

जिसके सुरत और हावभाव आदि विलासों से आकृष्ट होकर पति उसके पास रहे, नाना काम-क्रीड़ाओं में आसक्त ऐसी नायिका को अधीनपतिका कहते हैं ।२।

२. वासकसज्जा—

जो नायिका अपने प्रिय के आगमन के विश्वास से अपने घर, शरीर और शय्या को आभूषित करके प्रिय की प्रतीक्षा में द्वारदेश को देखती रहती है, उस नायिका को वासकसज्जा कहते हैं ।३।

अभिसारिकेति सेयं लज्जाभयलाघवान्यनालोच्य ।
अभिसरति प्राणेशं मदनेन मदेव चाकृष्टा ॥४॥
नोपगतः प्राणेशो गुरुणा कार्येण विघ्नितागमनः ।
यस्याः किं तु स्यादित्याकुलचित्तेत्यसावुत्का ॥५॥
अनुनयकोपं कृत्वा प्रसाद्यमानापि न प्रसन्नेति ।
यस्या रुषेव दयितो गच्छत्यभिसंधिता सेयम् ॥६॥
यस्या जीवितनाथः संकेतकमात्मनैव दत्त्वापि ।
नायात्युपागतायां तस्यामिति विप्रलब्धेयम् ॥७॥
सेयं प्रोषितनाथा यस्या दयितः प्रयाति परदेशम् ।
दत्त्वावधिमागमने कालं कार्यावसानं वा ॥८॥

---

३. अभिसारिका—

जो नायिका लज्जा, भय और [भावी] अपमानादि की चिन्ता छोड़कर काम और यौवन-मद के अधीन होकर अपने प्राणवल्लभ के पास अभिसरण करती है—छिपकर जाती है, उसे अभिसारिका कहते हैं ।४।

४. उत्का—

'प्राणेश नहीं आये, किसी आवश्यक कार्य से नहीं आ सके होंगे, क्या कारण हो सकता है' इस प्रकार की चिन्ताओं से व्याकुल नायिका को उत्का कहते हैं ।५।

५. अभिसन्धिता—

वह नायिका 'अभिसन्धिता' कहाती है, जिसका प्रिय उसे अनुनय द्वारा कोप-प्रदर्शन से मनाए, किन्तु फिर भी जो प्रसन्न न हो और उसका प्रिय मानो उसके रोष से घर छोड़कर चला जाए ।६।

६. विप्रलब्धा—

जिसका प्राणाधार स्वयं संकेतस्थान बताकर भी न आए उस संकेतस्थान पर आने वाली [निराश] नायिका को विप्रलब्धा कहते हैं ।७।

७. प्रोषितपतिका—

जिसका पति परदेश चला जाए और अपने वापस आने की अवधि अथवा कार्य की समाप्ति पर लौटने की बात कह जाए, उसे प्रोषितपतिका कहते हैं ।८।

कार्यान्तरकृतविघ्नो नागच्छत्येव वासकस्थायाः।
तस्मिञ्जीवितनाथो यस्याः सा खण्डिता ज्ञेया ॥९॥

पुनरन्यास्तास्तिस्रः सन्त्युत्तममध्यमाधमाभेदात् ।
इति सर्वा एवैताः शतत्रयं चतुरशीतिश्च ॥१०॥

अपराधे प्रमितं या कुप्यति मुञ्चति च कारणात्कोपम्।
स्निह्यति नितरां रमणे गुणकार्यात्सोत्तमा ज्ञेया ॥११॥

आलोच्य दोषमल्पं कुप्यत्यधिकं प्रसीदति चिरेण ।
स्निग्धापि कारणेन च महीयसा मध्यमा सेयम् ॥१२॥

स्निह्यति विनापि हेतुं कुप्यत्यपराधमन्तरेणैव ।
स्वल्पादप्यपकाराद्विरज्यते साधमा प्रोक्ता ॥१३॥

---

९. खण्डिता—

घर में पति के लौटने की प्रतीक्षा में स्थित जिस नायिका का पति किसी काम के आ पड़ने से नहीं आ पाता, उसे खण्डिता कहते हैं।९।

अन्य भेद—

ये नायिकाएँ फिर तीन प्रकार की हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। इस प्रकार इनके समस्त भेदों की संख्या ३८४ हो जाती है।१०।

(देखिए पृष्ठ ३७६-३७७)

उत्तमा—

जो नायिका अपराध होने पर थोड़ा कुपित होती है, और कारण बताने पर क्रोध का त्याग कर देती है, एवं (पति के) गुणों के कारण उससे अत्यन्त प्रेम करती है, उसे उत्तमा नायिका जानना चाहिए।११।

मध्यमा—

वह नायिका मध्यमा कहाती है जो थोड़ी-सी त्रुटि देखकर अधिक क्रोध करती है, बहुत देर से प्रसन्न होती है और किसी बड़े कारण से ही प्रेम करती है।१२।

अधमा—

वह नायिका 'अधमा' होती है जो बिना किसी कारण के प्रेम करती है, अपराध के बिना ही क्रोध करती है और थोड़े से अपराध से ही रूठ जाती है।१३।

सम्बन्धिसखिश्रोत्रियराजोत्तमवर्णनिर्वसितदाराः ।
भिन्नरहस्या व्यंगाः प्रव्रजिताश्चेत्यगम्याः स्युः ॥१४॥
एताश्चतुर्दशार्या मूले प्रक्षिप्ताः ॥]

अथ सर्वासामपि संविधानकवशाद्भेदान्तरमाह—

द्वेधाभिसारिकाखण्डितात्वयोगाद्भवन्ति तास्तासु ।
स्वीया स्वाधीनपतिः प्रोषितपतिका पुनर्द्वेधा ॥४१॥

[द्वेधेति] । ताः सर्वा अभिसारिकाः खण्डिताश्च भवन्ति । अथात्मीयाभेदान्तरमाह—तासु स्वीया, स्वाधीनपतित्वप्रोषितपतिकात्वभेदतो द्वेधा ॥

अभिसारिकाया लक्षणमभिसरणक्रमं चाभिधातुमाह—

अभिसारिका तु सा या दूत्या दूतेन वा सहैका वा ।
अभिसरति प्राणेशं कृतसंकेता यथास्थानम् ॥४२॥
काञ्च्यादिरणत्कारं व्यक्तं लोके प्रयाति सर्वस्त्री ।
वृष्टितमोज्योत्स्नादिच्छन्नं स्वीया परस्त्री च ॥४३॥

इत्यार्याद्वयं सुगमम् ॥

अगम्या नारियाँ—

निम्नलिखित स्त्रियाँ 'अगम्या' कही गयी हैं—सम्बन्धी, मित्र, वेदपाठी, राजा और उत्तम वर्ण की स्त्रियाँ, तथा जिन्हें निर्वासित कर दिया गया हो, जिनका दुश्चरित्र सर्वत्र प्रकट हो, जिनके अंगों में वक्रता आदि दोष हों और संन्यासिनी ।१४।

अन्य भेद

ये सभी नायिकाएँ खण्डिता और अभिसारिका भेद से दो प्रकार की हैं। [इनमें से] स्वीया (स्वकीया) नायिका के दो भेद हैं—स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका ।४१।

अभिसारिका—

अभिसारिका नायिका वह होती है जो दूत अथवा दूती के साथ अथवा अकेली संकेत-स्थल पर अपने प्रिय नायक को मिलने के लिए गमन करती है। वेश्या तो काञ्ची आदि आभूषणों को छनछनाती हुई लोक में सबके सामने ही [अपने वैशिक से मिलने के लिए] चली जाती है, किन्तु स्वकीया और परकीया नायिकाएँ, वृष्टि में, घनघोर अँधेरे में [काले वस्त्र पहनकर] और चाँदनी रात में [श्वेत वस्त्र पहनकर] छिपे-छिपे [अपने नायक को] मिलने जाती हैं ।४२-४३।

खण्डितालक्षणमाह—

यस्याः प्रेम निरन्तरमन्यासंगेन खण्डयेत्कान्तः ।
सा खण्डितेति तस्याः कथाशरीराणि भूयांसि ॥४४॥

सुगमं न वरम् । तस्याः कथाशरीराणि भूयांसि । तेन विप्रलब्धाकलहान्तरिते अत्रान्तर्भूते । तल्लक्षणं चेदम् । यथा—

यस्या दूतीं प्रियः प्रेक्ष्य दत्त्वा संकेतमेव वा ।
नागतः कारणेनेह विप्रलब्धा तु सा स्मृता ॥
ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्तो यस्या नागच्छति प्रियः ।
सामर्षवशसंतप्ता कलहान्तरिता मता ॥

एवंविधानि संविधानकवशाद्भूयांसि कथाशरीराणि तस्या भवन्ति । ततश्च यदुक्तं भरतेन । यथा—

तत्र वासकसज्जा च विरहोत्कण्ठितापि च ।
स्वाधीनभर्तृका चापि कलहान्तरिता तथा ॥
खण्डिता विप्रलब्धा च तथा प्रोषितभर्तृका ।
तथाभिसारिका चैव इत्यष्टौ नायिकास्मृताः ॥

तदत्रापि संगृहीतम् ॥

स्वाधीनपतिप्रोषितपतिकयोर्लक्षणमाह—

यस्याः पतिरायत्तः क्रीडासु तया समं रतौ मुदितः ।
सा स्यात्स्वाधीनपती रतिमण्डनलालसासक्ता ॥४५॥

खण्डिता—

जिसके अनन्य प्रेम को नायक किसी अन्य स्त्री में आसक्त होकर खण्डित कर दे उसे खण्डिता नायिका कहते हैं। इस विषय में बहुत-सी कथाएँ उपलब्ध हैं।४४।

इसी प्रसंग में नमिसाधु ने विप्रलब्धा और कलहान्तरिता के लक्षण निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत किये हैं—

(१) जिसका प्रिय दूती को देखकर अथवा संकेत देकर भी [किसी] कारण से नहीं पहुँच सका वह विप्रलब्धा कहाती है ।

(२) जिसका प्रिय ईर्ष्या अथवा कलह के कारण [घर से] निकला हुआ [वापस] नहीं आ रहा, और जो क्रोध से सन्तप्त है वह कलहान्तरिता कहाती है ।

स्वाधीनपतिका—

सुरतानन्द की लालसा में आसक्त जिस नायिका का पति उसी के साथ समान रूप से रति-क्रीड़ा में प्रसन्न रहता है वह स्वाधीनपतिका है ।४५।

सा स्यात्प्रोषितपतिका यस्या देशान्तरं पतिर्यातः ।
नियतानियतावधिको यास्यति यात्येत्युपैष्यति च ॥४६॥

सुगमम् ॥

अथाध्यायमुपसंहरन्नन्यथाकरणनिषेधमाह—

इति कथितमशेषं लक्षणं नायकाना-
मनुगतसचिवानां हीनमध्योत्तमानाम् ।
अतिरसिकतयेदं नान्यथा जातु कुर्यात्
कविरविहतचेताः साधुकाव्यं विधित्सन् ॥४७॥

प्रकटार्थमेव ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतो
द्वादशोऽध्यायः समाप्तः ।
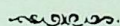
प्रोषितपतिका—

जिसका पति निश्चित अथवा अनिश्चित अवधि के लिए देशान्तर को चला गया है अथवा जाने वाला है अथवा जा रहा है अथवा वापस आने वाला है, वह नायिका प्रोषितपतिका कहलाती है ।४६।

७. उपसंहार

इस प्रकार हीन, मध्यम एवं उत्तम नायकों तथा उनके अनुगतों एवं सचिवों के सम्पूर्ण लक्षण कह दिये हैं। यह इसलिए किया गया है कि कहीं साधुकाव्य की रचना करने की इच्छा करने वाला कोई स्थिरचित्त कवि अत्यधिक रसिकता के कारण कदाचित् कुछ अन्यथा न कर बैठे ।४७।

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्य-हिन्दीव्याख्यायां द्वादशोऽध्यायः
समाप्तः ।

त्रयोदशोऽध्यायः

संभोगः संगतयोरिति वचनात्संपर्क एव नायकयोः शृङ्गारो न त्वालोकनाद् इत्याशङ्कयाह—

अन्योन्यस्य सचित्तावनुभवतो नायकौ यदिद्धमुदौ ।
आलोकनवचनादि स सर्वः संभोगशृंगारः ॥१॥

अन्योन्यस्येति । नायकौ दंपती सचित्तौ तुल्यमानसौ यदालोकनवचनोद्यानविहार-पुष्पोच्चयजलक्रीडामधुपानताम्बूलसुरतादिकं परस्परसंबन्ध्यनुभवतः स सर्वः, न तु निधुवनमात्रं संभोगशृङ्गार इति । प्रवासविप्रलम्भस्य संभोगशृङ्गारत्वनिषेधार्थमाह—इद्धमुदाविति । प्रमुदितावित्यर्थः ॥

अथास्य सम्भोगशृङ्गारस्यानुभवमाह—

तत्र भवन्ति स्त्रीणां दाक्षिण्यस्नेहसौकुमार्याणाम् ।
अविरोधिन्यश्चेष्टा देशे काले च सर्वासाम् ॥२॥

त्रयोदश अध्याय

इस अध्याय में सम्भोग शृङ्गार के वर्णन के अन्तर्गत सम्भोग शृंगार का स्थान निर्दिष्ट किया गया है, नारियों की विभिन्न दशाओं एवं चेष्टाओं का वर्णन किया गया है, नवोढाओं का स्वरूप बताया गया है, नायक को कुशलतापूर्वक आचरण करने और अन्त में कवियों को प्राचीन कवियों का अनुकरण करने का उपदेश दिया गया है ।

१. सम्भोग शृंगार का स्वरूप

तुल्य मन वाले, प्रमुदित नायक तथा नायिका जिस पारस्परिक आलोकन, सम्भाषण आदि का अनुभव करते हैं वह सब सम्भोग शृङ्गार कहाता है ।१।

नमिसाधु ने 'आदि' से तात्पर्य लिया है—उद्यान-विहार, पुष्पचयन, जलक्रीड़ा, मधुपान, ताम्बूल, सुरत आदि ।

'इद्धमुदौ' (प्रमुदितौ) का प्रयोग करने का तात्पर्य यह है कि सम्भोगशृंगार में दोनों इस स्थिति में होते हैं, किन्तु विप्रलम्भ शृंगार में नहीं होते ।

२. स्त्रियों की दशाएँ एवं चेष्टाएँ

वहाँ (सम्भोग शृङ्गार में) चातुर्य, प्रेम एवं मृदुता से युक्त सभी स्त्रियों की सभी स्थानों एवं समयों के अनुकूल चेष्टाएँ होती हैं ।२।

तत्रेति । सुगमं न वरम् । दाक्षिण्यमनुवृत्तिः स्नेहः प्रेम । सौकुमार्यं मार्दवम् । देशो वनोद्यानादिः । कालो वसन्तसुरतादिः ॥

दयितचेष्टानुकारो नाम लीला स्त्रीणां भवतीति दर्शयितुमाह—

दयितस्य सखीमध्ये चेष्टां मधुरैर्वचोभिरुचितैस्ताः ।
ललितैरङ्गविकारैः क्रीडन्त्यो वानुकुर्वन्ति ॥३॥

दयितस्येति । सुगमम् ॥

तत्रापि तदनुकार्यं यदनुकर्तुं शक्यते, न तूल्बणमपि । तदाह—

अनुकार्यं न तु नार्या यत्प्रेरणकर्म तत्परोक्षे सा ।
अनुकुर्वती विजह्यान्माधुर्यं सौकुमार्यं च ॥४॥

अनुकार्यमिति । सुगमं न वरम् । तुरवधारणे । नैवेत्यर्थः ॥

चेष्टान्तराण्याह—

अपहारे वसनानां कुचकलशादिग्रहे रतान्ते च ।
अन्तर्निहितानन्दा पुरुषेषु रुषेव वर्तन्ते ॥५॥

अपहार इति । सुगमम् ॥

समकालं निन्दन्ति त्रस्यन्ति हसन्त्यहेतु लज्जन्ति ।
अस्यन्त्यालिङ्गन्ति च दयितान्भूतैरिवाविष्टाः ॥६॥

समकालमिति । सुगमम् ॥

वे स्त्रियाँ सखियों के मध्य उचित एवं मधुर वचनों से अथवा सुन्दर अंग-विकारों से कीड़ा करती हुई नायक की चेष्टा का अनुकरण करती हैं ।३।

नायिका को नायक के साथ की हुई सुरत से पूर्व की कामचेष्टाओं का [सखियों के मध्य में] अनुकरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि [नायक की] अनुपस्थिति में इस प्रकार की चेष्टाओं का अनुकरण करने पर वह एक प्रकार से मधुरता एवं सुकुमारता का त्याग कर बैठती है ।४।

[यद्यपि नारियाँ पुरुषों द्वारा] अपने वस्त्रों के हटाने में तथा [यहां तक कि] रतिकर्म के अन्त में [भी] कुच-रूप घट के ग्रहण में हार्दिक आनन्द का अनुभव करती हैं तथापि उन पर [बाहर से] क्रुद्ध होती हैं ।५।

[नारियाँ] भूतों के समान एक ही समय बिना कारण निन्दा करती हैं, डरती हैं, हँसती हैं, लज्जा करती हैं, अपने पतियों को दूर धकेलती हैं और उन्हें आलिंगन करती हैं ।६।

पूर्वमुक्तम् 'ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम्' (११।९) इति तत्क्वचित्साध्वेवेति दर्शयितुमाह—

समये त्वरावतीनामपदेषु विभूषणादिविन्यासः ।
भवति गुणाय विभावितताल्पर्यस्मेरितादिरपि ॥७॥

समय इति । सुगमम् ॥

अननुकूलाचरणं सर्वत्र दोषत्वेन प्रसिद्धम्, तस्य विशेषगुणत्वमाह—

कुर्वन्ति प्रतिकूलं रहसि च यद्यत्प्रियं प्रति प्रमदाः ।
तत्तद्गुणाय तासां भवति मनोभूप्रसादेन ॥८॥

कुर्वन्तीति । सुगमम् ॥

नवोढानां स्वरूपमाह—

दृष्ट्वा प्रियमायान्तं तन्मनसस्तेन संवदन्त्यो वा ।
मन्मथजनितस्तम्भाः प्रतिहतचेष्टाश्च जायन्ते ॥९॥
किमपि प्रियेण पृष्टास्तस्याथ ददत्यसंस्तुतस्येव ।
साध्वससादितकण्ठ्यः स्खलितपदैरुत्तरं वाक्यैः ॥१०॥
यत्किमपि रहस्यतमं कर्णे कथयेत्प्रियः सखीमध्ये ।
शृण्वन्ति स्फारदृशस्तदुदितघनकण्टकस्वेदाः ॥११॥

[सुरतादि के] अवसर पर शीघ्रता में अस्थान में (उचित अंगों में नहीं) आभूषण आदि धारण कर लेना और विशेष अभिप्राय से मुस्कराना आदि [दोष न होकर] गुण होता है ।७।

स्त्रियाँ एकान्त में प्रिय के प्रति जो-जो प्रतिकूल आचरण करती हैं उनका यह [प्रतिकूल आचरण] वह सब कामदेव की कृपा से [दोष न होकर] गुण बन जाता है ।८।

३. नवोढाओं का स्वरूप

प्रिय में अनन्य मन वाली नवोढा स्त्रियाँ प्रिय को आता हुआ (आया हुआ) देखकर उसके साथ संलाप करने में कामजनित स्तब्धता के कारण चेष्टाहीन-सी हो जाती हैं ।९।

प्रिय द्वारा कुछ पूछने पर वे नवोढाएँ भय से रुँधे कण्ठ से टूटे-फूटे वाक्यों में उत्तर देती हैं जैसे मानो किसी अपरिचित से बात कर रही हों ।१०।

यदि नायक सखियों के बीच में उसके कान में कोई अति रहस्यपूर्ण बात कह

मदनव्याकुलमनसः सकलं तस्यार्थमनवगत्यैव ।
हुंकारं तदपि मुहुः कुर्वन्त्यवधारयन्त्य इव ॥१२॥

दृष्ट्वेति । किमिति । यदिति । मदनेति । सुगमम् ॥

नवपरिणीता वध्वो यत्नादपनीय साध्वसं साम्ना ।
नीता अपि विस्रम्भं रहः सुनिर्बन्धिभी रमणैः ॥१३॥

प्रेर्य प्रेर्य सखीभिर्नीयन्ते वासवेश्म दयितस्य ।
तत्संगमाभिलाषे भूयसि लज्जाहतप्रसरे ॥१४॥
(युग्मम्)

नवेति । प्रेर्येति सुगमम् ॥

ननु किमिति सखीभिः प्रार्थनया नीयन्ते नायकः कथं हठादेव न प्रवर्तयतीत्याह—

सुकुमाराः पुरुषाणामाराध्या योषितः सदा तल्पे ।
तदनिच्छया प्रवृत्तः शृंगारं नाशयेन्मूर्खः ॥१५॥

सुकुमारा इति ॥

दे, तो वे आँखें विस्फारित करके उसे सुनती हैं, और उससे उनके शरीर में रोमांच तथा स्वेद हो जाता है ।११।

कामदेव से पीड़ित मन वाले उस अपने प्रिय की सब बातों को न समझती हुई भी बार-बार ऐसे 'हुंकार' करती हैं मानो सब समझ रही हों ।१२।

अत्याग्रही पतियों द्वारा एकान्त में बड़े यत्न से तथा मधुर वचनों से [नवसंगमजनित] भय हटाकर विश्वास दिलाये जाने पर भी नवविवाहित वधुएँ सखियों द्वारा बार-बार प्रेरित होकर प्रिय के निवासस्थान पर ले जाई जाती हैं, क्योंकि लज्जा के कारण उन (वधुओं) की समागम की उत्कट अभिलाषा दबी रहती है ।१३-१४।

४. नायक को शिक्षा

पलंग पर सदा सुकुमारी स्त्रियाँ पुरुषों की आराध्य होती हैं । उनकी इच्छा के विरुद्ध प्रवृत्त मूर्ख शृङ्गार का नाश कर देता है ।१५।

तस्मात्किं कर्तव्यमित्याह—

वाग्मी सामप्रवणश्चाटुभिराराधयेन्नारीम् ।
तत्कामिनां महीयो यस्माच्छृंगारसर्वस्वम् ॥१६॥

वाग्मीति । सुगमम् ॥

अध्यायमुपसंहरन्कवेरुपदेशमाह—

सुकविभिरभियुक्तैः सम्यगालोच्य तत्त्वं
त्रिजगति जनताया यत्स्वरूपं निबद्धम् ।
तदिदमिति समस्तं वीक्ष्य काव्येषु कुर्यात्
कविरविरलकीर्तिप्राप्तये तद्वदेव ॥१७॥

सुकविभिरिति । सुगमम् ॥

इति श्री रुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतः
त्रयोदशोऽध्यायः समाप्तः ।
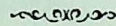
[ऐसी अवस्था में] जो वाक्-पटु और फुसलाने में निपुण नायक अपनी चाटूक्तियों द्वारा नारी का प्रसादन करता है, वह शृङ्गार के वास्तविक आनन्द का भोक्ता और सर्वश्रेष्ठ कामी कहाता है ।१६।

५. *उपसंहार*

[पूर्ववर्ती] मनीषी सुकवियों ने प्रत्येक तत्व को भली प्रकार परखकर इस त्रिभुवन में जनता के जिस स्वरूप को निबद्ध किया है कवि उन सबको देखकर अविरल कीर्ति को प्राप्त करने के लिए काव्यों में उसी प्रकार उनका वर्णन करे ।१७।

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्य-हिन्दीव्याख्यायां त्रयोदशोऽध्यायः
समाप्तः ।

चतुर्दशोऽध्यायः

अथ संभोगं व्याख्याय विप्रलम्भश्रृङ्गारं व्याचिख्यासुराह—

अथ विप्रलम्भनामा श्रृंगारोऽयं चतुर्विधो भवति ।
प्रथमानुरागमानप्रवासकरुणात्मकत्वेन ॥१॥

अथेति । अथशब्द आनन्तर्ये । संभोगानन्तरम् । विप्रलम्भोऽयं श्रृङ्गारश्चतुर्विधो भवति । कथं चतुर्विध इत्याह—प्रथमानुरागादय आत्मा स्वरूपं यस्य तद्भावस्तत्त्वं तेन हेतुना । प्रकारनिर्देशादेव चातुर्विध्ये लब्धे चतुर्विधग्रहणं चतुर्विधस्याप्यस्य श्रृङ्गारत्वनियमार्थम् । चतुर्विधोऽपि श्रृङ्गार एवायम् । केचिद्धि करुणरस एव विप्रलम्भभेदं करुणमन्तर्भावयन्ति । तदसत् । वैलक्षण्यात् । शुद्धे हि करुणे श्रृङ्गारस्पर्श एव न विद्यते । करुणविप्रलम्भस्तु श्रृङ्गार एव । यथा कालिदासस्य—

> प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः ।
> रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम् ॥

अथैषामेव यथाक्रमं लक्षणमाह—

आलोकनादिमात्रप्ररूढगुरुरागयोरसंप्राप्तौ ।
नायकयोर्या चेष्टा स प्रथमो विप्रलम्भ इति ॥२॥

आलोकनेति । सुगमम् ॥

चतुर्दश अध्याय

इस अध्याय में विप्रलम्भ श्रृङ्गार के चार भेदों—अनुराग, मान, प्रवास और करुण का निरूपण है। 'अनुराग' के अन्तर्गत प्रेमियों की दस दशाओं, नायक के प्रयत्न और परदारा-प्रसंगोपेक्षा की चर्चा की गई है। 'मान' के अन्तर्गत इस प्रसंग की चर्चा है। अपराध-प्रकार, अपराध-बोधक चिह्न, कोप-प्रकार, देश, काल, पात्र के तीन-तीन रूप, आशंका-परिहारोपाय, कोप-परिणाम और कोपभ्रंशोपाय। इसके उपरान्त प्रवास और करुण-विप्रलम्भ का स्वरूप-निर्देश किया गया है। इस प्रकार श्रृङ्गार रस के भेदोपभेदों के अनन्तर श्रृङ्गाराभास, श्रृङ्गार और रीतियों का सम्बन्ध तथा श्रृङ्गार रस की सर्वोत्कृष्टता की चर्चा की गई है।

१. विप्रलम्भ श्रृङ्गार के भेद

यह विप्रलम्भ नामक श्रृङ्गार चार प्रकार का होता है—१. अनुराग, २. मान, ३. प्रवास और ४. करुणात्मक ।१।

(क) अनुराग—

केवल आलोकन आदि से उत्पन्न महान् प्रीति वाले, [किन्तु] परस्पर-

ता एव काश्चिच्चेष्टा आह—

हिमसलिलचन्द्रचन्दनमृणालकदलीदलादि तत्रैतौ ।
दुर्वारस्मरतापौ सेवेते निन्दतः क्षिपतः ॥३॥

हिमेति । सुगमम् ॥

अथास्य सूचकानवस्थाभेदानाह—

आदावभिलाषः स्याच्चिन्ता तदनन्तरं ततः स्मरणम् ।
तदनु च गुणसंकीर्तनमुद्वेगोऽथ प्रलापश्च ॥४॥
उन्मादस्तदनु ततो व्याधिर्जडता ततस्ततो मरणम् ।
इत्थमसंयुक्तानां रक्तानां दश दशा ज्ञेयाः ॥५॥
(युग्मम्)

आदाविति । उन्माद इति । सुगमम् । एताश्च दशाः कादम्बरीकथायां प्रकटाः । मरणं तु केचिन्नेच्छन्ति दशाम् । मृतस्य हि कीदृशः शृङ्गारः । यैरुक्तं ते तु मन्यन्ते । नवमीं दशां प्राप्तस्य निरुद्यमस्य मरणमेव दशमी दशा स्यात् । ततस्तामप्राप्तेन नायकेन तन्निषेधार्थं यतितव्यमिति दर्शनार्थं दशमी दशोक्ता ॥

अथ कस्तत्र प्रयत्न इति प्रयत्नक्रममाह—

अथ नायकोऽनुरक्तस्तस्यामर्जयति परिजनं तस्याः ।
उद्दिश्य हेतुमन्यं साम्ना दानेन मानेन ॥६॥

मिलन को प्राप्त न किए हुए नायक-नायिका की जो चेष्टा होती है वह विप्रलम्भ का प्रथम भेद 'अनुराग' कहाता है ।२।

उस (विप्रलम्भ शृङ्गार) में अति काम से पीड़ित ये दोनों (नायक और नायिका) शीतल जल, चन्द्र, चन्दन, कमलनाल, केले के पत्ते आदि का सेवन करते हैं, उनकी निन्दा करते हैं और [भावावेश में आकर] उन्हें [दूर] फेंकते हैं ।३।

दस दशाएँ—

सबसे पहले इच्छा [उत्पन्न] होती है तत्पश्चात् चिन्ता, तब स्मरण, उसके बाद गुण-संकीर्तन, उद्वेग और प्रलाप, फिर उन्माद, उसके बाद रोग और जड़ता, और अन्त में मृत्यु । इस प्रकार असंयुक्त प्रेमियों की दस अवस्थाएँ जाननी चाहिए ।४-५।

नायक के प्रयत्न—

इसके बाद प्रेमी नायक किसी अन्य कारण को बताकर साम, दान तथा मान से उस (नायिका) और उसके परिवार [सखी आदि] को अर्जित करता है, अर्थात् इनकी सहायता प्राप्त करता है ।६।

तस्य पुरतोऽथ कुर्वन्गृहीतवाक्यस्य नायिकाविषयाम् ।
चिरमनुरागेण कथां स्वयमनुरागं प्रकाशयति ॥७॥

तदभावे प्रव्रजिता मालाकारादियोषितो वापि ।
उभयप्रत्ययितगिरः कर्मणि सम्यङ् नियुङ्क्ते च ॥८॥

तद् द्वारेण निवेदितनिजभावो विदितनायिकाचित्तः ।
त्वरयति तामुपचारैः स्वावस्थासूचकैर्लेखैः ॥९॥

सिद्धां च तां विविक्ते दृष्ट्वाथ कलाभिरिन्द्रजालैर्वा ।
योगैरसकृत्क्रमशो, विस्मापयति प्रसंगेषु ॥१०॥

गतार्थम् ॥

यदा तु सा कन्या नानेन क्रमेण प्राप्यते तदा किमित्याह—

मन्येत यदा नेयं कथमपि लभ्येत नायिका नाथात् ।
क्षीणसमस्तोपायः कन्यां स तदैति साधयति ॥११॥

मन्येतेति । सुगमं न वरम् । नाथाज्जनकादिकात् ॥

इसके बाद [नायक] उस [परिजन] के सामने जिसने उसकी बात को ग्रहण किया [सुना] है, प्रेम से चिरकाल तक नायिका-विषयक बातों को करता है और उसके प्रति अपने अनुराग को प्रकट करता है ।७।

इसके अभाव में वह दोनों के प्रति विश्वसनीय वचन बोलने वाली संन्यासिनी अथवा माली आदि की स्त्रियों को इस कार्य में अच्छी प्रकार नियुक्त करता है ।८।

उनके द्वारा अपने अभिप्राय को बताकर और नायिका के मन को जानकर उसको उपचारों से और अपनी अवस्था के सूचक लेखों से शीघ्रता करने को कहता है ।९।

इसके बाद वश में हो जाने पर उसको एकान्त में देखकर कलाओं से, इन्द्र-जालों से तथा योग की क्रियाओं से भिन्न-भिन्न अवसरों पर अनेक बार आश्चर्यान्वित करता है ।१०।

जब वह यह समझे कि यह नायिका अपने [पिता आदि] रक्षक से, किसी प्रकार प्राप्त नहीं होगी तब सब उपायों के समाप्त हो जाने पर वह कन्या के पास आता है और उसको वश में करता है ।११।

स्पष्टतः रुद्रट का यह प्रसंग कामशास्त्रीय धारणाओं से प्रभावित है ।

ननु कन्यायाः स्वीकारक्रमोपदेशो न दुष्टः, परदाराणां तु विरुद्ध एव महापापत्वादित्यत आह—

नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः ।
कर्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः ।।१२।।

किं तु तदीयं वृत्तं काव्यांगतया स केवलं वक्ति ।
आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र ।।१३।।
(युग्मम्)

नेति । किमिति । सुगमम् ।।

ननु पारदारिकवृत्ताख्यानमपि न युक्तमित्याह—

सर्वत एवात्मानं गोपायेदिति सुदारुणावस्थः ।
आत्मानं रक्षिष्यन्प्रवर्तते नायकोऽप्यत्र ।।१४।।

सर्वत इति । यत्र शास्त्रे भणितं परदारा न गन्तव्यास्तत्रैवोक्तं सर्वत एवात्मानं गोपायेदित्यस्माद्वचनान्नायकोऽप्यात्मरक्षार्थमत्र परदारेषु न प्रवर्तत इति ।।

प्रथमानुराग उक्तः । अथ मानमाह—

मानः स नायकें यं विकारमायाति नायिका सेर्ष्या ।
उद्दिश्य नायिकान्तरसंबन्धसमुद्भवं दोषम् ।।१५।।

मान इति । सुगमम् ।।

परदारा-प्रसंग उपेक्षणीय—

कवि को दूसरे की स्त्रियों की इच्छा नहीं करनी चाहिए और न ही कर्तव्य के रूप में [वशीकरण के] उपदेश करने चाहिए और न ही उनका उपाय कहना चाहिए ।१२।

परन्तु वह केवल उसके वृत्त को विद्वानों को प्रसन्न करने के लिए काव्यांग के रूप में कहता है । अतः इसमें कवि का कोई दोष नहीं है ।१३।

विषम अवस्था में पड़ा हुआ नायक भी अपनी रक्षा करता हुआ [इस परदारा-विषयक प्रसंग से] अपने-आपको बचाए ।१४।

(ख) मान—

नायिका [जब नायक के सम्बन्ध में यह जान लेती है कि वह किसी अन्य नारी के प्रति आसक्त है तो वह उस नारी के प्रति] ईर्ष्या से भरी हुई नायक के प्रति जो व्यवहार करती है वह मान कहाता है ।१५।

दोषस्यैव सारेतरविभागानाह—

गमनं ज्यायान्दोषः प्रतियोषिति मध्यमस्तथालापः ।
आलोकनं कनीयान्मध्यो ज्यायान्स्वयं दृष्टः ॥१६॥

गमनमिति । सुगमम् ॥

दोषस्यैव लिङ्गान्याह—

वसनादि नायकस्थं तदीयमार्द्रक्षतं च तस्याङ्गम् ।
दोषस्य तथा गमकं गोत्रस्खलनं सखीवचनम् ॥१७॥

वसनादीति । सुगमम् ॥

अथासौ दोषो ज्ञातस्तस्याः किं कुरुत इत्याह—

देशं कालं पात्रं प्रसङ्गमवगमकमेत्य सविशिष्टम् ।
जनयति कोपमसाध्यं सुखसाध्यं दुःखसाध्यं वा ॥१८॥

देशमिति । सुगमं न वरम् । यदि ज्यायांसो देशकालपात्रप्रसङ्गा भवन्त्यसाध्यस्तदा कोपः स्यात् । अथ मध्यास्तदा कृच्छ्रसाध्यः । अथ कनीयांसस्तदा सुखसाध्य इति ॥

अथ क एते देशादयो ज्यायांस इत्याह—

ज्वलदुज्ज्वलप्रदीपं कुसुमोत्करधूपसुरभि वासगृहम् ।
सौधतलं च सचन्द्रिकमुद्यानं सुरभिकुसुमभरम् ॥१९॥

प्रतिद्वन्द्विनी नारी अर्थात् पर नारी के पास जाना सबसे बड़ा अपराध है, उसके साथ बातचीत करना मध्यम दोष है और देखना छोटा। और अपना देखा जाना [उक्त] बड़े [अपराध] की अपेक्षा मध्य (किंचित अल्प) है।१६।

नायककृत अपराध-बोधक चिह्न—

नायक द्वारा पहने हुए वस्त्र आदि, ताज़े नखक्षत वाला उसका शरीर, गोत्र-स्खलन और सखी का वचन ये सब नायक दोष के ज्ञापक [चिह्न] होते हैं।१७।

गोत्र-स्खलन से तात्पर्य है भूल से अन्य नारी का नाम मुख से निकल जाना।

कोप के तीन प्रकार—

देश, काल, पात्र और प्रसंग [-सम्बन्धी] विशेष ज्ञापकों को प्राप्त कर [नायिका में] कोप उत्पन्न होता है जो कि [इनके तारतम्य के अनुसार] तीन प्रकार का होता है—असाध्य, सुख-साध्य और दुःख-साध्य।१८।

देश, काल, पात्र : तीन-तीन रूप—

जहाँ उज्ज्वल दीपक जल रहा है, पुष्प-समूह तथा धूप से सुगन्धित वासगृह,

इति देशा ज्यायांसो मधुरजनी स्मरमहोदयः कालः ।
पात्रं तु नायकौ तौ ज्यायो मध्याधमावुक्तौ ॥२०॥
(युग्मम्)

ज्वलदिति । इतीति । सुगमं न वरम् । ताविति पूर्वोक्तनायकौ । तत्रानुकूल-दक्षिणादिश्चतुर्धा नायकः । आत्मान्यसर्वसक्ताश्च नायिकाः । तत्रानुकूलेन दक्षिणेन च नायकेन ज्यायस्या नायिकाया दोषः कृतोऽसाध्यः । शठेन धृष्टेन च ज्यायस्याः कृच्छ्रसाध्यः । शठेन च ज्यायस्याः सुखसाध्य इत्यादि चिन्त्यम् ॥

प्रसङ्गं ज्यायांसमाह—

सकलसखीपरिवृतता रत्यभिमुखता च तत्प्रशंसा च ।
जायेत नायिकायां यत्र ज्यायान्प्रसङ्गोऽसौ ॥२१॥

सकलेति सुगमम् । मध्याधमौ तु प्रसङ्गौ स्वयमुन्नेयौ ॥

तत्र प्रत्यक्षदोषदर्शने परिहारो नास्ति, लिङ्गगम्ये त्वस्तीत्याह—

परिहारो वसनादावन्यस्मादागमोऽन्यदिदमिति वा ।
परिहर्तुं कृतमस्मिन्न लक्ष्यते नायिकां रमयेत् ॥२२॥

चन्द्रिकायुक्त महल, सुगन्धित फूलों से युक्त उद्यान—ये बड़े [उत्तम कोटि के] देश [कहलाते] हैं। मधु रात्रि कामोत्पादक [उत्तम कोटि का] काल [कहाता] है, और वे नायक और नायिका बड़े [उत्तम कोटि के] पात्र हैं। इसी प्रकार मध्यम और अधम [कोटि के भी देश, काल और पात्र] कहे गये हैं, अर्थात् समझने चाहिएँ ।१९-२०।

उच्च कोटि का प्रसंग वह माना जाता है जब नायक को नायिका की सभी सखियाँ घेर लेती हैं, उसके सम्मुख नायिका के प्रेम की अभिमुखता वर्णित की जाती है और उसकी प्रशंसा प्रस्तुत की जाती है ।२१।

आशंका-परिहार के उपाय—

नायिका द्वारा नायक के अपराध को प्रत्यक्ष रूप से देख लेने पर तो कोई परिहार प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । हाँ, यदि उसका अपराध किन्हीं चिह्नों से ही ज्ञातव्य है तो उसका परिहार निम्न रूप से किया जा सकता है ।

[अस्त-व्यस्त] यह वस्त्र अन्य स्थान से आया हुआ है, अथवा यह वस्त्र और ही है, इत्यादि कहकर वस्त्र आदि का परिहार करके [नायक] नायिका को प्रसन्न करे । यदि इस प्रकार से परिहार न किया जा सके तो फिर [नायक] इस प्रकार से परिहार कर सकता है कि यह वस्त्र तुम्हारे साथ पूर्व संग से ही ऐसा हो गया है ।२२।

तदनु त्वत्कृतमिदमिति परिहारः पूर्वमेव वा सुरतम् ।
शब्दान्तरनिष्पत्तिर्गोत्रस्खलने तु केलिर्वा ॥२३॥
अभियोज्यायां मयि वा कुपितेयमनेन हेतुना तेन ।
वक्ति सखी ते मिथ्या किलेति तद्वचसि परिहारः ॥२४॥

परिहार इति । तदन्विति । अभियोज्यायामिति । सुगमम् ॥

अथ यतः कोपान्नायकाय कुरुते (?) तदाह—

ज्यायोभिः सह दोषो ज्यायाञ्जनयत्यसाध्यमतिकोपम् ।
तस्मान्म्रियते सद्यो मनस्विनी त्यजति वा पुरुषम् ॥२५॥

ज्यायोभिरिति । सुगमम् ॥

अथास्याः कोपस्य साध्यासाध्यविभागः कथं ज्ञेय इत्याह—

दोषस्य सहायानामालोच्य बलाबलं समेतानाम् ।
बुध्येत कोपमस्याः सुखसाध्यं कृच्छ्रसाध्यं वा ॥२६॥

दोषस्येति । सुगमम् ॥

परनारी का नाम भूल से मुख से निकल जाने पर उस शब्द की व्युत्पत्ति अन्य [धातु] से बता देनी चाहिए, अथवा [कहना चाहिए कि यह नाम तो तुम्हें चिढ़ाने के लिए अथवा] विनोदार्थ [लिया गया है] ।२३।

सखी के वचन के सम्बन्ध में इस प्रकार परिहार करना चाहिए कि मेरे लिए नियुक्त [यह तुम्हारी] सखी मेरे प्रति कुपित है—इसीलिए उस हेतु से इसने [मेरे विषय में तुम्हें] झूठ कहा है ।२४।

कोप का परिणाम—

बड़े व्यक्तियों [नृप, सचिव आदि व्यक्तियों द्वारा किया अपराध बड़ा दोष कहाता है, और असाध्य तथा अधिक कोप को उत्पन्न करता है । मनस्विनी (मान-शीला) नारी या तो तत्काल मर जाती है, या [ऐसे] पुरुष को छोड़ देती है ।२५।

[नायक-कृत] अपराध के समन्वित साधनों की सबलता एवं निर्बलता को जाँचने के उपरान्त नायिका के कोप को समझना चाहिए कि वह सुख-साध्य है अथवा कठिनतापूर्वक साध्य ।२६।

अथ जाते कोपे उपायाः प्रयोक्तव्याः, क्व वा के प्रयोक्तव्याः, कथं वा प्रयोक्तव्या इत्येतदाह—

साम प्रदानभेदौ प्रणतिरुपेक्षा प्रसङ्गविभ्रंशः ।
अत्रैते षडुपाया दण्डस्त्विह हन्ति शृङ्गारम् ॥२७॥
दासोऽस्मि पालनीयस्तवैव धीरा बहुक्षमा त्वं च ।
अहमेव दुर्जनोऽस्मिन्नित्यादि स्तुतिवचः साम ॥२८॥
कालेऽलंकारादीन्दद्यादुद्दिश्य कारणं त्वन्यत् ।
बन्धुमहादिकमिति यत्तद्दानं साधु लुब्धासु ॥२९॥
तस्या गृहीतवाक्यं परिजनमाराध्य दानसम्मानैः ।
तेन सदोषः कोपे तां बोधयतीत्ययं भेदः ॥३०॥
दैन्येन पादपतनं प्रणतिरुपेक्षावधीरणं तस्याः ।
सहसात्युत्सवयोगो भ्रंशः कोपप्रसङ्गस्य ॥३१॥

कोप-भ्रंश के छः उपाय—

साम, दान, भेद, नम्रता, उपेक्षा, प्रसंगभ्रंश ये छः उपाय हैं। दण्ड तो शृंगार को नष्ट कर देता है।२७।

साम—मैं दास हूँ, तुझसे पालनीय हूँ, तू बहुत धीरज वाली है, बहुत क्षमा वाली है। मैं ही दुर्जन हूँ, मैं ही दुष्ट हूँ इत्यादि स्तुति के वचन साम कहलाते हैं।२८।

दान—कोई दूसरा कारण बताकर—जैसे कि आज मेरे किसी बन्धु का उत्सव-दिवस है आदि—अलंकार आदि का देना दान कहलाता है। यह उपाय धन-लोभी नारियों के लिए अच्छा [प्रमाणित होता] है।२९।

भेद—नायिका के किसी परिजन को जो नायक की बात समझता और मानता है दान-सम्मान आदि द्वारा सम्मानित करके अपराधी नायक का उसके द्वारा नायिका को मनवाना भेद कहाता है।३०।

प्रणति, उपेक्षा, प्रसंग-विभ्रंश—

दीनतापूर्वक पैरों में पड़ना प्रणति (नम्रता) कहलाती है। उसकी परवाह न करना उपेक्षा कहलाती है। अचानक किसी प्रसन्नता का अवसर आ जाना कोप-प्रसंग का भंग कहलाता है।३१।

मृदुरत्र यथा पूर्वं सर्वेषु यथोत्तरं तथा बलवत्।
साध्येत यो न मृदुना बलवांस्तत्र प्रयोक्तव्यः ।।३२।।

सुगमम् ।।

अथ प्रवासमाह—

यास्यति याति गतो यत्परदेशं नायकः प्रवासोऽसौ ।
एष्यत्येत्यायातो यथर्त्ववस्थोऽन्यथा च गृहान् ।।३३।।

यास्यतीति । सुगमं न वरम् । यथर्त्ववस्थ इति ऋत्वनतिक्रमेणावस्था दशा प्रत्यावृत्तिव्यवस्था वा यस्य स तथाभूतः । अन्यथा चेति ऋतुविवक्षामन्तरेणेत्यर्थः ।।

अथ करुणमाह—

करुणः स विप्रलम्भो यत्रान्यतरो म्रियेत नायकयोः ।
यदि वा मृतकल्पः स्यात्तत्रान्यस्तद्गतं प्रलपेत् ।।३४।।

करुण इति । सुगमं न वरम् । नायको म्रियते नायिका वा, तथा नायको मृतकल्पो नायिका वा भवतीति चत्वारः प्रकाराः ।।

अथ यस्तत्रैको जीवति तस्य सदृशचेष्टो जनो भवतीत्याह—

सर्वेष्वेषु जनः स्यात्स्रस्तावयवो विचेतनो ग्लानः ।
अच्छिन्ननयनसलिलः सततं दीर्घोष्णनिःश्वासः ।।३५।।

इन उपायों में से पूर्व-पूर्व उपाय मृदु (सरल) कहाता है और उत्तरोत्तर उपाय बलवान्। जो कार्य मृदु उपाय द्वारा सिद्ध न हो सके तो [परवर्ती] बलवान् उपाय का प्रयोग करना चाहिए।३२।

(ग) प्रवास—

नायक परदेश को जाएगा, जा रहा है या चला गया है अथवा फिर ऋतु एवं अवस्था के अनुसार वह घर को आएगा, आ रहा है या आ गया है—यह [सब प्रकरण] प्रवास कहलाता है।३३।

(घ) करुण-विप्रलम्भ—

जहाँ नायक-नायिका में से एक मर जाए या मृतक-सदृश हो जाए और एक-दूसरे के लिए प्रलाप करे वह [प्रसंग] करुण-विप्रलम्भ कहलाता है।३४।

नमिसाधु के अनुसार करुण-विप्रलम्भ के चार भेद हैं—नायक की मृत्यु, नायिका की मृत्यु, नायक की मृतक-सदृश अवस्था, नायिका की मृतक-सदृश अवस्था।

इन सब चारों करुण-प्रकारों में [सम्बद्ध] व्यक्ति शिथिलांग, चेतना-रहित और उदास हो जाता है। उसके नेत्रों से निरन्तर आँसू बहते रहते हैं; और वह लगातार लम्बे और गरम निःश्वास छोड़ता है।३५।

सर्वेष्विति । सुगमं न वरम् । सर्वेष्विति चतुर्ष्वपि करुणप्रकारेष्विति रसोत्पत्तिश्च विभावभावानुभावसंयोगाद् भवति । तत्र शृङ्गारे विभावः संभोगविप्रलम्भादिकः । भावस्तु स्थायी रतिः । इतरस्तु निर्वेदादिः । अनुभावस्तु 'तत्र भवन्ति स्त्रीणाम्' (१३।२) इत्यादिनोक्तः । एवं वीरादिष्वपि योज्यम् ॥

अन्योन्यानुरक्तपुंनार्योः शृङ्गारोऽन्यथात्वे तु शृङ्गाराभास इत्याह—

शृंगाराभासः स तु यत्र विरक्तेऽपि जायते रक्तः ।
एकस्मिन्नपरोऽसौ नाभाष्येषु प्रयोक्तव्यः ॥३६॥

शृङ्गाराभास इति । सुगमं न वरम् । आभाष्येषूत्तमेष्वसौ न प्रयोक्तव्यः ॥

अथात्र रीतीनामनुप्रासवृत्तीनां चावसरे विषयविभागमाह—

इह वैदर्भी रीतिः पाञ्चाली वा विचार्य रचनीया ।
मधुराललिते कविना कार्ये वृत्ती तु शृंगारे ॥३७॥

इहेति । सुगमम् ॥

अथाध्यायमुपसंहरन्सर्वरसेभ्यः शृङ्गारस्य प्राधान्यं प्रचिकटयिषुराह—

अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम् ।
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्ना-
द्भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम् ॥३८॥

अनुसरतीति । सुगमम् ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतश्चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः ।

---

२. शृंगाराभास—

जहाँ [किसी] एक विरक्त के प्रति दूसरा अनुरक्त हो जाता है वह शृंगाराभास कहलाता है । उत्तम [पात्रों] में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए ।३६।

३. शृंगार रस : रीति—

इस शृंगार रस में कवि को वैदर्भी अथवा पांचाली रीति की रचना करनी चाहिए तथा मधुरा और ललिता वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए ।३७।

४. शृंगार रस : सर्वोत्कृष्ट—

सब रसों में इस [शृंगार] के समान किसी और रस की सरसता नहीं हो सकती । इससे सब बालक तथा वृद्ध व्याप्त हैं । इसलिए इसकी रचना प्रयत्न-पूर्वक करनी चाहिए । इससे रहित काव्य नीरस होता है ।३८।

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्य-हिन्दी-व्याख्यायां चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः ।

पञ्चदशोऽध्यायः

शृङ्गारं व्याख्यायाधुना वीरादीनां विभावभावानुभावलक्षणं कारणत्रयं तथा नायिकानायकगुणांश्च प्रत्येकं क्रमेणाह—

उत्साहात्मा वीरः स त्रेधा युद्धधर्मदानेषु।
विषयेषु भवति तस्मिन्नक्षोभो नायकः ख्यातः ॥१॥

नयविनयबलपराक्रमगाम्भीर्यौदार्यशौर्यशौटीर्यैः।
युक्तोऽनुरक्तलोको निर्व्यूढभरो महारम्भः ॥२॥

उत्साहात्मेति। नयेति। गतार्थं न वरम्। उत्साहः स्थायिभावः। धर्मदानयुद्धलक्षणं च विषयत्रयं विभावः। नायकगुणा एवानुभावः। तेजो रणे च सामर्थ्यं बलम्। रिपूणां बलादाक्रमणं पराक्रमः। गाम्भीर्यमलब्धमध्यता।

दानमभ्युपपत्तिश्च तथा च प्रियभाषणम्।
स्वजनेऽथ परे वापि तदौदार्यं प्रचक्षते॥

समरैकत्वं शौर्यम्। सत्यपि त्यागकारणे योग्यकार्यस्यात्यागः शौटीर्यम्। धैर्यमित्यर्थः॥

पञ्चदश अध्याय

इस अध्याय में शृङ्गारेतर रसों—वीर, करुण, बीभत्स, भयानक, अद्भुत, हास्य, रौद्र, शान्त और प्रेयान् रसों का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। अन्त में इन रसों में रीति-प्रयोग की चर्चा करने के उपरान्त रस-माहात्म्य निर्दिष्ट किया गया है।

१. वीर रस

वीर रस उत्साहयुक्त होता है। युद्ध, धर्म और दान [इन] विषयों में [इसका प्रयोग होता] है, [अतः] यह तीन प्रकार का है। [शीघ्र] क्षुभित न होने वाला धीर तथा प्रसिद्ध व्यक्ति उसका नायक होता है। वह नीति, विनय, तेज, पराक्रम, गम्भीरता, उदारता, वीरता और धैर्य [आदि] गुणों से युक्त होता है। वह लोकप्रिय, कार्यभार का सम्यक् निर्वाह करने वाला तथा बड़े-बड़े कार्य निष्पादन करने वाला होता है।१-२।

अथ करुणः—

करुणः शोकप्रकृतिः शोकश्च भवेद्विपत्तितः प्राप्तेः ।
इष्टस्यानिष्टस्य च विधिविहतो नायकस्तत्र ॥३॥
अच्छिन्ननयनसलिलप्रलापवैवर्ण्यमोहनिर्वेदाः ।
क्षितिचेष्टनपरिदेवनविधिनिन्दाश्चेति करुणे स्युः ॥४॥

करुण इति । अच्छिन्नेति । सुगमं न वरम् । शोकः स्थायिभावः । इष्टानिष्टविपत्तिप्राप्ती विभावः । अच्छिन्ननयनाश्रुप्रभृतिरनुभावः ॥

अथ बीभत्सः—

भवति जुगुप्साप्रकृतिर्बीभत्सः सा तु दर्शनाच्छ्रवणात् ।
संकीर्तनात्तथेन्द्रियविषयाणामत्यहृद्यानाम् ॥५॥
हृल्लेखननिष्ठीवनमुखकूणनसर्वंगात्रसंहाराः ।
उद्वेगः सन्त्यस्मिन्गाम्भीर्यान्नोत्तमानां तु ॥६॥

भवतीति । हृदिति । सुगमं न वरम् । जुगुप्सा स्थायिभावः । विभावस्त्वहृद्यदर्शनादिः । अनुभावो हृल्लेखनादिः । हृल्लेखनं हृदयकम्पः ॥

अथ भयानकः—

संभवति भयप्रकृतिर्भयानको भयमतीव घोरेभ्यः ।
शब्दादिभ्यस्तस्य च नीचस्त्रीबालनायकता ॥७॥

---

२. करुण रस

करुण रस की प्रकृति शोक है। प्रियजन की विपत्ति और अनिष्ट की प्राप्ति से शोक [उत्पन्न] होता है। उसका नायक दुर्दैव-पीड़ित होता है। अविरल अश्रु बहाना, प्रलाप, विवर्णता, मूर्च्छा, निर्वेद, भूमि पर लोटना, विलाप और भाग्य की निन्दा—ये सब करुण रस में होते हैं।३-४।

३. बीभत्स रस

बीभत्स रस की प्रकृति जुगुप्सा है। यह जुगुप्सा अति असुन्दर (घृणित) पदार्थों के देखने, सुननें तथा वर्णन करने से [उत्पन्न होती है।] हृदय का काँपना, थूकना, मुँह बनाना, सारे अंगों को सिकोड़ना और उद्विग्न होना—ये सब इस [रस] में होते हैं। किन्तु गम्भीर स्वभाव होने के कारण उत्तम नायकों में ये नहीं होते।५-६।

४. भयानक रस

भयानक रस की प्रकृति भय है। अति घोर शब्द आदि से भय [उत्पन्न होता

दिक्प्रेक्षणमुखशोषणवैवर्ण्यस्वेदगद्गदत्रासाः ।
करचरणकम्पसंभ्रममोहाश्च भयानके सन्ति ॥८॥

संभवतीति । दिगिति । सुगमं न वरम् । भयं स्थायिभावः । घोरशब्दादिर्विभावः । दिक्प्रेक्षणादिरनुभावः ॥

अथाद्भुतः—

स्यादेष विस्मयात्मा रसोऽद्भुतो विस्मयोऽप्यसंभाव्यात् ।
स्वयमनुभूतादर्थादनुभूयान्येन वा कथितात् ॥९॥
नयनविकासो वाष्पः पुलकः स्वेदोऽनिमेषनयनत्वम् ।
संभ्रमगद्गदवाणीसाधुवचांस्युत्तमे सन्ति ॥१०॥

स्यादिति । नयनेति । सुगमं न वरम् । विस्मयः स्थायिभावः । विभावश्चासंभवि । अनुभावो नयनविकासादिः ॥

अथ हास्यः—

हास्यो हासप्रकृतिर्हासो विकृतांगवेषचेष्टाभ्यः ।
भवति परस्थाभ्यः स च भूम्ना स्त्रीनीचबालगतः ॥११॥
नयनकपोलविकासी किंचिल्लक्ष्यद्विजोऽप्यसौ महताम् ।
मध्यानां विवृतास्यः सशब्दबाष्पश्च नीचानाम् ॥१२॥

हैं] । इसके नायक हैं—नीच व्यक्ति, स्त्री और बालक । दिशाओं को [चारों ओर] देखना, मुख सूख जाना, विवर्णता, पसीना, गला रुँध जाना, त्रास, हाथ-पैरों का कम्पन, चक्कर आना और मूर्च्छा—ये सब भयानक रस में होते हैं ।७-८।

५. अद्भुत रस

अद्भुत रस विस्मययुक्त होता है । स्वयं अनुभव की हुई अथवा अनुभव करके दूसरे व्यक्ति द्वारा कही हुई असम्भव [बातों] से विस्मय [उत्पन्न होता] है । आँखों का विस्फारित होना, अश्रु, रोमांच, स्वेद, अपलक आँखें, घबराहट, गद्गद वचन और प्रशंसा के वचन—ये सब उत्तम [नायक] में होते हैं ।९-१०।

६. हास्य रस

हास्य रस की प्रकृति हास है । दूसरों में स्थित विकृत अंग, विकृत वेष तथा विकृत चेष्टाओं से हास [उत्पन्न होता है] । विशेष रूप से स्त्री, नीच व्यक्ति और बालक इसके नायक होते हैं । इसमें आँखें और गाल विकसित हो जाते हैं । उत्तम नायकों के हास में दाँत थोड़े-से दीखते हैं । मध्यम [नायकों] के हास में मुख पूरी

हास्य इति । नयनेति । सुगमं न वरम् । हास्यः स्थायिभावः । विभावस्तु विकृताङ्गवेषादिः । अनुभावो नयनकपोलविकासादिः ।।

अथ रौद्रः—

रौद्रः क्रोधप्रकृतिः क्रोधोऽरिकृतात्पराभवाद्भवति ।
तत्र सुदारुणचेष्टः सामर्षो नायकोऽत्युग्रः ।।१३।।

तत्र निजांसस्फालनविषमभ्रुकुटीक्षणायुधोत्क्षेपाः ।
सन्ति स्वशक्तिशंसाप्रतिपक्षाक्षेपदलनानि ।।१४।।

रौद्र इति । तत्रेति । सुगमं न वरम् । क्रोधः स्थायिभावः । विभावो रिपुकृतपराभवादिः । अनुभावो निजांसास्फालनादिः ।।

अथ शान्तः—

सम्यग्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति ।
सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात् ।।१५।।

जन्मजरामरणादित्रासो वैरस्यवासना विषये ।
सुखदुःखयोरनिच्छाद्वेषाविति तत्र जायन्ते ।।१६।।

सम्यगिति । जन्मेति । सुगमं न वरम् । सम्यग्ज्ञानं स्थायिभावः । विभावस्तु

तरह से खुल जाता है, और अधम [नायकों] के हास में कहकहे के साथ थूक गिरता है।११-१२।

७. रौद्र रस

रौद्र रस की प्रकृति क्रोध है। शत्रु द्वारा किये गये अपमान से क्रोध [उत्पन्न] होता है। इसका नायक अति दारुण चेष्टाओं से युक्त, क्रोधयुक्त और अति उग्र होता है। अपने कन्धे फड़काना, भृकुटि तानना, आँखें तरेरना, शस्त्र उठाना, अपना पराक्रम बखानना और शत्रु के आक्षेपों का मुँहतोड़ जवाब देना—ये सब इस रस में होते हैं।१३-१४।

८. शान्त रस

शान्त रस की प्रकृति [सांसारिक विषयों का] सम्यक् ज्ञान है। इसका नायक वैराग्यपूर्ण व्यक्ति होता है। तमोगुण और [सांसारिक] मोह से दूर हो जाने से विषय का सम्यक् ज्ञान [उत्पन्न] होता है। जन्म, बुढ़ापा, मरण आदि से त्रास, [सांसारिक] विषय में वैराग्य की भावना, सुख और दुःख की अनिच्छा अर्थात् समभाव और अद्वेष—ये सब इस रस में होते हैं।१५-१६।

शब्दादिविषयस्वरूपम् । अनुभावो जन्मादित्रासादयः । कैश्चिच्छान्तस्य रसत्वं नेष्टम् । तदयुक्तम् । भावादिकारणानामत्रापि विद्यमानत्वात् । एवं प्रेयोरसेऽपि द्रष्टव्यमिति ।।

अथ प्रेयान्—

स्नेहप्रकृतिः प्रेयान्संगतशीलार्यनायको भवति ।
स्नेहस्तु साहचर्यात्प्रकृतेरुपचारसंबन्धात् ।।१७।।
निर्व्याजमनोवृत्तिः सनर्मसद्भावपेशलालापाः ।
अन्योन्यं प्रति सुहृदोर्व्यवहारोऽयं मतस्तत्र ।।१८।।
प्रस्यन्दिप्रमदाश्रुः सुस्निग्धस्फारलोचनालोकः ।
आर्द्रान्तःकरणतया स्नेहपदे भवति सर्वत्र ।।१९।।

सुगमं न वरम् । स्नेहः स्थायिभावः । विभावः साहचर्यादिः । अनुभावः प्रस्यन्दिप्रमदाश्रुप्रभृतिः ।।

---

९. *प्रेयान् रस*

प्रेयान् रस की प्रकृति स्नेह है। इसका नायक संगतशील अर्थात् सौहार्द-सम्पन्न तथा आर्य अर्थात् सुष्ठु स्वभाव वाला व्यक्ति होता है। स्नेह कहते हैं निश्छल मनोवृत्ति को जो प्रकृति के साहचर्य अर्थात् स्वभाव की समानता के कारण तथा [पारस्परिक] उपचार अर्थात् शिष्ट व्यवहार के कारण [उत्पन्न होती है।] इस स्नेह-भाव में एक-दूसरे के प्रति इस प्रकार का व्यवहार होता है, जिसमें [पारस्परिक] प्रेम एवं विश्वास, सद्भाव तथा कोमल आलाप होता है। अन्तःकरण के आर्द्र होने के कारण अत्याह्लादजनित अश्रु-प्रवहण होता है तथा पूर्ण एवं विकसित नेत्रों से परस्पर अवलोकन होता है।१७-१९।

[१]

प्रेयान् रस पर सर्वप्रथम रुद्रट ने प्रकाश डाला और इनके उपरान्त केवल भोजराज ने। इस रस का स्वरूप उपस्थित करने के उपरान्त रुद्रट ने अन्य रसों के ही समान इसका भी उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया, अन्यथा 'स्नेह' नामक स्थायिभाव के स्वरूप को समझने में और भी अधिक सहायता मिलती। 'स्नेह' से इनका तात्पर्य है—सुहृदों का पारस्परिक निश्छल एवं प्रेमपूर्ण सम्बन्ध। रुद्रट-प्रयुक्त सुहृद् शब्द को यदि 'मित्र' का पर्यायवाची मान लिया जाए तो काव्यशास्त्र में प्रेयान् रस की परिकल्पना मौलिक एवं मनोहारी समझी जानी चाहिए। रुद्रट यदि एक ऐसा उदाहरण भी प्रस्तुत कर देते, जिसमें दो मित्रों की मिलनोत्सुकता के समय आकुलता दिखायी जाती, अथवा मिलन-काल में कण्टकित भाव दिखाया जाता तो निःसन्देह

प्रेयान् रस के आलम्बनविभाव (नायक) की प्रधान विशेषता होती उसका मित्र-प्रेमी होना। उदाहरण के अभाव में हम यह निश्चय नहीं कर पाते कि स्नेह से उनका तात्पर्य दो मित्रों के पारस्परिक स्नेह से है, अथवा नायक-नायिका के। परन्तु आगे चलकर रुद्रट से परवर्ती आचार्य भोजराज द्वारा प्रस्तुत प्रेयान् रस के उदाहरण एवं समन्वय से प्रतीत होता है कि भोजराज को इस रस में दो मित्रों के नहीं अपितु नायक-नायिका के ही पारस्परिक स्नेह का वर्णन अभीष्ट है। भोज-प्रस्तुत उदाहरण है—

यदेव रोचते मह्यं तदेव कुरुते प्रिया।
इति वेत्ति न जानाति तत्प्रियं यत्करोति सा॥

[मेरी प्रिया तो इतना जानती है कि वह वही कुछ करती है जो मुझे रुचिकर है, किन्तु वह यह नहीं जानती कि वह जो कुछ भी करती है वही मुझे प्रिय है।]

उक्त उदाहरण का समन्वय करते हुए वे कहते हैं कि इस रस का स्थायिभाव स्नेह है। इसका नायक वत्सल प्रकृति का होने के कारण धीरललित होता है। [वह और] इसकी प्रिया इस रस का आलम्बनविभाव है। इस रस का उद्दीपनविभाव है—इन दोनों की एक-दूसरे के प्रति स्नेह-विषयक सुकुमारतापूर्ण प्रकृति। इसके व्यभिचारभाव हैं—मोह, धृति, स्मृति आदि, और इसके अनुभाव हैं [उक्त प्रकार के नायक की] बाह्य चेष्टाएँ—

अत्र वत्सलप्रकृतेर्धीरतया ललितनायकस्य प्रियालम्बनविभावादुत्पन्नः स्नेह-स्थायिभावो विषयसौकुमार्यात्मप्रकृत्यादिभिरुद्दीपनविभावैरुद्दीप्यमानः समुपजायमानै-र्मोहधृतिस्मृत्यादिभिर्व्यभिचारिभावैरनुभावैश्च संसृज्यमानो निष्पन्नः प्रेयानिति प्रतीयते।

भोज ने इसी प्रसंग के अन्तर्गत स्नेह का परिणाम दिखाते हुए प्रकारान्तर से इसका स्वरूप भी निर्दिष्ट कर दिया है। [किसी व्यक्ति के प्रति किया गया] जो निष्कारण पक्षपात होता है उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, अर्थात् विनिमय में किसी प्रतिफल की कामना नहीं की जाती। यह एक ऐसा स्नेहात्मक तन्तु है जो [दूसरे व्यक्ति] के अन्तर्मर्मों को सी देता है :

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्मर्माणि सीव्यति॥ उ० रा० च०

—स० क० भ० ५।७५ (श्लोक)

इसी प्रसंग में भोज-सम्मत यह कथन भी उल्लेखनीय है—

रतिप्रीत्योरपि चायमेव मूलप्रकृतिरिष्यते।

[स्नेह नामक स्थायिभाव रति और प्रीति की भी मूल प्रकृति है।]

इसका तात्पर्य यह है कि स्नेह से रति अथवा प्रीति का जन्म होता है। दूसरे

शब्दों में, स्नेह पूर्ववर्ती भाव है और रति अथवा प्रीति परवर्ती हैं। भोज के शब्दों में 'मन के अनुकूल विषयों में सुख के अनुभव को रति कहते हैं'—

मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः। स० क० भ० ५।१३८

प्रीति 'साभ्यासिकी' होती है, अर्थात् मृगया आदि कर्मों (खेल-तमाशों) में किया गया अभ्यास प्रीति कहाता है और वह शब्दादि से बहिर्भूत होती है, अर्थात् यह काव्य का विषय नहीं है—

शब्दादिभ्यो बहिर्भूता या कर्माभ्यासलक्षणा।
प्रीतिः साभ्यासिकी ज्ञेया मृगयादिषु कर्मसु॥

स० क० भ० ५।९७

'शब्दादिभ्यो बहिर्भूता' से यह तात्पर्य ले सकते हैं कि जिस प्रकार रति का सम्बन्ध शृंगार रस के साथ है, स्नेह का सम्बन्ध प्रेयान् रस के साथ है, उसी प्रकार प्रीति का सम्बन्ध किसी रस-विशेष के साथ नहीं है, वस्तुतः यह एक भावमात्र है—जिसे हम अभिरुचि (शौक, मशग़ला, hobby आदि) का पर्याय मान सकते हैं। अस्तु! भोज- प्रस्तुत प्रीति का उदाहरण है—

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः
सचिवावलम्बितधुरं नराधिपम्।
परिवृद्धरागमनुबद्धसेवया
मृगया जहार चतुरेव कामिनी॥ स० क० भ० ५।९७ (श्लोक)

[इस मृगया ने चतुर कामिनी के समान इस राजा का हरण कर लिया है, जिसने अपने कर्तव्य को भुला दिया है, जिसने अपना सम्पूर्ण कार्य-भार सचिवों पर छोड़ रखा है और जिसका मृगया के प्रति राग (शौक) इसका अधिक अभ्यास करने के कारण बढ़ गया है।]

अस्तु! रुद्रट और भोज द्वारा प्रतिपादित 'स्नेह' के सम्बन्ध में निम्नोक्त निष्कर्ष प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) रुद्रट के कथनानुसार स्नेह 'निर्व्याज मनोवृत्ति' है और भोज के अनुसार यह 'अहेतु पक्षपात' है। वस्तुतः ये दोनों कथन एक-समान ही हैं।

(२) रुद्रट ने स्नेह का सम्बन्ध सम्भवतः दो मित्रों के पारस्परिक स्नेह के साथ स्थापित किया है और भोज ने नायक-नायिका के।

(३) भोज के अनुसार स्नेह नामक भाव रति और प्रीति की मूल प्रकृति है।

[२]

रुद्रट से पूर्व प्रेयान् रस का उल्लेख यद्यपि किसी आचार्य ने नहीं किया, किन्तु प्रेयः (प्रेयस्वद्) अलंकार के लक्षण एवं उदाहरण से इस रस के संकेत अवश्य

मिल जाते हैं। भामह-प्रस्तुत प्रेयस्वद् अलंकार का स्वरूप इस प्रकार है—

प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद् विदुरो यथा ॥
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ॥ का० अ० ४।५

[विदुर ने घर आये कृष्ण को जो कुछ कहा वह प्रेयस् अलंकार है। यथा—हे गोविन्द ! आज तुम्हारे घर आने से मुझे जो प्रीति (प्रसन्नता) मिली है वह समय आने पर तुम्हारे आगमन पर फिर होगी।]

आगे चलकर दण्डी ने भामह के ही इसी कथन का परिवर्द्धित रूप उपस्थित किया है—

प्रेयः प्रियतराख्यानम् ×……×……× ।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवाऽऽगमनाद् पुनः ॥
इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तादृशी धृतिः ।
भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः ॥

का० आ० २।२७५-२७७

[प्रियतर कथन को प्रेयः अलंकार कहते हैं। ××× (उदाहरणार्थ) हे गोविन्द ! आपके मेरे इस घर में आने पर मुझे जो प्रीति अर्थात् प्रसन्नता मिली है, वह फिर भी किसी अन्य समय आपके पुनः आगमन पर मुझे मिलेगी।

यह कथन विदुर ने भगवान् कृष्ण के प्रति ठीक ही कहा था कि उनको किसी भी दूसरे से इतना धैर्य (आनन्द) न मिलता। तभी भगवान् भी जो कि भक्तिभाव से आराध्य हैं अति प्रसन्न हुए।]

इसी प्रसंग में दण्डी ने निम्नोक्त एक अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किया है—

सोमः सूर्यो मरुद् भूमिर्व्योम होतानलो जलम् ।
इति रूपाण्यतिक्रम्य त्वां द्रष्टुं देवे के वयम् ॥
इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद् रातवर्मणः ।
प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम् ॥

का० आ० २।२७८-७९

[रातवर्मा नामक नृपति का महादेव के प्रति वचन—हे देव ! सोम, सूर्य मरुद्, भूमि, आकाश, यजमान, अनल और जल सब रूपों का अतिक्रमण करके तुमको देख सकने में समर्थ हम भला होते कौन हैं ? इस प्रकार रातवर्मा नामक राजा द्वारा महादेव के दर्शन किये जाने पर जो देव-विषयक प्रीति की अभिव्यक्ति हुई है। इसे भी प्रेयः अलंकार समझना चाहिए।]

भामह और दण्डी के लगभग एक-समान उदाहरणों से स्पष्ट है कि विदुर का कृष्ण के प्रति समादरपूर्ण भाव जिसे भक्तिभाव भी कह सकते हैं प्रेयस्वत् अलंकार का विषय है। दण्डि-प्रस्तुत दूसरे उदाहरण से तो यह मान्यता और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि विशेषतः भक्तिभाव ही प्रेयस्वत् का विषय है। परन्तु आगे चलकर उद्भट ने रत्यादि [स्थायी] भाव, अनुभाव आदि के साथ इस अलंकार को सम्बद्ध कर दिया—

रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः ।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत् प्रेयस्वद् उदाहृतम् ॥

क० सा० सं० ४।२

अधिक सम्भावना यही है कि स्थायिभाव एवं अनुभाव आदि के साथ इस अलंकार को जोड़ना भामह और दण्डी को भी अभीष्ट रहा होगा, किन्तु इसका स्पष्ट निर्देश सर्वप्रथम उद्भट ने ही किया। इस अलंकार के उदाहरण में इन्होंने पुत्रवत्सला माता के वात्सल्य भाव को प्रस्तुत किया है—

इयं च सुतवात्सल्यान्निर्विशेषा स्पृहावती ।
उल्लापयितुमारब्धा कृत्वेयं क्रोड आत्मनः ॥

[पुत्र वात्सल्य के कारण अत्यधिक उत्सुक बनी हुई इस जननी ने अपनी गोद में लेकर इसे लोरी सुनाना आरम्भ कर दिया।]

[३]

भामह, दण्डी और उद्भट के इन उदाहरणों को निर्दिष्ट करने से हमारा अभिप्राय यह दिखाना है कि प्रेयस्वत् (प्रेयः) अलंकार समादरभाव एवं भक्तिभाव के अतिरिक्त वात्सल्य का भी ज्ञापक रहा। दूसरे शब्दों में, इन भावों को रति के अन्तर्गत स्वीकार न कर इनका पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया गया है, और यह समुचित ही हुआ। 'रति' नायक-नायिका के प्रणय-सम्बन्ध की द्योतक है, किन्तु इधर ये भाव प्रणयेतर सम्बन्धों के द्योतक हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि रति प्रणय-सम्बन्ध की द्योतक है और ये भाव प्रणयेतर सम्बन्ध के द्योतक हैं। केवल यही भाव ही क्यों, इसी प्रकार के अन्य कई भाव इसी अलंकार में अन्तर्भूत किये जा सकते हैं। इधर, रुद्रट और भोजराज ने प्रेयान् रस के निरूपण में जिस स्नेहभाव की चर्चा की है हमारे विचार में उसका मूल स्रोत इन उदाहरणों में ढूंढा जा सकता है—स्पष्ट एवं साक्षात् रूप से न सही तो प्रकारान्तर एवं असाक्षात् रूप से सही। यहाँ यह निर्दिष्ट करना आवश्यक है कि अलंकारवादी आचार्यों—भामह, दण्डी एवं उद्भट ने रति [स्थायी] भाव को रसवत् अलंकार से सम्बद्ध किया है और रति से मिलते-जुलते प्रणयेतर सभी भावों को प्रेयस्वत् से। उदाहरणार्थ, दो मित्रों के बीच पारस्परिक स्नेहभाव को भी

रति में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। इतना ही क्यों नायक-नायिका का पारस्परिक स्नेहभाव (चाहें तो इसे आधुनिक शब्दावली में 'फ्रैण्डशिप' भी कह सकते हैं) रति के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। भोजराज द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त पद्य (यदेव-रोचते···) को बड़ी सरलता के साथ अलंकारवादी आचार्यों की धारणा के अनुकूल प्रेयस्वत् अलंकार का उदाहरण माना जा सकता है, जिसे आगे चलकर रुद्रट और भोज ने 'प्रेयान् रस' नाम दे दिया, और इसी आधार पर यदि प्रेयस्वत् अलंकार को प्रेयान् रस का मूल स्रोत मान लें तो विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। और यों भी 'प्रेयस्वत्' और 'प्रेयान्' दोनों 'प्रेयस्' शब्द के ही रूप हैं—पहला प्रेयस् का वतुप्-प्रत्ययान्त रूप है और दूसरा प्रेयस् की प्रथमा विभक्ति का एकवचनान्त रूप। इसके अतिरिक्त अलंकारवादी आचार्य जिसे अलंकार कहते हैं, उसे परवर्ती रसवादी आचार्यों के अनुरूप रुद्रट द्वारा रस कहा जाना कोई असंगत भी नहीं है, अपितु यह इस तथ्य का पोषक है कि यह आचार्य एक ओर अलंकारवादी और दूसरी ओर रसवादी आचार्यों के मध्य एक अनिवार्य कड़ी का कार्य कर रहा है। अस्तु!

[४]

अन्ततः यह विचारणीय है कि क्या प्रेयान् रस की स्वीकृति की जाए?

भगवान् के प्रति अनुराग, देश के प्रति प्रेम, नृप एवं किसी महापुरुष के प्रति समादर एवं श्रद्धा, मित्र के प्रति स्नेह, शिशु के प्रति वात्सल्य—ये सभी भाव निःसन्देह रति से सम्बद्ध तो हैं किन्तु स्वयं रति नहीं हैं, क्योंकि रति का सम्बन्ध केवल प्रणय-सम्बन्ध के साथ ही जोड़ा जाता रहा है और समुचित भी यही है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रति का विभावादि से परिपुष्ट वर्णन रसवादी आचार्यों के कथनानुसार शृंगार रस का विषय है [और इसके अपरिपुष्ट वर्णन को रसवद् अलंकार की संज्ञा दी जाती है]। रति से सम्बद्ध उक्त भावों की परिपुष्ट अभिव्यक्ति को 'भाव' कहा जाता है [और इन भावों की अपरिपुष्ट अभिव्यक्ति को प्रेयस्वद् अलंकार]। इसी आधार पर भक्ति एवं वत्सल रसों को अनेक आचार्य 'रस' नाम से अभिहित न कर 'भाव' नाम से अभिहित करने के पक्ष में रहे, किन्तु बाद में भगवदनुराग एवं वात्सल्य-विषयक काव्य-चमत्कारपूर्ण पद्यों को लक्ष्य में रखकर इन दो अन्य 'रसों' की कल्पना कर ली गयी।

ठीक यही समस्या प्रेयान् रस की भी है। स्नेह-विषयक विभावादि-परिपुष्ट उदाहरणों में स्नेह को [चाहे यह स्नेह दो मित्रों के बीच हो, अथवा नायक-नायिका के] सिद्धान्त की दृष्टि से यद्यपि रस की संज्ञा ही दी जा सकती है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसे 'भाव' की संज्ञा ही दी जानी चाहिए, क्योंकि एक तो अभी इसके विभावादि-परिपुष्ट उदाहरण उपलब्ध नहीं हुए हैं, और जो उपलब्ध हैं भी, वे संख्या में नगण्य

अथ वीरादिषु रीतिनियममाह—

वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः ।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम् ॥२०॥

वैदर्भीति । प्रेयःकरुणभयानकाद्भुतेषु चतुर्षु रसेषु वैदर्भी पाञ्चाली चेति रीतिद्वयं कुर्यात् । तथा रौद्रे रसे लाटीया गौडीया च कर्तव्या । शेषरसेषु न रीतिनियमः । सर्वा अपि कथं कार्या इत्याह—यथौचित्यमिति । औचित्यं रसस्वरूपपरिपोषः । तदनतिक्रमेणेत्यर्थः । रसानामलंकाराणां च लक्षणस्य मात्रयापि न्यूनत्वे तदाभासता बोद्धव्या ॥

अध्यायमुपसंहरंस्तद्रचनाक्रममाह—

एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु ।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत ॥२१॥

एत इति । एते रसाः सम्यग्विभज्य चतुरेण कविना चारु यथा भवति तथा रचिताः सन्तो रसिकान्पुंसो रमयन्ति यस्मात् । तथेमाननधिगम्याविज्ञाय सर्वथा रम्यं काव्यं विधातुं कविर्नालं न समर्थः । तत्तस्मादत्रैतेष्वाद्रियेतादरं कुर्यात् ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचित टिप्पणसमेतः
पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः ।

हैं । दूसरे, यदि इस प्रकार के भावों को रस नाम से अभिहित करने लगें तो इसका परिणाम यह होगा कि देशप्रेम आदि अन्य विषयों के लिए भी कई रसों की कल्पना करनी होगी, और दूसरा परिणाम यह कि 'भाव' नामक काव्याङ्ग काव्यक्षेत्र से बहिष्कृत हो जाएगा । अतः प्रेयान् को रस न कहकर 'भाव' ही कहना चाहिए ।

१०. श्रृंगारेतर रस : रीति

प्रेयान्, करुण, भयानक और अद्भुत इन चार रसों में वैदर्भी और पाञ्चाली रीति का प्रयोग करना चाहिए और रौद्र रस में लाटी और गौडी का ।२०।

नमिसाधु के कथनानुसार शेष रसों में रीति का कोई नियम नहीं । इन सब रीतियों का प्रयोग रस के स्वरूप के परिपोष को दृष्टि में रखकर करना चाहिए ।

११. रस-महिमा

चतुर कवि द्वारा सुन्दरतापूर्वक ठीक विभाग करके रचित ये रस रसिक जनों को आनन्दित कर देते हैं । क्योंकि इनको जाने बिना कवि सर्वथा रमणीय काव्य को करने में समर्थ नहीं होता । अतः इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए ।२१।

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्य-हिन्दीव्याख्यायां पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः ।

षोडशोऽध्यायः

'ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे' (१२।१) इत्युक्तम्, तत्र कश्चतुर्वर्गः कथं च तं रसैः सह निबध्नीयादित्याह—

जगति चतुर्वर्ग इति ख्यातिर्धर्मार्थकाममोक्षाणाम् ।
सम्यक्तानभिदध्याद्रससंमिश्रान्प्रबन्धेषु ॥ १ ॥

जगतीति । सुगमम् ॥

प्रबन्धेष्वित्युक्तम्, अथ के ते प्रबन्धाः कियन्तो वेत्येतन्मुखेन महाकाव्यादिलक्षणं वक्तुमाह—

सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये ।
उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि ॥ २ ॥

सन्तीति । द्विधा प्रबन्धाः सन्ति । प्रबध्यते नायकचरितमेतेष्विति कृत्वा । के

षोडश अध्याय

इस अध्याय में चतुर्वर्ग-फलदायक प्रबन्ध-काव्यों की चर्चा करने के उपरान्त काव्य, कथा, आख्यायिका आदि प्रबन्ध-काव्यों के दो भेदों की चर्चा की गयी है—उत्पाद्य और अनुत्पाद्य। ये दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं—महान् और लघु। महान् काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, कथा और आख्यायिका का सविस्तर निरूपण किया गया है। फिर लघु काव्य पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। इसके उपरान्त काव्य-रूपों का नामोल्लेख किया गया है, फिर काव्य में निषिद्ध प्रसंगों की चर्चा प्रस्तुत हुई है, और अन्तिम पद्य में पार्वती, विष्णु और गणेश का जयगान ग्रन्थ-समाप्ति का सूचक है।

१. चतुर्वर्ग-फलदायक काव्य की उपादेयता

संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनकी चतुर्वर्ग नाम से प्रसिद्धि है। रस-संयुक्त प्रबन्ध-काव्यों में इनका प्रयोग सम्यक् रूप से करना चाहिए।१।

'चतुर्वर्गफल' के सम्बन्ध में देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ ८-११।

२. प्रबन्ध-काव्य के भेद

काव्य, कथा, आख्यायिका आदि प्रबन्ध-काव्य दो प्रकार के हैं—उत्पाद्य और अनुत्पाद्य। फिर वे भी महान् और लघु—इन दो भेदों में विभक्त हैं।२।

'आदि' से नमिसाधु ने कुलक और नाटक को भी गिनाया है।

च ते। काव्यकथाख्यायिकादय इति। आदिग्रहणं कुलकनाटकाद्यर्थं। क्व ते प्रबन्धाः। काव्ये कविकर्मणि। कथम्। द्विधा। उत्पाद्यानुत्पाद्यभेदात्। तथा महल्लघुत्वेन भूयोऽपि पुनरपि। उत्पाद्या महान्तो लघवश्चानुत्पाद्या महान्तो लघवश्चेत्यर्थः॥

अथोत्पाद्यलक्षणमाह—

तत्रोत्पाद्या येषां शरीरमुत्पादयेत्कविः सकलम्।
कल्पितयुक्तोत्पत्तिं नायकमपि कुत्रचित्कुर्यात्॥ ३॥

तत्रेति। तत्र काव्यादिषु मध्ये उत्पाद्यास्ते येषां शरीरमितिवृत्तं सकलं कविरुत्पादयेत्। नायकं प्रसिद्धं गृहीत्वा तद्व्यवहारः सर्व एवापूर्वो यत्र निबध्यत इत्यर्थः। यथा माघकाव्ये। प्रकारान्तरमाह—कल्पिता युक्ता घटमानोत्पत्तिर्यस्य तमित्थंभूतं नायकमपि कुत्रचित्कुर्यात्, आस्तामितिवृत्तम्। अत्र च तिलकमञ्जरी बाणकथा वा निदर्शनम्॥

अथानुत्पाद्यलक्षणमाह—

पञ्जरमितिहासादिप्रसिद्धमखिलं तदेकदेशं वा।
परिपूरयेत्स्ववाचा यत्र कविस्ते त्वनुत्पाद्याः॥ ४॥

पञ्जरमिति। तेषु काव्यादिमध्ये तेऽनुत्पाद्याः, येषां पञ्जरं कथाशरीरमखिलं सर्वमितिहासादिप्रसिद्धं रामायणादिकथाप्रसिद्धं कविः स्ववाचा परिपूरयेत्। वदेदित्यर्थः। यथार्जुनचरिते। अथवा तदेकदेशं वा, इतिहासाद्येकदेशं वा स्ववाचा यत्र पूरयेत्तदप्यनुत्पाद्यम्। यथा किरातार्जुनीयं काव्यम्॥

अथ महान्तः—

तत्र महान्तो येषु च विततेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः।
सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि॥ ५॥

उत्पाद्य—

उत्पाद्य काव्य वे कहलाते हैं जिनके सम्पूर्ण शरीर को कवि बनाता है और कहीं नायक को भी अपनी कल्पना से बनाता है।३।

उदाहरणार्थ—धनपाल कवि-निर्मिता 'तिलकमञ्जरीकथा', बाणकविनिर्मिता 'कादम्बरी'।

अनुत्पाद्य—

अनुत्पाद्य वे कहलाते हैं जहाँ कवि इतिहास-प्रसिद्ध सम्पूर्ण कथा-शरीर को या उसके एक भाग को अपनी वाणी से पूर्ण करे।४।

उदाहरणार्थ—किरातार्जुनीय काव्य।

महान्—

वे [प्रबन्ध-काव्य] महान् कहाते हैं जिनके विस्तृत आयाम में [उपर्युक्त]

तत्रेति । सुगमं न वरम् । काव्यस्थानानि पुष्पोच्चयजलक्रीडादीनि भण्यन्ते ॥

अथ लघवः—

ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात् ।
असमग्रानेकरसा ये च समग्रैकरसयुक्ताः ॥ ६ ॥

त इति । सुगमं न वरम् । ते मेघदूतादयो लघवः महान्तस्तु शिशुपालवधादयः ॥ अथानुत्पाद्येषु पुराणादिक्रमेणैवेतिवृत्तनिबन्धः, केवलं तत्र कविः स्ववाचा चतुर्वर्गरसकाव्यस्थानवर्णनं नमस्कारपूर्वकं करोतीति न तद्विषयनिबन्धोपदेशो जायते । ये पुनरुत्पाद्यास्तत्र कथं निबन्ध इत्यनुपदिष्टं न ज्ञायत इति तन्निबन्धक्रमोपदेशमाह—

तत्रोत्पाद्ये पूर्वं सन्नगरीवर्णनं महाकाव्ये ।
कुर्वीत तदनु तस्यां नायकवंशप्रशंसां च ॥ ७ ॥
तत्र त्रिवर्गसक्तं समिद्धशक्तित्रयं च सर्वगुणम् ।
रक्तसमस्तप्रकृतिं विजिगीषुं नायकं न्यस्येत् ॥ ८ ॥

चारों वर्गों का वर्णन रहता है, सब रसों को तथा [पुष्पोच्चय, जलक्रीडा आदि] सभी काव्य [में वर्णन करने योग्य] स्थानों को निरूपित किया जाता है ।५।

यथा—शिशुपालवध आदि ।

लघु—

लघु [प्रबन्ध-काव्य] उनको जानना चाहिए जिनमें चतुर्वर्ग में से कोई एक [निरूपित] हो, [और इनमें यदि] अनेक रस [हों तो वे] अपूर्ण [से] हों, अर्थात् इनके सभी रूपों का प्रयोग न किया जाए, [और इनमें यदि कोई] एक रस [हो तो वह] पूर्ण [होना चाहिए] ।६।

यथा—मेघदूत आदि ।

२. महाकाव्य

उत्पाद्य महाकाव्य में सबसे पहले किसी श्रेष्ठ नगरी का वर्णन करना चाहिए । उसके पश्चात् उस नगरी में नायक के वंश की प्रशंसा करनी चाहिए ।७।

इन काव्यों में [कवि] त्रिवर्ग-प्राप्ति में संलग्न, शक्तित्रय से सम्पन्न, सर्वगुण युक्त, सर्वप्रजाप्रिय, विजय के इच्छुक नायक की स्थापना करे ।८।

त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम; शक्तित्रय—तीन राजशक्तियाँ—प्रभुशक्ति अथवा प्रभावशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति ।

विधिवत्परिपालयतः सकलं राज्यं च राजवृत्तं च।
तस्य कदाचिदुपेतं शरदादिं वर्णयेत्समयम् ॥ ९ ॥
स्वार्थं मित्त्रार्थं वा धर्मादिं साधयिष्यतस्तस्य।
कुल्यादिष्वन्यतमं प्रतिपक्षं वर्णयेद् गुणिनम् ॥ १० ॥
स्वचरात् तद्दूताद्वा कुतोऽपि वा शृण्वतोऽरिकार्याणि।
कुर्वीत सदसि राज्ञां क्षोभं क्रोधेद्धचित्तगिराम् ॥ ११ ॥
संमन्त्र्य समं सचिवैर्निश्चित्य च दण्डसाध्यतां शत्रोः।
तं दापयेत्प्रयाणं दूतं वा प्रेषयेन्मुखरम् ॥ १२ ॥
अथ नायकप्रयाणे नागरिकाक्षोभजनपदाद्रिनदीः।
अटवीकाननसरसीमरुजलधिद्वीपभुवनानि ॥ १३ ॥
स्कन्धावारनिवेशं क्रीडां यूनां यथायथं तेषु।
रव्यस्तमयं संध्यां संतमसमथोदयं शशिनः ॥ १४ ॥
रजनीं च तत्र यूनां समाजसंगीतपानशृंगारान्।
इति वर्णयेत्प्रसंगात्कथां च भूयो निबध्नीयात् ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण राज्य का विधिवत् पालन करते हुए यथावसर उस [नायक] द्वारा प्राप्त शरदादि ऋतुओं [के आनन्द] का वर्णन करना चाहिए।९।

अपने लिए या मित्र के लिए धर्मादि का साधन करने वाले उस नायक के कुलीन, [पराक्रमी, दानी] आदि [शत्रुओं] में से किसी एक शत्रु को गुणीरूप में वर्णित करना चाहिए।१०।

अपने गुप्तचर से या दूत से या कहीं से भी शत्रु के कार्यों को सुनते हुए सभा में क्रोध से प्रदीप्त मन और वाणी वाले [अपने सहायक] राजाओं को क्षुब्ध करे—अर्थात् नायक उन्हें शत्रु के विरुद्ध उत्तेजित करे।११।

मन्त्रियों से सलाह करके तथा शत्रु की दण्डसाध्यता का निश्चय करके उसके प्रति प्रयाण करवाए अथवा वाक्पटु दूत भेजे।१२।

इसके उपरान्त नायक के प्रयाण से, अर्थात् नायक-संगत कथा-प्रसंग से, कवि नागरिकों का जमघट (समुदाय), जनपद, पर्वत, नदी, अटवी, कानन, सरोवर, मरु-भूमि, समुद्र, द्वीप, भुवन, छावनी की स्थापना, यथावसर युवकों का खेल-कूद, सूर्य के अस्त होने पर अन्धकारमय सन्ध्या, चन्द्रमा का उदय, रात्रि और उसमें युवकों

प्रतिनायकमपि तद्वत्तदभिमुखममृष्यमाणमायान्तम् ।
अभिदध्यात् कार्यवशान्नगरीरोधस्थितं वापि ॥१६॥
योद्धव्यं प्रातरिति प्रबन्धमधुपीति निशि कलत्रेभ्यः ।
स्ववधं विशङ्कमानान् संदेशान् दापयेत् सुभटान् ॥१७॥
संनह्य कृतव्यूहं सविस्मयं युध्यमानयोरुभयोः ।
कृच्छ्रेण साधु कुर्यादभ्युदयं नायकस्यान्ते ॥१८॥

गतार्थं न वरम् । कुल्यादिष्विति कुल्यो गोत्रजः । आदिशब्दात्कृत्रिमादिः । तथा संमन्त्र्य निश्चित्य चेत्यत्रान्तर्भूतः कारितार्थो द्रष्टव्यः । अन्यथा भिन्नकर्तृकत्वात्क्त्वा न स्यात् । नायकमुखेन कविरेव मन्त्रयते निश्चिनोति चेति केचित् । तथा नद्यः सरितः । अटवी निर्जनो देशः । काननमुद्यानवनम् । सरस्यो महान्ति सरांसि । मरुर्निर्जलो देशः । द्वीपं जलमध्यस्थभूप्रदेशः । भुवनानि लोकान्तराणि । तथा यूनां दंपतीनां क्रीडा । सा च वनेषु क्रीडा, नदीषु जलकेलिः, अटव्यां विहार इत्यादिका । तथा यूनां समाजः संगमः । संगीतं गेयम् । पानकं सरकम् । शृंगारः सुरतादिः । तथा कलत्रेभ्यः सुभटान्संदेशान्प्रदापयेत् । कथं दापयेत् । प्रबन्धेन मधुपीतिर्मधुपानं यत्र कर्मणि । मधुपानमपि कुत इत्याह—योद्धव्यं प्रातरिति । तथा नायकस्येति नायकस्यैव विजयं कुर्यान्न विपक्षस्येति सूचनार्थम् ॥

अथ किमयं प्रबन्धोऽनवच्छेद एव कर्तव्यो नेत्याह—

सर्गाभिधानि चास्मिन्नवान्तरप्रकरणानि कुर्वीत ।
संधीनपि संश्लिष्टांस्तेषामन्योन्यसंबन्धात् ॥१९॥

[एवं युवतियों] द्वारा सामूहिक रूप में संगीत, [मद्य-] पान एवं शृङ्गार-चर्चाएँ—इन सबका वर्णन करे तथा इनके प्रसंग से कथा का नियोजन करे ।१३-१५।

उसी प्रकार उसकी ओर असहनशील होकर आते हुए अथवा आक्रमण के उद्देश्य से नगरी का घेरा डालकर ठहरे हुए प्रतिनायक का भी कथन करे ।१६।

'कल प्रातः युद्ध पर जाना है, वहाँ कहीं हमारी मृत्यु न हो जाए' इस प्रकार की आशंका करने वाले सैनिकों को [पूर्व-] रात्रि में सुन्दरियों द्वारा [आश्वासन, शत्रु-व्यूह, स्वसैन्य-सूचना आदि विषयों पर] सन्देश भिजवाने चाहिएँ, तथा मधुपान का प्रबन्ध भी कराना चाहिए ।१७।

सन्नद्ध होकर, व्यूह की रचना करते हुए और आश्चर्यजनक रूप में परस्पर युद्ध करते हुए [दोनों पक्षों में से] नायक का ही कष्टपूर्वक विजयलाभ दिखाना चाहिए ।१८।

इस [महाकाव्य] में विभिन्न प्रकरणों का नाम सर्ग रखना चाहिए, और

सर्गेति । सुगमं न वरम् । सर्गाभिधानि सर्गनामकानि । यतः 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' इत्युक्तम् । तथा सन्धीन्मुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्वहणाख्यान्भरतोक्तान्सुश्लिष्टान्सुरचनान्कुर्वीत । कथं तथा ते स्युरित्याह—अन्योन्यसंबन्धादिति ।।

महाकाव्यलक्षणमाख्याय कथालक्षणमाह—

श्लोकैर्महाकथायामिष्टान् देवान् गुरून् नमस्कृत्य ।
संक्षेपेण निजं कुलमभिदध्यात् स्वं च कर्तृतया ।।२०।।

श्लोकैरिति । सुगमं न वरम् । संक्षेपेण निजं कुलमभिदध्यात् । न त्वाख्यायिकायामिव विस्तरेण । स्वं चेति चकारोऽनुक्तसमुच्चये । तेन सुजनखलस्तुतिनिन्दादिकं चाभिदध्यादिति सूच्यते ।।

ततश्च—

सानुप्रासेन ततो भूयो लघ्वक्षरेण गद्येन ।
रचयेत् कथाशरीरं पुरेव पुरवर्णकप्रभृतीन् ।।२१।।

सानुप्रासेनेति । सुगमं न वरम् । भूयो लघ्वक्षरेण ।।

सुरचनापूर्वक संधियों का भी प्रयोग इस रूप में करना चाहिए कि वे [प्रकरण] एक-दूसरे से सम्बद्ध हों ।१६।

सन्धियों से तात्पर्य है पाँच नाट्य-सन्धियाँ—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण । इनका नाटक के अतिरिक्त प्रबन्ध-काव्य में भी वर्णन किया जाता है ।

यहाँ यह निर्दिष्ट करना आवश्यक है कि यद्यपि रुद्रट ने महाकाव्य के स्वरूप-निर्देश में भामह और दण्डी से ही अधिकांश सामग्री ग्रहण की है, किन्तु व्यवस्थापूर्ण-प्रतिपादन इनका अपना है । इन्हीं के ही इस प्रकरण का प्रभाव परवर्ती आचार्यों पर भी पड़ा । यहाँ तक कि विश्वनाथ-जैसे सुव्यवस्थापक आचार्य का भी यह प्रकरण इन्हीं से प्रभावित है ।

४. महाकथा

महाकथा उसे कहते हैं [जिसके प्रारम्भ में] कवि श्लोकों द्वारा इष्टदेव और गुरुओं को नमस्कार करके कर्तृ रूप में (स्वयं) अपना तथा अपने कुल का संक्षेप से वर्णन करे ।२०।

उसके बाद फिर अनुप्रास-सहित तथा लघ्वक्षर-युक्त गद्य के द्वारा पहले के समान नगर-वर्णन आदि करते हुए कथा के शरीर की रचना करे ।२१।

प्रकारान्तरमाह—

आदौ कथान्तरं वा तस्यां न्यस्येत् प्रपञ्चितं सम्यक् ।
लघुतावत्संधानं प्रक्रान्तकथावताराय ॥२२॥

आदाविति । गतार्थं न वरम् । लघुतावत्संधानं लाघवयुक्तं संधानं यत्र कथान्तरे । अथवादौ तावत्कथान्तरं न्यस्येत् । ततो लघु शीघ्रं प्रक्रान्तकथावताराय संधानमिति । यथा कादम्बर्याम् ॥

तथा—

कन्यालाभफलां वा सम्यग्विन्यस्तसकलशृंगाराम् ।
इति संस्कृतेन कुर्यात्कथामगद्येन चान्येन ॥२३॥

कन्येति । वाशब्दः पक्षान्तरसूचकः । तेन राज्यलाभादि फलमपि क्वचित् । सम्यग्विन्यस्तसकलशृङ्गारामित्यनेन शृङ्गारस्तत्र प्राधान्येन निबन्धनीय इत्युक्तं भवति । इत्येवं संस्कृतेन कथां कुर्यात् । अन्येन प्राकृतादिभाषान्तरेण त्वगद्येन गाथाभिः प्रभूतं कुर्यात् । चकाराद् गद्यमपि किंचिदित्यर्थः ॥

आख्यायिकालक्षणमाह—

पूर्ववदेव नमस्कृतदेवगुरुर्नोतसहेत् स्थितेऽत्रेषु ।
काव्यं कर्तुमिति कवीन्शंसेदाख्यायिकायां तु ॥२४॥
तदनु नृपे वा भक्ति परगुणसंकीर्तनेऽथवा व्यसनम् ।
अन्यद्वा तत्करणे कारणमक्लिष्टमभिदध्यात् ॥२५॥

पूर्ववदिति । तदन्विति । सुगमम् ॥

प्रारम्भ में किसी अन्तर-कथा को रखना चाहिए, जिसमें [मुख्य कथा] अच्छी प्रकार से संकेलित की गयी हो। इसकी रचना [इस रूप में की जाए कि इसमें] प्रक्रान्त (मुख्य) कथा शीघ्र ही प्रस्तुत हो जाए।२२।

यह कथा कन्याप्राप्ति-रूप [अथवा राज्यादि प्राप्तिरूप] फलवाली होनी चाहिए। इसमें शृंगार [रस] के सभी रूपों का विन्यास सम्यक् रीति से करना चाहिए। संस्कृत में [तो यह गद्य में लिखी जानी चाहिए, किन्तु] संस्कृतेतर [प्राकृत] भाषाओंमें इसे अगद्य (पद्य—गाथा छन्द) में [भी लिखा जा सकता है] ।२३।

५. *आख्यायिका*

आख्यायिका में [भी] कवि पहले के समान गुरु और देवता को नमस्कार करे, और ऐसा कर लेने पर वह काव्य-रचना प्रारम्भ न करे जब तक कि कवियों की प्रशंसा न कर ले। इसके उपरान्त नृप में भक्ति और दूसरों के गुण-वर्णन में प्रवृत्ति का

आख्यायिकाया एव लक्षणशेषमाह—

अथ तेन कथैव यथा रचनीयाख्यायिकापि गद्येन ।
निजवंशं स्वं चास्यामभिदध्यान्न त्वगद्येन ॥२६॥

अथेति । एवोऽभिन्नक्रमे । ततश्चायमर्थः—अथ तेन कविना यथैव कथाख्यायिकापि तथैव गद्येन रचनीया । तुरवधारणे । ततो निजवंशमात्मानं च गद्येनैवास्यामभिदध्यात् । यथा हर्षचरिते ॥

अपि च—

कुर्यादत्रोच्छ्वासान्सर्गवदेषां मुखेष्वनाद्यानाम् ।
द्वे द्वे चार्ये श्लिष्टे सामान्यार्थे तदर्थाय ॥२७॥

कुर्यादिति । सुगमं न वरम् । तदर्थाय प्रस्तुतार्थसूचनाय ॥

संशयशंसावसरे भवतो भूतस्य वा परोक्षस्य ।
अर्थस्य भाविनस्तु प्रत्यक्षस्यापि निश्चितये ॥२८॥
संशयितुः प्रत्यक्षं स्वावसरेणैव पाठयेत् कंचित् ।
अन्योक्तिसमासोक्तिश्लेषाणामेकमुभयं वा ॥२९॥
तत्र च्छन्दः कुर्यादार्यापरवक्त्रपुष्पिताग्राणाम् ।
अन्यतमं वस्तुवशादथवान्यन्मालिनीप्रायम् ॥३०॥

तथा, यदि चाहे तो, ऐसा करने में कारण का भी उल्लेख सरल रूप से कर दे ।२४-२५।

इसके बाद उस [कवि] द्वारा कथा के समान आख्यायिका की रचना भी गद्य में करनी चाहिए । इसमें उसे अपने वंश का तथा अपना वर्णन भी गद्य में ही करना चाहिए ।२६।

इसमें सर्ग के समान उच्छ्वासों को करना चाहिए, अर्थात् सर्ग के स्थान पर उच्छ्वास नाम देना चाहिए और पहले उच्छ्वास को छोड़कर शेष उच्छ्वासों के प्रारम्भ में उस [प्रस्तुत] अर्थ के सूचन के लिए सामान्य अर्थ का निर्देश करने वाले, श्लेष से युक्त दो-दो आर्या छन्द प्रस्तुत करने चाहिए ।२७।

कवि किसी संशय-प्रसंग के वर्णन के अवसर पर वर्तमान, भूत, भविष्यत्, परोक्ष तथा प्रत्यक्ष अर्थ को निश्चित करने के लिए, संशयशील व्यक्ति के [संशय को] प्रत्यक्ष रूप से [दूर करने के लिए], प्रसंग के अनुकूल अन्योक्ति, समासोक्ति, श्लेष अलंकार [से युक्त] किसी एक अथवा दो [पद्यों] का पाठ कराए ।२८, २९।

वहाँ कथा-वस्तु के आधार पर आर्या, अपरवक्त्र, पुष्पिताग्रा में से किसी एक

संशयेति । संशयितुरिति । तत्रेति । वर्तमानस्यातीतस्य च परोक्षस्य भाविनस्तु प्रत्यक्षस्यापि संदेहकथनावसरे सति निश्चयाय कंचित्प्राणिनमवसरेणैवान्योक्तिसमासोक्तिश्लेषाणां मध्यादेकमुभयं वाऽलंकारं पाठयेत् । तत्र चार्यादिच्छन्दः कुर्यात् ॥

एवं काव्यादित्रयस्य लक्षणान्याख्याय तच्छेषमाह—

साभिप्रायं किंचिद्विरुद्धमिव वस्तु सत्प्रसंगेन ।
अन्तःकथाश्च कुर्यात् त्रिष्वप्येषु प्रबन्धेषु ॥३१॥

साभिप्रायमिति । सुगमं न वरम् । विरुद्धमिव न तु विरुद्धम् । त्रिष्वपीति काव्यकथाख्यायिकासु ॥

कुर्यादभ्युदयान्तं राज्यभ्रंशादि नायकस्यापि ।
अभिदध्यादेषु तथा मोक्षं च मुनिप्रसंगेन ॥३२॥

सुगमम् ॥

अथ लघूनां काव्यादीनां लक्षणमाह—

कुर्यात्क्षुद्रे काव्ये खण्डकथायां च नायकं सुखिनम् ।
आपद्गतं च भूयो द्विजसेवकसार्थवाहादिम् ॥३३॥
अत्र रसं करुणं वा कुर्यादथवा प्रवासश्रृंगारम् ।
प्रथमानुरागमथवा पुनरन्ते नायकाभ्युदयम् ॥३४॥

सुगमम् ॥

छन्द का प्रयोग करना चाहिए, अथवा प्रायः मालिनी छन्द में रचना करनी चाहिए ।३०।

६. तीन प्रबन्धों में सामान्य प्रसंग

इन तीनों प्रबन्धों (महाकाव्य, कथा और आख्यायिका) में ऐसी कथावस्तु को शुभ प्रसंगों के साथ जो अभिप्रायपूर्ण हो तथा किञ्चिद् विरुद्ध-सी [प्रतीत होती] हो । [इसके अतिरिक्त] इन [तीनों] में अन्तःकथाओं का भी समावेश करना चाहिए ।

नायक के राज्यनाश से लेकर अभ्युदय-(राज्यप्राप्ति-) पर्यन्त वर्णन करना चाहिए तथा मुनि के प्रसंग से इनमें मोक्ष का कथन करना चाहिए ।३१, ३२।

७. लघुकाव्य

क्षुद्र (लघु) काव्य तथा खण्डकथा में कवि नायक को [उसके सहायकों—] द्विज, सेवक सार्थवाह आदि के साथ पहले आपत्ति-ग्रस्त दिखाए और अन्त में सुखी ।

इसमें करुण रस अथवा प्रवासगत विप्रलम्भ शृङ्गार रस दिखाना चाहिए । सबसे प्रथम अनुराग दिखाना चाहिए और फिर अन्त में नायक का उत्कर्ष ।३३-३४।

अथ किमेतल्लक्षणं सर्वेषामपि काव्यादीनां सामान्यं स्यान्नेत्याह—

नैतदनुत्पाद्येषु तु तत्र ह्यभिधीयते यथावृत्तम् ।
अल्पेषु महत्सु च वा तद्विषयो नायमुपदेशः ॥३५॥

सुगमम् ॥

अथ काव्यकथाख्यायिकादय इत्यत्रादिग्रहणसंगृहीतं दर्शयितुमाह—

अन्यद्वर्णकमात्रं प्रशस्तिकुलकादिनाटकाद्यन्यत् ।
काव्यं तद्बहुभाषं विचित्रमन्यत्र चाभिहितम् ॥३६॥

अन्यदिति । सुगमं न वरम् । तत्र यस्यामीश्वरकुलवर्णनं यशोर्थं क्रियते सा प्रशस्तिः। यत्र च पंचादीनां चतुर्दशान्तानां श्लोकानां वाक्यार्थः परिसमाप्यते तत्कुलकम् । आदिग्रहणादेकस्मिञ्छन्दसि वाक्यसमाप्तौ मुक्तकम्, द्वयोः संदानितकम्, त्रिषु विशेषकम्, चतुर्षु कलापकम् । तथा मुक्तकानामेव प्रघट्टकोपनिबन्धः पर्याययोगः कोषः । तथा बहूनां छन्दसामेकवाक्यत्वे तद्वाक्यानां च समूहावस्थाने परिकथा । भूयोऽप्याह—नाटकाद्यन्यदिति । अत्र भरताद्यभिहितम् । नाटकादीत्यत्रादिशब्दान्नाटकप्रकरणेहामृगसमवकारभाणव्यायोगडिमवीथीप्रहसनादिसंग्रहः । तद्बहुभाषं च बह्वीभिर्भाषाभिर्निबध्यते । विचित्रं च । नानासंधिसंध्यङ्गाभिनयादियुक्तत्वादिति ॥

---

८. *अनुत्पाद्य प्रबन्धों में उक्त लक्षणों का निषेध*

अनुत्पाद्य प्रबन्धों में चाहे वे लघु हों अथवा महान् ऐसा नहीं होता । उनके विषय में यह नियम नहीं है । उनमें तो यथार्थ घटना का वर्णन होता है ।३५।

९. *अन्य काव्य-भेद*

इसी अध्याय की दूसरी कारिका में 'काव्यकथाख्यायिकादयः' पद में 'आदयः' से क्या तात्पर्य है इसे स्पष्ट करते हुए रुद्रट कहते हैं कि कतिपय अन्य काव्य-प्रकार भी होते हैं । यथा—

एक अन्य [काव्य-प्रकार] वर्णकमात्र है । अन्य [राजवंशादि] प्रशस्ति, कुलक आदि होते हैं । अन्य नाटक आदि हैं । एक [अन्य काव्य-प्रकार ऐसा होता है जिस में] बहुत-सी भाषाओं का प्रयोग होता है, एक [अन्य काव्य] 'विचित्र' कहाता है ।३६।

'वर्णक मात्र' से सम्भवतः तात्पर्य है जिसमें प्रधानतः वर्ण-सौन्दर्य हो, जैसे श्लेष-प्रधान, यमक-प्रधान, अनुप्रास-प्रधान, वक्रोक्ति-प्रधान काव्य आदि । 'प्रशस्ति-काव्य' में राजकुल का यशोगान किया जाता है । 'कुलक-काव्य' में पाँच और चौदह श्लोकों के बीच वर्ण्यविषय समाप्त कर दिया जाता है । 'आदि' से तात्पर्य है—मुक्तक (जिसमें एक ही पद्य होता है), सन्दानितक (जिसमें दो पद्य होते हैं), विशेषक

महाकाव्यादिलक्षणमभिधायेदानीं काव्यगुणातिशयविवक्षायां मा कश्चिदसंभवि वोचदिति तन्निषेधार्थमाह—

कुलशैलाम्बुनिधीनां न ब्रूयाल्लङ्घनं मनुष्येण।
आत्मीययैव शक्त्या सप्तद्वीपावनिक्रमणम् ॥३७॥

कुलेति। सुगमम् ॥

ननु भरतहनूमत्प्रभृतीनां सर्वमेतच्छ्रूयते, ततश्च यथा तेषां तथान्यस्यापि भविष्यतीति को दोष इत्याह—

येऽपि तु लङ्घितवन्तो भरतप्राया कुलाचलाम्बुनिधीन्।
तेषां सुरादिमुख्यैः संगादासन् विमानानि ॥३८॥

य इति। सुगमं न वरम्। सुरादिमुख्यैः सुरादिप्रधानैः। आदिशब्दात्सिद्धविद्याधरकिंनरगन्धर्वादिसंग्रहः ॥

ननु च सत्त्वचित्तादिहीनत्वान्मनुष्याणां कथं सुरादिभिः सह सङ्गोऽपीत्याह—

शक्तिश्च न जात्वेषामसुरादिवधेऽधिका सुरादिभ्यः।
आसीत्ते हि सहाया नीयन्ते स्मामरैः समिति ॥३९॥

(जिसमें तीन पद्य होते हैं), कलापक (जिसमें चार पद्य होते हैं), कोष (जिसमें मुक्तक पद्यों में शब्दों के पर्याय दिये गये हों।) परिकथा (जिसमें बहुत से पद्यों में एक वाक्य हो तथा ऐसे वाक्य-खण्डों का समुदाय हो।)

'नाटकादि' से तात्पर्य है – नाटक, प्रकरण, ईहामृग, समवकार, भाण, व्यायोग, डिम, वीथी, प्रहसन आदि। 'विचित्र काव्य' नाना सन्धियों एवं सन्ध्यङ्गों तथा अभिनयों से युक्त होता है।

१०. कतिपय निषिद्ध प्रसंग

मनुष्यों द्वारा कुलपर्वत एवं समुद्र का लंघन वर्णित नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार, अपनी शक्ति से सात द्वीपों तथा समस्त पृथ्वी का भ्रमण-कथन भी वर्जित है।३७।

जिन भरत, हनुमान् आदि ने कुलपर्वत, समुद्र आदि का लंघन किया है, उन प्रमुख देवों (सिद्ध, 'विद्याधर', किन्नर, गन्धर्व आदि) के पास विमान थे।३८।

अतः यह कोई दोष नहीं है।

असुरादि के वध में मनुष्यों की शक्ति कभी भी देवताओं से अधिक नहीं थी। किन्तु वे (मनुष्य) देवताओं के सहायक थे और देवता उन्हें युद्ध में ले जाते थे।३९।

शक्तिरिति । सुगमं न वरम् । चशब्दो हेतौ ।।

भूयोऽप्याह—

दारिद्र्यव्याधिजराशीतोष्णाद्युद्भवानि दुःखानि ।
बीभत्सं च विदध्यादन्यत्र न भारताद्वर्षात् ।।४०।।

दारिद्र्येति । सुगमं न वरम् । भारतं भरतक्षेत्रम् ।।

अन्यत्र त्विलावृत्तादौ कुतो न विदध्यादित्याह—

वर्षेष्वन्येषु यतो मणिकनकमयी मही हितं सुलभम् ।
विगताधिव्याधिजराद्वन्द्वा लक्षायुषो लोकाः ।।४१।।

वर्षेष्विति । सुगमं न वरम् । द्वन्द्वानि शीतोष्णादीनि ।।

अथ शास्त्रपरिसमाप्तिमङ्गलार्थं देवताः संकीर्तयन्नाह—

जयति जनमनिष्टादुद्धरन्ती भवानी
जयति निजविभूतिव्याप्तविश्वो मुरारिः ।
जयति च गजवक्त्रः सोऽत्र यस्य प्रसादा-
दुपशमति समस्तो विघ्नवर्गोपसर्गः ।।४२।।

जयतीति । सुगमम् ।।

एवं रुद्रटकाव्यालंकृतिटिप्पणकविरचनात्पुण्यम् ।
यदवापि मया तस्मान्मनः परोपकृतिरति भूयात् ।।

भारतवर्ष से अन्यत्र (अन्य देशों की) निर्धनता, रोग, बुढ़ापा, सर्दी, गर्मी आदि से उत्पन्न दुःख का वर्णन न करे, और बीभत्स रस को [भी] न दिखाए।

क्योंकि अन्य देशों में मणि और स्वर्ण से युक्त पृथिवी होती है, कल्याण सुलभ होता है और लोग मानसिक चिन्ता, शारीरिक दुःख, बुढ़ापा तथा द्वन्द्वों से रहित एवं लक्ष वर्ष आयु वाले होते हैं। ४०-४१।

ग्रन्थ-समाप्ति-सूचक स्तुति

लोगों का अनिष्ट से उद्धार करने वाली पार्वती की जय हो। अपने ऐश्वर्य से विश्व में व्याप्त विष्णु भगवान् की जय हो। जिसकी कृपा से सम्पूर्ण विघ्न तथा उत्पात शान्त हो जाते हैं उस गजानन की जय हो। ४२।

अन्त में नमिसाधु प्रस्तुत ग्रन्थ की समाप्ति पर अपना परिचय प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—

इस प्रकार रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार पर टीका-निर्माण करने से मैंने जो

थारापद्रपुरीयगच्छतिलकः पाण्डित्यसीमाभवत्-
सूरिर्भूरिगुणैकमन्दिरमिह श्रीशालिभद्राभिधः ।
तत्पादाम्बुजषट्पदेन नमिना संक्षेपसंप्रेक्षिणः
पुंसो मुग्धधियोऽधिकृत्य रचितं सट्टिप्पणं लघ्वदः ।।
अज्ञानाद् यद्वितथं विवृतं किमपीह तन्महामतिभिः ।
संशोधनीयमखिलं रचिताञ्जलिरेष याचेऽहम् ।।
सहस्रत्रयमन्यूनं ग्रन्थोऽयं पिण्डितोऽखिलः ।
द्वात्रिंशदक्षरश्लोकप्रमाणेन सुनिश्चितम् ।।
पञ्चविंशतिसंयुक्तैरेकादशसमाशतैः ।
विक्रमात्समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम् ।।

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतः
षोडशोऽध्यायः समाप्तः ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।
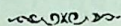
पुण्यलाभ किया है उसके फलस्वरूप मेरा मन परोपकार में अनुराग रखने वाला हो यही मेरी भभिलाषा है ।

अपार गुणों के आवास एवं पाण्डित्य की सीमा श्री शालिभद्र जी थारापद्र [नामक] पुरी के गच्छ (जैन साधु-सम्प्रदाय) के तिलकस्वरूप थे, उनके चरणकमलों के भ्रमर इस नमिसाधु ने संक्षेपप्रिय, मुग्ध-बुद्धि पुरुषों (जिज्ञासुओं) को लक्ष्य करके इस लघु टिप्पण की रचना की है ।

यह सम्पूर्ण ग्रन्थ [इस प्रकार के] प्रायः तीन हज़ार श्लोकों से सुबद्ध है जो बत्तीस अक्षरों के प्रमाण वाला होता है । (विशेष विवरण के लिए देखिए भूमिका-भाग) ।

मैंने अज्ञानवश जहाँ कहीं भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या की हो, महामनीषी विद्वान् उसका संशोधन कर लें—मैं करबद्ध होकर उसने ऐसी अभ्यर्थना करता हूँ ।

विक्रमी-संवत् ११२५ में वर्षा-ऋतु में इस 'काव्यालंकार' की व्याख्या समाप्त हुई ।

इति 'अंशुप्रभा'ऽऽख्य-हिन्दी-व्याख्यायां षोडशोऽध्यायः समाप्तः ।
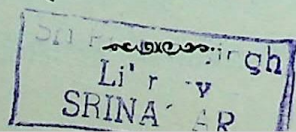
परिशिष्टम्

- कारिकासूची
- उदाहरणसूची
- टीकान्तर्गतोद्धरणांशा:
- ग्रन्थान्तरेषूपलभ्यमाना: समानपाठा:

परिशिष्टम् १

काव्यालंकारस्य कारिकासूची

प्रमादतोऽननूदितस्य श्लोकस्याऽनुवादः

इस प्रकार उपरिवर्णित चित्रकाव्य की शैली को सुनकर (परिशीलन करके) और महाकवियों द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों का अनुशीलन करके शब्द और अर्थ के मर्मज्ञ सुकवि को चित्र अलंकार के विभिन्न रूपों का पर्यालोचन करने के उपरान्त इसकी विचित्र रचना में प्रवृत्त होना चाहिए। ५.३३

परिशिष्टम् २

काव्यालंकारस्य उदाहरणसूची

परिशिष्टम् ३

नमिसाधुकृतटीकान्तर्गतानि उद्धरणानि अभिधानानि च

१. उद्धरणानि

●

'अंशुप्रभा'ऽऽख्यहिन्दी-व्याख्यायां प्रयुक्तोद्धरणांशाः

परिशिष्टम् ४

काव्यशास्त्रीयग्रन्थान्तरेषु उपलभ्यमानाः समानपाठाः

काव्यालंकारः	ग्रन्थान्तराणि
अधरदलं ते तरुणा ४-२०	काव्यानुशासन २८० पृष्ठ
अनणुरणन्मणि २-२३	काव्यानुशासन २२१ ,,
	काव्यप्रकाश १०-५८२
	वक्रोक्तिजीवित १-१०
अलिकुलकुन्तल ८-४५	काव्यानुशासन ३०२ पृष्ठ
अलिवलयैः ८-३०	काव्यानुशासन २९६ ,,
अविरलकमल ७-८३	काव्यानुशासन (टी०) ३४७ पृष्ठ
	काव्यप्रकाश १०-५२६
अविरलविलोल ७-६०	अलंकारसर्वस्व ४१ पृ०
अहिणव ५-३२	काव्यानुशासन १६९
आनन्दममन्द ९-४७	काव्यानुशासन ३२५
	साहित्यदर्पण १०-७०
	काव्यप्रकाश १०-५४०
इन्द्रस्त्वम् ८-५५	काव्यानुशासन ३०१ पृष्ठ
उत्कण्ठापरितापो ७-५५	काव्यानुशासन ३४१ ,,
एकस्यामेव तनौ ९-३७	काव्यानुशासन ३२३ ,,
एकाकिनी यदबला ७-४१	अलंकारसर्वस्व ९७ ,,
कज्जलहिम ७-३६	अलंकारसर्वस्व ८५ ,,
	काव्यालंकारसार ४९ ,,
कमनेकतमा ४-१३	काव्यानुशासन (टी०) २७४ पृष्ठ
कमलदलैरधरैरिव ८-३१	काव्यानुशासन २९६ पृष्ठ
किं गौरि मां प्रति २-१५	काव्यानुशासन २८१ ,,
किमिति न पश्यसि ६-४२	काव्यप्रकाश ७-२३९
किसलयकरैर्लतानां ८-५०	काव्यप्रकाश १०-४२९

नमिसाधुप्रणीतटीका	ग्रन्थान्तराणि
अयं पद्मासनासीनः ११-२४	काव्यालंकार (भामह) २-५५
उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं ७-३३ (मालतीमाधव ५-१६)	दशरूपक (वृत्ति) ४।७३
	अलंकारशेखर ८१ पृष्ठ
	साहित्यदर्पण ३-२४२
कर्ता द्यूतच्छलानाम् ७-७३ (वेणीसंहार ५-२६)	नाट्यदर्पण १-४१ सूत्र
	दशरूपक (वृत्ति) ३-१६
	साहित्यदर्पण ६-२५८
कान्ते इन्दुशिरोरत्ने ६-१५	काव्यालंकार (भामह) ४-२८
किं तावत् सरसि (शि० व० ८-२९) ८-६४	साहित्यदर्पण १०-३६
खमिव जलम् ८-१०	अलंकारसर्वस्व २२ पृष्ठ
	व्यक्तिविवेक २९७ पृ०
गाण्डीवी कनकशिला (किराता० १७-६३) २-८	साहित्यदर्पण ७-५
चन्द्रायते शुक्लरुचा ८-२८	साहित्यदर्पण (वृत्ति) १०-२५
दिने दिने सा (कु० सं० १-२५) ८-५	व्यक्तिविवेक ३४७ पृ०
दिवाकराद्रक्षति (कु० सं० १-१२) १०-२९	साहित्यदर्पण ७-१६
नष्टं वर्षवरैः ७-३३	दशरूपक २-५९
	साहित्यदर्पण ३-४४ वृत्ति
निपेतुरास्यादिव ११-२४	काव्यालंकार (भामह) ४-२७
नैसर्गिकी च प्रतिभा १-१४	अलंकारशेखर ५ पृष्ठ
पुष्पं प्रवालोपहितं ११-३२ (कु० सं० १-४४)	अलंकारसर्वस्व ४० पृष्ठ
प्रसाधिकालम्बित (रघु० ७-७) ७-३३	साहित्यदर्पण ३-१०९
प्रहरकमपनीय ७-३०	दशरूपक (वृत्ति) ४-२३
प्रियेण संग्रथ्य विपक्ष ८-८४	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४-३-२१
महीभृतः पुत्रवतो (कु० सं० १-२७) ६-९	व्यक्तिविवेक २९५ पृ०
रंजिता नु विविधा (किराता० ९-१५) ८-६६	साहित्यदर्पण १०-४६
	अलंकारसर्वस्व ३० पृ०
रावणावग्रहक्लान्त (रघु० १०-४८) ८-५६	साहित्यदर्पण (वृत्ति) १०-३१
लावण्यसिन्धुरपरैव २-६	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४-३-४
वनेऽथ तस्मिन् ११-२४	काव्यालंकार (भामह) २-६३
व्याहृता प्रतिवचो (कु० सं० ८-२) ११-११	दशरूपक (वृत्ति) ४-५४

प्रमुख-सहायकग्रन्थ-सूची

अप्पय्यदीक्षित	कुवलयानन्द	नि० सा० प्रे०
अभिनवगुप्त	अभिनवभारती	आ० विश्वेश्वर
आनन्दवर्द्धन	ध्वन्यालोक	,,
उद्भट	काव्यालंकारसारसंग्रह	बं० सं० प्रा० सी०
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवित	आ० विश्वेश्वर
जगन्नाथ	रसगंगाधर	नि० सा० प्रे०
जयदेव	चन्द्रालोक	चौ० सं० सी०
दण्डी	काव्यादर्श	बी० ओ० आर० आई०
धनञ्जय	दशरूपक	नि० सा० प्रे०
भरत	नाट्यशास्त्र	चौ० सं० सी०
भामह	काव्यालंकार	,,
भोजराज	सरस्वतीकण्ठाभरण	नि० सा० प्रे०
,,	श्रृंगारप्रकाश	डॉ० वी० राघवन
मम्मट	काव्यप्रकाश	झलकीकर
राजशेखर	काव्यमीमांसा	पं० केदारनाथ सारस्वत
रामचन्द्र-गुणचन्द्र	नाट्यदर्पण	आ० विश्वेश्वर
रुद्रट	काव्यालंकार	नि० सा० प्रे०
वामन	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति	आ० विश्वेश्वर
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	पं० शालग्राम